प्रेमचंद रचनावली

९

प्रेमचंद रचनावली

9

सम्पादकीय, भूमिकाएं, समीक्षाएं

प्रेमचंद रचनावली

खण्ड : नौ

भूमिका एवं मार्गदर्शन
डॉ॰ रामविलास शर्मा

प्रकाशकीय

'प्रेमचंद रचनावली' का प्रकाशन **जनवाणी** के लिए गौरव की बात है। कॉपीराइट समाप्त होने के बाद प्रेमचंद साहित्य विपुल मात्रा में प्रकाशित-प्रचारित हुआ। पर उनका सम्पूर्ण साहित्य अब तक कहीं भी एक जगह उपलब्ध नहीं था। लगातार यह जरूरत महसूस की जा रही थी कि उनके सम्पूर्ण साहित्य का प्रामाणिक प्रकाशन हो।

श्रेष्ठ और कालजयी साहित्यकारों के समग्र कृतित्व का एकत्र प्रकाशन कई दृष्टियों से उपयोगी होता है। इसी आलोक में **'प्रेमचंद रचनावली'** की कुछ विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख बहुत आवश्यक है। इस रचनावली में पहली बार सम्पूर्ण प्रेमचंद साहित्य सर्वाधिक शुद्ध और प्रामाणिक मूल पाठ के साथ सामने आया है। सम्पूर्ण रचनाओं का विभाजन पहले विधानुसार तत्पश्चात् कालक्रमानुसार किया गया है। रचनाओं के प्रथम प्रकाशन एवं उनके कालक्रम संबंधी प्रामाणिक जानकारी प्रत्येक रचना के अन्त में दी गई है जिससे प्रेमचंद के कृतित्व के अध्ययन और मूल्यांकन में विशेष सुविधा होगी। इसका अधिकांश सामग्री प्रथम संस्करणों या काफी पुराने संस्करणों से ली गई है। प्रेमचंद साहित्य के अध्ययन, अध्यापन तथा शोध के लिए इस रचनावली का अपना एक ऐतिहासिक महत्त्व है, क्योंकि इसमें प्रेमचंद की अब तक उपलब्ध सम्पूर्ण तथा अद्यतन सामग्री का समावेश कर लिया गया है। रचनावली के बीस खण्डों का क्रमबद्ध प्रारूप इस प्रकार है—

> **खण्ड 1-6 :** मौलिक उपन्यास, **खण्ड 7-9 :** लेख, भाषण, संस्मरण, संपादकीय, भूमिकाएं, समीक्षाएं, **खण्ड 10 :** मौलिक नाटक, **खण्ड 11-15:** सम्पूर्ण कहानियां (302); **खण्ड 16-17 :** अनुवाद (उपन्यास, नाटक, कहानी), **खण्ड 18 :** जीवनी एवं बाल साहित्य, **खण्ड 19 :** पत्र (चिट्ठी-पत्री), **खण्ड 20 :** विविध।

रचनावली की विस्तृत भूमिका मूर्धन्य आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखी है, जो इस रचनावली की सबसे बडी उपलब्धि है। डॉ० शर्मा ने अपनी साहित्य-साधना के व्यस्त क्षणों में भी हर कदम पर हमारा मार्गदर्शन किया। रचनावली का जो यह उत्कृष्ट रूप सामने आया है यह सब उन्हीं के आशीर्वाद का प्रतिफल है। इस कृपा और सहयोग के लिए मैं उनके प्रति नतमस्तक हूं।

बिहार विधान परिषद् के माननीय सभापति, हिन्दी और उर्दू के वरिष्ठ साहित्यकार प्रो० जाबिर हुसेन ने प्रेमचंद रचनावली के संपादक-मण्डल का अध्यक्ष होना स्वीकार किया और रचनावली के संपादन कार्य में हमारा उचित मार्गदर्शन किया, इसके लिए मैं उनका आभारी हूं। साथ ही संपादक-मण्डल के विद्वान सदस्यों के प्रति भी हार्दिक आभार प्रकट करता हूं।

श्री केशवदेव शर्मा ने अपनी तमाम व्यस्तताओं के बावजूद सम्पादन कार्य में जिस गहरी लगन, समझदारी और आत्मीयता से सहयोग किया है उसके लिए उनके प्रति अनेकशः धन्यवाद। उनका अहर्निश सानिध्य मुझे स्फूर्ति प्रदान करता रहा। डॉ० गीता शर्मा एवं डॉ० अशोक कुमार शर्मा, वेद प्रकाश सोनी तथा डॉ० विनय के प्रति भी उनके हार्दिक सहयोग के लिए आभारी हूं।

भाई राम आनंद साहित्य क्षेत्र में प्रवेश करते ही प्रेमचंद द्वारा स्थापित प्रकाशन संस्थान **'सरस्वती प्रेस'** से जुड़ गए थे। लगभग बीस वर्षों तक उन्होंने स्व॰ श्रीपत राय (प्रेमचंद के ज्येष्ठ पुत्र) के मार्गदर्शन में अप्राप्य प्रेमचंद साहित्य पर शोध कार्य किया। वे स्व॰ श्रीपत राय के संपादन में प्रकाशित होने वाली विख्यात कथा-पत्रिका **'कहानी'** के सहायक संपादक रहे। श्रीपत राय के देहांत के बाद उन्होंने **'कहानी'** का स्वतंत्र रूप से संपादन किया और उसे नया रूप तथा गरिमा प्रदान की। उन्होंने जिस गहरी सूझ-बूझ, लगन, धैर्य और निष्ठा से इस रचनावली के संपादन कार्य को इतने सुरुचिपूर्ण और वैज्ञानिक ढंग से संपन्न किया, इसके लिए वे हम सबों के साधुवाद के पात्र हैं।

श्री हरीशचन्द्र वार्ष्णेय, श्री प्रेमशंकर शर्मा, श्री उदयकान्त पाठक ने प्रूफ-संशोधन और सम्पूर्ण मुद्रण कार्य में विशेष जागरूकता और मनस्विता का परिचय दिया, इनके साथ विमलसिंह, आर॰ के॰ यादव, सुनील जैन, शिवानंदसिंह तथा संस्था के अन्य सभी सहकर्मियों के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करता हूं क्योंकि इन सबके सहयोग और सद्‌भाव के बिना यह काम पूरा होना लगभग असंभव था।

मेरी भ्रातृजा रीमा और भ्रातृज संदीप, संजीव, मनीष, विक्रांत, चेतन की लगन और सूझबूझ ने भी मुझे सदैव प्रेरित और उत्साहित किया वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

रचनावली के मुद्रण का कार्य श्री कान्तीप्रसाद शर्मा की देखरेख में हुआ है। उनकी सूझबूझ और श्रमनिष्ठा के लिए वे हमारे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।
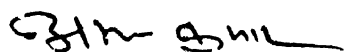
सर्वश्री विजयदान देथा, यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', रामकुमार कृषक, स्वामी प्रेम जहीर, डॉ॰ कुसुम वियोगी, रामकुमार शर्मा आदि सभी मित्रों के सुझावों के लिए भी आभारी हूं।

इस कार्य में पूज्य माताजी श्रीमती जसवन्ती देवी का आशीर्वाद और पिताश्री प्रेमनाथ शर्मा का दीर्घकालीन प्रकाशन-व्यवसाय का अनुभव और आशीर्वाद मेरे विशेष प्रेरणा स्रोत रहे। इनके साथ मातृतुल्या भाभी श्रीमती ललिता शर्मा, अग्रज राजकुमार शर्मा, चमनलाल शर्मा, धर्मपाल शर्मा एवं उनकी धर्मपत्नी इन्दु शर्मा के साथ भाई हरीशकुमार शर्मा एवं सुभाषचन्द्र शर्मा के साथ ही चाचा श्री दीनानाथ शर्मा का भी आभारी हूं जिन्होंने पग-पग पर मेरा मार्ग-दर्शन किया। और सबसे अंत में सहधर्मिणी श्रीमती गीता शर्मा ने जो सहयोग और संबल प्रदान किया उसके लिए आभार अथवा धन्यवाद जैसा शब्द बहुत कम होगा। सारा श्रेय उन्हीं का है।

नेशनल लाइब्रेरी, कलकत्ता के सहयोग से दुर्लभ पुस्तक 'महात्मा शेखसादी' लगभग सत्तर वर्ष बाद एक बार फिर इस रचनावली के मार्फत पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की जा रही है। मैं नेशनल लाइब्रेरी कलकत्ता के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूं। उन समस्त संस्थानों, पुस्तकालयों, विभागों, संस्थाओं, लेखकों, संपादकों, अधिकारियों और व्यक्तियों के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूं, जिन्होंने इस रचनावली के आयोजन में सहयोग किया।

अन्त में विद्वान पाठकों से हमारा निवेदन है कि वे इस रचनावली की त्रुटियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करें ताकि आगामी संस्करणों में उन्हें दूर किया जा सके।

हम आशा करते हैं कि हिन्दी जगत् इस बहु-प्रतीक्षित रचनावली का हार्दिक स्वागत करेगा।

अरुण कुमार
(प्रबंध निदेशक)

लमही : एक ऐतिहासिक गांव

लमही गाव का नक्शा

अनुक्रम

भूमिकाएं एवं समीक्षाएं

प्रेमचंद द्वारा लिखित अपनी पुस्तकों की भूमिकाएं

प्रेमचंद द्वारा अन्य लेखकों की पुस्तकों में लिखित भूमिकाएं

एम० सी० सी० की धूम

आज सारे देश में एम० सी० सी० की धूम है। खिलाड़ियों का नागरिक स्वागत किया जा रहा है, ऐड्रेस दिए जा रहे हैं और कहा जा रहा है कि भारत के स्वराज्य का प्रश्न क्रिकेट के मैदान में होगा। जिस उत्साह से हमारे महाराजे और मिलों के स्वामी और बड़े-बड़े लोग इस प्रोपेगेंडा में चिमटे हुए हैं उससे इस विषय में जरा भी संदेह नहीं रह गया कि बस अबकी मैच जीते और स्वराज्य मिला। हाकी में हिन्दुस्तानियों ने सारी दुनिया को जीता, स्वराज्य की एक मंजिल पूरी हुई। पोलों में जीत कर हम दूसरी मंजिल पर जा पहुंचे। तैराकी में औव्वल आकर तीसरी मंजिल मार ली। फुटबाल में पहले से हमारा सिक्का बैठा हुआ है। आज समाचार आया है कि टेनिस में आस्ट्रेलिया वालों को हमने नीचा दिखा दिया। चौथी मंजिल भी पूरी हो गई बस क्रिकेट में जीतने की देर है। जीते और पूर्ण स्वराज्य मिला। और जीत तो होती बंबई ही में, लेकिन उस इलेविन में शरीक होने के लिए केवल खिलाड़ी होना काफी नहीं। आप अच्छे खिलाड़ी हैं तो क्या, बैठे रहिए।

यहां जिस पर अधिकारियों की कृपा है, वह इलेविन में लिया जाता है। सुना है वाइसराय साहब को क्रिकेट से बड़ा प्रेम है। जवानी में अच्छे क्रिकेटर थे। अब खेल तो नहीं सकते मगर आंखों से देख तो सकते हैं। और जिस चीज में हुजूर वाइसराय को दिलचस्पी हो उसमें हमारे राजों, महाराजों, नवाबों और धनवानों को नशा हो जाए तो कोई आश्चर्य नहीं। हुजूर वाइसराय अगर प्रिंस दलीपसिंह से खुश होते, तो शायद वह भी आदर के साथ बुलाए जाते, लेकिन नहीं, उन्हें क्रिकेट से क्या मतलब। यहां तो पक्का खिलाड़ी वह है, जिसे अधिकारी लोग नामजद करें। भारत की ओर से वाइसराय बधाई देते हैं, भारत का प्रतिनिधित्व अधिकारियों ही के हाथ में है। फिर क्रिकेट के क्षेत्र में क्यों न निर्वाचन अधिकार उनके हाथ में रहे। इस धूम-धाम और टीम-टाम का यही रहस्य है। रेल ने कंसेशन दे दिए, एक्सप्रेस गाड़ियां दौड़ रही हैं, तमाशाई लोग थैलियां लिए कलकत्ता भागे जा रहे हैं।

और इधर गुल मचाया जा रहा है कि मंदी है और सुस्ती है। मंदी और सुस्ती है मजदूरी घटाने के लिए, नौकरों का वेतन काटने के लिए, ऐसे मुआमिलों में हमेशा तेजी रहती है।

[संपादकीय। 'जागरण', 1 जनवरी 1934, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

डॉक्टर टैगोर बंबई में

पब्लिक से चंदा वसूल करना भी एक कला है और इसके कलाविद् भारत में दो हैं। एक महामना मालवीयजी, दूसरे महात्मा गांधी। कौन अव्वल है, कौन दोयम इसका फैसला करना मुश्किल है। दोनों महानुभावों को एक ही ब्रेकेट में रखना चाहिए। मालवीयजी ने तेजी के दिनों में लाखों वसूल किए। महात्माजी इस मंदी और बेकारी के दिनों में केवल दो प्रांतों में ढाई-तीन लाख रुपये वसूल कर चुके। सुना है मालवीयजी

भी निकलने वाले हैं। तो बात यह है कि ये महानुभाव इस कला में सिद्धहस्त हो गए। पचास-पचास साल से अभ्यास जो कर रहे हैं। डॉक्टर रवीन्द्रनाथ विश्व-कवि हैं और बहुत बड़े कलाकार हैं, लेकिन भिक्षण-कला में उन्हें दोनों पूज्य भिक्षुकों से कुछ सीखने की जरूरत है। अभी हाल में इस क्षेत्र में आए हैं। मालवीय जी अतीत गौरव गान और अपने वाणी चमत्कार से लेते हैं, महात्मा जी चंदा भी लेते हैं और डांटते भी हैं, उनकी कला में यही विशेषता है। डॉक्टर टैगोर ने टिकट लगाकर शांति-निकेतन के बालक-बालिकाओं से अभिनय कराया, खुद भी पार्ट किया, लेकिन सुनते हैं अच्छी रकम हाथ न लगी। बात यह है कि जिस संस्था के लिए चंदा मांगा जाए, उस संस्था से जनता में रुचि और उत्साह हुए बिना चंदा कैसे मिले। शांति-निकेतन ने अभी जनता के दिल में घर नहीं किया। जब तक वह सेवा और त्याग का रिकार्ड जनता के सामने न रखे, उसे दस-पांच बड़े-बड़े लोग चाहे केवल बड़ी रकम दान दे दें, जनता से मिलना मुश्किल है। मगर हमें तो डॉक्टर टैगोर जैसे महान् ऋषि का पार्ट कुछ गौरवपूर्ण न जान पड़ा। यदि शांति-निकेतन से ऐसे छात्र निकलें, जो जीवन-संग्राम में कुछ कर दिखाएं तो देश आज उसको भी उसी तरह प्यार करेगा जैसे गुरुकुलों को।

[संपादकीय। 'जागरण', 1 जनवरी, 1934, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

पेरिस में भीषण दुर्घटना

खबर है कि फ्रांस की राजधानी पेरिस में एक बहुत बड़ी रेलवे दुर्घटना हो गई। एक गाड़ी साठ मील की चाल से आ रही थी कि एक स्टेशन पर वह एक खड़ी मुसाफिर गाड़ी से टकरा गई। दोनों गाड़ियां भरी हुई थीं। बड़े दिन का उत्सव मनाने के लिए लोग अपने या मित्रों के घर जा रहे थे। बड़ी जबरदस्त टक्कर थी। एक सौ अस्सी से ऊपर तो वहीं मर गए और तीन सौ से ऊपर जख्मी हुए। ऐसा मालूम होता है, फ्रांस में रेलों का प्रबंध कुछ गड़बड़ है। तभी तो एक टक्कर में इतनी जानों की क्षति हुई। क्या ही अच्छा हो कि भारत का रेलवे बोर्ड अपने हाथ में वहां का प्रबंध ले ले और उन्हें सिखा दे कि यों ट्रैफिक कंट्रोल किया जा सकता है। यहां गाड़ियां लड़ती हैं सही, लेकिन कुछ इस खूबी से लड़ती हैं कि दो-चार आदमियों को मामूली खरोंचें लगकर रह जाती हैं, मरे भी तो दो-चार मर गए। यह नहीं कि एक टक्कर में पांच सौ से ज्यादा चल बसें। इस मामले में असभ्य भारत योरोप को अभी कुछ दिन सिखा सकता है।

[संपादकीय। 'जागरण', 1 जनवरी, 1934, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग', भाग-3 में संकलित।]

बेकार बैठने से काउंसिल में जाना अच्छा है

ये हैं वह शब्द जो महात्मा गांधी ने राष्ट्र की वर्तमान स्थिति पर विचार करके दिल्ली में श्रीमुख से कहे थे। महात्मा जी का आदर्शवाद व्यवहारिक आदर्शवाद है। वह यह

समझते हैं कि सभी वाद मनुष्य के सेवक हैं, स्वामी नहीं। किसी वाद को मूर्ति बनाकर पूजना और परिस्थिति की ओर से आंखें बंद कर लेना प्रगतिशील समाज का धर्म नहीं। लेकिन, मुश्किल यह है कि संप्रदायों की भाँति ही हरेक नीति या कार्यक्रम परंपराओं के बंधन में कुछ ऐसा जकड़ जाता है कि उससे निकलना उसके लिए असाध्य हो जाता है। उन परंपराओं का पालन करके, जिन्होंने त्याग किया है, कष्ट झेले हैं, अपना सर्वस्व खो बैठे हैं वे संप्रदायों के महंतों ही की भाँति अपने नेतृत्व से मोह करने लगते हैं। यहां महंतों का-सा भोग-विलास नहीं, पर कुछ यश और मान तो है ही और शायद महंतों के पद से कहीं बढ़कर। महंतों को वह पद अपने गुरु की कृपा से मिलता है, यह यश सम्मान अपने जीवन को बलिदान करके प्राप्त होता है, उससे मोह होना स्वाभाविक है। उसके साथ ही उस नीति के सिवा किसी दूसरी नीति की सफलता में हमें विश्वास भी नहीं होता। जो व्यक्ति धोती और कुर्ता पहनने का आदी हो, उसे कोट--पतलून पहनते बड़ा संकोच होता है। एक रस पर रहना मानसिक स्थिरता का लक्षण समझा जाता है। उस नीति या कार्यक्रम का परित्याग करना उसकी विफलता को स्वीकार करना समझा जाता है, और हम अपनी गलती को मानने में बिरले ही उदारता का परिचय देते हैं। कांग्रेस में इस समय कुछ यही हालत हो रही है। परंपरा--प्रेमियों की उसमें इतनी प्रधानता है कि महात्मा जी के ये महत्त्वपूर्ण शब्द भी हवा में उड़ते दिखाई देते हैं।

हरेक संस्था को सिद्धांत-वादियों की आवश्यकता होती है, वरना उसमें जीवन और दृढ़ता न आए। परंपराओं का भी संस्थाओं के जीवन में एक स्थान है। उन परंपराओं को छोड़ दीजिए और आपका व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है। यह भी आवश्यक है कि हमारे कार्यकर्ताओं में सहयोग हो, हम संदेह होने पर भी अपने नायक की आज्ञा मानते रहें। जब हमें नेताओं में संदेह होने लगता है, तभी संस्था निस्तेज हो जाती है। यह सब मानते हुए भी हम समझते हैं इस समय कांग्रेस को अपना कार्यक्रम बदलना पड़ेगा और चारों ओर बाधाओं को देखते हुए कौंसिल प्रवेश के सिवा कोई दूसरा मार्ग नहीं रह गया है। हम यह मानने को तैयार हैं कि अब तक कौंसिलों से विशेष उपकार नहीं हुआ, लेकिन उपकार चाहे न हुआ हो उनसे जितना अपकार हो सकता था। वह कुछ-न-कुछ अवश्य कम हुआ। अगर हम कौंसिलों से कुछ तत्त्व न निकाल सके, तो इसमें बहुत-कुछ हमारा ही दोष है। अभी दस साल पहले तक कांग्रेस शिक्षित समुदाय की संस्था थी। जिसमें पूंजीपतियों की प्रधानता थी, जिसका उद्देश्य अधिकार और पद था। कांग्रेस के दृष्टिकोण में जो कुछ परिवर्तन हुआ है, उसे अभी बहुत थोड़े दिन हुए। यह ठीक है कि यदि सरकार की ओर से बाधाएं न खड़ी की जातीं, तो इस थोड़े ही समय में राष्ट्र साम्यवाद की ओर आ गया होता। लेकिन यह इस बात की दलील नहीं कि नवीन आदर्श पर हम कौंसिलों का बहुमत प्राप्त करने की चेष्टा न करें। उस बहुमत से कांग्रेस को अपने आदर्श के अनुसार बड़ी सहायता मिलेगी। सभी कांग्रेस एक गैर कानूनी दल है और हरेक कांस्टेबुल भी समझता है कि कांग्रेस कार्यकर्ताओं को किसी जुर्म में फंसाकर वह सुर्खरू हो जाएगा। जब कांग्रेस कौंसिल और एसेंबली में प्रधान

दल होगी, तब उसके कार्यकर्ताओं के साथ यह धांधली न की जाएगी। प्रयाग में मि॰ फिरोज गांधी और श्री शिवमूरतलाल के साथ अधिकारियों ने जो कुछ किया है वह कांग्रेस के व्यवस्थापक सभाओं में होते हुए अगर असंभव न था, तो कठिन अवश्य था और यह तो अभी आरंभ हुआ है।

यह कहा जा सकता है, कांग्रेस का बहुमत पाना कोई निश्चित बात नहीं है। ठीक है, लेकिन कांग्रेस-पार्टी अल्पमत में भी रही, तो यह मानना अल्पमत होगा, और कोई सहज उसकी उपेक्षा न कर सकेगा।

लेकिन महात्मा जी के ये शब्द केवल उन लोगों के लिए हैं, जो व्यक्तिगत रूप से निर्वाचन के लिए खड़े होना चाहते हैं। व्यक्तिगत रूप से तो अब भी जिसकी इच्छा हो खड़ा हो सकता है, लेकिन फिर उस कांग्रेसी उम्मीदवार में और अन्य उम्मीदवारों में कोई अंतर न रहेगा, बल्कि बहुधा उसे ऐसे लोगों से मुकाबला करना पड़ता है, जिनकी पीठ पर छोटी-छोटी संस्थाएं या दल होते हैं। वह भी अपने को कांग्रेस से निकाला हुआ समझने लगता है। उसके पास उतना धन भी कहां है, जिसके बल पर वह एलेक्शन की लड़ाई लड़ सके। जरूरत इस बात की है कि कांग्रेस संगठित और प्रत्यक्ष रूप से मैदान में आवे और अपनी पूरी शक्ति लगा दे। अगर उसने साहस से काम न लिया, तो वह ऐसे लोगों के लिए रास्ता साफ कर देगी, जो उसे व्यवस्थापक सभाओं में पहुंचकर उसका अहित करना ही अपना धर्म समझेंगे और जन-पक्ष कुछ समय के लिए निर्बल हो जाएगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 1 जनवरी, 1934, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

भाई परमानन्द की संदेह दृष्टि

भाई परमानन्द को मुसलमानों में कट्टरता और देश-द्रोह के सिवा कुछ नजर ही नहीं आता। जो खुल्लम-खुल्ला पृथकता-प्रेमी हैं, उनका तो आपको भय नहीं, आपको राष्ट्र-प्रेमी मुसलमानों और जमैयतुलउलमा से विशेष भय है, क्योंकि ये लोग दोस्त बनकर दगा दे रहे हैं। आपके खयाल में सभी मुसलमानों में मिलीभगत है, दोनों एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं, केवल हिन्दुओं की आंख में धूल झोंकने के लिए अलग-अलग दल बन गए हैं। इसका जवाब इसके सिवा और क्या है कि जैसे आप दूसरों को देखते हैं, वैसे ही दूसरे भी आपको देखते हैं ओर ऐसे मुसलमान कम नहीं हैं, जो कांग्रेस को भी हिन्दू सभा का एक शिगूफा समझते हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 1 जनवरी, 1934, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

लेडी अब्दुल कादिर का राष्ट्र-भाषा प्रेम

खुदा भला करे लेडी अब्दुल कादिर का जिन्होंने कलकत्ता में महिला सम्मेलन का नियमन करते हुए इस बात पर जोर दिया कि भारत में राष्ट्र-भाषा का प्रचार होना चाहिए। हम

आपके इस कथन से पूरी तरह सहमत हैं कि हरेक प्रांत में राष्ट्र-भाषा, अर्थात् हिन्दुस्तानी भी पाठ्य-क्रम में आवश्यक बना दी जाए। आपने अपना भाषाण उर्दू में लिखा था, पर वहां उर्दू समझने वाली बहुत कम महिलाएं थीं, इसीलिए आपको उसका अनुवाद करना पड़ा। भारत के अधिकांश भागों में हिन्दुस्तानी बोली और समझी जाती है, उर्दू में लिखी जाए या हिन्दी में। मद्रास में उसका प्रचार हो रहा है। मैसूर में भी शुरू हो गया है। बंगाल अभी तक पुट्ठे पर हाथ नहीं फेरने देता, हालांकि बंगाल के कई विद्वान हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान और लेखक हैं। 'माया' नाम की पत्रिका के संपादक बंगाली सज्जन है। कई बंगाली देवियां भी हिन्दी की कुशल लेखिकाएं हैं, उनमें श्रीमती ऊषा मित्र का नाम उल्लेखनीय है। उनके गल्प चोटी की पत्रिकाओं की शोभा बढ़ाते हैं। जब तक एक राष्ट्र-भाषा नहीं बन जाती, तब तक एक राष्ट्र कैसे बने।

[संपादकीय। 'जागरण', 1 जनवरी, 1934, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

वह प्रलयंकर दिवस

ता॰ 15 जनवरी का भारत का वह प्रलयंकर दिवस संसार में अमर हो गया। किसे मालूम था कि उस दिन यह तांडव कांड हो जाएगा। दोपहर का समय था, सब लोगे खा-पीकर अपने-अपने कामों में लगे थे कि अचानक हर्राटा हुआ, लोग चौंके, मकानों से निकले और आसमान की ओर देखने लग कि कहीं हवाई जहाज तो नहीं मंडरा रहा है, पर क्षणमात्र में ही मालूम हुआ कि पृथ्वी कांप रही है। मकानों के हिलने, फटने और गिरने ने प्रलयकाल का भय भर दिया है। बड़ी मुश्किल से शाम हुई और रात बीती। दूसरे दिन से समाचार आने लगे और भय बढ़ने लगा। मुजफ्फरपुर के समाचारों ने लोगों को व्याकुल कर दिया कि मुंगेर के समाचार आए। तीसरे दिन दरभंगा आदि के भी समाचार पढ़े गए। इस अनभ्र वज्रपात ने संसार में खलबली मचा दी। नेपाल के समाचार तो अभी तक ठीक नहीं मालूम हो रहे हैं, किंतु अभी-अभी नेपाल महाराज का जो तार मि॰ मालवीय जी के पास आया है, उससे पता चलता है कि जन-हानि से धन हानि ही हुई है। फिर भी 3,000 के लगभग मृतक संख्या प्रकाशित हो चुकी है। श्री पं॰ जवाहरलाल नेहरू तथा अन्य देखने वालों का कहना है कि जब तक मुजफ्फरपुर वगैरह नगरों का मलबा नहीं हटा दिय जाता, तब तक पुरी मृत संख्या नहीं मालूम हो सकती, पर अभी तक जो लाशें पाई गईं और निकली हैं, उनकी संख्या जानकर दिल दहक जाता है, आंखें पथरा जाती हैं और बदन को काठ मार जाता है। मुजफ्फरपुर, मुंगेर, दरभंगा और सीतामढ़ी आदि बड़े नगरों में ही लगभग 50,000 मनुष्यों के जीवन का नष्ट नष्टप्राय हो गए हैं। निकटस्थ ग्रामों में यद्यपि अधिक प्राण हानि नहीं हुई, पर धरा और धान्य तो अवश्य ही नष्ट हो गए हैं मुजफ्फरपुर में लगभग 10,000 मनुष्यों के प्राण गए और पता नहीं अभी कितने दबे पड़े हैं। मुंगेर में तो इससे भी अधिक मृत संख्या बताई जाती है। मुंगेर में उस रोज दुभाग्यवश अमावस्या का मेला था, बाहर के हजारों यात्री पर्व मनाने आए थे। ठीक दोपहर के

वक्त जब लोग स्नान-ध्यान से फारिग होकर खा-पीकर, सौदा-सूत खरीद रहे थे, तभी भूकंप आया और बेचारे अभागे यात्रियों और नगर-निवासियों को जरा भी इधर-उधर होने का अवसर न मिला। सब जहां के तहां रह गए।

हमारे ऑफिस में मुंगेर के एक भुक्त-भोगी विद्यार्थी आए थे, उन्होंने बयान किया कि जिस समय भूकंप आया, हम लोग दुर्मंजिले पर थे। मकान बड़े वेग से हिलने लगे और हम लोग दौड़कर सीढ़ी से नीचे उतरना चाहते थे कि अचानक सीढ़ी टूट गई और मकान का कुछ हिस्सा भी घर के लोगों पर गिर गया। हम लोग जहां के तहां रह गए। बड़ी कठिनाई से बाजार की तरफ के बरांडे में गए कि वहां से बाजार में कूद जाएंगे, पर जब वहां से सामने के मकानों को भी गिरते देखा, तो रूह कब्ज हो गई, अचानक हमारे बरांडे पर सामने से मकान का कुछ अंश ढह पड़ा और हम भी बरांडे सहित नीचे आ रहे। ईश्वर की कृपा कहिए कि नीचे आ जाने पर हाथ और कमर में चोट तो आई, पर बरांडे का टीन हमारे ऊपर हो गया और उसने छाते की तरह हमें ढांक रखा। मकान गिर रहे थे, और हम सांस बंद किए दबे-दुबके खड़े थे। चार-छ: मिनट में ही प्रलयकांड हो गया। किसी प्रकार हमारे घर के दो-एक प्राणी बचे और सब दब गए थे। एक छ: वर्ष की बहन को तो उसके बाल देखकर बमुश्किल मलबे के नीचे से निकाला गया। चारों ओर हाहाकार मचा हुआ था। थोड़ी देर के लिए यह मालूम हुआ कि नगर पर असंख्य बम-वर्षा की गई है। चारों ओर अंधकार-सा छा गया था, सूर्यदेव भी वह दुर्दशा देखकर जरा देर को अस्त से हो गए थे। सारा शहर चौपट हो गया और लाशों की दुर्गन्ध के मारे अब वहां खड़ा रहना भी कठिन हो गया है। बड़ा वीभत्स दृश्य है।

दरभंगा और लहरिया सराय भी चौपट हो गए हैं। इन नगरों में भी दो-तीन हजार मनुष्य के मरने का अंदाज लगाया जाता है।

दो सौ वर्षों के बाद इधर की भूकंप-संबंधी जो जानकारी प्राप्त होती है, उससे मालूम होता है, कि भारत में भूकंप सबसे भीषण और विशेष क्षतिकर हुआ है।

इससे पहले भी भूकंप आए थे, उनका वर्णन भी पत्रों में छपा है—सन् 1905 के अप्रैल मास की चार तारीख को कांगड़ प्रदेश में एक भूकंप आया था और उसे भारतवासी अभी भूले नहीं हैं। उस समय भी समस्त उत्तर भारत ने इस भूकंप का अनुभव किया था। पश्चिम प्रदेश के अफगानिस्तान और सिंध से लेकर, पूर्व प्रदेश में पुरी-पर्यन्त इसकी ध्वंस-लीला से बच पाए थे, किंतु कांगड़ा और मंसूरी के प्रदेश ही उस महाध्वंस के चरम क्षेत्र में परिणति हुए थे। उस समय मृत संख्या 20,000 तक पहुंची थी। इस भूकंप का कारण हिमालय का स्तर स्खलन बतलाया गया था।

इससे भी आठ वर्ष पूर्व सन् 1897 में जून मास की बारह तारीख का आसाम में जो भूकंप आया था, वह भी एक चिरस्मरणीय घटना थी। उस समय मूल कंपन के साथ अनेक व्यापी साधारण कंपन होता था। इस भूकंप की ध्वंस-लीला के कारण शिलांग की ओर तो कुछ बाकी न रह गया था। घर, गिरजा, रेल और सड़कों के पुल, सब कुछ एकदम विनष्ट हो गए थे। विशाल पहाड़ के टुकड़े-टुकड़े हो गए थे और उसमें आसाम की भूमि को कुछ का कुछ कर दिया था। नदी ने अपना नया

प्रवाह मार्ग बना लिया था।

इससे भी पूर्व इस देश में भूकंप आ गए हैं, उसमें दो सौ वर्ष पूर्व सन् 1720 ई॰ में दिल्ली में, सन् 1737 में कलकत्ता में, और 1762 में बंग और आरकान में आने वाले भूकंप ही विशेष उल्लेख्य हैं। वैसे 1819 में कच्छ और ब्रह्म देश में भी भूकंप आए थे।

भूकंप का प्रकोप, भारतवर्ष की अपेक्षा जापान में ज्यादा भयानक होता है। 1 सितंबर सन् 1923 को जापान की राजधानी टोकियो और याकोहमा में इसी के कारण भीषण और भयानक कांड उपस्थित हुआ था। केवल पांच मिनटों में 2,00,000 मनुष्यों का मरण हो गया था। आंधी और अग्नि-कांड ने तो और भी गजब ढा दिया था। याकोहामा में एक लाख मनुष्य मरे थे। पचास हजार मनुष्य तो न जाने कहां लापता हो गए थे। एक लाख आदमी आहत भी हुए थे। और, धन-संपत्ति की हानि बारह हजार करोड़ से भी अधिक की हुई थी।

यों तो संसार में अनेक स्थानों में भूकंप की विध्वंस-लीला हो चुकी है, पर दो सौ वर्षों से अधिक का हाल नहीं मिलता। किंतु इसी बीच 1755 ई॰ में पुर्तगाल की राजधानी लिसबन में भूकंप आया था, कहा जाता है कि उसमें 60 हजार आदमी मरे थे।

दक्षिण इटली तो भूकंप के लिए नित्य लीला क्षेत्र ही हो गया है। सन् 1908 में इटली के मेसिना नामक स्थान में भूकंप आया था, उसमें केवल 40 सेकेंड में ही एक लाख मनुष्य मर गए थे।

भूकंप एक ऐसी विपत्ति है कि उससे बचना मनुष्य के लिए असंभव है। वैज्ञानिकों की दृष्टि इस ओर अवश्य गई, और जापान के वैज्ञानिकों ने इसके लिए एक समिति भी स्थापित की थी, जिसने 50 वर्षों में बहुत कुछ खोज की है। इस विषय का साहित्य भी उसने प्रकाशित किया है।

19वीं सदी के अंत में प्रो॰ मिलने नामक वैज्ञानिक ने भी बहुत कुछ प्रयत्न किया था। इससे पूर्व दो-एक अन्य वैज्ञानिकों ने भी प्रयत्न किया, पर 18वीं सदी में सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री प्रिस्टले ने बिजली से भूकंप का संबंध स्थापित करने का प्रयत्न किया था।

सन् 1807 ई॰ में प्रो॰ यंग ने यह सिद्धांत निश्चय किया था कि जिस प्रकार शब्द हवा में तरंगों के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकते हैं, उसी प्रकार भूकंप भी एक स्थान से प्रारंभ होकर तरंग उत्पन्न करता है और उसी के सहारे बहुत दूर तक पहुंच जाता है। इस तथ्य की पुष्टि आयरिश एकाडमी ने भी की थी।

सन् 1867 के नेपल्टन के भूकंप के बाद वहां लगभग दो मास तक ध्वंसावशेषों के ढेरों का पर्यवेक्षण करने के बाद एक विवरण प्रकाशित हुआ था, उससे प्रकट होता है कि भूगर्भस्थ एक स्थान से एक कंपन की उत्पत्ति होती है, उसी स्थान के ऊपर स्थित जमीन, ऊपर और नीचे से कंपित हो जाती है। केंद्र स्थल से दूर तरंगों की गति वक्र भाव से होती है। किसी फटे हुए मकान की दरार को देखकर जाना जा सकता है कि इस जगह जमीन किस ओर कंपित हुई थी। इस प्रकार कंपन का

कोण निश्चय कर लेने पर कंपन का केंद्र स्थिर किया जा सकता है।

मध्ययुग के विद्वानों का ख्याल था कि ज्वालामुखी के द्वारा अग्न्योत्पात ही भूकंप का कारण है। इसका कारण यह बताया जाता है कि जापान, इटली वगैरह में, जहां ज्वालामुखी हैं, वहां भूकंप अधिक होते हैं। ज्वालामुखी से जब, अग्न्योत्पात होता है, तो बड़े वेग से गंधक और वाष्प आदि गरम पदार्थ बाहर निकलते हैं, और वेग की प्रबलता के कारण पृथ्वी कांप उठती है। परंतु जहां ज्वालामुखीं नहीं है, वहां भी तो भूकंप होते रहते हैं—यह प्रश्न विचारणीय हैं।

पृथ्वी का जिस प्रकार ठोस और कठोर होना खयाल किया जाता है, असल में वह उस प्रकार नहीं है, भूगर्भ में विशाल गह्वर या खाइयां हैं और एक विशाल पर्वत-खंड के साथ दूसरे पर्वत-खंड मिलकर परस्पर एक दूसरे का भार संभाले रहते हैं। वाष्प और गंधक के बाहर निकलते समय खाइयों की मिट्टी वगैरह नीचे धंस जाती है और भूकंप का आरंभ होता है।

सिस्मोग्राफ और सिस्मोमीटर के द्वारा भूकंप-संबंधी गवेषणा का कार्य सरल हो गया है। यह यंत्र एक महीन सुई के द्वारा कागज पर भूंकप का कंपन अंकित कर देते हैं और वैज्ञानिक लोग उनके द्वारा कंपन की स्थिति, परिमाण और कपंन होने वाली दिशा का ज्ञान प्राप्त करते हैं। उन्नीसवीं सदी में जापान वालों ने इन यंत्रों को वास्तविक उन्नत रूप दिया और लगभग 50 वर्षों के प्रयत्न से ही आज हमें भूकंप-संबंधी सब ज्ञान प्राप्त होने लगा है।

इसके पूर्व भी अनेक विद्वान दर्शनिकों ने भूकंप संबंधी अनेक अनुमान किए थे। भारतीय-धर्मशास्त्रों और पुराणों में भी भूकंप के संबंधों में बहुत कुछ गपोड़े लिखे मिलते हैं, जिसमें से एक यह भी प्रचलित है कि शेषनाग अपने सहस्र फनों पर पृथ्वी को धारण किए हुए हैं; और जब वे फनों को बदलते हैं, तभी भूकंप आता है। जापानी लोग भी किसी समय विश्वास करते थे कि उनका देश एक वृहत् मछली की पीठ पर अवस्थित है, और यह मछली किसी कारण अपनी देह को हिलाती है, तभी भूकंप होता है ! किंतु इन सारी निर्मूल धाराओं को वर्तमानयुगीन विज्ञान ने नष्ट कर दिया और भगवान शेषनाग का भी अंत ला दिया है। फिर भी हमारे देश में अभी आस्तिक लोगों की अपनी-अपनी धारणाएं उपस्थित हैं। अभी उस दिन महात्मा जी ने ही कहा कि हमारे पापों के कारण ही यह भूकंप हुआ है और उनकी धारणा में अछूत कहलाने वाले मनुष्यों के साथ दुर्व्यवहार ही महापाप है। इसी प्रकार वर्णाश्रस स्वराज संघ वाले महात्मा जी को कोसते और कहते हैं कि अछूतों को मंदिर में प्रवेश कराने के पाप का परिणाम यह भूकंप है।

यदि आस्तिकता, भूकंप का कारण पाप बतलाती है, तो यह प्रश्न हो सकता है कि क्या सचमुच परमात्मा ने बिहार में वास्[illegible]यों को ही दंड दिया है? जितने प्राणी भूकंप में मरे, क्या वे सभी [illegible] पापी [illegible]र यहां, इस देश में जो बड़े-बड़े पापाचारों और गरीबों का [illegible]स जाने वाले [illegible]-बड़ी तोंद वाले, बड़े-बड़े तिलकधारी ढोंगी पडे हुए हैं, क[illegible]मा उन्हें नहीं [illegible] पाता? अस्तु, यह सब व्यर्थ की बातें हैं। भली-भांति विच[illegible]रने पर मालूम हो [illegible]ता है कि भूकंप

किसी पाप-पुण्य के कारण नहीं हुआ, यह प्रकृति की एक लीला है और भूगर्भ की वैज्ञानिक प्रक्रिया का एक परिणाम है। इधर जो समाचार प्राप्त हुए हैं, वे तो और भी भयानक और हृदय को विचलित कर देने वाले हैं। भयानक वर्षा ने उनके बचे-खुचे हरे खेतों को जलमग्न कर दिया और उनकी जिंदगी को आफत में डाल दिया है। आज हजारों आदमी वहां वस्त्रों के बिना ठिठुर रहे हैं और अन्न-जल के बिना भूखे-प्यासे मर रहे हैं। उनका सर्वस्व तो वैसे ही नष्ट हो गया, तिस पर वर्षा के कारण प्राणहारी जाड़े का सामना करना पड़ रहा है। ईश्वर ही रक्षक है।

अब हमारा कर्त्तव्य यही रह जाता है कि इस भीषण विपत्ति के समय लोगों को धैर्य बाधाएं और जी-जान से उनकी सेवा-सहायता करें।

[संपादकीय। 'हंस', जनवरी, 1934, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 मे सकलित।]

विदेश यात्रा और प्रायश्चित

एक जमाना था कि भारत के भिक्षुओं ने विदेश-यात्रा करके अपने देश और धर्म का गौरव बढ़ाया था। फिर पाखंड का यह चक्र चला कि विदेश जाना पाप हो गया। और आज भी ऐसे उदाहरण आए दिन मिलते रहते हैं, कि लोग विदेश से लौटकर प्रायश्चित करने के लिए काशी दौड़ते हैं। इस बीसवीं सदी में ऐसा ढकोसला भारत-जैसे पाखंड-प्रधान देश के सिवा और कहां हो सकता है, और भारत अध्यात्मवाद का केंद्र है। आज भी यहां के अध्यात्मवादी लोग विदेश जाना पाप समझते हैं और उसके प्रायश्चित-स्वरूप गोबर खाते हैं, सिर मुंडाते हैं और भोज देते हैं। इस धर्मान्धिता और पाखंड-लिप्सा पर आंसू बहाने की इच्छा होती है। इसी विषय पर 'द्विज' जी ने सहयोगी 'आज' में एक बड़े मजे का नोट लिखा है। आप प्रायश्चित की व्याख्या करने के बाद कहते हैं–

'आज अगर समझते हैं कि विदेश यात्रा कोई पाप नहीं, तो आपका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि इसके लिए प्रायश्चित का दबाव डालने वालों का आप निर्भीकता के साथ दिखा दें, कि आप में पाखंड के विरुद्ध करने की शक्ति का अभाव नहीं है। और अगर आप ऐसा नहीं कर सकते, या स्वयं भी इस प्रकार के पाखंड में विश्वास रखते हैं, तो फिर आपका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि आप विदेश जाने के पाप से ही अपने को बचाए रहें....।'

इसी पाखंड ने और इन्हीं पाखंड़ियों ने भारत को चौपट किया और आज भी उनका वैसा ही पाखंड राज है।

[संपादकीय। 'हंस', जनवरी, 1934, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

एम० सी० सी० की जय

कहते हैं कि फ्रेंच-क्रांति के पहले जनता तो भूखों मरती थी और उनके शासक और जमींदार और महाजन नाटक और नृत्य में रत रहते थे, वहीं दृश्य आज हम भारत

में देख रहे हैं। देहातों में हाहाकार मचा हुआ है। शहरों में गुलछर्रे उड़ रहे हैं। कहीं एम॰ सी॰ सी॰ की धूम है, कहीं हवाई जहाजों के मेले की। बड़ी बेदर्दी से रुपये उड़ रहे हैं। काशी के इस क्रिकेट-मैच में कम-से-कम पांच हजार आदमी तमाशा देख रहे थे। कम-से-कम पच्चीस हजार रुपये केवल टिकटों से वसूल हुए और दिया किसने, उन्हीं बाबुओं और अमीरों ने जिनसे शायद किसी राष्ट्रीय काम के लिए कौड़ी न मिल सके। खूब तमाशे देखे जावें, खूब मजे उड़ाए जावें। यह दुनिया है, कौन किसी के दुःख से दुःखी होता है। यह सिरफिरों का काम है। संसार उनका है, जो मौज करते हैं। शहर के अंदेशों से मरने वाले अभागे काजी को मरना ही चाहिए। दया अमीरों का चोंचला है, उसकी हमें जरूरत नहीं। न्याय के आने में देर है, तब तक चैन किए जावे। सुना इस मैच में विजयनगरम् टीम जीत गई। बस अब स्वराज्य मिलने में देरी नहीं है।

[संपादकीय। 'जागरण', 15 जनवरी 1934, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

'घृणा-प्रचारक' महात्मा बुद्ध

हिन्दू-धर्म—शुद्ध सनातन हिन्दू-धर्म—के अनुसार भगवान् के नवें अवतार भगवान् बुद्ध थे। उनकी गणना साधारण चौबीस अवतारों में नहीं, वरन् दस प्रधान अवतारों में है। अबसे 2400 वर्ष पूर्व उन्होंने जो कुछ कहा था, उससे हमारे कुछ प्रयागी साहित्यिकों के अनुसार उन्हें 'घृणा के प्रचारक' ही नहीं, परंतु 'घृणा के घोर प्रचारक' की उपाधि अवश्य दी जानी चाहिए। जिस किसी को आशंका हो, वह महापंडित त्रिपिटकाचार्य्य राहुल सांकृत्यायन-कृत 'बुद्धचर्या' (प्रकाशक—श्री शिवप्रसाद गुप्त, सेवा उपवन, काशी) के 385वें पृष्ठ वाला नीचे दिया गया 'सुनक सुत्त' उद्धरण पढ़ लें। जब स्वयं भगवान् के अवतार ने वह सिलसिला आरंभ किया था, तब उसे जारी रखने में बेचारे मनुष्य क्यों दोषी कहे जाएं? भगवान् बुद्ध के समय से ब्राह्मणों के चरित्र में कितनी उन्नति हुई है, उसका इस्टीमेट प्रयाग के इन्हीं साहित्यिकों से मिलेगा। उद्धरण यह है—

सुनक सुत्त

"ऐसा मैंने सुना—एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिंड के आराम जेतवन में विहार करते थे।

भिक्षुओ ! यह पांच पुराण ब्राह्मण-धर्म इस समय कुत्तों में दिखाई देते हैं। कौन से पांच? भिक्षुओ ! पहले ब्राह्मण ब्राह्मणों के पास जाते हैं, अब्राह्मण के पास नहीं। भिक्षुओ ! इस समय ब्राह्मण ब्राह्मणी के पास भी जाते हैं। अब्राह्मणी के पास भी। (किंतु) भिक्षुओ ! कुत्ते कुत्तियों के ही पास जाते हैं, अकुत्तियों के पास नहीं। यह भिक्षुओ ! प्रथम पुराण ब्राह्मण-धर्म है, जो इस समय कुत्तों में दिखाई देता है।"

"पहले भिक्षुओ ! ब्राह्मण ऋतुमती ब्राह्मणी के पास ही जाते थे, अऋतुमती के पास नहीं। आजकल अऋतुमती के पास भी।"

"पहले भिक्षुओ ! ब्राह्मण ब्राह्मण को न खरीदते थे, न बेचते थे, परस्पर प्रेम

के साथ ही सहवास....करते थे। आजकल ब्राह्मण ब्राह्मणी को खरीदते भी हैं, बेचते भी हैं, परस्पर प्रेम के साथ भी....अप्रेम के साथ भी....।''

''पहले....ब्राह्मण, धन का, धान्य का, चांदी-सोने (रजत जातरूप) का संग्रह नहीं करते थे। इस समय....संग्रह करते हैं।''

''पहले भिक्षुओ ! ब्राह्मण सायंकाल के भोजन के लिए सायं, प्रात:काल के भोजन के लिए प्रात: खोज करते थे। इस समय भिक्षुओ !, ब्राह्मण इच्छा-भर पेट भर खा, बाकी (घर) ले जाते हैं। इस समय भिक्षुओ ! कुत्ते संध्या के भोजन के लिए। यह भिक्षुओ ! पांचवां पुराण ब्राह्मण-धर्म इस समय कुत्तों में दिखाई देता है, ब्राह्मणों में नहीं। भिक्षुओ ! यह पांच पुराण ब्राह्मण-धर्म इस समय कुत्तों में दिखाई देते हैं।''

[संपादकीय। 'जागरण', 15 जनवरी, 1934, में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य', खण्ड-2 में संकलित।]

महाराजा बड़ौदा का अनुरोध

अब की विज्ञान-सम्मेलन में विज्ञानाचार्यों को संबोधित करके महाराजा साहब ने उनसे अनुरोध किया कि आप जो कुछ खोज करते हैं, उसके फल को जनता तक पहुंचाने का भी उद्योग कीजिए, वरना जनता को आपकी खोजों से क्या लाभ ! लेकिन हमारे विज्ञानाचार्य खोज करते हैं खोज के लिए, उसी तरह जैसे कलाकार लिखता है कला के लिए और खाने वाला खाता है खाने के लिए, और रोने वाला रोता है रोने के लिए। जब कोई उस्ताद जी संगीताचार्यों के सामने आते हैं तो कला की ऐसी-ऐसी कलाबाजियां दिखाते हैं मानो कला उन्हीं पर खत्म हो गई; उन्हें हज़ारों दर्शकों से मतलब नहीं। वे तो उन्हीं उस्तादों से दाद लेना चाहते हैं, उन्हीं पर अपनी कला का सिक्का बिठाना चाहते हैं। वही हाल हमारे विज्ञानाचार्यों का है। वे खोज करते हैं विज्ञानाचार्यों के लिए, सत्य के लिए। उन्हें उपयोगिता से मतलब? यह किसी ने कभी कह भी तो दिया कि ज्ञान भी ज्ञान के लिए है, उपयोगिता से उसे कोई मतलब नहीं। एक विज्ञानी दूसरे विज्ञानी की तारीफ करता है, यही उनके संतोष के लिए काफी है।

[संपादकीय। 'जागरण', 15 जनवरी, 1934, में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

युवकों में राष्ट्र प्रेम

सांप्रदायिकता की इस मंडलाकार घनघटा में कभी-कभी रजत रेखा भी दिखाई दे जाती है, जिससे राष्ट्रवादियों की मुरझाई आशाएं फिर हरी हो जाती हैं। शायद दो साल हुए अलीगढ़ में विश्वविद्यालय के एक छात्र सम्मेलन में सांप्रदायिकता के विरुद्ध

एक प्रस्ताव पास हुआ था। गत सप्ताह में लखनऊ में युक्त प्रांत के छात्र-सम्मेलन में फिर यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ है कि 'प्रांतीय यूनिवर्सिटी फेडरेशन से अनुरोध किया जाए कि त्रह सांप्रदायिकता के कुचलने का आयोजन करे।' इस प्रस्ताव की उपयोगिता और कुछ हो या न हो, इससे इतना तो अनुमान किया ही जा सकता है कि हवा का रुख किधर है। इस सम्मेलन के सभापति सर मुहम्मद याकूब थे, जो कई बार अपनी अराष्ट्रीयता का परिचय दे चुके हैं, उनके सभापतित्व में ऐसे प्रस्ताव का पास हो जाना इसी बात का प्रमाण नहीं है कि हमारे युवकों ने अनेक अवसरों पर सिद्ध कर दिया है कि उन्हें सांप्रदायिकता से कोई सरोकार नहीं है, नहीं, उन्होंने इसकी खुले शब्दों में निंदा की है। और उन देवियों में हिन्दू देवियां भी हैं, मुसलिम देवियां भी। युवकों ने भी अपने राष्ट्र-प्रेम का परिचय एक से अधिक अवसरों पर दे दिया। अब केवल पुराने दकियानूस रह गए। मगर वह प्रभात के दीपक हैं। भारत का भविष्य उज्ज्वल मालूम हो रहा है।

[सपादकीय। 'जागरण', 15 जनवरी, 1934, मे प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-2 मे संकलित।]

समाजवाद का आतंक

यह डिक्टेटरशिप का युग है। जनमतवाद के दिन लद गए। रूस, जर्मनी, इटली, आस्ट्रिया, स्पेन, गरज जहां देखो डिक्टेटरशिप का राज है। जहां प्रत्यक्ष रूप से डिक्टेटरशिप नहीं है, वहां भी व्यावहारिक रूप से उसने दखल कर लिया है, जैसे अमेरिका। अब इंग्लैंड को भी खटका होने लगा है कि कहीं इस खिचड़ी शासन के बाद समाजवादी डिक्टेटरशिप न खड़ी हो जाए। मगर इंग्लैंड-जैसे पूंजी-प्रधान देश में शायद ही ऐसी स्थिति पैदा हो सके। हां, यह हो सकता है कि फैसिस्ट डिक्टेटरशिप खड़ी हो जाए। कुछ भी हो, वहां अभी से उस संभाव्य स्थिति का सामना करने की तैयारियां होने लगी हैं। इंग्लैंड में फैसिज्म के आने की देर है। फिर योरोप का सारा नि:शस्त्रीकरण गायब हो जाएगा। हमें खुश होना चाहिए कि सफेद कागज का वायसराय पक्का डिक्टेटर होगा, बिलकुल, अपटुडेट।

[संपादकीय। 'जागरण', 15 जनवरी 1934, म प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-2 मे सकलित।]

सांप्रदायिकता और संस्कृति

सांप्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है। उसे अपने असली रूप में निकलते शायद लज्जा आती है, इसलिए वह गधे की भांति जो सिंह की खाल ओढ़कर जंगल के जानवरों पर रोब जमाता फिरता था, संस्कृति का खोल ओढ़कर आती है। हिन्दू अपनी संस्कृति को कयामत तक स्वरक्षित रखना चाहता है, मुसलमान अपनी संस्कृति को। दोनों ही अभी तक अपनी-अपनी संस्कृति को अछूती समझ रहे हैं, यह भूल गए हैं, कि अब न कहीं मुसलिम-संस्कृति है, न कहीं हिन्दू-

संस्कृति, न कोई अन्य संस्कृति, अब संसार में केवल एक संस्कृति है और वह है आर्थिक संस्कृति, मगर हम आज भी हिन्दू और मुसलिम संस्कृति का रोना रोए चले जाते हैं। हालांकि संस्कृति का धर्म से कोई संबंध नहीं। आर्य संस्कृति है, ईरानी संस्कृति है, अरब संस्कृति है, लेकिन ईसाई-संस्कृति और मुसलिम या हिन्दू संस्कृति नाम की कोई चीज नहीं है। हिन्दू मूर्तिपूजक है, तो क्या मुसलमान कब्र-पूजक और स्थान-पूजक नहीं है, ताजिए को शर्बत और शीरीनी कौन चढ़ाता है, मसजिद को खुदा का घर कौन समझता है? अगर मुसलमानों में एक संप्रदाय ऐसा है, जो बड़े-से-बड़े पैगंबरों के समाने सिर झुकाना भी कुफ्र समझता है, तो हिन्दुओं में भी एक संप्रदाय ऐसा है जो देवताओं को पत्थर के टुकड़े और नदियों को पानी की धारा और धर्म-ग्रंथों को गपोड़े समझता है। यहां तो हमें दोनों संस्कृतियों में कोई अंतर नहीं दीखता।

तो क्या भाषा का अंतर है? बिलकुल नहीं। मुसलमान उर्दू को अपनी मिल्ली भाषा कह लें, मगर मदरासी मुसलमान के लिए उर्दू वैसी ही अपरिचित वस्तु है, जैसे मदरासी हिन्दू के लिए संस्कृति। हिन्दू या मुसलमान जिस प्रांत में रहते हैं, सर्व-साधारण की भाषा बोलते हैं, चाहे वह उर्दू हो या हिन्दी, बंगला हो या मराठी। बंगाली मुसलमान उसी तरह उर्दू नहीं बोल सकता और न समझ सकता है, जिस तरह बंगाली हिन्दू। दोनों एक ही भाषा बोलते हैं। सीमा प्रांत का हिन्दू उसी तरह पश्तो बोलता है, जैसे वहां का मुसलमान।

फिर क्या पहनावे में अंतर है? सीमाप्रांत के हिन्दू और मुसलमान आपके सामने खड़े कर दिए जाएं, कोई तमीज नहीं। हिन्दू स्त्री-पुरुष भी मुसलमानों के-से शलवार पहनते हैं, हिन्दू-स्त्रियां मुसलमान स्त्रियों की ही तरह कुरता और ओढ़नी पहनती-ओढ़ती हैं। हिन्दू पुरुष भी मुसलमानों की तरह कुलाह और पगड़ी बांधता है। अक्सर दोनों ही दाढ़ी भी रखते हैं। बंगाल में जाइए, वहां हिन्दू और मुसलमान-स्त्रियां दोनों ही साड़ी पहनती हैं, हिन्दू और मुसलमान-पुरुष दोनों कुरता और धोती पहनते हैं। तहमद की प्रथा बहुत हाल में चली है, जब से सांप्रदायिकता ने जोर पकड़ा है।

खान-पान को लीजिए। अगर मुसलमान मांस खाते हैं, तो हिन्दू भी अस्सी फीसदी मांस खाते हैं। ऊंचे दरजे का हिन्दू भी शराब पीते हैं, ऊंचे दरजे के मुसलमान भी। नीचे दरजे के हिन्दू भी शराब पीते हैं, नीचे दरजे का मुसलमान भी। मध्यमवर्ग के हिन्दू या तो बहुत कम शराब पीते हैं, या भंग के गोले चढ़ाते हैं, जिसका नेता हमारा पंडा-पुजारी क्लास है। मध्यवर्ग के मुसलमान भी बहुत कम शराब पीते हैं, हां कुछ लोग अफीम की पीनक अवश्य लेते हैं, मगर इस पीनकबाजी में हिन्दू भाई मुसलमानों से पीछे नहीं हैं। हां, मुसलमान गाय की कुर्बानी करते हैं और उनका मांस खाते हैं, लेकिन हिन्दुओं में भी ऐसी जातियां मौजूद हैं, जो गाय का मांस खाती हैं, यहां तक कि मृतक में मांस भी नहीं छोड़तीं, हालांकि बधिक और मृतक मांस में विशेष अंतर नहीं है। संसार में हिन्दू ही एक ऐसी जाति है, जो गो-मांस को अखाद्य या अपवित्र समझती है। तो क्या इसलिए हिन्दूओं को समस्त संसार से धर्म-संग्राम छेड़ देना चाहिए?

संगीत और चित्र-कला भी संस्कृति का एक अंग है, लेकिन यहां भी हम कोई सास्कृतिक भेद नहीं पाते। वही राग-रागनियां दोनों गाते हैं और मुगल काल की चित्र-कला से भी हम परिचित हैं। नाट्य कला पहले मुसलमानों में न रही हो, लेकिन आज इस सीगे में भी हम मुसलमानों को उसी तरह पाते हैं जैसे हिन्दुओं को।

फिर हमारी समझ में नहीं आता, कि वह कौन-सी संस्कृति है, जिसकी रक्षा के लिए सांप्रदायिकता इतना जोर बांध रही है। वास्तव में संस्कृति की पुकार केवल ढोंग है, निरा पाखंड। और इसके जन्मदाता भी वही लोग हैं, जो सांप्रदायिकता की शीतल छाया में बैठे विहार करते हैं। यह सीधे-सादे आदमियों को सांप्रदायिकता की ओर घसीट लाने का केवल एक मंत्र है और कुछ नहीं। हिन्दू और मुसलिम संस्कृति के रक्षक वही महानुभाव और वही समुदाय हैं, जिनको अपने ऊपर, अपने देशवासियों के ऊपर और सत्य के ऊपर कोई भरोसा नहीं, इसलिए अनंत तक एक ऐसी शक्ति की जरूरत समझते हैं जो उनके झगड़ों में सरपंच का काम करती रहे। इन संस्थाओं को जनता के सुख-दु:ख से कोई मतलब नहीं, उनके पास ऐसा कोई सामाजिक या राजनैतिक कार्यक्रम नहीं है, जिसे राष्ट्र के सामने रख सकें। उनका काम केवल एक- दूसरे का विरोध करके सरकार के सामने फरियाद करना और इस तरह विदेशी शासन को स्थायी बनाना है। उन्हें किसी हिन्दू या किसी मुसलिम शासन की अपेक्षा विदेशी शासन कहीं सह्य है। वे ओहदों और रिआयतों के लिए एक-दूसरे से चढ़ा-ऊपरी करके जनता पर शासन करने में शासक के सहायक बनने के सिवा और कुछ नहीं करते।

मुसलमान अगर शासकों का दामन पकड़कर कुछ रिआयतें पा गया है, तो हिन्दू क्यों न सरकार का दामन पकड़े और क्यों न मुसलमानों ही की भांति सुर्खरू बन जाए। यही उनकी मनोवृत्ति है। कोई ऐसा काम सोच निकालना, जिससे हिन्दू और मुसलमान दोनों एक होकर राष्ट्र का उद्धार कर सकें, उनकी विचार-शक्ति से बाहर है। दोनों ही सांप्रदायिक संस्थाएं मध्यवर्ग के धनिकों, जमींदारों, ओहदेदारों, और पद-लोलुपों की हैं। उनका कार्य-क्षेत्र अपने समुदाय के लिए ऐसे अवसर प्राप्त करना है, जिससे वह जनता पर शासन कर सकें, जनता पर आर्थिक और व्यावसायिक प्रभुत्व जमा सकें। साधारण जनता के सुख-दु:ख से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। अगर सरकार की किसी नीति से जनता को कुछ लाभ होने की आशा है, और इन समुदायों को कुछ क्षति पहुंचने का भय है, तो वे तुरंत उसका विरोध करने को तैयार हो जाएगी। अगर और ज्यादा गहराई तक जाएं, तो हमें इन संस्थाओं में अधिकांश ऐसे सज्जन मिलेंगे जिनका कोई-न-कोई निजी हित लगा हुआ है। और कुछ न सही तो हुक्काम के बंगलों पर उनकी रसाई ही सरल हो जाती है। एक विचित्र बात है कि इन सज्जनों की अफसरों का निगाह में बड़ी इज्जत है, इनकी वे बड़ी खातिर करते हैं। इसका कारण इसके सिवा और क्या है कि वे समझते हैं, ऐसों पर ही उनका प्रभुत्व टिका हुआ है। आपस में खूब लड़े जाओ, खूब एक-दूसरे को नुकसान पहुंचाओ। उसके पास फरियाद ले जाओ, फिर उन्हें किसका गम है, वे अमर हैं। मजा यह है कि बाजों ने यह पाखंड फैलाना भी शुरू कर दिया है कि हिन्दू अपने बूते पर स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं। इतिहास से उसके उदाहारण भी दिए जाते हैं। इस तरह की गलत

फहमियां फैलाकर इसके सिवा कि मुसलमानों में और ज्यादा बदगुमानी फैले और कोई नतीजा नहीं निकल सकता। अगर कोई जमाना था, जब मुसलमानों के राजकाल में हिन्दुओं ने स्वाधीनता पाई थी, तो कोई ऐसा काल भी था, जब हिन्दुओं के जमाने में मुसलमानों ने अपना साम्राज्य स्थापित किया था। उन जमानों को भूल जाइए। वह मुबारक दिन होगा, जब हमारी शालाओं से इतिहास उठा दिया जाएगा। यह जमाना सांप्रदायिक अभ्युदय का नहीं है। यह आर्थिक युग है और आज वही नीति सफल होगी जिससे जनता अपनी आर्थिक समस्याओं को हल कर सके, जिससे यह अंधविश्वास, यह धर्म के नाम पर किया गया पाखंड, यह नीति के नाम पर गरीबों को दुहने की कृपा मिटाई जा सके। जनता को आज संस्कृतियों की रक्षा करने का न अवकाश है न जरूरत। 'संस्कृति' अमीरों का, पेटभरों का, बेफिक्रों का व्यसन है। दरिद्रों के लिए प्राण-रक्षा ही सबसे बड़ी समस्या है।

उस संस्कृति में था ही क्या, जिसकी वे रक्षा करें। जब जनता मूर्च्छित थी, तब उस पर धर्म और संस्कृति का मोह छाया हुआ था। ज्यों ज्यों उसकी चेतना जागृत होती जाती है, वह देखने लगी है कि यह संस्कृति केवल लुटेरों की संस्कृति थी, जो राजा बनकर, विद्वान बनकर, जगत सेठ बनकर जनता को लूटती थी। उसे आज अपने जीवन की रक्षा की ज्यादा चिंता है, जो संस्कृति की रक्षा के कहीं आवश्यक है। उस पुरानी संस्कृति में उसके लिए मोह का कोई कारण नहीं है। और सांप्रदायिकता उसकी आर्थिक समस्याओं की तरफ से आंखें बंद किए हुए ऐसे कार्यक्रम पर चल रही है, जिससे उसकी पराधीनता चिरस्थाई बनी रहेगी।

[संपादकीय। 'जागरण', 15 जनवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

अच्छी और बुरी सांप्रदायिकता

'इंडियन सोशल रिफार्मर' अंग्रेजी का समाज-सुधारक-पत्र है और अपने विचारों की उदारता के लिए मशहूर है। डॉक्टर आलम के ऐंटी-कम्युनल लीग की आलोचना करते हुए, उसने कहा है कि सांप्रदायिकता अच्छी भी है और बुरी भी। बुरी सांप्रदायिकता को उखाड़ना चाहिए। मगर अच्छी सांप्रदायिकता वह है, जो अपने क्षेत्र में बड़ा उपयोगी काम कर सकती है, उसकी क्यों अवहेलना की जाए। अगर सांप्रदायिकता अच्छी हो सकती है, तो पराधीनता भी अच्छी हो सकती है, मक्कारी भी अच्छी हो सकती है, झूठ भी अच्छा हो सकता है, क्योंकि पराधीनता में जिम्मेदारी से बचत होती है, मक्कारी से अपना उल्लू सीधा किया जाता है और झूठ से दुनिया को ठगा जाता है। हम तो सांप्रदायिकता को समाज का कोढ़ समझते हैं जो हर एक संस्था में दलबंदी कराती है और अपना छोटा-सा दायरा बना सभी को उससे बाहर निकाल देती है।

[संपादकीय। 'जागरण', 22 जनवरी, 1934, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

कुमारी शिक्षा का आदर्श

शिक्षा विभाग के अध्यक्ष मि॰ मेकेंजी ने मुरादाबाद की एक कन्या पाठशाला में कुमारियों की शिक्षा का जो आदर्श उपस्थित किया, उस पर हमारी देवियां उनसे खुश होंगी या नाराज, यह हम नहीं जानते। आपके विचार में कुमारों और कुमारियों की शिक्षा में वही अंतर होना चाहिए, जो उनके जीवन में है। समीकरण और वायुविज्ञान से उनके जीवन का कोई उपकार नहीं होता। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली उन्हें माता और गृहिणी बनने के योग्य नहीं बनाती। मुश्किल तो यह है कि पुरुषों ने महिलाओं को इतना सताया है कि अब वे माताएं और गृहिणी न बनकर अपनी आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त करने पर तुली हुई हैं। अगर पुरुष बच्चे पालना और भोजन पकाना नहीं जानते, तो, स्त्री क्यों सीखे। जो विद्या पढ़कर पुरुष रोटी कमाता है और इसलिए औरतों को अपनी लौंडी समझता है, वही विद्या स्त्रियां भी सीखना चाहती हैं। वह खाना क्यों पकाएं, वकालत क्यों न करें, अध्यापिका क्यों न बनें? इसका फैसला हमारी देवियों को ही करना चाहिए कि उनकी कन्याएं कैसी शिक्षा पाएं, स्वार्थी पुरुषों का फैसला वह क्यों मंजूर करने लगीं।

[संपादकीय। 'जागरण', 22 जनवरी, 1934, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

जमींदारों की दुर्दशा

बेचारे जमींदारों की दशा रखेली स्त्री की-सी हो रही है, जिसके यौवन की बहार अब चल-चलाव पर हो। एक समय था, जब उसका आशिक उस पर प्राण न्योछावर करता था, उसकी एक-एक अदा पर जान कुर्बान करता था। एक-एक नखरे पर लोट-पोट हो जाता था, एक-एक चितवन पर कलेजा थाम लेता था, लेकिन यौवन के उतार के साथ वह दिन और वह रातें सपना हो गईं। अब बेचारी तरह-तरह के रंग भरती है, आठों पहर मिस्सी-सुरमे के पीछे पड़ी रहती है, बसीकरन के जंतर-मंतर करती रहती है, लेकिन भौरा-प्रेमी अब भागा-भागा फिरता है। न वह पराग रह गया, न वह रस, फिर नीरस फूल उसके किस काम का। अब तो यह जीवन है, और पट्टी पर सिर रखकर रोना है। प्रेमी के पैरों पर लाख सिर पटके, लाख उसके तलवे सहलाए, लाख जादू-टोना करे, कुछ होने का नहीं। अब तो वह भी कृष्ण की भाँति इन गोपियों को वैराग्य का उपदेश करता है।

ये बेचारियां उन पुराने दिनों की याद दिलाती हैं, अपनी वफादारी और निष्ठा और अनुराग की कथाएं कहती हैं, लेकिन वह पट्ठा एक ही जवाब देता है—वैराग्य धारण करो। और यह विलास की उपासिकाएं रोष और शोक में सिर धुनती हैं, छाती पीटती हैं, मगर वह कठकलेजिया, वह पाषाण हृदय नहीं पसीजता, नहीं पसीजता। धर्म का या प्रेम का बंधन होता, तो पुरानी गांठ की भाँति दिन-दिन अभेद्य होता जाता, रूप और यौवन के पथरीले स्तरों को तोड़ कर उसी जड़ें कोमल भूमि की गहराइयों में पहुंच जातीं, और उस रस से वृक्ष दिन-दिन और पुष्पित और पल्लवित

होता। लेकिन, यहां तो सब कुछ रूप और यौवन का खेल था।

पत्थर पर की दूब कै दिन टिकती। मगर उन्हीं रमणियों की भांति हमारे जमींदारान भी बराबर समय की गति को फेरने और बीते हुए दिनों को बुलाने की विफल कामना करते चले जाते हैं। जभी मौका मिला चट-पट एक संघ, सभा, ऐसोसिएशन बना लियाँ जाता है और लोग बड़ी-बड़ी पगड़िया बांध और नीची अचकनें पहन और कमर में वफादारी का पटका कस और गरदनों में स्वामिभक्ति के तौक डाल कर गवर्नरों की बारगाह में हाजिर हो जाते हैं, और अपनी लायल्टी और भक्ति के पचड़े शुरू कर देते हैं। मगर यहां वही रूखा जवाब मिलता है—जोग धारण करो, अपने पैरों पर खड़े हो, अपनी सेवा और सहानुभूति से समाज में अपना स्थान स्वरक्षित करो।

लेकिन, ये महाशय कुछ ऐसे चिकने घड़े हैं कि उन पर कुछ भी असर नहीं होता, उसी, गत-यौवना रमणी की भांति शायद ये सज्जन अब भी इसी भ्रम में पड़े रहते हैं कि सरकार पूर्ववत् उनकी पीठ ठोकेगी, उन्हें शाबाशी देगी और कहेगी, तुम हमारे दाहिने हाथ हो, और हम सदैव तुम्हारी मदद करेंगे और तुम्हारी डगमगाती हुई नाव को पार लगा देंगे। इन अक्ल के पुतलों को अब भी नहीं सूझता कि राजनीति की दुनिया में कल का शत्रु आज का मित्र है और कल का मित्र दूध की मक्खी की भांति निकाल कर फेंक दिया जाता है।

सरकार जमींदारों की पीठ तब ठोकती थी, जब वह समझती थी कि ये प्रजा के स्वाभाविक नेता हैं, प्रजा पर इतनी धाक है, ये असंतुष्ट होकर आग लगा सकते हैं और हमारी खेती को जला सकते हैं। लेकिन जब उसने देखा कि ये हजरात भोग-विलास में पड़कर सारा पुरुषार्थ खो चुके हैं, कर्ज के बोझ के नीचे दब चुके हैं, और इनका अस्तित्व अब गरीबों पर अनीति और अत्याचार और सबलों की चापलूसी और जी-हुजूरी पर रह गया है और ये अब उसके लिए शक्ति के यंत्र न रहकर उसकी गति में और बाधक हो रहे हैं, तो उसने इनकी तंबीह शुरू की, कि यों काम न चलेगा, तुम अपने को संगठित करो, खरगोश की नींद से चौंको, अपने सत्कार्यों से प्रजा के दिल में घर करो, किसानों को दिखा दो कि तुम उनके लिए कितने जरूरी हो, देश में ऐसा वातावरण पैदा करो, जो तुम्हारे लिए अनुकूल हो, तो ये सज्जन बगलें झांकते हैं, और उसकी गत-यौवना नायिका की भांति उस निष्ठुरता पर टेसवे बहाते हैं और अपनी तकदीर को कोसते हैं कि किस निर्दयी के पाले पड़ी कि उसने मुफ्त में यौवन लूट लिया, और अब बात भी नहीं पूछता।

मगर वह पुराना आशिक अब भी प्रीति की रीति निभाये जाता है। अब उससे यह आशा तो नहीं की जा सकती, कि वह खिचड़ी केशों को नागिन समझे और झरोखेदार बतीसियों की चमक से चौंधिया जाए और झुकी हुई कमर पर फिदा हो जाये। नहीं, यह वीभत्स लीला अब वह नहीं कर सकता, हां, ऊपरी दिल से चिकनी मीठी बातें कर सकता है, अपने सुगंध भरे रुमाल से उसके आंसू पोंछ सकता है और उसके नान नफके (जीवन निर्वाह) का प्रबंध कर सकता है। मखमली गद्दे न

सही, फिर भी आगरे की दरी देने को तैयार है, लेकिन वह अज्ञात गत-यौवना अभी तक वही हठ किए जाती है, मैं तो जड़ाऊ गहने लूंगी और पानदान का खर्च लूंगी, और लौंडियां लूंगी। मिल चुकीं । यह ठस्से यौवन के साथ चले गये। अब तो उसी रोटी-कपड़े पर दिन काटने पड़ेंगे, हंस-हंसकर काटो या रो-रोकर। गनीमत समझो कि वह प्रीति का इतना निबाह भी कर रहा है।

सूखा ही जवाब देता तो तुम क्या कर लेतीं। धर्म या प्रेम का बंधन तो था नहीं, राजनीति ही का फुस-फुसा और अस्थिर बंधन तो था। सरकार ने कई प्रांतों में जमींदारों ही की रक्षा के लिए 'रईस सभा' (Second Chamber) का निर्माण करना स्वीकार कर लिया, उन्हीं को महाजनों से बचाने के लिए एक-दो कानून बनाये और अब ऐसा कानून बना रही है, जिससे उनकी जायदाद अखंड और अमर रहे। सरकार से अब और वे क्या चाहते हैं, जो सभी अवसरों पर सजधज बनाकर जा पहुंचते हैं। क्या वे चाहते हैं कि सरकार उनकी पुरानी वफादारी के उपलक्ष में उन्हें इस बात की खुली सम्मति दे दे, कि वे प्रजा से मनमाना लगान वसूल करें, मनमाने नजराने लें, मनमानी बेगार करायें, मनमाने इजाफे और बेदखलियां करें, मनमाने भाव पर उनकी जिन्सें खरीदें उन्हें रुपये उधार देकर मनमाना सूद वसूल करें, उन्हें जब चाहें और जितना चाहें पिटवायें उसकी कहीं फरियाद न हो सके। अगर वे यह नहीं चाहते, तो और किसलिए गर्वनरों की दुम के पीछे पूंछ हिलाते फिरते हैं। सर मालकम हेली पचासों बार इस गिरोह को फटकार चुके हैं, दुत्कार चुके हैं, अभी उस दिन बंगाल के गवर्नर ने डांटा था, सभी प्रांतों के गवर्नर बारी-बारी से इन महानुभावों को ठुकरा चुके हैं, फिर भी ये दुम हिलाना नहीं छोड़ते, चुनांचे अभी उस दिन सर मालकल हेली काशी आये तो यह गोल अपनी गुलामी और वफादारी और पातिव्रत का खर्रा लिए उनकी ड्योढ़ी पर हाजिर हो गया।

सर मालकम ने जैसा कि उनका धर्म था, और जैसा कि राजनैतिक शिष्टाचार का तकाजा था, उनको बहुत-बहुत धन्यवाद दिया, उनकी प्रशंसा की, उनके स्वामी-सत्कार का यशोगान किया, और यह सब कुछ कर चुकने पर उन्हें वह उपदेश दिया, जिसने इनमें से अधिकांश महानुभावों को हतोत्साह कर दिया होगा और वे रोते हुए घर गए होंगे, कि यह सारी दवा दीवश और नाक रगड़ौवल और माथ घिसौवल बेकार गई। सर हेली ने कहा-

"आने वाली व्यवस्था का चाहे जो रूप हो, और चाहे कैसे ही राजनैतिक दल बनें, अंतिम निर्णय उन्हीं विचारों के हाथ रहेगा जिनका जनता पर प्रभुत्व होगा, और जो राजनैतिक प्रगति का नियंत्रण करेंगे। आप बाजी ले जाना चाहते हैं, तो आपको अपने सामाजिक महत्त्व का क्रियात्मक प्रमाण देना पड़ेगा। आपको सिद्ध करना पड़ेगा कि जमींदार भी ग्रामीण जीवन में उतने ही उपयोगी हैं जितना किसान....आपको उत्तर में यह प्रमाण देना चाहिए कि जमींदार किसान को जो सहायता देता है, उनसे जो मैत्री का संबंध रखता है, और उनको सामाजिक जीवन से अपना पूरा-पूरा स्थान लेने के लिए जो प्रयत्न करता है, वह किसान ही की भांति हमारे कृषि-व्यापार का आवश्यक अंग है।"

सुना है आप साहबों ने आंखें बंद करके और कान खोल कर? आपको कुछ खबर है कि जनता के दिल पर आज किन विचारों का आधिपत्य है? खूब मुन लीजिए कि यही विचार सरकार की राजनैतिक नीति का नियंत्रण करेंगे, आप चाहे अपनी वफादारी के कितने ही गीत गाएं और कितने ही राग अलापें। आपको अपने सामाजिक महत्त्व का क्रियात्मक प्रमाण देना पड़ेगा, केवल-इजाफे और बेदखली करके या नालिश करके या डंडेबाजी के जोर से लगान वसूल करके चैन की बंसी बजाना नहीं। अगर इसी को आप अपने महत्त्व का क्रियात्मक प्रमाण समझ बैठे हैं तो आप मूर्खों के स्वर्ग की हवा खा रहे हैं। आप इन्हीं कार्यों से यह सिद्ध करेंगे कि ग्रामीण जीवन में जमींदार उतना ही जरूरी है जितना किसान। आपका यह व्यवहार अगर किसी बात का प्रमाण है तो वह आपकी निरंकुशता, आपकी हृदय-शून्यता, आपकी अमानुषिकता, आपकी स्वार्थांधता और आपकी वर्तमान विचारधारा से अनभिज्ञता का उज्ज्वल प्रमाण है। आप अपने वर्ग के लिए विशेष अधिकार और विशेष रियायतें मांग-मांगकर खुद अपने पैरों में कुल्हाड़ी मार रहे हैं और जनमत को अपने विरोध की चुनौती दे रहे हैं।

[सपादकोय। 'जागरण', 22 जनवरी, 1934, मे प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-2 मे सकलित।]

देहातों पर दया-दृष्टि

इंग्लैंड के व्यापारी भारत के गरीब ग्रामीणों पर बड़ी दया करते हैं। बेचारे वहां से इन नंगों के लिए तरह-तरह के कपड़े बनाकर अपने ही जहाजों पर लाद कर पहुंचा देते हैं। जिस चीज की यहां जरूरत हो, वह फौरन से पहले यहां मुहैया कर देते हैं। यह दया-दृष्टि नहीं तो क्या है? अब एक साहब जिनका नाम कर्नल हार्डिंग है संपूर्णत: नि:स्वार्थ भाव से यहां के देहातों में बेतार के गाने और भाषण आदि सुनाने का प्रबंध कर रहे हैं। जब अन्य देशों के गांवों में ब्राडकास्टिंग का प्रचार हो रहा है, तो भारत के किसान क्यों इस आनंद से वंचित रहें। कर्नल हार्डिंग साहब से यह नहीं देखा जाता। पंजाब के देहातों में उनका दौरा भी शुरू हो गया है। हर बड़े गांव में बेतार के यंत्र लगा दिये जाएंगे, कौन बड़ा खर्च है, यंत्र का दाम कुल तीन सौ रुपये है और सालाना खर्च तीस रुपये। इतने थोड़े खर्च में देहात वाले जब बेतार के गाने और बाजे और भाषण सुन सकते हैं, तो क्यों न सुनाया जाय। आखिर देहातियों के पास मनोरंजन का और कौन-सा सामान है। यह यंत्र लग जाएंगे, तो सांझ को देहातों में खासी चहल-पहल हो जायगी। गाने और भाषण सब उनकी अपनी ही भाषा में सुनाए जाएंगे। इंग्लैंड दया करके करोड़-दो करोड़ के यंत्र भेज देगा। भारत में सात लाख गांव हैं। तीन सौ रुपये गांव पीछे मिले, तो कुल इक्कीस करोड़ रुपये ही तो हुए। फिर कुछ पढ़े-लिखे युवकों को रोजी भी तो मिलेगी। इंग्लैंड के व्यापारी सचमुच दया और नि:स्वार्थ के पुतले हैं।

बिल्ली बख्शे, मुर्गा लंडूरा ही रहेगा। जिनके पास न खाने को अन्न है और

न पहनने का वस्त्र, वह ब्राडकास्टिंग सुनकर अपना मनोरंजन न करेंगे, तो कौन करेगा? व्यापार चलाने की कितनी बढ़िया नीति है। यह व्यापारी मानवी प्रकृति की दुर्बलताओं को खूब समझते हैं और उससे खूब अपना मतलब गांठते हैं। मनोविज्ञान उनकी व्यवसाय-वृद्धि के मुख्य साधन है। कल्लोंच-से-कल्लोंच आदमी में भी अमोद-विनोद की प्रवृत्ति होती है। यह व्यवसायी उसी स्थल पर निशाना लगाता है और शिकार मार लेता है।

[संपादकीय। 'जागरण', 22 जनवरी 1934, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

भारतव्यापी भूकंप

15 जनवरी को सवा दो बजे प्रकृति ने भारत को अपनी अंधी पैशाचिक शक्ति का जो परिचय दिया, उसने कितने ही आस्तिकों को नास्तिक बना दिया होगा। शायद उसने सोचा, मनुष्य अपने खिलौने वायुयानों और बेतारों को लेकर बहुत बहक रहा है, जरा उसे एक बार फिर अपनी शक्ति का मजा चखा दो। बस भूकंप ने यह मजा चखाने का बीड़ा उठा लिया और नेपाल की तराई से उठकर बिहार का विध्वंस करता, संयुक्त प्रांत की जड़ें हिलाता, दक्षिण को ठोकर मारता, मद्रास के पेट में सिहरन डालता, बंगाल की खाड़ी में विलीन हो गया। कहते हैं 1890 में भी भीषण भूंकप आया था। आया होगा, मगर हमारा खयाल तो यह है कि वह इसका छोटा भाई रहा होगा। बिहार प्रांत में तिरहुत, दरभंगा, गया, मुजफ्फरपुर, भागलपुर, पटना, आरा आदि नगरों में जान और माल की कितनी क्षति हुई, इसकी अभी तक कोई गणना नहीं हो सकी और न शायद कभी हो सकेगी। एक हवाई जहाज ने तिरहुत का मुआइना किया है और उसके संचालक का कहना है कि मुजफ्फरपुर वीरान हो गया और सड़कें लाशों से पटी पड़ी हैं। तीन सौ जानें तो केवल दरभंगा में गयीं। ऐसा शायद ही कोई मकान बचा हो, जिसको कुछ-न-कुछ धक्का न पहुंचा हो। हजारों मकान गिर पड़े, रेलों के पुल टूट गये, रेल की पटरियां हुमस गयीं, तार के खंभे टूट गये। कितने ही स्थानों में लोग सड़कों और मैदानों में समय काट रहे हैं। शक्कर के कितने ही मिल तबाह हो गये। जमालपुर में रेल-विभाग के सैंकड़ों मकान मिसमार हो गये और रेल के कारखाने मिट गये। कितने ही मजदूरों की जान गयी। तिरहुत में भूमि में बड़ी-बड़ी दरारें हो गयीं और उसमें से गंधक मिला हुआ पानी निकल पड़ा और जमीन पर पांच फुट पानी की बाढ़ आ गयी, जिससे सारे कुओं का पानी जहरीला हो गया। सरकारी इमारतें तो शायद ही कोई बची हों। इस प्रांत में इतना भीषण आघात तो न था, पर ऐसा जरूर था, कि लोग उसे इस जीवन में न भूल सकेंगे। बड़े-बड़े महल इस तरह हिल रहे थे कि जैसे हवा से पत्ते हिलते हैं। शहरों में बिरला ही कोई ऐसा मकान होगा, जिसकी मुंडेर या छत या दीवारें न फट गयी हों। काशी ही में 25 आदमी जख्मी हो गये और दो मर गये। सभी शहरों की यही दशा हुई है। यदि सात ग्रहों के संयोग का यह फल था, तब तो इस खयाल से संतोष होता है कि ये अभागे ग्रह फिर सौ-दौ सौ वर्ष में एकत्र होंगे। लेकिन जैसी एक विज्ञानाचार्य की राय है,

अगर यह आक्रमण इसलिए हुआ है, कि हिमालय के शिलाखंड जल के आघात से टूटते जाते हैं और पृथ्वी पर उसका दबाव कम हो गया और इससे अंतस्तल की उष्णता मुक्त होकर दौड़ रही है, तब तो भारत का भविष्य बड़ा संकटमय जान पड़ता है, क्योंकि शिलाखंड तो टूटते ही रहेंगे और हिमालय का दबाव उत्तरोत्तर कम ही होता जायगा। हां, कोई बड़ा भारी ज्वालामुखी उबल पड़े और एक बार फिर भीतर से एक दूसरा हिमालय उंडेल कर निकाल दे, तो शायद दबाव बराबर हो जाय। जो कुछ भी हो, इस वक्त तो सबसे बड़ी और कठिन समस्या यह है, कि इन गिरे हुए और फटे हुए मकानों की मरम्मत कैसे होगी। अधिकांश आदमियों में तो सामर्थ्य ही नहीं कि मकानों की मरम्मत करा सकें। विवश होकर जीर्ण घरों में पड़े रहेंगे और वर्षा काल में उनकी क्या दशा होगी, इसकी कल्पना ही से रोमांच हो जाता है। कम-से-कम म्युनिसिपैलिटियों को इतना तो करना ही चाहिए कि, जिन इमारतों को खतरनाक देखें, उन्हें खाली करवा के उनकी मरम्मत करावें। हमारे समाज-सेवकों को रिलीफ के काम में अग्रसर होना चाहिए।

[संपादकीय। 'जागरण', 22 जनवरी, 1934, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

मुसलिम छात्रों से

बंबई मुसलिम स्टूडेंट्स यूनियन में बंबई-सरकार के अर्थसचिव सर गुलाम हुसेन हिदायतुल्लाह ने जो भाषाण दिया, उसे पढ़कर ऐसा कौन-सा राष्ट्रप्रेमी है, जिसका दिल आनंद से खिल न उठेगा। इस सांप्रदायिक हो-हल्ले के युग में वह भाषण व्यापक अंधकार में एक दीपक के सामन है। मुसलिम-नेताओं में ऐसे सज्जन उंगलियों पर गिने जा सकते हैं, जो देश की समस्याओं पर राष्ट्र की दृष्टि से देखते हों। आपने छात्रों को आत्मनिर्भरता का महत्त्व दर्शाते हुए यह बहुत सत्य कहा कि "बात-बात में अपने समुदाय के लिए विशेष रियायतों की हांक लगाना अपमानजनक है। हमें अपने पैरों पर खड़ा होना सीखना चाहिए। हमें केवल अपनी योग्यता के बल पर आगे बढ़ना चाहिए, और इसी तरह हम अपने सामुदायिक कलंक को धो सकेंगे।"

आगे चलकर आपने कहा-

"हमारा धर्म हमें ऐक्य की शिक्षा देता है, अपने संप्रदाय में ही नहीं, दूसरों के साथ भी। सच तो यह है कि इन्हीं सांप्रदायिक भेदों से हमारा पतन हुआ है। हम सब बराबर हानि उठा रहे हैं। हमें अपने ही हितों के विचार से मिल जाना चाहिए। इन भेदों का कारण है अविश्वास और संदेह। हम दूसरों के दृष्टिकोण से नहीं देखते।"

इसके बाद आपने अपने सहधर्मियों की इस शंका का समाधान किया कि हिन्दू उन पर अधिकार जमाना चाहते हैं। आपने जोर देकर कहा कि यह शंका निस्सार है, "क्योंकि संख्या के हाथों में शक्ति नहीं होती, बल्कि मस्तिष्क के हाथ में होती है।"

काश मुसलमानों में ऐसे समदर्शी सज्जनों की संख्या इतनी कम न होती।

[संपादकीय। 'जागरण', 22 जनवरी, 1934, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

रियासतों की रक्षा का बिल

सरकार ने अपनी लाडली रियासतों की रक्षा के लिए एक नया कानून बनाने की ठान ली। इसके अनुसार किसी रियासत की आलोचना करना जुर्म समझा जाएगा और सरकार ऐसे आलोचकों को जब चाहेगी गिरफ्तार करके मुकदमा चलाएगी। अभी ऐसी रियासतों की दु:खी प्रजा कभी-कभी ब्रिटिश भारत के समाचार-पत्रों में अपने कष्ट का रोना रोकर अपना मन शांत कर लिया करती थी, इससे जनता को रियासतों का कुछ रहस्य मालूम हो जाता था, और राजे भी लोकमत के भय से कुछ सचेत हो जाते थे, मगर इस कानून से ऐसे लेखों का प्रकाशित होना कठिन हो जाएगा। फिर तो हमारे राजे और महाराजे जी खोलकर प्रजा पर अत्याचार करेंगे, कोई चूं न कर सकेगा। किसी अखबार ने इस पर कुछ लिखा और बड़े घर पहुंचा दिया जायेगा। यह बिल सम्मति के लिए प्रांतीय सरकारों और हाईकोर्ट के जजों के पास भेजा गया था। प्रांतीय सरकारों ने तो दिल खोलकर उसका स्वागत किया, जैसा उनका धर्म था। हाईकोर्टों के जजों में बहुतों ने तो उस पर कुछ राय देना उचित न समझा, कुछ ने उसमें बाल की खाल निकाली। केवल इलाहाबाद हाईकोर्ट के दो जजों ने—मि॰ जस्टिस नियामतुल्लाह चौधरी और मि॰ जस्टिस रक्षपालसिंह ने ही उसका विरोध किया है। चौधरी साहब का कथन है कि पीड़ितों को अपनी शिकायतों को वाइसराय के कानों तक पहुंचाने का अधिकार और रियासतों के हाई कोर्टों के विरुद्ध प्रिवी-कौंसिल में अपील करने की इजाजत मिलनी चाहिए। जस्टिस रक्षपालसिंह का एतराज यह है कि आखिर रियासती प्रजा को अपने कष्ट निवारण का और कौन-सा साधन रह जाता है। इसका नाम है निर्भीक न्यायप्रियता।

[संपादकीय। 'जागरण', 22 जनवरी, 1934, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

काश्मीर की एसेंबली में उर्दू

काश्मीर में नई व्यवस्थापिका की जो योजना प्रकाशित हुई है, उसमें जमींदारों और महाजनों के लिए विशेष निर्वाचन नहीं रखा गया है और यहां अंग्रेजी सरकार जमींदारों की रक्षा के लिए एक द्वितीय सभा आवश्यक समझ रही है। यह कौन नहीं जानता कि निर्वाचन में अधिकतर जमींदार और धनवान ही कामयाब होते हैं, इसलिए इन समुदायों के लिए विशेष निर्वाचन की व्यवस्था वास्तव में उन्हें दोहरा निर्वाचन देना है। इसके साथ ही काश्मीर-दरबार ने बहुमत का आदर करके वहां की व्यवस्थापिका सभा की सारी कार्रवाई उर्दू में करने का निश्चय किया है। एसेंबली के मेम्बरों के लिए उर्दू का ज्ञान आवश्यक रखा गया है। उर्दू काश्मीर के मुसलमानों की भाषा हो या न हो, लेकिन उन्हें उर्दू से प्रेम है। अतएव सरकार ने उनके भावों का आदर करके वही किया है, जो उसे करना चाहिए था। हमारी व्यवस्थापिका सभाओं में क्यों बहुमत की भाषा का प्रचार नहीं किया जाता? यहां क्यों सारी कार्रवाई अंग्रेजी में की जाती है?

[संपादकीय। 'जागरण', 29 जनवरी, 1934, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

प्रकृति का तांडव

ज्यों-ज्यों इस देशव्यापी भूकंप के समाचार आते जाते हैं, यह निश्चय दृढ़ होता जाता है कि यह भी उन्हीं प्रलयंकारी घटनाओं में है, जिन्होंने दूर अतीत में समुद्रों को पर्वत और पर्वतों को समुद्र, महाद्वीप को महासागर और महासागर को महाद्वीप बना दिया। इतिहास इतने भयंकर भूकंप से अनभिज्ञ है पहले तीन-चार हजार हतों का अनुमान था। अब यह संख्या दस-गुनी बढ़ गयी है और कुछ लोगों का अनुमान है कि पचास हजार से कम आदमियों की हानि नहीं हुई, धन की कितनी हानि हुई, इसका अंदाजा ही नहीं किया जा सकता। मोतिहारी, मुजफ्फरपुर, मुंगेर तो मिट गए, दरभंगा, पटना, गया, जमालपुर आदि स्थानों पर भी विपत्ति कुछ कम नहीं आयी। उनका वर्णन सुन-सुनकर कलेजा दहल जाता है, खून सर्द हो जाता है। सोचिए, उस आदमी की क्या दशा होगी, जो अपने प्यारों को हंसते-खेलते छोड़कर दफ्तर या दुकान गया हो और प्रकृति के इस उच्छ्वास के बाद दौड़ा हुआ घर आये, तो देखे कि उसका सर्वनाश हो चुका है। कितना हृदय-विदारक दृश्य है।

अब हमारा क्या कर्तव्य है? क्या यही कि जब दो-चार मित्र मिल बैठें, तो भूकंप का जिक्र छिड़ जाए। अमुक परिवार या नगर या अमुक गांव में कितने आदमी मरे, कितने जख्मी हुए। कैसे जमीन फट गयी, कैसे उनके अंदर से पानी उबल पड़ा, कैसे बड़े-बड़े महल जमीन में धँस गए। यह तो मनुष्य का केवल कुतूहल-प्रेम है। क्या केवल अपने मुहल्ले या घर में होम-यज्ञ कराके ही हम अपने कर्तव्य को पूरा कर सकते हैं? यह तो केवल स्वार्थ-कामना है।

नहीं, हमारी मानवता और बन्धु-भावना की यह अग्नि-परीक्षा है हम अपने मंगल के निमित्त, बड़ी-बड़ी तीर्थयात्राएं करते हैं, दान-पुण्य करते हैं। हम अपने आत्मप्रदर्शन के लिए पैसे को ठीकरा समझते हैं और भोग-विलास के लिए धन को पानी की तरह बहाते हैं। क्या आज जब हमारे लाखों भाई अकथनीय कष्ट भोग रहे हैं, हम अपनी मंगल-कामना के लिए तीर्थ-यात्रा करते रहेंगे, क्या शादी-ब्याहों में रुपये लुटाना इस समय उचित है, जब हमारे लाखों भाई आहत और नंगे पड़े कराह रहे है? क्या हम अब भी तमाशा देखते रहेंगे जब प्रकृति अपना तांडव नृत्य दिखा रही है? पीड़ितों के लिए बड़ी तत्परता से सहायता का काम शुरू हो गया है। सरकारी और गैर-सरकारी शक्तियां सहयोग से इस पुण्य कार्य में हाथ बटा रही हैं। प्रायः सभी प्रांतों में सहायक समितियां पीड़ितों के लिए धन और वस्त्र एकत्र कर रही हैं। वाइसराय ने जो फंड खोला है, उसमें चारों तरफ से रुपये आ रहे हैं। हमारा भी धर्म है कि अपने सामर्थ्य भर अपने भाइयों की मदद करें—धन से, वस्त्र से, अन्न से। यह न समझिए कि हमारे दो-चार आने कौन-सा बड़ा उपकार कर देंगे। आपके चार आने संभव है किसी भाई के लिए समय पर मिल जाने से एक कोष का काम करें। हम गरीब हैं, सामर्थ्यहीन हैं, लेकिन इसीलिए हमारे ऊपर और बड़ी जिम्मेदारी है, गरीब की मदद गरीब न करेंगे तो कौन करेगा?

यह भूकंप क्यों आया, इस पर भिन्न-भिन्न संप्रदायों के भिन्न-भिन्न मत हैं।

भूगर्भ के जानकार कहते हैं कि हिमालय पर्वत उस कंपन रेखा पर पड़ता है, जो आल्प्स से ऐंडीज पहाड़ तक चला गया है और चूंकि उसका ऊपरी भाग वर्षा, बर्फ के पिघलने और अन्य प्राकृतिक कारणों से क्षीण हो रहा है, वह भीतर से ऊपर उठ रहा है, जैसे पानी में तैरता हुआ बर्फ का टुकड़ा ज्यों-ज्यों ऊपर से गलता है, पानी से बाहर निकलता जाता है कंपन जब बहुत दिनों के बाद आता है तो उसका जोर बहुत ज्यादा होता है। इसलिए यही अच्छा है कि कभी-कभी हलका-हलका कंपन होता रहे। ऐसा भीषण कंपन पच्चीस वर्षों के बाद आया है। आखिरी भूकंप कांगड़ा में सन् 1907 में आया था, जिसमें बीस हजार आदमी मर गए थे। उत्तर भारत हिमालय के समीप है, इसलिए यहां भूकंपों की संभावना अधिक है।

दूसरा दल उन लोगों का है, जो इसे दैवी कोप कहते हैं। क्या दीन, दु:खी, दरिद्र, दलित भारत पर ही दैवी कोप को आना था? या इसे गरीब देखकर दैव भी उसे ठोकर मारता है, जैसे कोई शरीर लड़का पड़े हुए कुत्ते को ठुकरा देता है। और मान लिया दैवी कोप ही है, तो यह क्यों? इसीलिए, तो कि यहां के लोग दैव की समझ में संसार भर से ज्यादा पापी, स्वार्थी और भ्रष्ट हैं। स्पष्ट ही है कि जब तक हम सत्यवादी, परोपकारी और पवित्र न हो जाएंगे, यह कोप हमारे ऊपर से न उतरेगा। लेकिन हम चौरस्तों पर होम तो कर रहे हैं, दुर्गा पाठ तो बैठा रहे हैं, देवी को बकरे चढ़ा रहे हैं, मगर क्या हम असत्य और स्वार्थ और दुष्टाचरण का त्याग कर रहे हैं? क्या इन आठ-नौ दिनों में हमने अपने जीवन को पवित्र बनाया है? तब दैवी कोप कैसे टलेगा? होम से और बकरे से भूकंप वाला देवता प्रसन्न नहीं होता। इन रिश्वतों से तो हमारी छोटी-छोटी देवी-भवानी और देवतागण ही प्रसन्न होते हैं, जो अधिक-से-अधिक हमें बीमार डाल देते हैं, या हमें घुला-घुलाकर मार डालते हैं। साधु कहता है लोग साधु-सेवा भूल रहे थे, इसलिए दैवी कोप आया। वर्णाश्रम संघ शायद यह कहता हो कि मंदिरों को हरिजनों के लिए खुलवाने से कोप आया। पंडे भी फरमाते हों, देवताओं में लोगों को श्रद्धा कम हो गई, इसीलिए देवता कुपित हो गए। इसी तरह दफ्तरों के अमले कहते होंगे, लोग अब दिल खोलकर उनकी पूजा नहीं करते, देते भी हैं, तो बहुत रोकर, इसलिए कोप आया। यह सब स्वार्थियों की युक्तियां हैं। न दैवी कोप है, न शेषनाग की करवट। यह एक प्राकृतिक विस्फोट है, जो वैज्ञानिक कारणों से आया करता है। इसका मनुष्य के पास कोई इलाज नहीं। अगर कोई इलाज है, तो यही शहर की तंग गलियों और ऊंचे-ऊंचे महलों से विदा ली जाए और खुली जगहों में, एक तल्के, हल्के, गहरी नींव वाले मकान बनाए जाएं और स्त्रियां के परदे को एकदम तोड़ दिया जाए। अगर परदे वाली स्त्रियों, भयभीत होकर लज्जावश घरों में न छटपटाकर-दौड़ती हुई खुली जगहों तक आ जातीं, तो बहुत संभव है कि इतनी जानें न जातीं।

लेकिन हमारे लिए यह बिल्कुल नई परिस्थिति है अगर अपने को उनके अनुकूल बनाने में अभी बहुत दिन लगेंगे।

[संपादकीय। 'जागरण', 29 जनवरी, 1934, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

बिहार की विपत्ति का काशी

हमें यह जानकर खेद हुआ कि बिहार की सहायता के प्रश्न पर यहां की दो प्रमुख सेवा-संस्थाओं में मतभेद हो जाने के कारण अभी तक संगठित रूप से कुछ नहीं किया जा सका। दोनों ही अलग-अलग अपनी खिचड़ी पका रही हैं और ऐसे नाजुक वक्त में भी सहयोग नहीं कर सकतीं। हम काशी सेवा-समिति और काशी नागरिक-मंडल दोनों ही के कार्यकर्ताओं से विनय के साथ अनुरोध करते हैं कि परस्पर के वैमनस्य पर पानी डालकर एक दिल से बिहार की सहायता करके काशी का गौरव बढ़ाएं।

[संपादकीय। 'जागरण', 29 जनवरी, 1934, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

बिहार मंदिर सम्मेलन

बिहार में हिन्दू-धर्म के ठेकेदारों ने अपने सम्मेलन में हरिजनों के मंदिर-प्रवेश का खूब जोरों के साथ विरोध किया और स्व॰ महारानी विक्टोरिया के धार्मिक निष्पक्षता की घोषणा की दुहाई दी। हिन्दू-धर्म तो यह कहता है कि प्राणीमात्र में परमात्मा का वास है, सर्वात्मवाद का इतना ऊंचा आदर्श और किसी धर्म ने भी उपस्थित नहीं किया, मगर मुसलमानों में तो मेहतर भी मस्जिद में जाकर नमाज पढ़ सकता है, और यहां समाज का एक बड़ा भाग मंदिरों से बहिष्कृत किया जाता है। समाज का जो अंग बड़ी से बड़ी सेवा करता है, वह तो अछूत है, और जो तिलक लगाकर मुफ्त का माल उड़ाते हैं वह समाज के श्रेष्ठ अंग हैं। यह व्यवस्था हिन्दू धर्म को कलंकित करने वाली है और हिन्दू समाज इस अनीति को अब सहन नहीं कर सकता है।

[संपादकीय। 'जागरण', 29 जनवरी, 1934, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

भूडोल और काशी के अधिकारी

अगर हमारे एक योग्य मित्र की यह शिकायत ठीक है कि काशी के अधिकारियों ने भूकंप के अवसर पर जनता की कोई मदद नहीं की, किसको क्या नुकसान पहुंचा है, इसकी कोई जांच नहीं की गई, जर्जर मकानों को खाली कराके घर वालों को सुरक्षित स्थानों में ठहराने का कोई प्रबंध नहीं किया गया, जनता की घबराहट को दूर करने के लिए एक विज्ञप्ति तक न निकाली गई, तो हमें इसका खेद है। हमें आशा है कि काशी के अधिकारी-वर्ग अपनी जिम्मेदारी को समझेंगे और जनता को निराशा या बेकसी का कडुवा मजा न चखायेंगे। विशेषकर जब हाकिम जिला और हाकिम शहर दोनों ही हिन्दुस्तानी हैं, तब तो हम उनसे सहायता और सहानुभूति की और भी आशा रखते हैं। अगर हमारे भाई हमारे अफसर होकर हमारी ओर से मुंह फेर लें, तो गैरों से क्या आशा की जाए।

[संपादकीय। 'जागरण', 29 जनवरी, 1934, में प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-2 में संकलित।]

महिलाओं की शिक्षा पर पं॰ जवाहरलाल नेहरू

किसी पिछली संख्या में हमने मि॰ मेकेंजी के स्त्री-शिक्षा-संबंधी विचार की आलोचना की थी। मि॰ मेकेंजी महिलाओं को माता और गृहिणी बनने की शिक्षा देना चाहते हैं, और अनावश्यक विषयों को उनके दिमाग में ठूंसकर वही गलती नहीं करना चाहते, जो लड़कों की शिक्षा में की गई। लड़कों को दफ्तरों के लिए क्लर्क बनाना अभीष्ट था। लड़कियों के सामने वह यह आदर्श नहीं रखना चाहते। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने महिला विद्यापीठ के दीक्षांत भाषण में इसके विपरीत मत प्रकट किया। आपका खयाल है कि महिलाओं को केवल वैवाहिक जीवन के लिए क्यों तैयार किया जाए। उन्हें जब तक आर्थिक स्वतंत्रता न प्राप्त होगी उस वक्त तक पति-पत्नी में साम्यवाद न उत्पन्न होगा। अगर साम्य का एकमात्र आधार आर्थिक ही हो जाए, तब भी कमी-बेशी का झंझट रहेगा ही। अगर देवीजी एक सौ रुपया लाती हैं, और देवता जी एक सौ बीस रुपया, तो अवश्य ही कुछ थोड़ी-सी असमता आ जाएगी। उसी तरह देवी जी ज्यादा कमाती हैं, तब भी असमता पैदा होगी। दोनों बराबर लाएं तभी मीजान ठीक बैठेगी। इसका अर्थ यह होगा कि मुश्किल से सौ में पांच दंपति सुखी होंगे। बात यह है कि देवताओं में प्रधानता की जो भावना उत्पन्न हो गई है यह केवल उनकी मूर्खता के कारण। वह समझते हैं वे बाहर से धन कमाकर लाते हैं, इसलिए उनका महत्त्व अधिक है। उन्हें यह भूल जाता है कि स्त्री घर में जो काम करती है, वह उनकी कमाई से कई गुना ज्यादा महत्त्व की चीज है। जहां पुरुष बिल्कुल गधे नहीं हैं वहां पराधीनता और स्वाधीनता की गंध तक नहीं है। दोनों ही एक-दूसरे के समान रूप से पराधीन हैं। पुरुषों के दृष्टिकोण में परिवर्तन हो जाने से यह सारा विवाद मिट सकता है और पारिवारिक विच्छेद के लज्जास्पद दृश्यों से समाज की रक्षा हो सकती है।

[संपादकीय। 'जागरण', 29 जनवरी, 1934, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

सी॰ पी॰ सरकार की सतर्कता

सी॰ पी॰ के हाम मेंबर एक हिन्दुस्तानी सज्जन हैं। महात्मा जी अभी जब उस प्रांत में दौरा कर रहे थे, तो आपने एक सरकुलर निकला था कि सरकारी नौकरों को इस आंदोलन में भाग न लेना चाहिए। बिलकुल ठीक। संक्रामक बीमारियों में बाहर वालों को छूत लग जाने का ज्यादा भय रहता है।

[संपादकीय। 'जागरण', 29 जनवरी, 1934, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

हवा का रुख

किसी पत्र के इंग्लैंड के एक संवाददाता ने लिखा है कि पच्चीस साल पहले केम्ब्रिज में साहित्य और कविता ही छात्रों के विचार-विनिमय का विषय था, राजनीति से

किसी को जरा-सी दिलचस्पी न थी। उसी केम्ब्रिज में आज कम्युनिज्म का सबसे ज्यादा असर है। मगर वह महाशय यह भूल गए हैं कि पच्चीस वर्ष पहले कम्युनिज्म की सूरत ही किसने देखी थी। विज्ञान ने मशीनगन और बेतार बनाए, तो क्या राजनीति ज्यों-की-त्यों बैठी रहती। उदार और परंपरावादी दलों में युवकों के आदर्शवाद के लिए क्या आकर्षण हो सकता है। कम्युनिज़्म अर्थात् साम्यवाद को विरोध वही तो करता है, जो दूसरों से ज्यादा सुख भोगना चाहता है, जो दूसरों को अपने अधीन करना चाहता है। जो अपने को भी दूसरों के बराबर ही समझता है, जो अपने में कोई सुरखाब का पर लगा हुआ नहीं देखता, जो समदर्शी है उसे साम्यवाद से क्यों विरोध होने लगा। फिर युवक तो आदर्शवादी होते ही हैं। भारत में ही देखिए। बाप तो सांप्रदायिकता से उपासक हैं, और बेटे उसके कट्टर विरोधी। युवक क्या नहीं देखते कि वर्तमान सामाजिक और राजनैतिक संगठन ही उनकी उदार, ऊंची और पवित्र भावनाओं को कुचल कर उन्हें स्वार्थी और संकीर्ण और हृदयशून्य बना देती है। फिर वे क्यों न उस व्यवस्था के दुश्मन हो जाएं, जो उनकी मानवता को पीसे डाल रही है और उसमें प्रेम की जगह संघर्ष के भाव जगा रही है। उसी संवाददाता के शब्दों में "ऐसा मुश्किल से कोई समझदार आदमी मिलेगा, जिसमें जरा भी विचारशील है, जो वर्तमान परिस्थिति का साम्यवादी विश्लेषण न स्वीकार करता हो।"

[संपादकीय। 'जागरण', 29 जनवरी, 1934, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

एक सार्वदेशिक साहित्य-संस्था की आवश्यकता

भारत में विज्ञान और दर्शन की, इतिहास और गणित की, शिक्षा और राजनीति की आल-इंडिया संस्थाएं तो हैं, लेकिन साहित्य की कोई ऐसी संस्था नहीं है। इसलिए साधारण जनता को अन्य प्रांतों की साहित्यिक प्रगति की कोई खबर नहीं होती और न साहित्य-सेवियों को ही आपस में मिलने का अवसर मिलता है।

बंगाल के दो-चार कलाकारों के नाम से तो हम परिचित हैं, लेकिन गुजराती, तामिल, तेलुगू और मलयालम आदि भाषाओं के निर्माताओं से हम बिल्कुल अपरिचित हैं। अंग्रेजी साहित्य का तो जिक्र ही क्या, फ्रांस, जर्मनी, रूस, पोलैंड, स्वेडेन, बेलजियम आदि देशों के साहित्य से भी अंग्रेजी अनुवादों द्वारा हम कुछ-न-कुछ परिचित हो गये हैं, लेकिन बंगला छोड़कर भारत की अन्य भाषाओं की प्रगति का हमें बिल्कुल ज्ञान नहीं है। हरेक प्रांतीय भाषा अपना सम्मेलन अलग-अलग करती है और करना ही चाहिए। हरेक प्रांत में लोकल कौंसिलें हैं, हर प्रांतीय साहित्यों की केंद्रीय संस्था कहां है? हमारे खयाल में ऐसी एक संस्था की जरूरत है और यदि साहित्य सम्मेलन इसकी स्थापना करे, तो वह राष्ट्र और हिन्दी की बड़ी सेवा करेगा।

अभी तक हिन्दी ने जो विस्तार प्राप्त किया है, वह एक प्रकार से अपनी शक्ति द्वारा किया है। हिन्दी एक ऐसी भाषा है, जो भारत के सभी बड़े शहरों में समझी जाती है, चाहे बोली न जाती हो। अगर अंग्रेजी बीच में न आ खड़ी होती तो अन्य प्रांतों के

निवासी एक-दूसरे से हिन्दी ही में बातें करते और अब भी करते हैं, यद्यपि वही जो अंग्रेजी से अनभिज्ञ हैं।

अब वह समय आ गया है कि प्रांतीय भाषाओं का संबंध ज्यादा घनिष्ठ किया जाए और हमारे संस्कारों का ऐसा समन्वय हो जाए कि हम राष्ट्रीय भाषा का ही नहीं, राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण भी कर सकें। हरेक प्रांत के साहित्य की अपनी-अपनी विशेषताएं हैं। यह आवश्यक है, कि हमारी राष्ट्रभाषा में उन सारी विशेषताओं का सामंजस्य हो जाए और हमारा साहित्य प्रांतीयता के दायरे से निकलकर राष्ट्रीयता के क्षेत्र में पहुंच जाय। इस विषय में हम अन्य भाषाओं के कर्णधारों की सहायता और सहयोग से जितना आगे बढ़ सकते हैं, उतना और किसी तरह नहीं बढ़ सकते। यों तो कई बंगला और मराठी के विद्वान् हिन्दी में बराबर लिख रहे हैं और अनुमान किया जा सकता है, कि हिन्दी का क्षेत्र सदैव फैलता जाएगा, लेकिन ऐसी एक राष्ट्रीय साहित्य संस्था द्वारा हम इस प्रगति को और तेज कर सकते हैं।

अभी हमें बंबई जाने का अवसर मिला था। वहां हमें गुजरात के प्रमुख साहित्य सेवियों से बातचीत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। हमें मालूम हुआ कि वे ऐसी संस्था के लिए कितने उत्सुक हैं, बल्कि मैं तो कहूंगा कि यह प्रस्ताव उन्हीं महानुभावों का था, और मैं हिन्दी साहित्य सम्मेलन के माननीय अधिकारियों से अनुरोध करूंगा, कि वे इस प्रस्ताव को कार्य-रूप में परिणत करें। हिन्दी का प्रचार समस्त भारत में बढ़ रहा है। यदि साहित्य सम्मेलन ऐसी संस्था का आयोजन करे, तो मुझे विश्वास है कि अन्य भाषाओं के लेखक उसका स्वागत करेंगे और हिन्दी का गौरव भी बढ़ेगा और विस्तार भी।

यह कौन नहीं जानता कि भारत में प्रांतीयता का भाव बढ़ता जा रहा है। इसका एक कारण यह भी है, कि हरेक प्रांत का साहित्य अलग है। यह अदान-प्रदान और विचार-विनिमय ही है, जिसके द्वारा प्रांतीयता के संघर्ष को रोका जा सकता है। राष्ट्रों का निर्माण उसके साहित्य के हाथ में है। यदि साहित्य प्रांतीय है, तो उसके पढ़ने वालों में भी प्रांतीयता अधिक होगी। अगर सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य-सेवियों का वार्षिक अधिवेशन होने लगे, तो संघर्ष की जगह सौम्य, सहकारिता का भाव उत्पन्न होगा और यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि साहित्यों के सन्निकट हो जाने से प्रांतों में भी सामीप्य हो जाएगा। जिन विद्वानों का अभी हमने नाम ही सुना है, उन्हें हम प्रत्यक्ष देखेंगे, उनके विचार उनके श्रीमुख सें सुनेंगे और सत्संग से बहुत-से भ्रम, बहुत-सी संकीर्णताएं आप-ही-आप शांत हो जाएंगी। अन्यत्र हम पी॰ ई॰ एन॰ नामक विश्व साहित्य संस्था का संक्षिप्त विवरण प्रकाशित कर रहे हैं। जब बड़ी-बड़ी उन्नत भाषाओं को ऐसी एक संस्था की जरूरत मालूम होती है, तो क्या भारत की प्रांतीय भाषाओं का एक केंद्रीय संस्था से संबद्ध हो जाना आवश्यक नहीं है? भारत की आत्मा, अभिव्यक्ति के लिए अपने साहित्यकारों की ओर देख रही है। दार्शनिक उसके विचारों को प्रकट कर सकता है, वैज्ञानिक उसके ज्ञान की वृद्धि कर सकता है; उसका मर्म, उसकी वेदना, उसका आनंद, उसकी अभिलाषा, उसकी महत्त्वाकांक्षा तो साहित्य ही की वस्तु है और वह महान शक्ति प्रांतीय सीमाओं के अंदर जकड़ी पड़ी हुई है। बाहर की ताजी हवा और प्रकाश से वह वंचित है और

यह बंधन उसके विकास और वृद्धि में बाधक हो रहा है। सृष्टि-धाराएं अपने एकांत पथ पर चलकर संकीर्ण और प्रवाह-शून्य हो गयी हैं। इन धाराओं को समन्वित करके हम उनमें प्रवाह और प्रगति उत्पन्न कर सकते हैं। और यह हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का नैसर्गिक कर्त्तव्य है।

[संपादकीय। 'हंस', फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-3 में संकलित।]

काशगर और मुसलिम विप्लव

चीन के अंग-भंग का एक सामूहिक षड्यंत्र हो रहा है। और काशगर (चीनी तुर्किस्तान) की जंगली मुसलिम-जातियों का विप्लव और उसके प्रति भारत के अर्ध-सरकारी (एंग्लो-इंडियन) पत्रों की सहानुभूति हमारे मन में एक विचित्र शंका उत्पन्न कर देती है। 'डेली गजट' ने चीनी तुर्किस्तान में एक नई मुसलिम जाति तथा राष्ट्र की स्थापना पर हर्ष प्रकट किया है तथा इस प्रकार भारतीय मुसलमानों की सहानुभूति तथा सहायता प्राप्त करने या 'दिलाने' की छिपी चेष्टा की है। इस नीति की जितनी निंदा की जाए थोड़ी है। हमें भारत में चीनी राजदूत के इस कथन पर पूरा विश्वास है कि इस विषय में प्राप्त समाचार अधूरे और अविश्वसनीय हैं। तथा चीन सरकार अपने अधिकार को जमाने की पूरी चेष्टा करेगी। चीन सरकार की सफलता की हरेक सच्चा भारतीय कामना करेगा तथा यह चाहेगा कि कुछ जंगली हमारे पड़ोसी की हानि न करें। साथ ही इस विषय में रूटर के तारों पर अभी विश्वास न करेगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 5 फरवरी, 1934, में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

भावी महासागर तथा जापान

रूस के अधिनायक मोशिये स्टालिन की भावी महासागर के संबंध की ताजी विज्ञप्ति बड़ी रोचक, विचारपूर्ण तथा सूचनापूर्ण है। इसमें कोई संदेह नहीं कि संसार की इस समय जैसी दशा हो रही है, उसे देखते हुए यह विज्ञप्ति सत्य से बहुत निकट प्रतीत होती है। वर्गवादी दल, कांग्रेस के सामने उन्होंने जो रिपोर्ट पेश की है, उसमें वे लिखते हैं, "पूंजीवादी देशों पर महासमर तथा बदला-वृत्त भूत छाया हुआ है। चीन जापानी युद्ध, मंचूरिया में जापान की नीति, उत्तरी चीन की दिशा में जापान का बढ़ते जाना, जापान तथा संयुक्त राज्य अमेरिका का नौसैनिक शस्त्रीकरण, ब्रिटेन और फ्रांस की सेना में बढ़ती, इससे अवस्था और भी खराब हो गई है और पिछली बात का कारण प्रशांत महासागर पर अधिकार करने के लिए ऊपरलिखित चारों शक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा है।"

मोशिये स्टालिन ने जितनी बातें कही हैं वे नई नहीं हैं, पर सभी मार्के की हैं। सचमुच भावी-समर का बहुत बड़ा कारण जापान की वर्तमान गृह-नीति है और हाल ही में जापानी पार्लामेंट के सामने जापानी परराष्ट्र-सचिव ने जो व्याख्यान दिया है, उससे

यह स्पष्ट हो जाता है जापान अपनी शांति-प्रियता की जितनी ही दुहाई देता है, वह सब झोल हैं और वह अशांति की नीति का उतना ही प्रतिपादन करता है। चीन का अंगच्छेदकर, मंचूरिया को स्वंतंत्र बनाकर, उसमें अपना आर्थिक तथा राजनैतिक अधिकार जमा लेना, कहीं शांति-प्रियता नहीं कही जाएगी। चीन से अन्यायपूर्वक जेहोल छीन लेना शांति-प्रियता नहीं कही जाएगी। सोवियत रूस की रेलवे-लाइन हड़प लेने की चेष्ट करना शांति-प्रियता नहीं कही जाएगी और सबसे बड़ी बात यह है कि अब भी यह कहना कि "चूंकि चीन का भाव अमैत्रीपूर्ण है, अतएव जापान लाचार है" घोर नादानी है और यह सिद्ध कर देना है कि जले पर नमक छिड़कना भी दर्द को कम करना है। जापान ने चीन का क्या नही बिगाड़ा? सोवियत की प्रगति रोकने की वह क्या चेष्टा नहीं कर रहा है? अमेरिका उसकी उग्रता तथा प्रगति का किसी नैतिकता से नहीं, दर्शनिकता या दयालुता से नहीं, पर कोरे द्वेष के कारण विरोध करना चाहता है। प्रशांत महासागर अमेरिका तथा जापान के बीच का समुद्र है। एक म्यान में दो तलवार, एक वन में दो सिंह, नहीं रह सकते। उधर ब्रिटेन के लिए भी भारत तथा आस्ट्रेलिया तथा अन्य उपनिवेशों के कारण प्रशांत महासागर बड़ा महत्त्वपूर्ण है। वह सिंगापुर का जहाजी-अड्डा इसी हेतु से बनाता रहा है कि वक्त जरूरत काम आवे। अतएव ब्रिटेन के अभ्युदय से भयभीत फ्रांस को भी कुछ करना ही पड़ेगा। ऐसी दशा में, इतने उग्र स्वार्थों का संघर्ष तो होगा ही। अमेरिका से वैर लेकर, ब्रिटेन को प्रसन्न रखकर, अपना अस्तित्व बनाए रखने का जापान का पूरा प्रयास सफल नहीं हो सकता। एक-न-एक दिन भंयकर कलह खड़ा होगा और मोशिये स्टालिन का यह अनुमान सत्य है कि सारी जिम्मेदारी जापान की होगी।

[संपादकीय। 'जागरण', 5 फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

मुंगेर मुजफ्फरपुर की दशा

श्रीयुत् जवाहरलाल नेहरू ने यह स्पष्ट कहा था कि यदि बिहार-सरकार तत्परता से काम लेती, तो मुजफ्फरपुर में इतनी तबाही न आती तथा भूकंप के तीन दिन बाद तक उसका कुछ न करना, इस नगर के लिए–अभागी निस्सहाय जनता के लिए–बड़ा ही घातक सिद्ध हुआ। 31 जनवरी को काशी टाउनहॉल के मैदान में काशी के सर्वमान्य नेता श्री संपूर्णानन्द जी का जो रोचक व्याख्यान हुआ था, उससे भी यही प्रतीत होता है कि मुंगेर में सरकार से जो आशा की जानी चाहिए थी, तथा समाचार-पत्रों में सरकारी विज्ञप्तियों से जो विश्वास हो गया था, वह वास्तविकता से दूर है तथा इस मुसीबत के समय भी सरकार का सरकारीपन दूर नहीं हुआ तथा 'नौकरशाही' नौकरशाही ही बनी रही। मि० जायसवाल ने दस दिन पहले ही कहा था कि मुंगेर के विषय में सरकारी कार्य देखकर यह कहना पड़ता है कि बीसवीं सदी की सभ्य कहलाने वाली सरकार 'ऐसा' कर सकती है। हमें यह देखकर बड़ा दु:ख होता है। बड़ी लज्जा आती है तथा यदि सरकार के ऊपर आक्षेप सत्य है, तो इसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ेगा। श्री संपूर्णानन्द जी का कहना है कि ताता कंपनी की जिस सहायता का बड़ा डंका पीटा गया है, वह भी ठिकाने से नहीं बांटी गई है। मुंगेर में आर्तों

के लिए केवल एक हजार टन 'टिन' ही मिले हैं, जो बहुत कम हैं। दाल में नमक के बराबर है। उनके कथन से तो यह भी प्रतीत होता है कि सहायता कार्य में शीघ्र ही सरकारी तथा गैरसरकारी लोगों में पूरा मतभेद हो जाने वाला है।

'आज' में श्री संपूर्णानन्द जी का मुंगेर से भेजा हुआ पत्र छपा था। इससे पता चलता है कि यद्यपि राजेन्द्र बाबू ने बाहरी 'आदमियों' की सहायता नहीं मांगी थी, पर यदि बाहरी लोग पहुंच गए होते मलवा साफ कर देते, तो हजारों जानें, जो केवल 'भूख-प्यास' से तड़पकर मरी हैं, बच जातीं। यह संतोष का विषय है कि कुछ बाहरी लोग स्वयं चले गए थे। हमें यह रिपोर्ट पढ़कर बड़ा खेद होता है। जो भूख-प्यास से मर गए, उनकी पीड़ा की कल्पना भी असंभव है। खैर, जो होना था, वह तो हो गया। जो बाहरी दल स्वयं पहुंच गया था, वह बिहार की कृतज्ञता का पात्र है, यद्यपि यह कृतज्ञता नहीं, पर-सेवा की सार्थकता ही उसे अभीष्ट है।

[संपादकीय। 'जागरण', 5 फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

विपत्ति-विपत्ति !

1934 अवश्य अपने साथ विपत्तियों का समुद्र लेकर आया है। भारत, चीन और मेक्सिको की अरबों की हानि भूडोल से हो गई। हमारे देश में बिहार तथा युक्त-प्रांत के काशी, इलाहाबाद आदि की गहरी हानि का अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। नेपाल बरबाद हो गया। पड़ोसी चीन की हानि की कहानी बड़ी दर्दनाक है। दर्दनाक ज्यादा इसलिए है, कि वहां रेल, तार-डाक आदि का प्रबंध न हो सकने के कारण सहायता नहीं पहुंच सकती, या बहुत देर में पहुंचेगी। इधर कई हवाई जहाजों के टूटने, गिरने नष्ट होने के समाचार एक ही महीने में प्राप्त हो चुके। 28 जनवरी का समाचार है कि अंटार्कटिक खोज का बेड़ा, अर्थात् कप्तान बर्ड का दल भंग हो गया और 43 आदमी बर्फ पर 'तैर' रहे हैं। एक स्थान में हजारों आदमी बर्फ की आंधी में बरबाद पड़े हैं। बर्फ ने उनकी जान ले ली। मोटर तथा साइकिल दुर्घटना का औसत दुगना हो गया है। चोरी-डकैती के समाचारों से अखबार भरे पड़े हैं। ज्योतिषियों ने 1934 को 'उत्पातों' का वर्ष बतलाया है। लक्षण भी ऐसे ही प्रतीत हो रहे हैं। भारत में-बिहार आदि भागों में-जो गंदगी फैल गई है, चीन में जो उत्पात हो गए, उनसे गहरी बीमारी तथा संक्रामक रोगों के विस्तार का भय है। ऐसे विपत्ति के युग में ईश्वर ही रक्षा करे।

आश्चर्य है कि मनुष्य को महत्त्वाकांक्षाओं, उसके साधनों, रचनाओं की इतनी कृत्रिमता तथा उसकी परवशता की, इतनी लाचारी की दुर्दशाओं की, ऐसी अवस्था देखते हुए भी, उसकी आंख नहीं खुल रही है तथा वह लालसा, लोभ, लालच, द्वेष, मत्सर के गढ़े में गिरता ही जा रहा है। ईश्वर हमें अब भी बुद्धि दे।

[संपादकीय। 'जागरण', 5 फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

सेवा समिति का सराहनीय कार्य

विगत चंद्रग्रहण के अवसर पर भीड़ कम होने पर भी यात्रियों का काफी जमाव था और ईश्वर ने वर्षा और शीत के कारण उन्हें काफी कष्ट दिया था, पर काशी सेवा समिति ने यात्रियों की सुविधा तथा सेवा के लिए जो प्रबंध किया था, वह सराहनीय था और इसके लिए उसके मंत्री श्री बेनीप्रसाद जी तथा सहायक मंत्री श्री त्रिवेणीदत्त जी धन्यवाद के पात्र हैं। सेवा समिति ने भूकंप पीड़ितों की सहायतार्थ बड़ा परिश्रम किया और अब उसने नगर के भूकंप पीड़ितों की सहायता के लिए एक कमेटी भी बना दी है। आशा है, यह कमेटी अपने परिश्रम में सफल होगी। हमारा विश्वास है कि भूकंप से इस नगर की भी बड़ी हानि हुई है और चूंकि सरकारी तौर पर अभी इसका कोई प्रबंध नहीं किया गया है, सेवा समिति का यह कार्य उसके नाम तथा यश के अनुकूल होगा।

काशी सेवा समिति नगर की प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण संस्था है और यहां की हरेक नागरिक संस्था को उसके अंतर्गत, सहयोग तथा सेवा द्वारा, उसकी सहायता करनी चाहिए।

[संपादकीय। 'जागरण', 5 फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

आगरा जमींदार-सम्मेलन

आगरा जमींदार सम्मेलन के सभापति नवाब छतारी ने अपने भाषण में जमींदार साहबान को केवल अपना संगठन करने ही की जरूरत नहीं बतलाई, बल्कि उन लोगों के सहयोग की जरूरत भी बतलाई, जो जमींदार नहीं हैं, पर व्यवस्थित उन्नति के समर्थक हैं। लेकिन हमारा विचार है कि जिस चीज को नवाब साहब व्यवस्थित उन्नति कहते हैं, उसके समर्थक जमींदारों को सिवा शायद ही कोई सज्जन निकलें। व्यवस्थित उन्नति इसके सिवा और क्या है, कि जमींदारों को इस वक्त जो शक्ति और अधिकार प्राप्त हैं, वे दिन-दिन और व्यापक होते जाएं, उनका क्षेत्र दिन-दिन विस्तृत होता जाए। मजा यह है कि कृषकों को साहूकारों की सख्तियों से बचाने के लिए जो व्यवस्था की जा रही है उससे पूरा फायदा उठाने के लिए यह लोग अपने को कृषकों में शामिल किए देते हैं। किसानों को संरक्षण की इसलिए जरूरत है कि वे दीन हैं, अशक्त हैं, एक ओर जमींदारों के शिकार हो रहे हैं, दूसरी ओर साहूकारों के। उन्हें न रोटी मयस्सर है, न कपड़ा, न बीज मयस्सर है, न बैल। इसके विरुद्ध हमारे जमींदार साहबान प्रांत में सबसे सामर्थ्यवान, सबसे प्रतिभाशाली वर्ग हैं। उसमें से कितने ही ऐश की जिंदगी बसर करते हैं और जो गए-बीते हैं, वे भी डंडे के जोर से किसानों से खेती करा लेते हैं, तरह-तरह के बेगार और तावान वसूल करते हैं और मजे से अफीम खाते या भंग उड़ाते हैं। अगर ऐसे शक्तिशाली वर्ग को भी संरक्षण की जरूरत है, तो इसका अर्थ यही है कि ये लोग जितना अन्याय करें, चाहे जितने कर्ज लें, उन पर कानून का वार न चल सके।

मगर ऐसी कार्रवाइयों से हमारा जमींदार वर्ग उस रहे-सहे विश्वास और सम्मान को भी खोता जाता है, जो जनता में उसके प्रति बाकी है। जब यह संरक्षण जमींदारों

को न प्राप्त थे, उस दशा में भी वे अंधाधुंध कर्ज लेने से न चूकते थे, तो जब ये संरक्षण मिल जाएंगे, तब उनकी उमंगे क्या रंग लाएंगी, इसका अनुमान किया जा सकता है। कमजोर का जबरदस्तों से संरक्षण चाहता तो स्वाभाविक है, लेकिन जबरदस्तों का संरक्षण चाहना, इसके सिवा और क्या है, कि वे और भी शक्तिवान हो जाएं। क्या हमारे जमींदार भाइयों ने कभी यह सोचने की तकलीफ उठाई है कि जनता से क्यों उन्हें इतना भय हो रहा है? क्यों वे यह सोच-सोचकर व्याकुल हो रहे हैं कि आने वाली व्यवस्था में बहुमत उनके अधिकारों को छीनने की चेष्टा करेगा, और इसलिए उन्हें आपस में संगठित होकर उस बहुमत को अपने हाथ में कर लेना चाहिए? इसका कारण इसके सिवा और कुछ नहीं है कि जमींदारों को अभी तक जो अधिकार प्राप्त थे, उनका उन्होंने बराबर दुरुपयोग किया है, और जनता नहीं चाहती थी कि समाज का कोई अंग इतना प्रबल हो जाए कि वह निर्बलों को कुचलता रहे। हमारे जमींदार साहबान अपने लिए संरक्षणों और रिआयतों पर जोर देकर जनता में और भी विश्वास और भय उत्पन्न कर रहे हैं। इस नीति से वे जनता पर आंतक जमा सकते हैं, उसकी सहानुभूति और विश्वास के पात्र नहीं बन सकते। जब तक वह यह न समझेंगे कि जनता के हित के साथ उनका भी हित है, और उनके अस्तित्व का उद्देश्य यही है कि वे अपने असामियों की सेवा और सहायता करें, तब तक जनता उनकी ओर से सदैव सशांक रहेगी और उनके विरुद्ध आंदोलन बढ़ता रहेगा। किसान इसलिए समाज का [illegible]ारी अंग है कि उसके बिना समाज एक दिन न चलेगा। दुकानदार सारे दिन दुकान में बैठकर और नौकर सारे दिन स्वामी की आज्ञा पालन करके अपनी कमाई हलाल कर लेते हैं। सभी को अपनी जीविका के लिए कुछ-न-कुछ परिश्रम करना पड़ता है। यहां तक कि साहूकार को भी बहुधा नादिहंद कर्जदारों से पाला पड़ जाता है और उसकी रकमें डूब जाती हैं। लेकिन जमींदार से कोइ पूछे, तुम जनता क्या उपकार करते हो? तुम्हारी जात से समाज का क्या भला होता है? तुममें से जो संपन्न हैं वे मजे से लखनऊ या इलाहाबाद में बंगलों में ऐश करते हैं और जो इतने भाग्यवान् नहीं हैं, वे देहातों में ही मूसलचन्द बने घूमते हैं, जैसे गीदड़ मुर्दे जानवरों की खोज में रात को निकलते हैं। उनका उद्यम इसके सिवा और कुछ नहीं है कि किसी असामी को किसी बहाने फंसाकर उसकी जमा-जथा डकार जाएं। कहीं दो असामियों में लड़ाई हो जाए, जमींदार साहब की चांदी हो गई। दोनों ही से कुछ-न-कुछ डांड़ वसूल करेंगे और चैन की बंसी बजाएंगे। या दाल गलती न देखी, तो पुलिस की दलाली करने लगे और लूट में शरीक हो गए। ऐसी मुफ्तखोर, निकम्मी, लुटेरी, आरामतलब संस्था बहुत दिन जीवित नहीं रह सकती, चाहे वह अष्टधातु के किले ही में क्यों न अपने को बंद कर ले। जनता आज किसी का शिकार नहीं बनना चाहती, जमींदार हो या साहूकार, सरकार हो या मिल मालिक—उसे किसी से दुश्मनी नहीं है, उसे दुश्मनी करने की भी शक्ति नहीं, वह असंगठित है, दीन है, पराधीन है। कोई दल अपने को संगठित करके उस पर आतक जमा सकता है। लेकिन अगर कोई यह चाहे कि उसे अपना शिकार भी बन[illegible]ए और उससे वोट भी ले, उसे ठोकर भी जमाए और उससे पांव भी दबवाए तो उसे लज्जित होना पड़ेगा।

दिल्लगी यह है, कि आज भी जमींदार साहबान अपने को जमीन का मालिक ही समझते हैं। अंग्रेजी सरकार के पहले उनकी हैसियत दलालों की थी, जो बादशाह की

ओर से लगान वसूल करने के लिए रखे जाते थे और लगान न अदा कर सकने पर निकाल बाहर किए जाते थे और बड़ी जिल्लत के साथ। अंग्रेजी राज्य में उनक मान बढ़ गया। सरकार को देश में ऐसे एक जत्थे की जरूरत थी, जो प्रजा पर उसकी हुकूमत जमाने में सहायक हो। उसने यह काम इन्हीं लगान वसूल करने वालों से लिया। तब से यह लोग अपने का जमीन का मालिक समझने लगे। खैर, हमें इससे मतलब नहीं, आप जमीन के मालिक नहीं खुदा सही, लेकिन आप प्रजा के लिए क्या करते हैं? आप प्रजा के दिए हुए कर में से पचास फीसदी लेते हैं, तो उसके बदले में आप प्रजा के साथ क्या सलूक करते हैं? आप अगर बीज देते हैं, तो उसका ड्योढ़ा वसूल कर लेते हैं, अगर लकड़ी या बांस देते हैं, तो उसके बदले में चौगुने बेगार लेते हैं, और आज आपका अस्तित्व इतना निरर्थक हो गया है, कि आपको यह शंका हो रही है, कि कहीं भविष्य में आपका निशान ही न मिट जाए। आप समय की गति के प्रतिकूल चलने का प्रयत्न कर रहे हैं। थोड़े दिनों आप चाहे इस प्रयत्न में सफल हो जाएं, लेकिन वह दिन दूर नहीं है, जब आपको राष्ट्र की इच्छा के सामने सिर झुकाना पड़ेगा और आप आतंक के बल पर नहीं, सेवा के बल पर अपना अस्तित्व कायम रख सकेंगे।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

काश्मीर में फिर दंगा हुआ

पहले दंगे के बाद काश्मीर में नया विधान हुआ और हमारा ख्याल था कि नई व्यवस्था जनता की शिकायतों को दूर करेगी और वहां सुख और शांति का राज्य हो जाएगा, लेकिन इधर जो समाचार आ रहे हैं, उनसे मालूम होता है कि जनता इस व्यवस्था से भी संतुष्ट नहीं है। जब घरों में स्त्रियों और बालकों के जत्थे निकलते हैं तो यह मानना पड़ेगा कि जनता को विशेष कष्ट है, नहीं औरतें मैदान में न आतीं। वास्तविक दशा क्या है, और क्यों जनता ने यह आंदोलन उठाया है, इस पर इन समाचारों से कोई प्रकाश नहीं पड़ता। बस इतना ही मालूम होता है कि जनता ने पुलिस पर हमला किया और पुलिस ने उन पर गोलियां चलाईं। गोलियां चलाना तो बहुत आसान है, लेकिन यह सुशासन नहीं है। सुशासन तो वह है कि जनता सुखी और संतुष्ट हो। वह समय अब नहीं रहा कि केवल कागजी सुधारों ने जनता को संतुष्ट कर दिया जाए। जनता अख्तियार चाहती है जिससे वह अपनी तकलीफों को दूर कर सकें।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

जर्मनी में नाच पर बंदिश

हिटलर की सरकार ने हाल में ऐसा फरमान जारी किया है कि अठारह वर्ष से कम उम्र के किशोर, युवक-युवतियों के गंदे नाच में न जाएं। हां, अगर उनके साथ कोई तजरबेकार आदमी हो तो जा सकते हैं। जर्मनी के रसिक और मनचले युवकों ने इस फरमान का

विरोध किया है, लेकिन जर्मन सरकार ऐसे विरोध की परवाह नहीं करती। यूरोप में नग्न विलासिता जोरों से बढ़ रही है, और वही लोग जो स्त्रियों के आदर का गुल मचाते हैं बालिकाओं को नग्न वेश में देखकर अपने आंखों को तृप्त करते हैं। हम तो उन युवकों से कहेंगे कि इस हुक्म का विरोध न करने के बदले उनका स्वागत करो और वही समय जो तुम नंगा नाच देखने में खर्च करते थे, मरदाना खेल खेलने में लगाओ।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

बिहार और देशी रियासतें

बिहार की परिस्थिति के विषय में बाबू राजेन्द्रप्रसाद का जो बयान प्रकाशित हुआ है, उसे पढ़कर बिहार के पुनरुद्धार का प्रश्न अपने भीषण रूप में हमारे सामने आ जाता है। एक तरह से उत्तरी बिहार को फिर से आबाद करना पड़ेगा। इस अवसर पर समस्त राष्ट्र ने जिस बंधुत्व का परिचय दिया है और दे रहा है, वह बहुत ही आशाजनक है। बड़े-बड़े शहरों में ही नहीं, छोटे-छोटे कस्बों और मदरसों और दफ्तरों में भी बड़ी तत्परता से चंदे जमा किए जा रहे हैं और लगभग पंद्रह लाख रुपये नकद और लाखों रुपये के कपड़े और कंबल और अनाज भेजे जा चुके हैं। चारों ओर से राष्ट्र के सेवक पहुंच गए हैं और अपने विपत्ति के मारे भाइयों की सेवा कर रहे हैं। मगर अभी तक डुमराव और गोंडाल के राजाओं के सिवा हमें किसी ऐसे राजा का नाम न मिला जिसने उद्धार-कार्य के लिए कोई बड़ी रकम दान की हो। जो लोग लाखों रुपये माल मोटरों और सैर-तमाशों पर खर्च कर देते हैं, वह ऐसे मौके पर दो-दो, चार-चार हजार देकर अपने कर्त्तव्य से मुक्त नहीं हो सकते हैं। अगर डुमराव के राजा पचास हजार दान दे सकते हैं, तो ऐसे कितने ही महाराजे हैं, जो दो-दो, चार-चार लाख दे सकते हैं। शायद इतना वे वाइसराय की एक-एक दावत में खर्च कर देते होंगे। कितने खेद की बात है कि जिस देश में पचासों तिलकधारी हों, वहां तीन सप्ताहों में पचास लाख भी जमा न हो जाएं। इतना लिख चुकने के बाद हमें यह जानकर बड़ा संतोष हुआ कि महाराज दरभंगा ने बिहार पीड़ितों की सहायता के लिए छब्बीस लाख का दान दिया है।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

मजूरदल का डिक्टेटरशिप से विरोध

डिक्टेटरशिप की कुछ चर्चा इंग्लैंड में भी होने लगी है, और एक दल ऐसा उठ खड़ा हुआ है, जो इंग्लैंड में भी डिक्टेटरशिप का समर्थक है, मगर मजूरदल ने एक सभा करके डिक्टेटरशिप का विरोध किया है और जनतंत्र में अपने विश्वास की घोषणा की है। डिक्टेटरशिप कोई बहुत अच्छी चीज नहीं है, यह सभी जानते हैं, मगर जब जनतंत्र केवल धनवानों और पूंजीपतियों के हाथ का खिलौना हो जाए, तो ऐसी दशा में स्वभावतः यह खयाल होता है कि इस ढोंग से क्या फायदा। रूस, जर्मनी अमेरिका, स्पेन, आस्ट्रिया,

इटली, टर्की आदि राष्ट्रों ने विवश होकर डिक्टेकटरशिप की शरण ली, मगर इसमें अनेक दोष हैं। आज जो आदमी प्रजाहित का पुजारी है, संभव है कि कल वह स्वार्थ का पुजारी हो जाए, जिसकी मिसाल नेपोलियन है। फिर यह क्या खबर है कि एक डिक्टेटर के बाद दूसरा डिक्टेटर किस ढंग का आदमी हो। हमारा विचार है कि धीरे-धीरे दुनिया फिर राज्य प्रजा की ओर आ रही है। हां, वह इससे कुछ उन्नत अवश्य होगी।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

श्री रंगस्वामी आइंगर की शोकजनक मृत्यु

तमिल के प्रमुख दैनिक पत्र 'स्वदेशमित्रम्' के यशस्वी संपादक श्री रंगस्वामी आइंगर की मृत्यु से एक ऐसा व्यक्ति उठ गया जो राजनैतिक गुत्थियों को सुलझाने में अद्वितीय था और जो कुछ सत्य समझता था उसे प्रकट करने में संस्था या अधिकार से लेशमात्र भी भयभीत न होता था। आप पहले मद्रास के प्रसिद्ध अंग्रेजी दैनिक पत्र 'हिन्दू' के संपादक रहे, फिर आपने अपना तमिल पत्र 'स्वदेशमित्रम्' निकाला और अपनी प्रतिभा और ओज से इस पद पर पहुंचा दिया, कि वह बड़े-से-बड़े प्रभावशाली अंग्रेजी पत्रों से भी ज्यादा आदर से पढ़ा जाता था। भाषा के पत्रों में जितना सम्मान 'स्वदेशमित्रम्' को मिला, उतना शायद किसी अन्य भाषा के पत्र को नहीं प्राप्त हुआ। आप कुछ दिनों कांग्रेस के जनरल सेक्रेटरी रहे थे और स्वराज्य पार्टी के निर्माणकर्ताओं में आप भी थे। स्व० पंडित मोतीलाल नेहरू और सी० आर० दास आपको अपना दाहिना हाथ समझते थे। दूसरी गोलमेज सभा में आप भी सम्मिलित हुए थे और उस वक्त आपका विचार यह था कि कांग्रेस को नयी व्यवस्था से दूर न रहना चाहिए, क्योंकि इससे लाभ की जगह बहुत बड़ी हानि होगी। आपकी मृत्यु से राष्ट्र को जो क्षति पहुंची है, उसका अनुमान उन शब्दों से हो सकता है, जो महात्मा गांधी ने शोक प्रकट करते हुए लिखे हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

संरक्षणों की धूम

जिसे देखिए, संरक्षण की मांग कर रहा है। वाइसराय से लेकर व्यापारी और जमींदार तक संरक्षण के पीछे पड़े हुए हैं। जिसके हाथ में शक्ति है, वह तो आप ही अपनी मरजी से कानून बनाकर संरक्षण प्राप्त कर लेता है। जिसके हाथ में वह शक्ति नहीं है, वह सरकार से संरक्षण मांगता है। कपड़े को संरक्षण मिल गया। मोजे और बनियान वाले, रेशम वाले, खिलौने वाले, गरज सभी वस्तुओं के व्यवसायी संरक्षण की मांग कर रहे हैं। इसलिए कि बाहर आने वाले माल के मुकाबले में वे ठहर नहीं सकते। जनता की जेब से कैसे ज्यादा-से-ज्यादा पैसे खींच लिए जाएं, यही फिक्र सबको पड़ी हुई है। चीजों को सस्ता बनाकर बाहर के माल को न आने देने का सामर्थ्य किसी में नहीं है और जनता बेबस है। भारतीय व्यवसायियों के जमा खर्च में दखल देने का उसे कोई अधिकार नहीं। व्यवसायी जितनी

फिजूलखर्ची चाहे करे, जितना कुप्रबंध चाहे करे, कोई उससे बोल नहीं सकता। उसे मनमाना नफा करने की भी आजादी है। वह न मेहनत करेगा, न किफायत से काम लेगा, न सुप्रबंध को अपने यहां घुसने देगा। उसने तो आसान लटका पाया है कि हमें संरक्षण चाहिए। बाहर का व्यवसायी जो चीज आठ-आने में देता है, उसी को वह एक रुपये में देगा और जनता मजबूर है। किसानों को तो संरक्षण की जरूरत है, क्योंकि इससे एक बहुसंख्यक समाज का हित होता है। इसलिए भी कि हम जानते हैं, किसानों की दशा बहुत ही खराब है, लेकिन यहां तो उन्हें भी संरक्षण चाहिए जो लाखों उड़ाते हैं और केवल अपनी छोटी सी जमाअत के लिए सारी जनता को महंगी चीज खरीदने के लिए विवश करते हैं। मगर यह व्यवसायियों का युग है। उनके सामने किसकी चलती है।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

सर्वदल सम्मेलन का विरोध

सर्वदल सम्मेलन को हमने पहले भी बेवक्त की शहनाई समझा था और अब भी ऐसा ही समझते हैं। सफेद कागज का सबसे आपत्तिजनक भाग उसकी सांप्रदायिकता है। उस पर सर्वदल सम्मेलन के संचालक जबान नहीं खोलना चाहते। तो अब ऐसी और कौन-सी बात रह गई है, जिस पर भारत की सभी प्रमुख राजनैतिक संस्थाओं ने अपना मत न प्रकट कर दिया हो। सरकार जो व्यवस्था कर रही है वह यह जानकर कर रही है कि इसमे भारत वालों को संतोष न होगा। उसे मुसलमानों, जमींदारों, और सरकारी नौकरों के सहयोग से भारत की राजनैतिक प्रगति को रोकना है, और वह ऐसी कोई व्यवस्था स्वीकार नहीं कर सकती जिससे उसकी शक्ति रत्ती भर कम हो। उसने तो इस व्यवस्था से अपने को और मजबूत बनाने का प्रयत्न कर लिया है। राजनीति के आचार्यो ने एक स्वर से कह दिया है कि यह व्यवस्था वर्तमान व्यवस्था से भी गयी-गुजरी है। ऐसी दशा में सर्वदल सम्मेलन के प्रस्ताव सरकार पर क्या प्रभाव डाल सकते हैं। सरकार पर दवाब डालने का उसके पास क्या साधन है। इस जमाने में उन्हीं प्रस्तावों की सुनवाई होती है, जिनकी पुश्त पर शक्ति हो। खाली प्रस्तावों से कुछ नहीं होता।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

क्या होने वाला है?

15 जनवरी को भूकंप का जो सिलसिला शुरू हुआ था, वह आज एक महीना हो जाने पर भी बदस्तूर जारी है। आए दिन कंपन होते रहते हैं। यहा तक कि 12 फरवरी को भी जोर का धक्का हुआ। जो कुछ बचा-खुचा था, वह भी स्वाहा होता जा रहा है। दैत्यराज तो अपना जोर दिखा चुके, अब उनके सामंतों की बारी है। हम सैकड़ों मील के फासले पर बैठे हुए वहां के समाचार सुन-सुनकर कांप उठते हैं. तो जो लोग उन मुसीबतों को

झेल रहे हैं, उनके मन में क्या दशा होगी। इतना अवकाश भी तो मिले की लोग भविष्य के विषय में कुछ सोच सकें। जब नंगी तलवार सिर पर लटक रही हो–यह खटका लगा हो कि जाने कब भूकंप का धक्का हवा के झोंके की तरह आ जाए–तो मन पर एक अंधकारमय निराशा का आ जाना स्वाभाविक है। घर के आदमी गए, घर गया, जायदाद गई, उस पर जान का भरोसा भी नहीं। फिर कहां से अब वह उत्साह आये, जो रेत में बेल उपजाने का साहस करता है। यही प्रश्न विकराल रूप धारण किए सामने खड़ा रहता होगा–क्या होने वाला है? माया का प्रबल बंधन भी ऐसी दशा में शिथिल हो जाए, तो क्या आश्चर्य है। माया को अपना स्वप्न साम्राज्य रचने के लिए भी तो कोई आधार चाहिए, चाहे वह कितना ही असार क्यों न हो। भूकंप ने तो माया को भी परास्त कर दिया।

और तरह-तरह की अफवाहें इस आतंक को और भी बढ़ती रहती हैं। एक वैज्ञानिक का अनुमान है कि बिहार में किसी ज्वालामुखी के फटने की आशंका है। एक दूसरा दल कहता है कि उत्तरी बिहार भूकंप के मार्ग में आ गया, और इस तरह की दुर्घटनाएं वहां उसी तरह आती रहेंगी जैसे जापान में आती रहती हैं।

मगर मानव-जीवन का इतिहास प्रकृति पर विजय पाने की एक लंबी कथा के सिवा और क्या है। संसार में कैसी-कैसी प्रलयंकारी बाधाएं नहीं आईं। लेकिन, मनुष्य जाति आज भी प्रकृति के सामने उसका सामना करने को तैयार है। कहते हैं। 1737 में बिहार में इससे भी भयंकर भूकंप आया था, जिसमें तीन लाख से ज्यादा जाने गयी थीं। जावान में 1927 में जो भूकंप आया था, उसमें कई लाख आदमी मर गए थे। लेकिन जापान आज संसार का शक्तिशाली राष्ट्र है, उस भूकंप का वहां कोई चिह्न भी नहीं रहा। हां, जरूरत इस बात की है कि राष्ट्र एक दिल होकर पीड़ितों की सहायता करने पर तुल जाए। बिहार हमारा समर क्षेत्र है। मुजफ्फरपुर और मोतिहारी और मुंगेर और सीतामढ़ी वह मोर्चे हैं, जहां प्रकृति की शक्तियां गोली बरसा रही हैं। क्या हम अपने वीर सैनिकों को शत्रु के गोलों के शिकार होते देखकर भी शांत बैठे रहेंगे। युद्ध में लड़ने वाले थोड़े होते हैं, लेकिन उनकी पुश्त पर सारा राष्ट्र होता है। योरोपीय महायुद्ध में पचास लाख आदमी मरे थे, और अरबों की हानि हुई थी। मुंगेर और मोतिहारी से कई विशाल नगर भूमिस्थ हो गए थे, पर राष्ट्रों की संयुक्त शक्ति ने उन खंडहरों को फिर गुलजार कर दिया। वहां आदमी का आदमी से मुकाबिला था। यहां आदमी का प्रकृति से मुकाबिला है, और आदमी ने सदैव प्रकृति पर विजय पाई है। अब की भी उसी विजय होगी। शर्त यही है कि राष्ट्र अपने सैनिकों की मदद के लिए हर तरह का त्याग करने को तैयार हो जाए, और जब हम राष्ट्र शब्द का प्रयोग करते हैं, तो हमारा आशय केवल जनता नहीं होता, बल्कि उसमें हम सरकार को भी शामिल करते हैं, जो राष्ट्र का सबसे समर्थ अंग है। इस पच्चीस लाख चंदे से उजड़ा हुआ बिहार आबाद नहीं हो सकता। सरकार ने एक-एक लड़ाई के लिए करोड़ों कर्ज लिए हैं, क्या इस अवसर पर वह दस-बीस करोड़ रुपये कर्ज नहीं ले सकती? जर्मनों से लड़ने के लिए भारत ने एक अरब इकट्ठा कर दिया था। क्या वही भारत एक संपूर्ण प्रांत की रक्षा के लिए उसकी चौथाई रकम भी जमा नहीं कर सकता? योगेपीय युद्ध में भारत से दस लाख सिपाही तोपों के ईंधन बनने के लिए भरती किए गए थे। क्या बिहार की आबादी के लिए इससे दुगने आदमी

नहीं भरती किए जा सकते? बिहार के लिए प्रोफेसर साहब का प्रस्ताव है कि पीड़ित क्षेत्रों में काम करने के लिए मजदूरों से सरकारी तौर पर बेगार ली जानी चाहिए। देश में बेकारी बढ़ रही है। अगर सरकार अन्य प्रांतों में मजदूरों की भरती जारी कर दे, तो हमें विश्वास है कि आदमियों का तोड़ा न रहे। बिहार के एक मिनिस्टर साहब ने यह प्रस्ताव किया है कि सरकारी नौकरों को अपनी आमदनी की दो फीसदी कई महीनों के लिए खुशी से देना चाहिए। सरकारी नौकारों से ज्यादा खुशहाल इस समय समाज का कोई और अंग नहीं है। एक सौ रुपये से ऊपर के वेतन भोगी अहलकार अगर अपनी आमदनी का दस फीसदी भी एक साल तक देते रहें, तो उन्हें कोई कष्ट न होगा, और कष्ट हो भी तो उसे सहना उनका कर्त्तव्य है। जब एक पूरा प्रांत विपत्ति-ग्रस्त हो रहा है तो क्या वे उसके उद्धार के लिए थोड़ी-सी तकलीफ न उठा सकते।

इस वक्त तक कुल मिलाकर उद्धार-कार्य के लिए लगभग पच्चीस लाख का चंदा जमा हुआ है, लेकिन जैसा श्री श्रीप्रकाश ने सहयोगी 'आज' में लिखा है, बिहार को तत्काल पांच करोड़ धन की जरूरत है। अभी तक केवल उसका आठवां भाग वसूल हुआ है। और अभी तक सरकार ने इस आघात की भीषणता नहीं पहचानी है। इसमें संदेह नहीं कि सरकारी मशीनरी को चलते देर नहीं लगती है, मगर एक महीना निकल जाने पर भी इसका निश्चय नहीं किया जा सका कि क्या करना है। इस मौके पर तो सरकारी और गैर-सरकारी का भेद मिट जाना चाहिए और क्या ही अच्छा हो कि दोनों ही फंड मिला दिए जाएं और अन्य संस्थाएं जो रिलीफ के काम में लगी हुई हैं ममत्व और वाहवाही के ध्यान को छोड़कर सहयोग कर सकें। मालगुजारी और लगान तो बिल्कुल मुआफ हो जाना चाहिए। बिहार की सरकार मकानी की तामीर के लिए कर्ज देना एक कानून बना रही है। इस दफ्तरी और जाब्ते की कार्रवाइयों में व्यर्थ समय नष्ट होगा। लेकिन जैसी परिस्थिति है, उसमें तत्काल किसी बड़े परिवर्तन की आशा नहीं की जा सकती। हां, अगर सरकारी रिलीफ में कुछ इस तरह का समझौता हो जाए कि भोजन और वस्त्र तो दोनों फंडों से दिया जाए, और कुओं की खुदाई, खेतों से बालू की सफाई और मकानों की मरम्मत और बनवाई और दूकानदारों और काश्तकारों को अपना धंधा फिर से चलाने के लिए धन की व्यवस्था सरकारी तौर पर की जाए। भोजन, वस्त्र और आहतों के सेवा-शुश्रूषा तो पुण्यार्थ ही होगा। दूसरे काम तो सरकारी कर्ज की मदद से ही होंगे। हमें यह जानकर हर्ष हुआ कि महात्मा गांधी स्वयं बिहार आ रहे हैं, और आशा है, कि उनकी उपस्थिति से बहुत-सी समस्याएं आसानी से सुलझ जाएंगी।

[संपादकीय। 'जागरण', 19 फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित]

जाति भेद मिटाने की एक आयोजना

बंबई के मि॰ बी॰ यादव ने वर्तमान भेदभाव को मिटाने के लिए यह प्रस्ताव किया है कि सभी हिन्दू-उपजातियों को ब्राह्मण कहा जाए और हिन्दू शब्द को उड़ा दिया जाए, जिससे भेदभाव का बोध होता है। प्रस्ताव बड़े मजे का है। हम उस दिन को भारत के इतिहास में मुबारक समझेंगे जब हरिजन सभी ब्राह्मण कहलाएंगे मगर मि॰ यादव का प्रस्ताव

चले या न चले (चलने की दूर भविष्य में भी आशा नहीं) लेकिन हवा का रुख कह रहा है कि दस-बीस साल में वह सारी जातियां, जिन्हें शूद्र कहा जाता है, ब्राह्मण नहीं तो क्षत्रीय अवश्य बन चुकी होंगी। और क्षत्रीय से ब्राह्मण बनना केवल उसके एकदम उछलने का काम है। सरकार भेदभाव मिटाने में सहायता क्या देगी, उसे तो उसके स्थाई रखने में जैसे कोई विशेष आनंद आता है। स्कूल में लड़के का नाम लिखाने जाएं तुरंत उसकी जात लिखानी पड़ेगी। जहां हिन्दू नाम आया, वहां उसकी जात अनिवार्य रूप से आ जाती है। जनगणना में तो हमारे बड़े-बड़े सिविलयन समाज-शास्त्र के पंडित जातियों में नई-नई खोज करके और लुकी-छिपी जातियों का आविष्कार करके अपना नाम अमर कर लेते हैं। हिन्दू खुद जाति-भेद का जितना भक्त है, सरकार इस बात में उससे कोस भर आगे बढ़ी हुई है। और हमारा तो कहना ही क्या, हम तो पहले कायस्थ या ब्राह्मण या वैश्य हैं, पीछे आदमी। किसी से मिलते ही हम पहला सवाल यही करते हैं कि आप कौन साहब हैं। ग्रामीणों में भी यही प्रश्न पूछा जाता है—कौन ठाकुर? अगर वह अपनी सजाति हुआ, तो उसके लिए चिलम भी है, तमाखू भी है, वरना उसमें हमें कोई दिलचस्पी नहीं रहती। और हम कितने गर्व से अपने को शर्मा, वर्मा, तिवारी, चतुर्वेदी लिखते हैं कि क्या पूछना? यह इसके सिवा क्या है कि भेद-भाव हमारे रक्त में सन गया है, और हममें जो पक्के राष्ट्रवादी हैं वे भी अपनी सांप्रदायिकता का बिगुल बजाकर फूले नहीं समाते, वरना इसकी जरूरत ही क्या है हम अपने चतुर्वेदी या त्रिवेदी कहें। खासकर उस दशा में कि हमने वेद की सूरत भी नहीं देखी और इसमें भी संदेह है कि हमारे पूर्वजों ने भी कभी वेदों के दर्शन किए थे।

[संपादकीय। 'जागरण', 19 फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

पं० जवाहरलाल की गिरफ्तारी

इस अवसर पर जब कि पं० जवाहरलाल जी बिहार के उद्धार-कार्य में अपना लहू-पसीना एक कर रहे थे, सरकार ने उन्हें गिरफ्तार करके उदारता का परिचय नहीं दिया। हम इसके लिए तैयार तो थे ही, सरकार ने कोई असाधारण बात नहीं की, लेकिन यह समझते थे कि यह सरकार भी उस काम की कुछ कद्र करेगी, जो पंडित जी इस समय कर रहे थे, लेकिन, मालूम हुआ कि सरकार किसी तरह का सहयोग हमसे नहीं करना चाहती—

सैयाद की मर्जी है कि अब गुल की हवस में,
नाले न करे मुर्ग गिरफ्तार कफस में,

[संपादकीय। 'जागरण', 19 फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

रूस और जापान में तनाव

रूस और जापान में मनोमालिन्य तो पहले ही से था, अब ऐसा जान पड़ता है, बारूद में फलीता लगने की देर है। रूस का फौजी देवता लाल-लाल आंखों से घूर रहा है,

जापान केवल शब्दों के अपने पराक्रम का परिचय नहीं देना चाहता। वह अभी तक यही कहे जाता है कि हमें तो दादा चुपचाप पड़ा रहने दो, हम किसी से रार मोल नहीं लेना चाहते। मगर तैयारियां दोनों ओर से हो रही हैं। जापान साम्राज्यवाद की धुन में मस्त है, सोवियत शासन का पड़ोस उसे खटक रहा है। चीन में कई प्रान्तों में सोवियत शासन स्थापित हो गया है, और जापान में भी भीतर ही भीतर आग सुलग रही है। जैसा एम ट्रास्की ने जापानी परिस्थिति का दिग्दर्शन करते हुए लिखा था, जापान ज्वालामुखी के मुख पर बैठा हुआ है, और उसका साम्राज्य सोवियत शासन के बगल में फल-फूल नहीं सकता। जापान इतना तो जानता है कि आज का रूस जार के जमाने का रूस नहीं है, और इधर उसने चीन पर आघात करके संसार की महानुभूति भी खो दी है, पर रूस की गरज का उस पर कुछ असर होना नहीं मालूम होता। उधर अमेरिका भी जापान से बिगड़ बैठा है, और इधर रूस और जापान में संघर्ष हुआ, तो अमेरिका भी रूस का साथ देगा। जापान बलवान सही, पर दो महान शक्तियों के सामने वह टिक सकेगा, इसमें संदेह है। कहीं उसकी भी वही दशा न हो, जो 1914 में जर्मनी की हुई। सभी बड़े राष्ट्र उसके दुश्मन हो गए। जापान भी कुछ उसी नीति पर चल रहा है और हमें आश्चर्य होगा अगर लड़ाई के अवसर पर वह रूस के साथ अमेरिका और दो-एक योरोपीय राष्ट्रों को भी अपने सामने खड़ा देखे। और क्या उस वक्त चीन अपना पुराना बैर न चुकाएगा? फिर पूर्व में जापान ही एक ऐसी शक्ति है, जो योरोप की बड़ी-बड़ी सल्तनतों से बराबरी कर सकती है, जिसकी व्यवसायिक उन्नति ने सारे संसार को चकित कर दिया है। पश्चिम उसके प्रभुत्व को मिटाने के लिए अपने भेदों को भूल जाए, तो आश्चर्य नहीं। जापान के लिए किसी तरफ से भी सहायता मिलने की संभावना नहीं है। अगर खुदा-न-ख्वास्ता यह लड़ाई हुई, तो जापान को ऐसी क्षति पहुंचेगी कि वह बरसों तक न संभल सकेगा। फायदा शायद यह हो कि एक साम्राज्यवादी शासन नष्ट होकर, उसकी जगह सोवियत-शासन स्थापित हो जाए।

[संपादकीय। 'जागरण', 19 फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

सांप्रदायिकता और स्वार्थ

इस संघर्ष के युग में हर किसी को गिरोहबंदी की सूझती है। जो गिरोह बन सकता है, वह जीवन के हर एक विभाग में सफल है, जो नहीं बना सकता, उसकी कहीं पूछ नहीं—कहीं मान नहीं। हम अपने स्वार्थ के लिए अपनी जात और अपने प्रांत की दुहाई देते हैं। अगर हम बंगाली हैं, और हमने दवाओं की दुकान खोली है, तो हम हरेक बंगाली से आशा रखते हैं कि वह हमारा ग्राहक हो जाए, हम बंगालियों को देखकर उनसे अपनापन का नाता जोड़ते हैं और अपने स्वार्थ के लिए प्रांतीय भावना की शरण लेते हैं। अगर हम हिन्दू हैं और हमने स्वदेशी कपड़ों की दुकान खोली है, तो हम अपने हिन्दुत्व का शोर मचाते हैं, और हिन्दुओं की सांप्रदायिकता को जगा कर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। अगर इसमें सफलता न मिली, तो अपनी जाति-विशेष की हांक लगाते हैं। इस तरह प्रांतीयता

और सांप्रदायिकता की जड़ भी कितनी ही अन्य बुराइयों की भांति हमारी आर्थिक परिस्थिति से पोषक रस खींचकर फलती फूलती रहती है। हम अपने ग्राहकों को विशेष सुविधा देकर अपना ग्राहक नहीं बनाते, संभव है कि उसमें हमारी हानि हो, इसलिए जातीय भेद की पूंछ पकड़ कर बैतरणी के पास पहुंच जाते हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 19 फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

स्वदेशी बीमा कम्पनी लि०, आगरा

स्वदेशी बीमा कम्पनी, आगरा की द्वितीय वार्षिक रिपोर्ट प्रकाशित हो गई। इस वर्ष इस कम्पनी का काम मुख्यत: संयुक्त प्रांत में सीमित रहा। साधारण विभाग में इस वर्ष बीस लाख से ज्यादा का काम हुआ, पिछले साल केवल ग्यारह लाख का काम हुआ था। इस प्रांत में लगभग सौ बीमा-कम्पनियां काम कर रही हैं। दो को छोड़कर और किसी कम्पनी ने इतना नया काम इस सूबे में नहीं किया। इससे प्रकट होता है कि इस कम्पनी पर पब्लिक को कितना विश्वास हो गया है। इस वर्ष कम्पनी की कुल आय एक लाख दो हज़ार से कुछ ऊपर थी। क्लेम केवल पांच बीमादारों के हुए जो चार हज़ार से कुछ कम हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि कम्पनी कितने पक्के नियमों पर काम कर रही है। हमें रिपोर्ट में यह देखकर हर्ष हुआ कि कम्पनी ने वारिसों को अपने रुपये प्राप्त करने में हर प्रकार की सहायता दी और शीघ्र ही भुगतान कर दिया। इस वर्ष कम्पनी ने दो हज़ार के हिस्से बेचे। उसके हिस्से अब दो रुपये प्रति हिस्सा प्रीमियम पर बिक रहे हैं। हमें आशा है, कम्पनी इस वर्ष हिस्से बेचने की ओर ज़्यादा ध्यान देगी, जिससे उसकी उपयोगिता का क्षेत्र बढ़ेगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 19 फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य', खण्ड-2 में संकलित।]

स्वामी-सत्यदेव पाठशाला

पाठकों को यह जानकर हर्ष होगा कि हिन्दी के विख्यात लेखक और राष्ट्रीय कार्यकर्ता स्वामी सत्यदेव जी परिव्राजक ने काशी को अपने कार्यक्षेत्र का केंद्र बनाया है और अब यहीं निवास करेंगे। आप अपने लेखों से हिन्दी की सेवा तो करते ही रहेंगे, अब आपने एक पाठशाला भी स्थापित कर दी है। काशी ऐसे विद्यालय के लिए उपयुक्त स्थान है, क्योंकि यह हमेशा से विद्या का केंद्र रहा है। इस विद्यालय में वह भी विषय पढ़ाए जाएंगे, जो मनुष्य को स्वावलंबी, स्वतंत्र-विचार, कर्मयोगी, उदार और विचारशील बनाते हैं। स्वामीजी ने दुनिया देखी है और राष्ट्रों के उत्थान और पतन का अध्ययन किया है। वह झूठे वैराग्य के उपासक नहीं हैं, जो जीवन को अनित्य और संसार को दु:ख का मूल समझता है। उन्होंने संसार के मुख्य धर्मों का तुलनात्मक विवेचन किया है अतएव, आपकी अध्यक्षता में किस ढंग की शिक्षा मिलेगी। इसका अनुमान किया जा सकता है। यहां यूरोप का इतिहास, पाश्चात्य शिक्षा के विकास का इतिहास, पूर्व और पश्चिम की

संस्कृतियों का विचारपूर्ण अध्ययन, आदि विषयों पर व्याख्यान दिए जाएंगे। काशी में यह पाठशाला अपने ढंग की अद्वितीय होगी, जिसमें पूर्व और पश्चिम की सभी अच्छी-अच्छी बातों का सामंजस्य होगा। हम नहीं कह सकते, काशी जैसे कट्टरपंथी स्थान में ऐसी पाठशाला कहां तक सफल होगी, पर काशी जहां प्राचीन है, वहां उसने सदैव नए प्रकाश का स्वागत किया है और हम आशा करते हैं कि स्वामी जी अपने शुभ-उद्देश्य में सफल होंगे।

[संपादकीय। 'जागरण', 19 फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

आकस्मिक प्रकोप बिल

बिहार में आकस्मिक बिल पास हो गया। इसके अनुसार बिहार सरकार भूकंप पीड़ितों को बराय नाम सूद पर कर्ज देगी और दस-पन्द्रह वर्ष में किस्तवार वसूल करेगी। ऐसे कानून की इस वक्त बड़ी जरूरत थी और यदि यहां भी लवड़-धौं-धौं हुआ जो सरकारी कामों में हमेशा हुआ करता है, तो इससे प्रजा का बड़ा उपकार होगा। यह एक काम बिहार सरकार ने ऐसा किया है, जिसकी जितनी तारीफ की जाए कम है। विलंब के लिए हम सरकार को दोषी नहीं ठहराते। सरकारी कामों में कुछ-न-कुछ विलंब हो ही जाता है। खटकती है यह बात कि यह कर्ज उन्हीं लोगों को दिया जाएगा, जो जायदाद वाले हैं। यहां भी आ गई, वही जायदाद वाली पख। हम पूछते हैं, जिनकी सारी लेई पूंजी लेकर जमीन में धंस गई या जिस-जिस मकानदार के सारे मकान जमींदोज हो गए या जिस किसान के खेतों में पानी भर गया वे गरीब किस जायदाद के बल पर कर्ज लेंगे। और जिनके पास जायदाद है, उन्हें कर्ज देने वाली एक सरकार ही थोड़े ही है। उन्हें तो बैंकों और महाजनों के द्वार खुले हैं, और संभव है, इस परिस्थिति में उन्हें पांच-छ: फीसदी पर कर्ज मिल जाए। रोना तो उन्हीं बेचारों का है, जो जायदाद वाले थे, मगर अब फाकेमस्त हैं। उनके लिए सरकार क्या कर रही है? हम तो समझते हैं, सरकार को बिहार चेम्बर ऑफ कामर्स की इस सलाह पर विचार करना चाहिए, कि सहकारी समितियों और प्राइवेट बैंकों से सरकार अपनी जिम्मेदारी पर कर्ज दिलवाए। आप खाने के लिए तो कर्ज दे नहीं रहे हैं, कि कोई खाकर रफूचक्कर हो जाएगा। आप तो दे रहे हैं, मकान बनाने के लिए। क्या असामी मकान सिर पर लेकर भाग जाएगा। वह भाग भी जाए, तो मकान तो रहेगा। उसे बेचकर रुपये वसूल किए जा सकते हैं। जो कुछ भी हो, अगर सरकार ने केवल जायदाद वालों तक इस कानून को सीमित रखा, तो इससे वास्तविक लाभ बहुत कम होगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 जनवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग', भाग-2 में संकलित।]

देव मंदिर और भूकंप

हमें नेपाल के प्रधान व्यक्ति से यह सुनकर अत्यंत संतोष और गर्व हुआ कि जहां काठमांडू मट्टन और अन्य स्थानों में बहुत से मकान गिर गए वहां देव मंदिर एक भी नहीं गिरा

और इस पर उन महोदय ने श्रद्धा-विहिन लोगों को दिखाया है कि देवताओं में कितनी बड़ी शक्ति है। क्यों न होगी? यह भूकंप असल में उनके लिए तो आया ही न था। देवता और ईश्वर तो एक प्रकार से नातेदार हैं। कोई ईश्वर का भाई है, कोई साला, कोई बहनोई। नातेदार की रक्षा तो सभी करते हैं। इसमें नई बात क्या हुई। भूकंप तो आया था उन लोगों को दंड देने के लिए, जो महात्मा गांधी के मत से अछूतों पर अन्याय करते हैं, पोगा-पंथियों के मत से अछूतों के लिए मंदिर खुलवाते हैं, अहलकारों के मत से जो रिश्वत नहीं देते, मुल्लाओं के मत से जो दाढ़ी नहीं रखते। मगर ऐसा मालूम होता है कि देवताओं में भी दो दल हो गए हैं, क्योंकि जहां नेपाल के देव मंदिरों में एक को भी आंच नहीं आई, वहां बिहार में कितने ही देवालय लोप हो गए और मसजिदों का निशान मिट गया। ऐसा मालूम होता है कि स्वाधीन नेपाल के देवताओं में कुछ अधिक शक्ति होगी। पराधीन भारत के देवता भी आखिर दुर्बल ही होंगे।

हमें यह देखकर दु:ख होता है. कि अच्छे-खासे समझदार लोग इस तरह की बातें करते हैं। संसार में आदिकाल से भय का राज्य रहा है, समाज में भी, धर्म में भी चोरी मत करो, नहीं राजा दंड देगा। पाप मत करो, नहीं ईश्वर दंड देगा। इस प्रकार ईश्वर की कल्पना भी एक बहुत बड़े तेजस्वी और भयंकर राजा की थी। यह कभी नहीं कहा गया कि चोरी मत करो, इससे तुम्हारे भाई को कष्ट होगा, या पाप मत करो, इससे तुम्हारे समाज को कष्ट होगा। हमारे नीतिकारों ने इस मानवी भावना का आधार न लेकर, भय का आधार लिया और ऐसा स्वाभाविक भी था। जंगली दशा में मनुष्य को प्रकृति का रौद्ररूप ही अधिक दिखाई देता था और लोग अपने पास की बहुमूल्य चीजें उसे भेंट देकर, उसका क्रोध शात करते थे। क्रोध शांत होता था या नहीं, लेकिन कम से-कम उन जंगलियों को यह संतोष हो जाता था कि हमसे जो कुछ हो सकता था, वह हमने कष्ट निवारण के लिए कर दिया। और वह भय भावना आज तक हमारे दिलो पर हावी है। यह उसी भावना का प्रताप है कि हमें नरक का भय दिखाकर आज करोड़ों पाखंडी हमें लल्लू बना रहे हैं। शासन मनुष्य कृत वस्तु है। मनुष्य भय पर अपना अस्तित्व जमाये, तो हम उसे क्षम्य समझते हैं, लेकिन सर्वशक्तिमान् ईश्वर को भी भय का ही सहारा लेना पड़े, जब वह अपने प्रेम का अखंड विस्तार दिखा सकता है, यह उस ईश्वर के लिए गौरव की बात नहीं हो सकती। कहते हैं, ईश्वर की इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। तो फिर उसकी इच्छा के बिना आज हजारों बरस से हिन्दू-समाज ने हरिजनों पर अत्याचार क्यों किया? ईश्वर यह सब अंधेर देखकर भी क्यों चुप बैठा रहा? क्यों नहीं उसने अपने प्रेम की ज्योति से सबको वशीभूत कर लिया? मजा यह है कि कोप आना चाहिए था, केवल अन्यायियों पर, मगर उसमें पिस गए हरिजन भी। कई दार्शनिकों का मत है कि ब्राह्मांड केवल 'चित्त' है। हो सकता है। बालू का कण भी परमाणु है, लेकिन बालू का कण चाहे कि हिमालय को हिला दे, तो उस कण की घोर मूर्खता है। फिर जब हमारी बुद्धि इतनी परिमित है, तो यह क्यों नहीं कहते कि दादा ईश्वर की लीला ईश्वर जानें। हम इस विषय को कुछ नहीं जानते।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग', भाग 2 में संकलित।]

निरक्षरता की दुहाई

हमारे किसानों को निरक्षरता की दुहाई देना एक फैशन-सा हो गया है, लेकिन किसान निरक्षर होकर भी बहुत से साक्षरों से ज्यादा चतुर हैं। साक्षरता अच्छी चीज है और उससे जीवन की कुछ समस्याएं हल हो जाती हैं, लेकिन यह समझना कि किसान निरा मूर्ख है उसके साथ अन्याय करना है। वह परोपकारी है, त्यागी है, परिश्रमी है, किफायती है, दूरदर्शी है, हिम्मत का पूरा है, नीयत का साफ है, दिल का दयालु है। बात का सच्चा है, धर्मात्मा है, नशा नहीं करता, और क्या चाहिए। कितने साक्षर हैं, जिनमें ये गुण पाये जाएं। हमारा तजुर्बा तो यह है कि साक्षर होकर आदमी काइयां, बदनीयत, कानूनी और आलसी हो जाता है। किसान इसलिए तबाह नहीं है, कि वह साक्षर नहीं है, बल्कि इसलिए कि जिन दशाओं में उसे जीवन का निर्वाह करना पड़ता है, उनमें बड़े से बड़ा विद्वान भी सफल नहीं हो सकता। उसमें सबसे बड़ी कमी संगठन की है जिसके कारण जमींदार, साहूकार, अहलकार सभी उस पर आतंक जमाते हैं। लेकिन अगर कोई उनमें संगठन करना चाहे, जिसमें वे इन भेड़ियों के नख और पंजे से बचें, तो उस पर तुरंत राजद्रोह का और हिज मैजेस्टी की प्रजा में विद्वेष पैदा करने का इल्जाम लग जाएगा और उसे जेल की हवा खानी पड़ेगी। किसान लाख साक्षर हो जाए, जब तक संगठित नहीं होता, जब तक उसे अपने अधिकारों का ज्ञान नहीं होता, जब तक वह इन समुदायों का मुकाबला नहीं कर सकता, उसका जीवन कभी सुखी न होगा। उसके पास चार पैसे देखकर जमींदार और अहलकार सभी की राल टपकने लगती है और एक-न-एक खुच्चड़ निकालकर उसकी कमर खाली कर दी जाती है। अगर राजद्रोह का हौवा न खड़ा कर दिया गया होता, तो राष्ट्रीय सेवक किसानों में बहुत कुछ संगठन कर चुके होते। मगर यहां तो यह नीति है कि प्रजा की राजनैतिक चेतना न जागने पावे, नहीं वह अपने हकों पर अड़ना सीख जाएगी। इसलिए उनके संगठन का कार्य पब्लिसिटी विभाग के सुपुर्द कर दिया है, जो बड़े-बड़े कस्बों में जाकर अंग्रेजी राज्य के कवित्त सुना आते हैं। एक ओर जनता को नशे की बुराइयों का उपदेश दिया जाता है, दूसरी ओर ऐसी व्यवस्था की जाती है कि लोग ज्यादे-से-ज्यादे नशे का सेवन करें, जिसमें सरकार की आमदनी में कमी न होने पावे। इस नीति का जब तक प्राधान्य है, साक्षरता से कोई उपकार नहीं हो सकता। जो विद्वान हैं, उन्हें तो हम दूसरों को नोचते-खसोटते ही देखते हैं, यहां तक कि मन में संदेह होने लगता है कि क्या यह वही विद्या है, जिसकी इतनी महिमा गाई गई है। अगर सरकार को जनता के हित की सच्ची लगन हो जाए, तो वह जादू की लालटेनों से, उपेदशों से, सिनेमा-चित्रों से थोड़े दिनों में आरोग्य और अच्छी खेती के तरीकों का प्रचार कर सकती है। जिस किसान के द्वार पर खड़े होने की जगह नहीं, वह ताजी हवा कहां से लावे, जिसके भोजनों का ठिकाना नहीं, वह अच्छी खाद कहां से लाए। हम तो कहेंगे कि देहात वालों की निरक्षरता ही उसकी रक्षा कर रही है, नहीं उनमें भी वही पाखंड, वही विलास, वही स्वार्थपरता आ जाती, जो आज के विद्वानों की विशेषता है। जो हमारे किसानों को निरक्षर कहकर उन पर दया करते हैं, उन्हें इन निरक्षर भट्टाचार्यों से बहुत सीखने को मिल सकता है। आज अस्सी फीसदी साक्षर बेकार बैठे अपनी साक्षरता के नाम को रो रहे हैं। ऐसी साक्षरता किसानों

के लिए घातक होगी। उनमें सबसे बड़ी जरूरत संगठन की है, जिसमें वे इतनी आसानी से दूसरों के शिकार न बनाए जा सकें और यह संगठन करना राजद्रोह है।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 जनवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

भारतीय कला की आत्मा

हिज एक्सेलेन्सी सर मालकम हेली ने लखनऊ स्कूल ऑफ आर्ट की वार्षिक प्रदर्शनी के अवसर पर भारतीय कला की बड़ी सुंदर विवेचना की। आपने फरमाया कि प्राचीन भारतीय कला कुछ धार्मिक, पौराणिक और दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति थी, जो विशेष रूप से भारतीय थे। आपके विचार में यही भारत की जातीय-कला की आत्मा थी। बेशक थी। मगर उस धर्मान्धता के युग में संसार की किस जाति की कला इससे भिन्न थी? फिर जब संसार में कहीं कला का यह नया रूप न था, तो भारत में क्यों होता। यहां भी कलाकारों ने अपनी बुद्धि कृष्ण की रास-लीलाओं और देवताओं के पौराणिक गाथाओं के चित्रित करने में लगाई, उसी तरह जैसे बौद्ध कलाकारों ने कई सदियों पहले बुद्ध जीवन को चित्रित करने में लगाई थी या जैसे बाद को इटली के महान् चित्रकारों और मूर्तिकारों ने ईसा और अन्य धर्म-संबंधी विषयों में खर्च की। भारत की आत्मा ही कलाकार की आत्मा है और वह अब सदियों की धार्मिक और सांप्रदायिक गुलामी से मुक्त होकर, ज्यादा स्वाधीन क्षेत्र में आना चाहती है और वही कलाकार आज का राष्ट्रीय कलाकार होगा, जो इस भावना को रंगों और पत्थरों में दर्शाए। देवी-देवता और राजा-रानी के चित्र अब केवल प्रशंसा के लिए रह गए हैं, राष्ट्रीय भावना को उनसे कोई आशा नहीं मिलती। आज भी हमारे यहां ऐसे आलोचकों की कमी नहीं है, जो कृष्ण की दधि लीला के चित्र देखकर गद्गद हो जाते हैं और उनकी प्रशंसा में पोथियां निर्माण कर डालते हैं। लेकिन ऐसे चित्रों में गौरव या आनंद का अनुभव करने वाले वही सुखी और सुप्त जीव हैं, जो आज के वास्तविक जीवन में नहीं पड़े और न परिस्थितियों के कारण पड़ सकते हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

यू॰ पी॰ काउंसिल में कृषकों पर अन्याय

यू॰ पी॰ काउंसिल की इस बैठक में होम मेंबर सर जगदीशप्रसाद ने एक कानून का मसविदा पेश किया था, जिसके अनुसार काश्तकारों से बकाया लगान पर बारह रुपये सैकड़े ब्याज के बदले छः रुपये सैकड़े ब्याज की व्यवस्था की गयी थी। यह भी किया गया था कि बकाया लगान की इल्लत में काश्तकारों को चार साल तक बेदखल न किया जाए। इस मसविदे का श्री रावकृष्णपालसिंह और श्री उपाध्याय ने समर्थन किया। पगर ज़मींदारों को भला कैसे सब्र होता। चारों तरफ से छः रुपये फीसदी पर समझौता हुआ। चार साल की जगह तीन साल की मुद्दत रखी गयी। यह है हमारे काउंसिलों में किसानों के प्रतिनिधि न रहने का फल। जमींदार साहबान हर मौके पर अपने को किसानों का प्रतिनिधि बतलाया करते हैं। सरकार

भी उन्हें किसानों का स्वाभाविक नेता कहती है, लेकिन जब कोई ऐसा अवसर आता है, कि जमींदारों से किसानों को कुछ रियायत दिलायी जाए, तो ये स्वाभाविक नेता रस्सी तुड़ाने लगते हैं। ऐसा शायद ही कभी हुआ हो कि जमींदार समुदाय ने कभी किसानों के प्रति न्याय का समर्थन किया हो। उस पर वे चाहते हैं कि जनता उनका आदर करे, और उनके यश गाये। ऐसी हरकतों से जमींदार लोग अपनी जड़ खोद रहे हैं और जनता में उनका जो कुछ रहा-सहा प्रभाव है, उसे भी खोए देते हैं। मि० उपाध्याय ने यही बात जब खोलकर कह दी, तो सारे जमींदार भिन्ना उठे, जिनमें जनाब होम मेम्बर साहब भी थे। कहा गया कि इस कानून के जन्मदाता मो० फसीहुद्दीन साहब हैं, जो खुद जमींदार हैं और जिन्होंने तीन फीसदी सूद की व्यवस्था की थी। बेशक ऐसे जमींदार हैं, जिनमें किसानों के प्रति सहानुभूति है, लेकिन उसी तरह जैसे हाउस ऑफ लार्ड में भी दो-एक मेंबर ऐसे हैं, जिनको भारत पर दया आती है। लेकिन इन बेचारों की नक्कारखाने में सुनता कौन है। वहां तो बहुमत जमींदारों का है और सरकार सदैव उनकी रक्षा करती रहती है। किसानों की गरीबी पर किसी को तरस नहीं आता। हमें जमींदारों से शिकायत नहीं। उनसे जनता ने किसी तरह की आशा रखना छोड़ दिया है। हमें शिकायत सरकार से है, जो किसानों की दशा से भली-भाँति वाकिफ होकर भी और यह जानते हुए भी कि इस मंदी में जितनी तबाही उन पर आयी है, उतनी समाज के और किसी अंग पर नहीं आयी, हमेशा जमींदारों का ही पक्ष लेती है। जो किसान बड़ी मश्किल से लगान दे पाता है, यहां तक कि जमींदारों के कथनानुसार हर साल पचास फीसदी लगान बाकी रह जाता है, वह सूद कहां से दे सकता है। ज़मींदार उस पर यों ही बकाया नहीं छोड़ देते। मार-धाड़, कुरकी-सरसरी सब कुछ करके तब चुप होते हैं। जब इतने पर भी काश्तकार लगान पूरा नहीं अदा कर सकता, तो वह नौ फीसदी सूद कहां से देगा। रिआयत ही करते हो, तो ऐसी रिआयत करो कि उसका कुछ महत्त्व हो। इन भले आदमियों को यह नहीं सूझता कि उन्हें पैंतालीस फीसदी का जो नफा होता है, वह तो मानो मुफ्त ही है। वह कोई परिश्रम नहीं करते, पसीना नहीं बहाते, केवल दो-चार गहने रखकर रुपये वसूल कर लेते हैं और बैठे मौज उड़ाते हैं। उनके मुकाबले में किसानों की क्या दशा है? एक लाख किसानों को खड़ा कर दीजिए। शायद ही किसी की देह पर साबित कपड़े निकलें। ज़मींदारों पर भी करज इसलिए है कि वह आमदनी से ज्यादा खर्च करते हैं। काश्तकार इसलिए तबाह हैं कि उसकी खेती में न काफी उपज है, न जिसका अच्छा दाम है और उस पर एक-न-एक दैवी बाधा सदैव उसके पीछे पड़ी रहती है। मगर यहां तो अपना पेट अफरना चाहिए, कोई भूखा मरता हो, तो मरे। फिर भी यह शिकायत कि जनता पर ज़मींदारों का प्रभाव नहीं है।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

रूस का नैतिक उत्थान

रूस को बदनाम करने वाले अंग्रेजी अखबारों में बराबर यही लिखा जाता है कि रूस में विवाह प्रथा प्राय: उठ-सी गई है, पारिवारिक संगठन नष्ट हो गया है, स्त्री-पुरुष स्वेच्छा

से सहवास करते रहते हैं, आदि। लेकिन इधर दो-एक भारतीय सज्जनों ने वहां का जो आंखों देखा वृतांत लिखा है, उससे तो मालूम होता है कि रूस ने और किसी विभाग में चाहे प्रगति की हो या नहीं, लेकिन नैतिक दृष्टि से तो वह पच्छिम की अन्य सभी उन्नत जातियों से आगे निकल गया है। वहां बाजारों में वेश्याएं अपने शिकार की तलाश में चक्कर लगाती नहीं नजर आतीं, न होटलों और कहवाखानों में औरतों के नंगे चित्र ही लटकते नजर आते हैं, जैसा योरोप और अमेरिका के प्रायः सभी देशों में देखा जाता है। यही नहीं सुजाक और उपदंश आदि बीमारियां जो योरोप में दिन-दिन बढ़ रही हैं, रूस में बहुत कम हो गई हैं और वहां के डॉक्टरों को आशा है कि कुछ दिनों में यह फिरंगी बीमारियां नेस्तनाबूद हो जायेंगी। वेश्यावृत्ति का मूल कारण आर्थिक संकट है, जो बाद को मानसिक दुर्बलता का रूप धारण कर लेता है। जहां धन थोड़े से आदमियों के हाथ में है, वहां लाजिमी है कि धनवान लोग अपनी विलासिता को तृप्त करने के लिए प्रलोभनों से काम लें। उसी से बीमरियां भी फैलती हैं। जब किसी के पास इतना धन ही न रहे कि वह उसे विलासिता में उड़ा सके, तो वेश्यावृत्ति आप-ही-आप लुप्त हो जाएगी। फिर जब स्त्रियों के लिए जीवन के किसी विभाग में कोई रुकावट नहीं, तो वे क्यों इस लज्जास्पद वृत्ति का आश्रय लें। धन के लिए रूप को बेचना कोई पसंद नहीं करती। वह तो प्रेम के लिए ही आत्म-समर्पण करना चाहती है। यदि वह परिश्रम से अपने जीवन को सुखी बना सकती है, तो वह यह घृणित आश्रय कभी न लेगी।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 फरवरी, 1934 मे प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-3 मे संकलित।]

राजा सर मोतीचन्द का स्वर्गवास

राजा सर मोतीचन्द के उठ जाने से काशी को जो क्षति पहुंची है, वह मुश्किल से पूरी होगी। आप बड़े दानी, परोपकारी और सहृदय व्यक्ति थे। आपकी अवस्था अभी कुल अट्ठावन साल की थी, आपका स्वास्थ्य भी बुरा न था, मगर पिछले साल आप पर लकवे का जो आक्रमण हुआ था, उसने अंत में आपकी जान ही लेकर छोड़ी। कई साल पहले आप तीन सेशन तक एसेंबली के मेंबर रहे, और हिन्दू विश्वविद्यालय तथा अन्य सार्वजनिक कामों में आपको बड़ी दिलचस्पी है। देश के औद्योगिक उद्धार के लिए आप बराबर प्रयत्न करते रहे और काशी का कॉटन मिल आप ही की यादगार है।

[सपादकीय। 'हस', मार्च, 1934 मे प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में सकलित।]

रोमें रोलां की कला

रोमें रोलां फ्रांस के उन साहित्य-स्रष्टाओं में हैं, जिन्होंने साहित्य के प्रायः सभी अंगों को अपनी रचनाओं से अलंकृत किया है और उपन्यास-साहित्य में तो वह विक्टर ह्यूगो और टॉल्स्टॉय के ही समकक्ष हैं। उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'जान क्रिस्टोफर' के विषय में तो

हम कह सकते हैं कि एक कलाकार की आत्मा का इससे सुंदर चित्र उपन्यास-साहित्य में नहीं है। रोमें रोलां आत्मा और हृदय के रहस्यों को व्यक्त करने में सिद्धहस्त हैं। उनके यहां विचित्र घटनाएं नहीं होतीं, असाधारण और आदर्श चरित्र नहीं होते। उनके उपन्यास जीवन कथा मात्र होते हैं, जिनमें हम नायक को भिन्न, पर रोज़ आने वाली, परिस्थितियों में सुख और दु:ख, मैत्री और द्वेष, निंदा और प्रशंसा, त्याग और स्वार्थ के बीच से गुज़रते हुए देखते हैं—उसी तरह मानो हम स्वयं उन्हीं दशाओं में गुज़र रहे हों। एक ही चरित्र नई-नई दशाओं में पड़कर इस तरह स्वाभाविक रूप में हमारे सामने आता है कि हमको उसमें लेश-मात्र भी असंगति नहीं मालूम होती। इसमें संदेह नहीं कि 'इंटरप्रिटेशन' की कला में उनका कोई सानी नहीं है। इस उपन्यास में दो हज़ार से ऊपर पृष्ठ हैं। इसमें सैकड़ों ही गौण पात्र आए हैं, पर हरेक का अपना अलग व्यक्तित्व है। लेखक उनकी मनोवृत्तियों और मनोभावों की तह में जाकर ऐसे-ऐसे चमकते रत्न निकाल लाता है कि हम मुग्ध भी हो जाते हैं और चकित भी। आपने क्रिस्टोफर के मुख से एक जगह साहित्य के विषय में ये विचार प्रकट किए हैं—

'आजकल के लेखक अनोखे चरित्रों के वर्णन में अपनी शक्ति नष्ट करते हैं। उन्होंने स्वयं अपने को जीवन से पृथक् कर लिया है। उनको छोड़ो और वहां जाओ जहां स्त्री और पुरुष रहते हैं। रोज़ का जीवन रोज मिलने वाले मनुष्यों को दिखाओ। वह जीवन गहरे समुद्र से भो गहरा और प्रशस्त है। हममें जो सबसे तुच्छ है, उसकी आत्मा भी अनंत है। यह अनंत प्रत्येक मनुष्य में है, जो अपने को सीधा-सादा मनुष्य समझता है—प्रेमी में, मित्र मे, उस नारी में जो शिशु-जन्म के उज्ज्वल गौरव का मूल्य प्रसव-वेदना से चुकाती है--हर एक स्त्री और हर एक पुरुष में, जो अज्ञात बलिदानों में अपना जीवन व्यतीत करते है। यही जीवन की धारा है, जो प्राणों में प्रवाहित होती है, घूमती है, चक्कर लगाती है। इन्हीं सीधे-सादे मनुष्यों की सीधी-सादी कथा लिखो, उनके आने वाले दिनों और रातों के सुखद काव्य की रचना करो। जीवन का विकास जैसा सरल होता है, वैसी ही सरल तुम्हारी कथा होनी चाहिए। शब्दों और अक्षरो और सूक्ष्म व्याख्यानों पर समय मत नष्ट करो, जो वर्तमान कलाकारों की शक्ति का दुरुपयोग कर रही है। तुम सर्वसाधारण के लिए लिखते हो, सर्वसाधारण की भाषा में लिखो। शब्दों में अच्छे-बुरे, शिष्ट और बाज़ारी का भेद नहीं है, न शैली में सौम्य और असौम्य का भेद है। हां, ऐसे शब्द और ऐसी शैलियां अवश्य हैं, जो उन भावों को नहीं खोलतीं, जो वह खोलना चाहती हैं। जो कुछ लिखो एकचित्त होकर लिखो, वही लिखो जो तुम सोचते हो। वही कहो, जो तुम्हारे मन को लगता है। अपने हृदय के सामंजस्य को अपनी रचनाओं में दर्शाओ। शैली ही आत्मा है।'

इन थोड़े से शब्दों में रोमें रोलां ने अपनी कला का सारा रहस्य भर दिया है। उसकी रचनाओं को पढ़िए। कहीं वह उछल-कूद, वह तोड़-मरोड़, नवीनता पैदा करने का वह सचेष्ट-प्रयत्न नहीं है, जो अक्सर कलाकार किया करते हैं। विद्वानों ने साहित्य-कला के जो सिद्धांत बना रखे हैं, यहां उनकी कहीं गंध भा नहीं। वह इसलिए नहीं लिखता कि उससे पाठक का मनोरंजन हो। उसकी कला का उद्देश्य केवल मनोरहस्य को समझाना है। जिस तरह वह स्वयं मनुष्यों को देखता है, मनुष्यों को समझता है। वह आशावादी है, मनुष्य के भविष्य में उसे अटल विश्वास है। संसार की सारी विपत्तियों का मूल यह

है कि मनुष्य मनुष्य को समझता नहीं, या समझने की चेष्टा नहीं करता, इसीलिए द्वेष, विरोध और वैमनस्य है। वह यथार्थवादी अवश्य है, लेकिन उसका यथार्थवाद गंदी नालियों में नहीं रहता। उसकी उदार आत्मा किसी वस्तु को उसके कलुषित रूप में नहीं देखती। वह किसी का उपहास नहीं करता। किसी का मज़ाक नहीं उड़ाता, किसी को हेय नहीं समझता। मानव-हृदय उसके लिए समझने की वस्तु है। यह बात नहीं है कि उसे अन्याय देखकर क्रोध नहीं आता। उसने एक जगह लिखा है—मानव-समाज की बुराइयों को दूर करने की चेष्टा प्राणि-मात्र का कर्त्तव्य है। जिसे अन्याय को देखकर क्रोध नहीं आता, वह यही नहीं कि कलाकार नहीं है, बल्कि वह मनुष्य भी नहीं है।

लेकिन अन्याय से संग्राम करने की उसकी नीति कुछ और है। वह मनुष्य को समझने की चेष्टा करता है, उस अन्याय-भावना के उद्‌गम तक पहुंचना चाहता है, और इस तरह मानव-आत्मा में प्रवाह लेकर उसकी संकीर्णताओं को देर करके समन्वय करना ही उसकी कला है।

स्वांत:सुखाय वाली मनोवृत्ति कला के विकास के लिए उत्तम समझी जाती है। हम प्राय: कहा करते हैं कि अमुक व्यक्ति जो कुछ लिखता है, वह शौकिया लिखता है। वह अपनी कला पर अपनी जीविका का भार नहीं डालता। जिस कला पर जीविका का भार हो, वह इसलिए दूषित समझी जाती है कि कलाकार को जन-रुचि के पीछे चलना पड़ता है। मन और मस्तिष्क पर ज़ोर डालकर कुछ लिखा तो क्या लिखा। कला तो वही है, जो स्वच्छंद हो। रोमें रोलां का मत इसके विरुद्ध है। वह कहता है, "जिस कला पर जीविका का भार नहीं, वह केवल शौक है, केवल व्यसन, जो मनुष्य अपनी बेकारी का समय काटने के लिए किया करता है—यह केवल मनोरंजन है, दिमाग की थकन मिटाने के लिए। जीवन की मुख्य वस्तु कुछ और है, मगर सच्चे कलाकार की कला ही उसका जीवन है। इसी में वह अपनी संपूर्ण आत्मा से मरता है, लिपटता है। अभाव की उत्तेजना के बगैर कला में तीव्रता कहां से आएगी? व्यसन खिलौने बना सकता है, किंतु मूर्तियों का निर्माण करना उसी कलाकार का काम है, जिसकी संपूर्ण आत्मा उसके काम में हो।"

सांकेतिकता (Suggestiveness) कला की जान समझी जाती है और उसका सदुपयोग किया जाए, तो उससे कला अधिक मर्मग्राही हो जाती है। पाठक यह नहीं चाहता कि जो बातें वह खुद आसानी से कल्पना कर सकता है, वे उसे बताई जाएं, लेकिन रोमें रोलां की कला सब-कुछ स्पष्ट करती चलती है। हां, उसका स्पष्टीकरण इस दरजे का होता है कि पाठक को उसमें भी विचार और बुद्धि से काम लेने का काफी अवसर मिल जाता है। वह पाठकों के सामने पहेलियां नहीं रखना चाहता। उसकी कला का उद्देश्य मनोवृत्तियों को समझना है। जैसा उसने खुद समझा है, उसे वह पाठक के सम्मुख रख देता है और पाठक को तुरंत यह मालूम हो जाता है कि लेखक ने उसका समय नष्ट नहीं किया।

और बीच-बीच में जीवन और समाज और कला और आत्मा और अनेक विषयों पर रोमें रोलां जो भावनाएं प्रकट करता है, उन पर जो प्रकाश डालता है, वह तो अद्‌भुत है, अनुपम है। हम उसकी सूक्तियों को पढ़ते हैं, तो विचारों में डूब जाते हैं, अपने को भूल जाते हैं—और यह साहित्य का सबसे बड़ा आनंद है। अगर ये सूक्तियां जमा की

जाएं, तो अच्छी-खासी किताब बन सकती है। उसमें अनुभव का ऐसा गहरा रहस्य भरा हुआ है कि हमें लेखक की गहरी सूझ और विशाल अनुभवशीलता पर आश्चर्य होता है। इन सूक्तियों का उद्देश्य केवल अपना रचना-कौशल दिखाना नहीं है। वे मनोरहस्यों की कुंजियां हैं, जो एक वाक्य में सारा अंधकार, सारी उलझन दूर कर देती हैं–

'आनंद से भी हमारा जी भर जाता है। जब स्वार्थमय आनंद ही जीवन का मुख्य उद्देश्य हो जाता है, तो जीवन निरुद्देश्य हो जाता है।'

'सफलता में एक ही दैवी गुण है–वह मनुष्य में कुछ करने की शक्ति पैदा कर देती है।'

'सुशीला स्त्रियों में भी कभी-कभी एक भावना होती है, जो उन्हें अपनी शक्ति की परीक्षा लेने और उसके आगे जाने की प्रेरणा करती है।'

'आत्मा का सबसे मधुर संगीत सौजन्य है।'

[संपादकीय। 'हंस' मार्च, 1934 में प्रकाशित। साहित्य का उद्देश्य (प्रथम संस्करण) में संकलित। परंतु बाद के संस्करणों में से इसे हटा दिया गया। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

आल इंडिया स्वदेशी संघ

गत दिसंबर में बंबई आल इंडिया स्वदेशी कार्यकर्ताओं की जो सभा हुई थी, उसमें स्वदेशी वस्त्रों के प्रचार के लिए कई प्रस्तावों के साथ एक प्रस्ताव इस आशय का भी स्वीकृत हुआ कि स्वदेशी व्यवसायियों ने संरक्षणों और जनता की स्वदेशी भावनाओं के बल पर खराब चीजें महंगे दामों में बेचकर जनता की जो लूट मचा रखी है, उसकी निंदा की जाए और व्यवसायियों से अपील की जाए कि वे संरक्षणों के लाभ में ग्राहकों को भी शरीक करें, अर्थात् सस्ता माल बेचें। इसके साथ ही मजूरों के साथ उचित व्यवहार करें।

जब तक स्वदेशी संघ के पास ऐसा कोई अधिकार नहीं है वह स्वदेशी व्यवसायियों की आमदनी और खर्च की जांच कर सके तब तक यह व्यवसायियों ही अंधेर मचाते रहेंगे। जिसे देखिए संरक्षण का गुल मचा रहा है। इसका आशय कदापि नहीं हो सकता कि हमारे यहां मजूरी की दर ज्यादा है या कच्चा माल बेचना है। फिर संरक्षण क्यों।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 मार्च, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

जेल के नियमों में सुधार

बाबू शिवप्रसाद गुप्त देश के उन सर्वमान्य पुरुषों में हैं, जिन्होंने लक्ष्मी-पुत्र होकर भी राष्ट्र के लिए बड़े-से-बड़े त्याग किए हैं। आपने हाल में 'जेल के नियमों में सुधार' नाम का एक पैम्फ्लेट प्रकाशित कराकर जनता का ध्यान उन बुराइयों की ओर खींचा है, जो हमारे जेलों के लिए कलंक हैं, और कुछ ऐसी योजनाएं पेश की हैं जिनसे जेलों की दशा बहुत कुछ सुधर सकती है। संसार के प्राय: सभी देशों में यह सिद्धांत मान लिया गया है कि जेल मनुष्य की दुर्बलताओं के सुधारने का एक साधन मात्र है, जिसमें एक

नियतकाल तक रहने के बाद आदमी समाज का उपयोगी अंग बन सके, इसी सिद्धांत के अनुसार जेलों के प्रबंध में भी इसलाह कर दी गयी है। भारत में अभी तक जेल मनुष्य को कष्ट देने का स्थान समझा जाता है, और इसी दृष्टि से कैदियों के साथ पशुवत व्यवहार किया जाता है। बात-बात पर गाली और मार, जरा-जरा से कसूर पर लंबी बेड़ी और काल-कोठरी, खराब-से-खराब खाना, जलील-से-जलील कपड़ा यह हमारे जेलों की विशेषताएं हैं। गुप्त जी का प्रस्ताव है कि जेलों को कारखाना समझा जाए और कैदियों को कुछ हुनर सिखाए जाएं और उनके काम में मजदूरी दी जाया करे। खाने का खर्च निकालकर जो बचे वह कैदी को अपनी इच्छानुसार खर्च करने का अधिकार रहे। आपने खाने, कपड़े, बरतन, शिक्षा, मनोरंजन, व्यायाम आदि के विषय में ऐसे प्रस्ताव किए हैं, जो थोड़े से ज्यादा खर्च से जेलों की कायापलट कर सकते हैं। गुप्त जी को कई बार जेल-यात्रा का गौरव प्राप्त हो चुका है, और उन्होंने जो योजनाएं पेश की हैं, वे उनके प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित हैं और यदि गवर्नमेंट का दृष्टिकोण बदल जाए, तो और सारी बातें बड़ी आसानी से पैदा हो जाएंगी।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 मार्च, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

बजट-1934

नई राजनीति में बजट का वही स्थान है, जो जीवन में विवाह का और मरण में श्राद्ध का। इसी धुरी पर सारी मशीनरी चलती है। विवाह में आतशबाजियां भी होंगी, जेवर भी बनेंगे, दावतें भी होंगी, नाच भी होगा, घर में रुपये हों या न हों। और कोई सहारा न हो तो महाजन तो है ही। श्राद्ध में भी बरतन, कपड़े, चारपाई, हाथी, घोड़े और शाल-दुशाले सभी कुछ चाहिए। दुखी जजमान के पास है या नहीं, इससे प्रयोजन नहीं। महापात्र स्वर्ग-द्वार का रक्षक है। जब तक उसे खूब संतुष्ट न किया जायेगा, मृतात्मा प्रेत योनि में ही चक्कर खाती रहेगी। बजट में भी खर्च पहले रख लिया जाता है और तब उसे पूरा करने के लिए आमदनी का प्रबंध किया जाता है। आमदनी देखकर खर्च करना साधारण गृहस्थों का काम है। राजनीति में खर्च का तख्मीना करके आमदनी का जुगाड़ किया जाता है। अगर आमदनी काफी नहीं है, तो कोई बात नहीं। प्रजा पर नये कर लगाये जा सकते हैं। प्रजा झक मारेगी और देगी। और कर भी होते हैं परोक्ष। चीनी पर कर बढ़ गया। चीनी अभी से महंगी हो गई। आप खुद चीनी खाना छोड़ सकते हैं लेकिन आपके घर में बच्चे हैं। वे शक्कर के बगैर एक दिन भी तो नहीं रह सकते। सबेरे उन्हें दूध के लिए शक्कर चाहिए, हलवे के लिए शक्कर चाहिए। आप महंगी चीनी लेने के लिए मजबूर हैं। अगर आपको चीनिया बेगम का सद्व्यसन है, तो बिना चीनी के आपको रात भर नींद न आयेगी। और ब्रह्मभोज के लिए भी तो दही-चीनी आवश्यक है, नहीं तो पितरों की मुक्ति कैसे होगी? दियासलाई पर भी कर बढ़ गया। बस दूकानदारों ने उसकी कीमत दूनी कर दी। धेले की चीज पैसे की हो गयी। कर लगा बीस फीसदी, दाम बढ़ गया एक सौ फीसदी। अमीरों के लिए कोई बात नहीं। जहां दो आने की सलाइयां जला डालते

थे, वहां चार आने की सही। गरीबों का मरन है। खर्च में किसी तरह कमी नहीं हो सकती। फौज पर पचास करोड़ खर्च होता है। उसमें एक पाई भी कमी नहीं हो सकती। फौज की सैनिक शक्ति कम हो जाएगी। पुलिस के खर्च में तो किफायत हो ही नहीं सकती। जनता की आमदनी आधी हो गयी। सरकार का खर्च ज्यों-का-त्यों है। इसका अर्थ इसके सिवा और क्या है क्या पहले से कंगाल जनता अब और भी कष्ट झेले, और दाने-दाने को तरसे। उसके जीवन का उद्देश्य ही इसके सिवा और क्या है कि अपने हाकिमों की जेबें भरे। हाकिम तो हाकिम ठहरा। वह तो आराम से रहेगा, सरकार भी नीति और व्यवस्था की रक्षा करेगी। प्रजा को कष्ट होता है, तो हो। उसकी सुनता ही कौन है। जमींदार उसका दुश्मन, साहूकार उसका दुश्मन, अहलकार उसका दुश्मन, फिर ऐसे अभागों पर सरकार ही क्यों दया करने लगी। चीनी पर कर बढ़ा, लेकिन किसान को क्या फायदा हुआ। मिल-मालिक अपनी चीनी महंगी बेचकर कमी पूरी कर लेगा। किसान कहीं का न रहा। सरकार अगर मिलों का नफा घटाना चाहती थी, तो उसे चीनी का निर्ख भी तय कर देना था और ऊख का दाम भी। मिल वाले तो मूंछों पर ताव दे रहे हैं, पिट गये बिचारे गरीब गृहस्थ। सरकार का बस चलता, तो उसने अपने नमकख्वारों के वेतन की पांच फीसदी कटौती भी पूरी कर दी होती। बहती गंगा में हाथ धोना था, न जाने क्यों चूक गयी। दस-पांच लाख रुपये क्या जनता से और न वसूल हो जाते। नमकख्वारों की दुआएं मिल जातीं। क्या इंसानियत और शराफत है कि प्रजा की आमदनी तो आधी रह गयी, पर सरकार के कर्मचारी पांच फीसदी सैकड़े की कमी नहीं सह सकते।

और कहा जाता है, बजट बनाना बड़े दिमाग का काम है, और बजट को बराबर कर देना अर्थनीति का एक चमत्कार है। हमें तो इससे आसान कोई बात ही नहीं नजर आती। आमदनी खर्च के तख्मीने से जहां कम हुई, चट से एक नया कर लगा दिया। इसमें रखा ही क्या है? अर्थनीति की सफलता बजट के बराबर करने में नहीं है, प्रजा की दशा के सुधार में है। उसके कष्टों की कमी करने के लिए क्या किया जा रहा है? क्या यही नीति है कि छ: सेर गेहूं या चार सेर गुड़ के निर्ख पर जो लगान लिया जाये? सरकार क्यों नहीं सोचती कि उस वक्त का एक रुपया आज के कितने रुपये के बराबर है, मगर वह क्यों इस झंझट में पड़े। मन-भर का गेहूं बिके तब भी किसान खेत जोतेगा और सरकार को तब भी लगान देगा। बला से वह भूखों मरेगा, नंगा रहेगा, उसके बच्चे दाने-दाने को तरसेंगे। उसमें कष्ट सहने की अपार-शक्ति है। और केवल जबान से नहीं, अन्त:करण से। उसका भाग्यवाद सरकार का सबसे बड़ा टैक्स कलेक्टर है। वह अपने मरते हुए बालक के लिए एक पैसे की दवा भी नहीं खरीद सकता। जाड़े में ठिठुरता रहे, एक कंबल नहीं ले सकता, लेकिन लगान के रुपये सौ जतन से छिपाए रहता है, ताकि जमींदार की गाली और डंडे न खाने पड़ें। आराजी से बेदखल न होना पड़े। जहां ऐसी जनता हो, वहां बजट को बराबर करना क्या मुश्किल है, मगर एसेंबली में भी और कौंसिलों में अर्थ विभाग के अध्यक्ष को उनकी कल्पनातीत सफलता पर खूब-खूब बधाइयां दी गयीं और खूब-खूब कसीदे पढ़े गये। और यह उस वक्त तक होता रहेगा, जब तक इन सभाओं में कांग्रेस का बहुमत न होगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 मार्च, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

बिहार की परिस्थिति

समाचार-पत्रों में यह पढ़कर हमें खेद हुआ था कि बिहार में अब तक देहातों की तरफ ध्यान नहीं दिया गया और सभी सहायक और सेवा समितियां नगरों ही तक सीमित हैं। लेकिन बिहार सेन्ट्रल रिलीफ कमेटी की ताजी रिपोर्ट देखने से मालूम होता है कि पहले चाहे ऐसी अवस्था रही हो, पर अब देहातों में भी मदद पहुंचाई जा रही है। तत्कालिक अवस्थाएं तो पूरी होती जाती हैं, लेकिन नई-नई समस्याएं खड़ी होती जाती हैं। उनमें सबसे विषम समस्या है। बालू से पटी हुई जमीन को साफ करना, जानवरों के लिए चारे का प्रबंध करना और खड़ी ऊख पेरने का कोई उपाय निकालना। एक बीघा जमीन की सफ़ाई में औसतन तीस रुपये खर्च होते हैं। अनुमान किया गया है कि औसतन बीस लाख एकड़ जमीन खराब हो गयी है। उसकी सफाई के लिए कितना धन दरकार होगा, इसका तखमीना किया जा सकता है। कई गांवों में चारे की कमी से जानवर मरे जा रहे हैं, और अब किसानों ने निश्चय किया है कि उन्हें ऊख काटकर खिलायी जाए। शक्कर की मिलों के विध्वंस हो जाने से ऊख का अब कोई ग्राहक नहीं रह गया और जो दो-चार मिलें बाकी हैं, वह कौड़ियों के मोल ऊख लेना चाहती हैं। सरकार किसानों को बेलन मुहैया करने का प्रबंध कर रही है, लेकिन भय है कि जब तक बेलन आए ऊख-सूख न जाए। उधर बीमारियों के फैलने का भय भी हो रहा है। मालूम नहीं बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने आत्मनिर्भरता के लिए जो अपील की थी, उसका क्या असर हुआ, पर हमारा ख्याल है, जब तक सरकार पीड़ितों को सस्ता कर्ज दिलाने का प्रबंध न करेगी, बिहार का उद्धार होना मुश्किल है। दो-चार महीने अन्न-वस्त्र देने का प्रश्न होता तो वह चंदों से पूरा हो जाता, लेकिन वहां तो चार-पांच जिलों के पुनर्निमाण का प्रश्न है, दस-बीस लाख से हल नहीं हो सकता।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 मार्च, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

बेकारी कैसे दूर हो

देश के सामने इस समय सबसे भीषण समस्या बेकारी है, विशेष करके शिक्षित वर्ग के। वायसराय साहब ने हाल में यूनिवर्सिटी सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए इस विषय में जो विचार प्रकट किया, उससे आशा होती है कि शायद सरकार कोई क्रियात्मक आयोजन करे। आपने कहा, कितने ही होनहार छात्र तरह-तरह के कष्ट झेलकर ऊंची-से-ऊंची परीक्षाएं पास करते हैं, पर अपनी योग्यता का कोई उपयोग न पाकर निराश हो जाते हैं, और अक्सर बहक जाते हैं। युक्तप्रान्त की सरकार ने कुछ दिन हुए बेकारी के प्रश्न पर विचार करने के लिए एक कमेटी बनायी थी, उसकी रिपोर्ट भी प्रकाशित हो गई है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि इस समस्या की ओर से हमारे हुक्काम गाफिल हैं, लेकिन यह हो रहा है कि रोज कर्मचारियों को छांटकर अलग किया जा रहा है। हजारों आदमी इस तरह बेकार हो गए। उधर नई-नई कलें निकलती आ रही हैं, जिनसे आदमियों का

काम बड़ी किफायत से मशीनों द्वारा हो जाता है। अगर कहा जाए कि ऐसी मशीनें देश में आने ही न पाएं तो दूसरे मुल्क वाले अपनी चीजें यहां भर देंगे और हम उनसे मुकाबला न कर सकेंगे। फिर सरकारी नौकरों के वेतन इतने ऊंचे रखे गए हैं कि युवकों को कम आमदनी की जगह जंचती ही नहीं। सभी नौकरियों पर टूटते हैं। फिर बेकारी कैसे दूर हो। उद्योग-धन्धे खोलिए, लेकिन यहां भी बाहर की चीजों से मुकाबला है। फिर वही संरक्षण का प्रश्न आता है। माल की खपत नहीं होती और पूंजी भी गायब हो जाती है। इस बेकारी का एक ही इलाज है और वह स्वराज्य है। तभी नए-नए उद्योग-धन्धे खोले जा सकते हैं, वैज्ञानिक उपायों से पैदावार बढ़ायी जा सकती है, जहाजी कम्पनियां खोली जा सकती हैं। वर्तमान परिस्थिति में तो बेकारी का कोई इलाज नहीं नजर आता।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 मार्च, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

सर मानिक जी दादाभाई की कदरदानी

हिज एक्सलेंसी वायसराय को कार्उसिल ऑफ स्टेट के प्रेसीडेंट सर मानिक जी दादाभाई ने उस दिन एक पार्टी में जो खुशान्दी को सनद प्रदान की, उसकी शायद वायसराय को बिल्कुल जरूरत न थी और न उससे वायसराय को कोई खास आनंद मिला होगा, चाहे सर दादाभाई फूले न समाए हों। स्वामी अपने नौकर के मुंह से अपनी तारीफ सुनकर बहुत प्रसन्न नहीं होता और अगर वह प्रसन्न भी हो, क्योंकि आदमी को अपने कुत्ते का दुम हिलाना भी अच्छा लगता है, पर स्वामी के मुख पर उसकी भटई करना सेवक को शोभा नहीं देता। हम आपसे पूछते हैं, भारत में ऐसी कौन-सी बगावत फैली थी, जिसे वायसराय ने आकर शान्त कर दिया। भारत की दु:खी आत्मा एक ऐसी व्यवस्था के लिए फरियाद कर रही थी जिसमें उसकी कुछ भी आवाज हो, वह ऐसे प्रतिनिधि शासन के लिए सवाब का हाथ फैला रही थी, जिसमें उसकी दशा इतनी नगण्य न हो, वह राष्ट्रों की सभा में वही स्थान प्राप्त करना चाहती थी, जो अन्य राष्ट्रों को प्राप्त हैं, वह अपने लिए आत्मोन्नति की वही सुविधाएं चाहती थी, जो अन्य सभी राष्ट्रों को मिली हुई हैं, वह केवल अपने शासकों से यह सिद्धांत मनवाना चाहती थी कि हिन्दुस्तान हिन्दुस्तानियों के लिए है। केवल देश की आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था को इस तरह सुधारना चाहती थी कि धन का यह प्रभुत्व दूर हो जाए और भारत और ब्रिटेन में शासक और शासित संबंध न रहकर मैत्री का संबंध स्थापित हो जाए। किसी वायसराय की तारीफ इसमें थी कि वह भारत को उसके लक्ष्य के समीप पहुंचा देता। दमन से उसका मुंह बंद कर देता, तो कोई बड़ी तारीफ की बात न थी और एक दरिद्र, निरस्त्र, निरीह प्रजा को कुचल डालने में क्या गौरव है, हम यह नहीं समझ पाते। नमक हलाली बहुत अच्छी चीज है, बेशक, लेकिन औचित्य को क्यों भूलो।

[संपादकीय। 'जागरण', 12 मार्च, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

काशी में मंदिर प्रवेश बिल का समर्थन

वर्णाश्रम स्वराज्य-संघ को यह सुनकर आश्चर्य होगा कि काशी जैसे सनातनी केंद्र में भी हरिजनों के मंदिर प्रवेश बिल की विजय हुई। उस दिन दीवानी बार एसोसिएशन में इस प्रश्न पर दो घंटे तक विचार हुआ और यद्यपि एसोसिएशन में विरोधियों की संख्या काफी थी, लेकिन कई ब्राह्मण सज्जनों में बिल के पक्ष में राय देकर विरोधियों को पस्त कर दिया। केवल बाइस रायें विरोध में आयीं और पक्ष में सैंतीस रायें। काशी का यह निर्णय साफ बतला रहा है कि शिक्षित वर्ग इस बिल का समर्थक है। विरोधियों में थोड़े से कट्टरपंथी पोप रह गए हैं, यह भीख मांगने वाले पंडित, या केवल वह लोग जो इस विरोध से भी कुछ दकियानूसी धर्माभिमानी सेठ-साहूकारों को उल्लू बना सकते हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 19 मार्च, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

चर्चिल पार्टी की नयी चाल

चर्चिल पार्टी ने अपने दो प्रतिनिधियों को इसलिए भारत भेजा है कि वे यहां आने वाले विधानों के विषय में जनमत की ठीक-ठीक पता लगाकर उस पार्टी के अंग्रेजी समाचार-पत्रों को नया मसाला दें। कई महीने पहले इंडियन डेलीगेशन आया था। शायद यह उसका जवाब है। डेलीगेशन ने भारतवासियों में मिलकर भारत के दृष्टिकोण को समझने की चेष्टा की थी। यह दोनों सज्जन जिनमें एक साहब बंबई के गवर्नर रह चुके हैं, शायद तस्वीर का दूसरा रुख दिखाने की चेष्टा करेंगे। भारत मे आज भी ऐसे जीव पड़े हुए हैं, जो राजा और ईश्वर को एक समझते हैं, और प्रजा को राजा के काम में दखल देने का कोई हक ही नहीं देना चाहते। फिर ऐसे गोरे हुक्काम की कमी नहीं है, जिन्हें श्वेत-पत्र के नाम से ही लर्जा चढ़ आता है। हालांकि जहां तक भारत का संबंध है उसने श्वेत-पत्र मर्सिया पढ़ दिया और उसका आना-न-आना बराबर समझता है। बल्कि बहुमत तो उन्हीं राजनीतिज्ञों का है, जिनकी धारणा है कि भारत और भी पराधीन हो जाएगा, मगर ये दोनों महानुभाव उस मुर्दे को मारने के लिए राजाओं, खुशामदियों और अफसरों की रायें संग्रह करके अंग्रजी अखबारों में छपावाएंगे। यह है राजनीति ।

[संपादकीय। 'जागरण', 19 मार्च, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग 2 में संकलित।]

जमींदारों ने फिर मुंह की खायी

यू॰ पी॰ कांउसिल में अवध के एक ताल्लुकेदार साहब ने यह प्रस्ताव किया कि उन्हें असामियों से लगान वसूल करने के लिए असामियों से ज्यादा सख्ती से काम लेने का अख्तियार दिया जाए। खुद तो ये लोग रोया करते हैं कि सरकार उनसे बड़ी सख्ती से मालगुजारी वसूल करती है, लेकिन खुद जिस बात से उन्हें शिकायत है वही अधिकार दूसरों पर प्राप्त करना चाहते हैं, शुक्र यह है कि गवर्नमेंट ने इस प्रस्ताव को स्वीकृत

किया नहीं, नहीं तो गजब ही हो जाता। जमींदार लोग भूल जाते हैं कि किसानों पर वे जितनी सख्ती करते हैं, अगर उसका शतांश भी सरकार उन पर करे तो वह जमींदारी छोड़कर भाग खड़े हों। सरकार ज्यादा-से-ज्यादा हिरासत में ले लेती है, यहां तो किसानों पर डंडे भी पड़ते हैं, उन्हें धूप में भी खड़ा किया जाता है, मुर्गा भी बनाया जाता है। और अब आप क्या अख्तियार चाहते हैं कि असामी से लगान न वसूल हो तो उसे पीस कर पी जाएं? किसान से अगर लगान नहीं वसूल होता तो इसलिए कि वह दे नहीं सकता। उस पर तरह-तरह की दैवी आफतें आती रहती हैं, जिनसे उसका कोई काबू नहीं चलता। उस गरीब को तो आने रोज की मजूरी भी नहीं पड़ती। जमींदार अगर लगान नहीं दे सकता तो इसलिए कि वह ऐश-आराम में अपनी आमदनी से ज्यादा खर्च कर देता है। और फिर तो जो कुछ उसे मिलता है वह माले मुफ्त। हां, जिन बेचारे जमींदारों ने गाढ़ी कमाई के पैसे से जमींदारी खरीदी है, उनकी दशा शोचनीय है। ख्वाब देख रहे थे बेसी लगान करके घर भर लेने का, कहां अब रुपये का सूद भी नहीं निकल रहा है, मगर लगान न सही, सीर, सायर तो है, नजराना तो है, चौथ तो है, बेगार तो है। और अगर उसने गलती की तो उसका फल भोगे। बैंकों और मिलों में तो पैसे कभी-कभी डूब जाते हैं। सरकार के इस जवाब से जमींदारों की आंखें अगर अब तक नहीं खुली थीं तो अब खुल गई होंगी। उन्हें समय की गति पहचाननी चाहिए और अपने ही हाथों अपने पांव में कुल्हाड़ी न मारनी चाहिए क्योंकि वह दिन बहुत दूर नहीं है, जब किसान के हाथ में कुछ शक्ति होगी और उसकी भी कुछ आवाज होगी।

[संपादकीय। 'जागरण', 19 मार्च, 1934 मे प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

रूस में धर्म विरोधी आंदोलन

रूस में इन दिनों ईश्वर-द्रोही सोवियत सरकार ने फिर जोरों से ईश्वर के विरुद्ध प्रचार करना शुरू किया है। इधर उसके अनीश्वरवादी प्रोपेगेंडा में कुछ सुस्ती आ चली थी, जिसका नतीजा यह हुआ कि जो गिरजे बंद कर दिए गए थे वह फिर खुल गए और जनता में धर्म-चर्चा फिर बढ़ गई। दुनिया में इस पर चाहे जितना गुल मचे, मगर हम तो यही कहेंगे कि इसकी जिम्मेदारी सोवियत सरकार पर नहीं उन धर्मोपजीवियों पर है, जिन्होंने धर्म के नाम पर नाना प्रकार के पाखंड फैला रखे हैं। ईश्वर मन की एक भावना है। उसके लिए मंदिरों, मसजिदों या गिरजाघरों की जरूरत नहीं। वह घट-घट व्यापी है, एक-एक अणु में उसकी ज्योति है। वह प्रजा की कमाई पर चैन करने वाला राजा नहीं कि उसे इसकी चिंता हो कि लोग उसके विमुख न हो जाएं। जो लोग ईश्वर-भक्ति की धुन में बड़े-बड़े महल बनवाते हैं कि ईश्वर इसमें रहेगा, वे असीम को चारदीवारी में बंद करके व्यापक ईश्वर का अपमान करते हैं और जो लोग उसकी प्रतिमा बनाकर उसका शृंगार करते हैं, भोग लगाते हैं, उसका विवाह करते हैं और उसके नाम की माला जपते हैं वे तो ईश्वर को खिलौना बनाकर ऐसा पाप करते हैं जिसका कोई प्रायश्चित नहीं। ईश्वर की उपासना का केवल एक मार्ग है और वह है मन, वचन और कर्म की शुद्धता,

अगर ईश्वर इस शुद्धता की प्राप्ति में सहायक है, तो शौक से उसका ध्यान कीजिए, लेकिन उसके नाम पर जो हरेक धर्म में स्वांग हो रहा है, उसी जड़ खोदना किसी तरह ईश्वर की सबसे बड़ी सेवा है। और सोवियत सरकार इसी पाखंड का अंत करना चाहती है। सर्वशक्तिमान ईश्वर से आदमी क्या द्रोह करेगा? गंगा को इसकी क्या परवाह कि कोई उसे फूल चढ़ाता है या कूड़े। वह दोनों ही को समान रूप से बहा ले जाती है।

[संपादकीय। 'जागरण', 19 मार्च, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।

हिन्दू समाज में वीभत्स दृश्य-1

लाश की दुर्गति

समाज में कुछ बुराइयां ऐसी हैं जिनके सुधार के लिए शास्त्रों के प्रमाण खोजने पड़ते हैं, कुछ ऐसी जिनके लिए कानून में संशोधन कराने की जरूरत है। यह दोनों ही बातें कष्ट-साध्य हैं, लेकिन कुछ ऐसी बुराइयां भी हैं, जिनके सुधार के लिए न शास्त्रीय प्रमाणों की जरूरत है, न कानून की, केवल जनता में एक प्रकार के सद्भाव और सुरुचि की और हिन्दू लाशों की दुर्गति उन्हीं में एक है। ऐसा जान पड़ता है कि किसी हिन्दू के मरते ही उसके सगे-संबंधियों को उससे लेश-मात्र भी ममता नहीं रह जाती, चटपट बांस का ठाठ बना, शव को रस्सी से कसकर बांध, लोग किसी नदी या मरघट की ओर भाग चलते हैं। अगर किसी अमीर की लाश है, तो उसे पर रेशमी या शाल का कफन है, गरीब की है, तो मामूली नैनसुख का और अनाथ है, तो चिथड़े ही उसके कफन के लिए काफी हैं, मगर बांस का ठाठ और रस्सियों का बंधन अवश्य रहना चाहिए। और लाश को लेकर लोग कितनी तेजकदमी दिखाते हैं कि उसके झोंके में लाश गर्दन हिलाती, हाथ मटकाती और पांव उछालती चलती है, अगर इतनी मजबूती से न बंधी हो तो अवश्य ही नीचे गिर पड़े। लाश को बेशक घर में देर तक न रहना चाहिए, लेकिन यह क्या कि जिसको जीते इतने प्यार करते थे, मरने के बाद उसके साथ जरा भी मुरौवत, जरा भी सौजन्य नहीं दिखा सकते। क्या वह स्वार्थ का ही संबंध था? और अब उस संबंध को निभाने की कोई जरूरत नहीं रही? कहा तो जाता है कि मरने पर भी आत्मा देह के पास मंडराती रहती है, लेकिन स्वार्थी हिन्दू समाज इसकी बिल्कुल परवाह नहीं करता।

और रास्ते में 'राम नाम सत्य है' का वह शोर मचता है कि कुछ न पूछिए। अगर रात का समय हुआ तो सारे मुहल्ले की नींद खुल जाती है। क्या शोर इसलिए मचाया जाता है कि जनता को जीवन की क्षणभंगुरता की याद दिला दी जाए--यह आदमी मर गया, इसी तरह एक दिन तुम भी और तुम्हारे अपने भी राम नाम सत्य हो जाएंगे। मृत्यु एक ऐसा कठोर सत्य है, जिनको बार-बार याद दिलाने की जरूरत नहीं। सब जानते हैं हम एक दिन मरेंगे। हिन्दू-समाज में मौत का भय और भी अधिक है। अगर कोई मौत को भूल गया है तो वह बड़ा भाग्यवान है। क्यों शोर मचाकर उसको मौत की याद दिला रहे हो। इस शोरगुल से हमारी धार्मिकता का नहीं, हमारी हृदय-शून्यता का बोध होता

है। यह समय इतना गंभीर और यह लीला इतनी मर्मस्पर्शी होती है कि चित्त को कम-से-कम कुछ देर के लिए अंतर्मुखी हो जाना चाहिए। जिस समय मूक वेदना और गहरे आत्म-चिंतन और मृतात्मक के प्रति सच्ची शुभकामना और मृत्यु के रोब और आंतक तथा अनंत की कल्पना से हमारे मन को द्रवीभूत हो जाना चाहिए हम इस तरह भागते और चिल्लाते हैं, मानो हमें शोक कम और स्वार्थमय भय अधिक है। ईसाइयों और मुसलमानों को देखिए। उनकी अंत्येष्टि-क्रिया कितनी शांत, गंभीर, कोमल और सौजन्यपूर्ण होती है। बांस की टिकठी की जगह या तो लकड़ी का ताबूत होता है या पलंग। शव उस पर बहुत धीरे-से लिटा दिया जाता है और ताबूत ले जाने वाले सिर झुकाए, बहुत ही आहिस्ता-आहिस्ता कब्रिस्तान की तरफ जाते हैं। मातम करने वाले भी उसी शांति से जनाजे के पीछे चलते हैं। इस दृश्य को देखने वालों पर इतना असर होता है कि राह चलते लोग जरा ठिठक जाते हैं। मृत प्राणी के प्रति इन लोगों का यह सम्मान और स्नेह देखकर चित्त प्रसन्न होता है। उसके विपरीत हिन्दू-शव की कितनी छीछालेदर होती है कि उसे वीभत्स कह सकते हैं।

यह तो हुई रास्ते की बात। श्मशान का दृश्य तो और भी घृणोत्पादक होता है। वह लकड़ी की चिता, शव का उस पर लिटाया जाना, वह आग का लगना, वह चिरांध, वह नंग-धड़ंग लोगों का डंडे लिए चिता की लकड़ियों का उकसाना और शव का उलटना-पलटना, वह कपाल क्रिया, वह आंतों का फूटकर बाहर निकलना—इतना रोमाचकारी दृश्य है कि जो उसके अभ्यस्त नहीं हैं, उन्हें कई दिन तक ग्लानि होती रहती है। इससे बढ़कर शव की क्या दुर्दशा हो सकती है? यह सांसत देखकर साधारण आदमी मृत्यु से भयभीत हो उठे तो क्या आश्चर्य है, अगर मृत्यु नए जन्म का द्वार है, तो इतना असुंदर, इतना अमानुषीय क्यों? मृत्यु को इतने नग्न, इतने वीभत्स रूप में दिखाकर हम अपनी आत्मा को दुर्बल करते हैं। क्यों शव-दाह का कोई ऐसा विधान नहीं सोचा जाता, जिससे मृत्यु हमारे सामने इतने अमंगल रूप में न आवे, हम उसका पैशाचिक तांडव न देखकर उसका शांत वैभव देख सकें। अपने ही प्यारों को आंखों के सामने इस दशा में देखकर चित्त में विराग और जीवन से उदासीनता उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

जिस माता के स्तन से हम पले, जिन अंगों के स्पर्श में हमने अपार सुख का अनुभव किया, जिस बालक को हमने गोद में खिलाया और जिन मित्रों के गले लिपटकर हमने सुख के दिन काटे, उन्हीं को यों जलते, चिटकते, फटते देखना, हृदय को कोमल भावनाओं से शून्य कर देता है और शायद यही कारण है कि जीवन में हमारी चाहे जितनी दुर्दशा हो, कितना ही अपमान सहना पड़े, हम सब-कुछ 'शीर मादर' की तरह पी जाते हैं। क्या अपने प्रियजनों की दुर्दशा करना भी शास्त्रों में लिखा हुआ है? क्यों ऐसी वीभत्स लीला देखकर भी हममें उसे प्रति घृणा नहीं उत्पन्न होती? रिवाज शास्त्रों से भी ज्यादा दीर्घायु होते हैं यह सत्य है, लेकिन यह भी सत्य है कि समय के प्रवाह के सामने रिवाजों को हमेशा परास्त होना पड़ता है और कोई वजह नहीं है कि इस विषय में भी सुधार किया जाए। योरोप में भी कभी-कभी शव-दाह की क्रिया होती है, लेकिन यंत्रों की मदद से यह लीला इतनी जल्द और इतने परिष्कृत रूप से समाप्त हो जाती है कि आत्मा की तरह देह भी क्षण-मात्र में अदृश्य हो जाती है।

इस दुर्दशा के बाद तब आत्मा की शांति का खटराग शुरू होता है और तेरहवें दिन ब्रह्म भोजन से उसकी समाप्ति होती है। धर्म के नाम पर कैसे-कैसे पाखंड किए जाते हैं, वह पिंड़दान और महापात्रों के नखरे और वह बिरादरी वालों का मूंछों पर ताव देखकर दवातें उड़ाना–सारी लीला हिन्दू-संस्कृति को हास्यापद बना देती है। जीवन-मरण, रहन-सहन, रस्म-रिवाज से ही हमारी संस्कृति को बोध होता है। अन्य धर्म या जाति वाले हमारे दर्शन-ग्रंथों को और उपनिषदों को पढ़ने नहीं आते। वे तो हमारे रहन-सहन को ही देखकर हमारे विषय में धारणा बना लेते हैं। शायद शव-दाह की दुर्गति देखकर ही छतरियों और समाधियों का रिवाज पड़ा होगा। इस समय जो प्रथा प्रचलित है, उसमें सुधार और सुरुचि की बड़ी आवश्यकता है।

[संपादकीय। 'जागरण', 19 मार्च, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

होम मेंबर साहब की शीरीं बयानी

यू॰ पी॰ सरकार के होम मेंबर कुंअर जगदीशप्रसाद साहब ने तो पुलिस को अल्लामियां की गाय ही बनाकर खड़ा कर दिया, मानो पुलिस विभाग का सारा दृष्टिकोण बदल गया है और अब वह अपने को प्रजा का सेवक समझती है। सेठ जी और मुनीम जी में बड़ा फर्क होता है। सेठ जी तो साक्षात् कर्ण के अवतार हैं, लेकिन मुनीम जी के खजाने में कुछ है ही नहीं तो बेचारे सेठ जी क्या करें। बड़े लोगों का यही धर्म है। वे दिल में समझते हैं कि जबानी जमा खर्च है, तो जितने उदार चाहो बन जावो, न्याय और सेवा की जितनी दुहाई दे सको दो, सत्य तो जो है, वह है ही। हमारा तो ख्याल है अगर यहां की पुलिस सुधर जाए तो जनता को तीन-चौथाई स्वराज्य मिल जाए। पुलिस ने हमेशा जनता पर आतंक जमाया है और आज भी जमा रही है। रिश्वत फौजदारी और अदालत में भी है, और काफी है, लेकिन यहां तो खुदा की पनाह कोई वारदात भर होनी चाहिए, बस फिर क्या पूछना पांचों घी में हैं। मोहल्ले या हलके में कोई खून हो जाए, कोई डाका पड़ जाए, बस, थैलियां चढ़ने लगती हैं। रिपोर्ट की लिखाई तो मानो सरकारी टैक्स है, देना ही पड़ेगा। पुलिस के चक्कर में पड़कर शायद ही कोई बच सके। होम मेंबर साहब अगर पुलिस को उसी आदर्श पर ला सकें जिसका आपने अपने भाषण में जिक्र किया और पुलिस कर्मचारियों के दिमाग में यह बात जमा दें कि तुम, प्रजा के स्वामी नहीं सेवक हो, तुम्हारा काम प्रजा पर शासन करना और उसे लूटना नहीं, बल्कि उसकी रक्षा करना है तो वे अपना नाम अमर कर जाएं।

[संपादकीय। 'जागरण', 19 मार्च, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

अंध-विश्वास

हिन्दू-समाज में पुजने के लिए केवल लंगोट बांध लेने और देह में राख मल लेन का जरूरत है, अगर गांजा और चरस उड़ाने का अभ्यास भी हो जाए, तो और भी उत्तम।

यह स्वांग भर लेने के बाद फिर बाबाजी देवता बन जाते हैं। मूर्ख हैं, धूर्त हैं, नीच हैं, पर इससे कोई प्रयोजन नहीं। वह बाबा हैं। बाबा ने संसार को त्याग दिया, माया पर लात मार दी, और क्या चाहिए? अब वह ज्ञान के भंडार हैं, पहुंचे हुए फकीर, हम उनके पागलपन की बातों में मनमानी बारीकियां ढूंढ़ते हैं, उनको सिद्धियों का आगार समझते हैं। फिर क्या है ! बाबा जी के पास मुराद मांगने वालों की भीड़ जमा होने लगती है। सेठ-साहूकार, अमले फैले, बड़े-बड़े घरों की देवियां उनके दर्शनों को आने लगती हैं। कोई यह नहीं सोचता कि एक मूर्ख, दुराचारी, लंपट आदमी क्योंकर लंगोटी लगाने से सिद्ध हो सकता है। सिद्धि क्या इतनी आसान चीज़ है? हममें मस्तिष्क से काम लेने की मानो शक्ति ही नहीं रही। दिमाग को तकलीफ नहीं देना चाहते है। भेड़ों की तरह एक-दूसरे के पीछे दौड़े चले जाते हैं, कुएं में गिरें या खंदक में, इसका गम नहीं। जिस समाज में विचार-मंदता का ऐसा प्रकोप हो, उसको संभालते बहुत दिन लगेंगे।

हमारे इस अंध-विश्वास से अपना मतलब निकालने वालों के बड़े-बड़े जत्थे बन गए हैं। ऐसी कई जातियां पैदा हो गई हैं, जिनका पेशा ही है इस तरह स्वार्थ से भोले-भाले भक्तों को ठगना। ये लोग रूप भरना खूब जानते हैं। बाबाओं की पेटेंट शैली में बातचीत करने का और नए-नए हथकंडे खेलने का उन्हें खूब अभ्यास होता है। एक सिद्ध बन जाता है, कई उसके चेले बन जाते हैं, और किसी उजाड़ स्थान पर डेरा डाल देते हैं, मानो आदमियों के साथ से भी भागना चाहते हैं, भोग-विलास में लिप्त मनुष्यों से किसी तरह का संसर्ग नहीं रखना चाहते। किसी तरह यह अफवाह उड़ा दी जाती है कि बाबा जी फौहारी हैं, केवल एक बार तोला-भर दूध ही लेते हैं। एक दिन, दो दिन यह मंडली, निष्काम भाव से ऊजड़ में घात लगाए पड़ी रहती है। बस, भक्तों का आना शुरू हो जाता है। बाबा जी 'संसार मिथ्या है' का उपदेश देने लगते हैं, उधर घी, शक्कर और आटे की झड़ी लग जाती है, लकड़ियों के कुंवें गिरने लगते हैं। कुछ भक्त लोग इन त्यागियों के लिए कुटी बनाना शुरू कर देते हैं, और मर्द भक्तों से कहीं अधिक संख्या स्त्री भक्तों की होती है। कोई लड़के की मुराद लेकर आती है, कोई अपने पति को किसी सौतिन के रूप-फांस से छुड़ाने के लिए। जिन लफंगों को दो आने रोज़ की मजूरी न भी लगती, वे ही हिन्दुओं के इस अंध-विश्वास के कारण खूब तर माल उड़ाते हैं, खूब नशा पीते हैं और खूब मौज करते हैं, और चलते वक्त सौ-पचास रुपये कोई ब्रह्म-भोज कराने या भंडारा चलाने के लिए वसूल कर लेते हैं। समाज-सेवा का कोई-न-कोई आधार यह लोग जरूर खड़ा कर लेते हैं। कोई-कोई मंदिर बनवाने का व्रत ठाने बैठा है, कोई तालाब खुदवाने का, कोई पाठशाला खोलने का और कुछ न हुआ तो तीर्थयात्रा तो है ही-'इतनी मूर्तियां रामेश्वरम् यात्रा करने जा रही है, हिन्दू मात्र का कर्त्तव्य है कि उन्हें रामेश्वरम् पहुंचाए।' बिना हर्र-फिटकरी के माल चोखा करने का यह व्यवसाय इतना आम हो गया है कि आज हर पच्चीस आदमियों में से एक साधू है और ऐसे भिक्षुकों की तो गिनती ही नहीं, जो खैरात पर ज़िंदगी बसर करते हैं। ज्यादा नहीं तो पच्चीस करोड़ में पांच करोड़ तो ऐसे लोग होंगे ही। जिस समाज पर इतने मुफ्तखोरों का भार लदा हुआ है, वह कैसे पनप सकता है, कैसे जाग सकता है? ये लोग बार-बार यही प्रयत्न करते रहते हैं कि समाज अंध-विश्वास के गर्त में मूर्च्छित पड़ा रहे, चेतने न पावे। हमें खूब

चकाचक माल खिलाओ, स्वर्ग में तुम्हें इससे भी बढ़िया माल मिलेगा। इस हाथ दो, उस हाथ लो। स्वर्ग का रूप भी कितना मोहक खींच रखा है कि इन लोगों की कल्पना-शक्ति पर कुर्बान जाइए। मृत्यु-लोक में जो कुछ दुर्लभ है, वह सब वहां गली-गली मारा-मारा फिरता है। ऐसे सुख के लिए किसी भिक्षुक को थोड़ा-सा भोजन करा देना, किसी देवता को जल चढ़ा देना या किसी नदी में एक डुबकी लगा देना, कौन खुशी से स्वीकार न करेगा। जब इतनी आसानी से मोक्ष मिल सकता है, तो किसी साधना की, ज्ञान की, सद्व्यवहार की जरूरत?

और आज बड़ी-बड़ी ज़मींदारियों के मालिक कितने ही महंत हैं। उनकी लेन-देने की कोठियां चलती हैं, तरह-तरह के व्यवसाय होते हैं और बहुधा उन्हीं दानियों की संतानें, जिन्होंने यह जायदाद शक्ति से बनायी थी, महंतों से रुपये कर्ज़ लेती हैं। इनका भोग-विलास और ऐश्वर्य हमारे राजाओं को भी लज्जित कर सकता है। इस जायदाद का उपयोग अब इसके सिवा कुछ नहीं है कि मुस्टंडे खाएं, डंड पेलें और व्यभिचार करें। राष्ट्र के उत्थान या जागृति में यह भी एक बहुत बड़ी बाधा है। अंध-विश्वासी जनता अब भी उन पर श्रद्धा रखती है। वे उसे एक चुटकी राख से स्वर्ग में दाखिल कर सकते हैं। ऐसी विभूति और किसके पास है? इन महंतों के दुराचार, ऐयाशी और पैशाचिकताओं की खबरें कभी-कभी प्रकाश में आ जाती है, तो मालूम होता है कि इनका कितना पतन हो गया है, लेकिन मुरादियों को उन पर वही श्रद्धा है। हम इतने अकर्मण्य हो गए हैं, इतने पुरुषार्थहीन कि हमें अपने पुरुषार्थ से ज्यादा भरोसा आशीर्वाद पर है। एक प्रकार से हमारी विचार-शक्ति लुप्त हो रही है। हमारे तीर्थ-स्थान क्या हैं? ठगों के अड्डे और पाखंडियों के अखाड़े। जिधर देखिए धर्म के ढोंग का बाजार गर्म है। गली-गली मंदिर, गली-गली पुजारी और भिक्षुक, पूरे नगर-के-नगर इन्हीं जीवों से आबाद हैं, जिनका इसके सिवा कोई उद्यम नहीं कि धर्म का ढोंग रचकर बेवकूफ भक्तों को ठगें, और क्यों न ठगें? जब जनता खुद ठगी जाना चाहती है, तो ठगने वाले भी जरूर पैदा होंगे। जरूरत ही तो आविष्कार की मां है।

क्यों न देश कंगाल हो? जिस समाज पर एक करोड़ कोतल मूसलचदो के भरण-पोषण का भार हो, वह न कंगाल रहे तो दूसरा कौन रहेगा। गरीबों पर भी धर्म का जितना बड़ा टैक्स है, उतना शायद सरकार का भी न हो। कोई ग्रहण लगा और जनता तीर्थस्थानों की ओर दौड़ी। जो कुछ तन-पेट काटकर बचाया था, वह सब अंध-विश्वास की भेंट चढ़ गया, और आज स्वराज्य भी मिल जाए, और यह भी मान लें कि उस वक्त किसानों से लगान कम लिया जाएगा और टैक्सों का भार कम हो जाएगा, फिर भी अंध-विश्वास के सम्मोहन में अचेत जनता इससे ज़्यादा सुखी न होगी। तब उसका परलोक-प्रेम और भी बढ़ेगा और वह भी आसानी से पाखंडियों का शिकार हो जाएगी, और इस आर्थिक दरिद्रता से बढ़कर इस अंध-विश्वास का फल जनता की बौद्धिक दुर्बलता है, जो उसकी सामाजिक उपयोगिता में बाधक होती है। उसे नदी में गोता मार लेना, या शिवलिंग पर जल चढ़ा देना, किसी भाई से सहानुभूति रखने या अपने व्यवहारों में सच्चाई का पालन करने की अपेक्षा ज्यादा फलदायक मालूम होता है। उसने असली धर्म को छोड़कर, जिसका मूल तत्त्व है समाज की उपयोगिता, धर्म के ढोंग को धर्म

मान लिया है। जब तक वह धर्म का यह 'असली रूप न ग्रहण करेगा, उसके उद्धार की आशा नहीं। शिक्षित समाज के सामने जितनी समस्याएं हैं, उनमें शायद सबसे कठिन समस्या यही है। यहां उसे अंध-विश्वास की पोषक प्रबल शक्तियों का सामना करना पड़ेगा, जो अनंत काल से जनता की विचार-शक्ति पर कब्जा जमाए हुए हैं। कितना बीभत्स है। वह दृश्य एक मोटा-सा जटाधारी जीव धूनी जलाए बैठा हुआ है और एक दर्जन मनुष्य उसके पास बैठे चरस के दम लगाकर अपने जीवन को सफल कर रहे हैं। जनता की मनोवृत्ति जब तक ऐसी है, केवल राजनैतिक अधिकारों से उसका कल्याण नहीं हो सकता।

सौभाग्य से अब देश में ऐस सच्चे संन्यासियों का एक दल निकल आया है, जो समाज-सेवा को और राष्ट्रीय जागृति को अपने जीवन का ध्येय बनाए हुए हैं, लेकिन अभी तक उन्होंने निकम्मे साधुओं में जागृति उत्पन्न करने के जितने प्रयत्न किए हैं, वे सफल नहीं हुए। न जाने कब वह शुभ अवसर आएगा कि हमारा साधु-समाज अपने कर्त्तव्य को समझ जाएगा और उसके हाथों में देश को जगाने की कितनी बड़ी शक्ति है।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 मार्च, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

कमांडर इन-चीफ साहब का व्यंग

एसेंबली में फौजी बजट पर जो बहस हुई उसमें हर साल की तरह अबकी भी फौजी खर्च कम कर देने का प्रस्ताव था। यह कहा गया कि भारत में जरूरत से ज्यादा फौज है और उस पर जरूरत से ज्यादा खर्च हो रहा है। जंगी लाट साहब ने बड़ी स्पष्टवादिता से काम लिया और मेंबरों को करारी डांट बताई—तुम लोग जगहों के लिए, नौकरियों के लिए तो आपस में लड़ मरते हो, उस पर कहते हो, फौजी खर्च कम करो, तुम एक राष्ट्र हो जाओ, फिर देखो हम कितनी जल्द खर्च घटा देते हैं। इस पर अवश्य ही मेंबरों की जबान बंद हो गई होगी। किसका साहस था कि बोलता? सरकार की नजर में हम हिन्दू हैं, मुसलमान हैं, ईसाई हैं, सिख हैं, अछूत हैं, भारतीय तो कहां नजर नहीं आता। सरकार ने अपनी आंखों पर जो सांप्रदायिक का पर्दा डाल लिया है, उसमें उसे विस्तृत भारत जैसे नजर आ सकता है।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 मार्च, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

कांग्रेस का सरकार से सहयोग

बिहार में महात्मा गांधी ने रिलीफ कमेटी के जलसे में सरकार से सहयोग का जो प्रस्ताव रखा और उसके समर्थन में जो भाषण दिया और अभी नेताओं ने जिस उदारता से उस प्रस्ताव को स्वीकार किया, उसने एक बार फिर सिद्ध कर दिया कि कांग्रेस केवल असहयोग नहीं करना चाहती, और जिन कामों में वह सरकार से सहयोग करने में देश का कल्याण समझती है, उसमें हाथ बढ़ाने के लिए सदैव तैयार रहती है। कांग्रेस ने देश-हित को

प्रधान रखा है। हरेक नीति को इसी कसौटी पर कसकर वह अपनी राय कायम करती है। इस वक्त पीड़ित बिहार का प्रश्न है। इस वक्त भी अगर हम अपने राजनैतिक या सांप्रदायिक भेदों को न भूल सके तो यह देश के लिए दुर्भाग्य की बात होगी।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 मार्च, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

डॉक्टर भी संरक्षण चाहते हैं

जर्मनी से निकले हुए यहूदी डॉक्टर भारत आ रहे हैं। अभी तक तो भारत के मरीज इलाज कराने के लिए जर्मनी जाया करते थे। अब जर्मन डॉक्टर खुद यहां आ रहे हैं। इससे हमें खुश होना चाहिए था, मगर हमारे डॉक्टरों को संशय हो रहा है कि कहीं ये डाक्टर यहां वालों का रोजगार न छीने लें। हम समझते हैं मरीज किसी डॉक्टर के पास इसलिए नहीं जाता कि वह हिन्दुस्तानी है या हिन्दू या किसी अन्य जाति का। वह सिर्फ उस डॉक्टर के पास जाता है, जिस पर उसे विश्वास हो, जो उसे अच्छा कर सके। अगर हमारे डॉक्टर चाहते हैं कि उनका मूल्य बना रहे, तो उन्हें अपने विषय का पूरा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और अपनी फीस भी ऐसी रखनी चाहिए, जो मामूली आदमी की पहुंच के बाहर न हो। कलकत्ते में अच्छे डॉक्टर के एक विजिट की फीस बत्तीस रुपये से कम नहीं हैं, मगर जर्मन डॉक्टरों के आने से वह लूट कम हो जाए, तो हम उनका स्वागत करेंगे। संरक्षण की यह हवा देखें हमें कहां-कहां ले जाती है।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 मार्च, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग ३ में संकलित।]

बर्मा विच्छेद के लिए नए बहाने

बर्मा को भारत से अलग करने के लिए गवर्नमेंट की ओर से रोज नए-नए बहाने गढ़े जा रहे हैं। भारत बर्मा का सारा धन खींचे लिए आता है। यहां के मजदूर बर्मा के मजदूरों का काम छीन लेते हैं, यहां के व्यापारी वहां के व्यापारियों का व्यापार छीन लेते हैं। इसलिए बर्मा को भारत के चंगुल से छुड़ाने के लिए यह आवश्यक है कि उसे भारत से अलग कर दिया जाए। फिर देखिए ब्रिटेन किस तरह उसकी रक्षा करता है। भारत का एक मजूर या व्यापारी तो वहां रहने न पाएगा। यह तो निश्चित है कि विच्छेद होते ही भारत की चिड़िया भी वहां पर न मार सकेगी, लेकिन इसमें बर्मा वालों का कोई उपकार होगा, इसमें संदेह है। देखना है, बिल्ली कहां तक दूध की रखवाली करती है। अगर भारत को यह विश्वास हो जाए कि बर्मा का विच्छेद होते ही उसके सारे व्यवसायिक साधनों पर सारे ओहदों पर, बर्मा वालों ही का अधिकार होगा, और अंग्रेज व्यवसायी और विशेषज्ञ वहां न घुसने पाएंगे तो शायद भारत का विच्छेद स्वीकार करने में आपत्ति न होगी, मगर यही तरावट तो विच्छेद की जड़ है।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 मार्च, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

बैंकरों की फरियाद

और कोई माने या न माने बैंक वालों ने तो गवर्नर को डिक्टेटर मान ही लिया। कृषकों के उद्धार का जो बिल कौंसिल में मंजूर हुआ है, वह बैंक वालों को कई कारणों से रुचिकर नहीं है। हम भी बिल को निर्दोष नहीं समझते। उसमें किसानों के साथ जितनी रियायत होनी चाहिए थी उससे बहुत ज्यादा कर दी गई है। यों कहो कि उससे विशेषकर जमींदारों का ही फायदा होगा, लेकिन बैंकरों को काउंसिल के मेंबरों से फरियाद करना चाहिए था। या संभव है, उन्होंने फरियाद की हो और मेंबरों पर कुछ असर हुआ हो, लेकिन जब मेंबरों पर कोई असर नहीं हुआ, तो गवर्नर पर कोई असर होने की बहुत ही कम संभावना है। और अगर हो भी जाए, तो हम पंचायत के फैसले की अपील ऐसे इजलास में करने के खिलाफ हैं जो निरंकुश है। बैंक वालों ने समझा होगा जब एक की खुशामद करने से काम निकल सकता है, तो बहुतों की खुशामद क्यों की जाए, लेकिन यह नीति जनतंत्र के अनुकूल नहीं है। जनता के हित के लिए अगर अमीरों को कुछ नष्ट और हानि भी तो हो वह सहनी चाहिए। जनंतत्र का यह सिद्धांत है।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 मार्च, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

भाई जी का आक्षेप

भाई परमानंद जी अपने उर्दू पत्र 'हिन्दू' के एक संपादकीय नोट में लिखते हैं–

"लोग यह पढ़कर हैरान होंगे कि अगरचे मुल्क के सारे अखबारात में सेंट्रल रिलीफ कमेटी का और बाबू राजेन्द्रप्रसाद का नाम और उसका ही चर्चा हो रहा है, ताहम बिहार के मुसीबतज़दा हिस्से में अभी तक उन्होंने कोई काम किया है, न उनके काम या नाम का कहीं जिक्र ही है....कांग्रेस और उसके काम की धाक ऐसी जमी बैठी है कि खुद बिहार से भी कोई आदमी उसके रिलीफ के काम पर रोशनी डालने की जुर्रत नहीं करता।

रिलीफ कमेटी पर आलोचना का हरेक प्राणी को अधिकार है और आलोचना से आलोचक को कुछ फायदा ही होता है, लेकिन ऐसी आलोचना किस काम की, जिसमें केवल पक्षपात हो। हिन्दू सभा ही ने क्यों रिलीफ को हाथ में नहीं लिया? भाई परमानन्द ही क्यों बाबू राजेन्द्रप्रसाद की जगह नहीं हुए? इसका कारण यही है कि कांग्रेस और उसके नेताओं ने देश के लिए जो बलिदान किए हैं, उनका देश आदर करता है और उन्हीं नेताओं पर विश्वास करता है। यहां तो केवल सेवा और त्याग का प्रश्न है। जो दल समाज के लिए बलिदान करेगा, वही समाज का विश्वासपात्र होगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 मार्च, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

सांप्रदायिकता का जहर महिलाओं में

दिल्ली के रिसाला 'असमत' में एक मुस्लिम महिला लिखती हैं--गत वर्ष की मर्दुमशुमारी बतला रही है कि सात करोड़ मुसलमानों में मुश्किल से साढ़े चार लाख शिक्षित हैं, जिनमें

अंग्रेजी जानने वाले करीब दो लाख हैं और फारसी, उर्दू आदि जानने वाले ढाई लाख। मुसलमानों के स्कूल और कालेज आप उंगलियों पर गिन सकेंगे, लेकिन हिन्दुओं की असंख्य यूनिवर्सिटियां कायम हैं। लगभग सभी सरकारी स्कूलों और कालेजों में हिन्दू प्रोफेसर हैं। उनकी शिक्षा अच्छी है, इसलिए भी सरकारी ओहदों पर हिन्दू भरे हुए हैं। जज, पुलिस कमिश्नर, डिप्टी कलेक्टर, इंजीनियर, बैरिस्टर, कोई ऐसा आला पेशा न होगा, जिसमें हिन्दू कसरत से न मौजूद हों।"

देवी जी को यह भ्रम कदाचित् सांप्रदायिक पत्रों के पढ़ने से हो गया है। मुसलमान हिन्दूओं से ज्यादा शिक्षित हैं, सरकार ओहदों पर भी मुसलमान कसरत से हैं, हिन्दुओं से कहीं ज्यादा। पुलिस और माल में एक तरह से उन्हीं का साम्राज्य है। आमदनी के सारे विभागों पर उन्हीं का कब्जा है। हां, डाकखाना या क्लर्की जैसे रूखे-सूखे विभागों में हिन्दू ज्यादा हैं, इसलिए कि मुसलमानों ने इधर ध्यान न दिया, क्योंकि यहां सूखा वेतन था और काम आंख फोड़ और गर्दन तोड़। मगर अब इन विभागों में भी यह कमी पूर्ण होती जा रही है।

[संपादकीय। 'जागरण', 26 मार्च, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

•

हिन्दी उर्दू और हिन्दोस्तानी

ऊपर दिए हुए नाम से प्रयाग की हिन्दोस्तानी एकेडेमी ने स्व॰ पं॰ पद्मसिंह जी शर्मा का यह भाषण पुस्तक-रूप में प्रकाशित किया है, जो उन्होंने मार्च, '32 में एकेडेमी में दिया था। शर्मा जी हिन्दी और संस्कृत के ही नहीं, फारसी और उर्दू के भी प्रकांड पंडित थे और उनका भाषण जितने खोज और परिश्रम से लिखा गया है, उतना ही मनोरंजक भी है। आपने पहले भाग में यह दिखाया है कि हमारी भाषा का पुराना नाम हिन्दी था और अमीरखुसरो के वक्त तक 'उर्दू' का प्रयोग ही न हुआ था। अमीर खुसरो ने 'खालकबारी' में बार-बार 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' शब्द का प्रयोग किया है। कवि 'मीर' के जमाने में 'रेखता' शब्द का व्यवहार शुरू हुआ। 'उर्दू' शब्द का व्यवहार अठारहवीं सदी से पहले कहीं नहीं पाया जाता। शायद इसका कारण यह है कि उस वक्त हिन्दी में फारसी और अरबी के शब्द इतनी कसरत से न आए थे। अब फारसी और अरबी शब्दों की खूब भरमार हो गई, तो हिन्दी के दो भिन्न-भिन्न रूप हो गए और अब तक वही नाम चला आता है। हिन्दुस्तानी शब्द का व्यवहार अंग्रेजी राजकाल में शुरू हुआ है और अब यह उस मिली-जुली भाषा का पर्याय है, जो जन साधारण की भाषा है और जिसमें फारसी-अरबी के वह सभी शब्द धड़ल्ले से प्रयुक्त होते जाते हैं, जो आमतौर पर बोले जाते हैं। उसका सबसे नया नाम राष्ट्रभाषा हो गया है।

फारसी लिपि का प्रचार तो उसी वक्त से हो गया, जब मुसलमानों का भारत पर अधिकार हुआ। शाही फर्मान, पत्र-व्यवहार आदि और सारा आदलती काम फारसी लिपि में होता था। पढ़े-लिखे हिन्दुओं को फारसी सीखनी पड़ती थी और जिस तरह आज भी अंग्रेजी पढ़े लोग बहुधा अंग्रेजी में ही निजी पत्र-व्यवहार करते हैं, क्योंकि अंग्रेजी लिखना

उन्हें हिन्दी लिखने से आसान मालूम होता है, उसी तरह उस वक्त भी निज के कामों में फारसी लिपि का व्यवहार होने लगा।

उर्दू और हिन्दी व्याकरण में धीरे-धीरे भेद बढ़ता जा रहा है। मौलवी लोग व्याकरण को फारसी की तरफ खींचते हैं और पंडितवृंद संस्कृत की ओर। शर्मा जी ने राजा शिवप्रसाद और मौलवी अब्दुलहक के लेखों से प्रमाण देकर यह दिखाया है कि उर्दू-हिन्दी के व्याकरण में जो भेद है, वह उन दोनों को अलग-अलग रास्तों पर चलने के लिए मजबूर कर रहा है। मौलवी अब्दुलहक साहब फरमाते हैं–

'हमारे यहां अब तक जो पुस्तकें व्याकरण की प्रचलित हैं, उसमें अरबी व्याकरण का अनुसरण किया गया है। उर्दू खालिस हिन्दी जबान है और इसका संबंध सीधा आर्य-भाषाओं से। इसके विरुद्ध अरबी भाषा का ताल्लुक सेमिटिक भाषाओं के परिवार से है, इसलिए उर्दू का व्याकरण लिखने में अरबी जबान का अनुकरण किसी तरह जायज नहीं। दोनों जबानों की विशेषताएं पृथक्-पृथक् हैं, जो विचारने से स्पष्ट प्रतीत हो जाएंगी।'

इस उद्धरण से मालूम होता है कि मुसलमान विद्वान् हिन्दी-उर्दू के व्याकरण भेद को कितना दूषित समझते हैं और किस तरह इस भेद को मिटाना चाहते हैं। एक-दूसरे मुसलमान मौलना वहीदुद्दीन सलीम का कथन भी विचार करने योग्य है–

'हमारे बाज दोस्त उर्दू जबान के गैर आरियाई होने का सबूत अजीब तरह देते हैं। वह उर्दू जबान की किसी किताब को उठाकर उसमें से थोड़ी सी इबारत कहीं से इंतखाब कर लेते हैं और उस इबारत के अलफाज गिबन कर बताते हैं कि देखो, इसमें अरबी के अलफाज बमुकाबला फारसी और हिन्दी के ज्यादा हैं।'

मगर 'फरहंग आसफिया' से पता चलता है कि हमारी जबान में हिन्दी के अलफाज तमाम जबानों से ज्यादा हैं। और जो हजरात हमारी जबान को खींच तानकर अरबी की तरफ ले जाना चाहते हैं, वह एक ऐसी गलती करते हैं, जिससे इस जबान की प्रकृति बिगड़ जाएगी।

लिपि-भेद आजकल हमारी एक बड़ी जटिल समस्या है। इसे हमने धार्मिक और राजनैतिक महत्त्व दे डाला है। यह तो कुछ-कुछ संभव जान पड़ता है, कि फारसी-अरबी के और संस्कृत के शब्दों का व्यवहार कम हो जाए और हिन्दुस्तानी भाषा आमतौर पर व्यवहार में आने लगे, लेकिन लिपिभेद के मिटने की संभावना दूर भविष्य में भी नज़र नहीं आती। फारसी लिपि में अगर भ्रामकता और अशुद्धता का दोष है, तो एक बड़ा गुण भी है और उसकी गति है। फारसी लिपि एक तरह का शार्टहैंड है और उसमें समय और स्थान की बचत होती है, और हमारे खयाल में उसकी यह खूबी ही उसकी रक्षा कर रही है। मगर संसार में जहां कहीं सेमिटिक भाषाओं का व्यवहार है, वहां उसके सुधार की योजना की जा रही है। उर्दू में भी कई विद्वानों ने लिपि को सरल बनाने की ओर ध्यान दिया है, और वे नए-नए चिह्न बनाकर उन स्वरों को लिखना चाहते हैं, जिनके लिए फारसी लिपि में कोई वर्ण ही नहीं है, मगर यह तदबीर शायद ही कारगर हो सके। दक्षिण में मलाबार, मद्रास, आंध्र, मैसूर आदि प्रांतों के मुसलमान वहीं की भाषा का व्यवहार करते हैं। सिंध, गुजरात, महाराष्ट्र तथा बंगाल के मुसलमान भी वहां की प्रांतीय लिपि ही का व्यवहार करते हैं। बिहार में भी साधारण मुसलमान कैथी लिपि ही काम में लाते

हैं। फारसी लिपि का व्यवहार भारत और पंजाब के मुसलमान ही करते हैं। अगर हमारे मदरसों में हरेक छात्र के लिए उर्दू और हिन्दी दोनों ही भाषाओं का लिखना-पढ़ना दसवें दरजे तक लाजिमी कर दिया जाए, तो हमारे ख्याल में कुछ दिनों के बाद शिक्षित समाज दोनों ही लिपियों में अभ्यस्त हो जाएगा और उसे जो लिपि अधिक परिष्कृत और सुगम और सुबोध जान पड़ेगी, उसका व्यवहार करेगा।

इस प्रश्न पर दो मुसलमान विद्वानों के विचार दिए जा चुके हैं। अन्य कई विद्वानों ने भी कुछ इसी से मिलती-जुलती सम्मतियां लिखी हैं। उनमें जो विचारशील हैं, वे उर्दू व्याकरण, शैली, पिंगल आदि भेदों को मिटाने के पक्ष में हैं और प्राय: सभी चाहते हैं कि उर्दू में फारसी और अरबी के शब्द इतनी कसरत से न लाए जाएं। एक साहब का तो कथन है कि–

'उर्दू पर अधिकार हासिल करने के लिए सिर्फ दिल्ली या लखनऊ की जबान का अनुसरण काफी नहीं है, यह भी जरूरी है कि अरबी और फारसी में औसत दरजे की लियाकत और हिन्दी भाषा की अच्छी योग्यता प्राप्त की जाए। उर्दू जबान की बुनियाद जैसा कि मालूम है, हिन्दी भाषा पर रक्खी गई है। उसके क्रियापद, कारक-चिह्न और संज्ञापद हिन्दी से लिए गए हैं....पस, उर्दू जबान का, शायद जो हिन्दी भाषा को मुतलक नहीं जानता और महज अरबी-फारसी की गाड़ी चलाता है, वह मानो अपनी गाड़ी को बेपहियों के, ठिकाने तक पहुंचाना चाहता है।'

इसी से मिलती-जुलती राय मौलाना सलीम पानीपती की है। उन्होंने उर्दू जबान को तरक्की देने और *सही मानो में हिन्दुस्तानी बनाने की तरकीब यह बयान की है–*

'....*कि हिन्दू मजहब, हिन्दू देवमाला, हिन्दू इतिहास और हिन्दू-साहित्य के दृष्टांत* का इजाफा करें, तो इससे हमारे मजहब और अक्ल पर कोई असर नहीं पड़ सकता और कोई चीज हमें मजबूर करती है कि इन चीजों के वजद पर हमें यकीन करें, बल्कि इस इजाफे से हमें निम्मलिखित लाभ होंगे–

(1) हम भिन्न-भिन्न प्रकार के विचारों को प्रकट करने में ज्यादा समर्थ हो जाएंगे।

(2) यह इलजाम हम पर से दूर हो जाएगा कि हम केवल धार्मिक घृणा के कारण हिन्दू-साहित्य से दूर भागते हैं।

(3) हिन्दू हमारे साहित्य से ज्यादा परिचित हो जाएंगे।

(4) हमारी जबान नहीं मानों में हिन्दुस्तानी जबान कहलाने के योग्य होगी।

(5) हिन्दू मुसलमानों के ऐक्य की बुनियाद मजबूत होगी।

आगे चलकर शर्मा जी ने हिन्दी के प्रति पुराने मुसलमानों के अनुराग का वर्णन किया है। आप कहते हैं–

उर्दू के ही नहीं, बल्कि पहले फारसी के बड़े-बड़े मुसलमान कवियों ने हिन्दी में कविता की है। हिन्दुस्तानी या खड़ी बोली के आदिम कवि अमीर खुसरो माने जाते हैं। बाद के भी अनेक मुसलमान विद्वानों नें, जिसमें मलिक मुहम्मद जायसी, रहीम, मुख्य हैं, हिन्दी में कविता की है। मीर गुलाम अली आजाद हिन्दी कविता के अच्छे पारखी थे। सैयद रहमतुल्लाह भी अच्छे काव्य-मर्मज्ञ थे। सैयद गुलामनबी 'रसलीन' ने नायिका वर्णन पर एक पुस्तक उर्दू रुबाइयों में लिखी है। 'रसलीन' के अतिरिक्त मधुनायक, रसखान,

जोकी, जलील, मुबारक आदि नाम कवि हुए हैं। उर्दू के मौजूदा शायर हसरत 'हजरत' मुहानी ने भी पूर्वी हिन्दी में पद बनाए हैं, जिनका एक नमूना यह है–

कहां गए मोहि बावरी बनाइके?
बावरी बनाइके, झलकियां दिखाइके, कहां गए।
मन मोहन श्याम से नैन लाग,
निस दिन सुलग रही तन आग।
विरह की रैन निपट अंधियारी,
रोवत धोवत कटत जाग जाग।
प्रेम का रोग लगाइ के हसरत,
रोग रंग सब दीन्ह त्याग।

अंत में शर्मा जी ने हिन्दू-मुसलमान दोनों ही से अपील की है–

'हिन्दी-उर्दू का भंडार दोनों जातियों के परिश्रम का फल है। अपनी-अपनी जगह भाषा की इन दोनों शाखाओं का विशेष महत्व है। दोनों हो ने अपने-अपने तौर पर यथेष्ट उन्नति की है। दोनों ही के साहित्य-भंडार में बहुमूल्य रत्न संचित हो गए हैं और हो रहे हैं। हिन्दी वाले उर्दू-साहित्य से बहुत कुछ सीख सकते हैं। इसी तरह उर्दू वाले हिन्दी के खजाने से फायदा उठा सकते हैं। यदि दोनों पक्ष एक-दूसरे के निकट पहुंच जाएं, और भेद-बुद्धि को छोड़कर यदि भाई-भाई की तरह आपस में मिल जाएं, तो वह गलतफहमियां अपने आप ही दूर हो जाएं, जो एक को दूसरे से दूर किए हुए हैं। ऐसा होना कोई मुश्किल बात नहीं है। सिर्फ मजबूत इरादे और हिम्मत की जरूरत है। बिना एकता के भाषा और जाति का कल्याण नहीं।'

[संपादकीय। 'हंस', अप्रैल, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

चौथा दिन

प्रातःकाल गल्प सम्मेलन और संपादक-सम्मेलन की बैठक हुई। संपादक-सम्मेलन में कई एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत हुए। गल्प सम्मेलन में श्रीमती कमला बाई किबे ने सभानेत्री की हैसियत से बहुत ही मनोरंजक अनुभवपूर्ण भाषण दिया। प्रेमचंद जी, श्रीनाथसिंह, जैनेन्द्र कुमार, माखनलाल चतुर्वेदी आदि के भाषण भी हुए। गल्प सम्मेलन में श्रीमती रत्नकुमारी देवी का 'संदेश' नामक गल्प के अतिरिक्त ऐसा मालूम होता था, कि साहित्यिक पहलवानों को खाली अखाड़ा मिल गया हो। मध्याह्न को सर्वदानुसार विषय-निर्वाचिनी की बैठक हुई। शाम को मुख्य अधिवेशन में प्रस्तावों की स्वीकृति के साथ-साथ शुकदेव बिहारी मिश्र, चतुरसेन शास्त्री आदि के शास्त्रीय और सजीव भाषण हुए। पांच लाख के फंड की योजना का महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, और इंदौर का आमंत्रण भी स्वीकार किया गया। रात्रि को श्री महादेवी जी वर्मा, एम० ए० के सभा-नेतृत्व में कवि-सम्मेलन हुआ। कवि-सम्मेलन में अनेक कवि थे और प्रायः तीन-चार हजार जनता उपस्थित थी। श्रीयुत बच्चन, लाड़लीप्रसाद सेठी (इंदौर) राजकुमारी चौहान आदि की कविताएं सुंदर थीं। बाकी

जो कवि आए, जनता के द्वारा अच्छी तरह 'हूट' किए गए। रात के डेढ़ बजे तक कवि-सम्मेलन होता रहा।

इस प्रकार सम्मेलन सानंद समाप्त हुआ। स्वागत-कारिणी के प्रबंध-कर्ताओं का प्रबंध प्रशंसायुत था। सम्मेलन की तैयारियां भी ठीक थीं। यह बात दूसरी है, कि पास ही के रायल सिनेमा में अधिक भीड़ रहती थी। हिन्दी-प्रेमी-यात्री दल की उपस्थिति से दिल्ली सम्मेलन के आडियन्स की महत्ता घटती नहीं, वरन् बहुत बढ़ जाती है।

[संपादकीय। 'जागरण', 2 अप्रैल, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

तीसरा दिन

प्रात:काल श्रीयुत गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के सभापतित्व में दर्शन परिषद् की बैठक हुई। आपके लंबे, सारगर्भित भाषण के बाद अन्य विद्वानों ने भाषण दिए। दर्शन परिषद् ने एक स्वर से दर्शनशास्त्र के अध्ययन की सिफारिश करते हुए यह निर्धारित किया कि साहित्य-सम्मेलन दर्शनशास्त्र पर पुस्तकें लिखवाए और प्रकाशित करे। मध्याह्न को विषय-निर्वाचनी की बैठक हुई, और शाम को चार बजे मुख्य अधिवेशन प्रारंभ हुआ। विद्यार्थियों को उपाधि-पत्र दिए गए, प्रस्ताव पास किए गए, जिसमें भाषा के व्याकरण की त्रुटियों पर विवेचना करते हुए टंडन जी ने भाषा-सुधार पर जोर दिया। रात्रि को विज्ञान परिषद् की बैठक हुई, जिसमें सभापति श्री रामदास जी गौड़ के सुंदर मार्मिक भाषण के उपरांत डॉ॰ गोरखप्रसाद जी, श्रीयुत् दीनानाथ चुटैल आदि विद्वानों के 'वेदकाल निर्णय' आदि विषयों पर भाषण हुए।

[संपादकीय। 'जागरण', 2 अप्रैल, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

तेईसवें हिन्दी-साहित्य सम्मेलन पर एक दृष्टिपात

उत्थान-पतन की राजधानी दिल्ली नगर का बहुज्ञापित सम्मेलन, प्रतिवर्ष के समान सानंद समाप्त हो गया। एक आतुर और पैनी दृष्टि वाला दर्शक सम्मेलन के चार दिवसों की कार्यवाही को देखकर सहसा यह कहना चाहता, कि 'निराकार परमात्मा जब साकार होते हैं' तब चाहता शायद संसार में ईश्वरार्थियों को ऐसी ही निराशा हुआ करती है।' सम्मेलन पर शास्त्रीय दृष्टि से इस टिप्पणी में इतना लिख देना ठीक होगा। आगे की पंक्तियां उसकी प्रकाशित कार्यवाही की चरितार्थता पर लिखी जाएंगी, क्योंकि सम्मेलन के लिए हिन्दी-संसार के हृदय में पहले ही से बहुतेरी धारणाएं थीं, जो यों तो हास्यास्पद मालूम होती थीं, परंतु आज जब पटौदी हाउस प्रतिनिधियों की हा-हा-ही-ही से शून्य और धीरे-धीरे रिक्त हो रहा है, तब बिखेरी जाती प्रदर्शिनी की पुस्तकों से उनकी वे आकांक्षाएं बोलती-सी प्रतीत हो रही हैं। जो कुछ भी हो, सम्मेलन हो गया, बहुतेरे प्रस्ताव स्वीकृत कर लिए गए, परिषदें हो गईं—यानी बिल्ले चमक गए। इतना तो अवश्य है, कि इस वर्ष सम्मेलन की आत्मा की भूख नायक-नायिकाओं के रूप की भूख न थी, उसकी क्षुधा में लड़खड़ा कर उठते हुए राष्ट्र को जागृत करती हुई आशा थी। सम्मेलन का प्रत्येक प्रतिनिधि, जो इस युग में रहता है, चाहता था कि जल्दी-

से-जल्दी हिन्दी सारे भारत की भाषा बन जाए। सम्मेलन ने चार दिन तक गैस जलाकर, फूल बरसाकर और मंगलगान गा-गाकर हमें यह सुझाने की चेष्टा की, कि शीघ्र-से-शीघ्र हिन्दी की उन्नति कर ले, प्रत्येक भारतवासी के हृदय, मन-मस्तिष्क की अभिव्यंजना को प्रभावशाली माध्यम बन जाए। अस्तु, सम्मेलन के प्रति दिवस के विस्तृत वर्णन समाचार-पत्रों में प्रकाशित हो रहे हैं, परंतु 'जागरण' के पाठकों को आंखों देखा इतिवृत्त—और वह भी शांति से लिखा हुआ—अधिक रुचेगा।

संपादकीय। 'जागरण', 2 अप्रैल, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।

दूसरा दिन

प्रात:काल डेढ़ घंटा देर कर साहित्य-परिषद् का अधिवेशन हुआ। सभापति श्री माखन लाल जी चतुर्वेदी के भाषण ने साहित्य और राष्ट्रीय जीवन के अन्योन्य उत्तरदायित्व को जताते हुए साहित्य की वास्तविक शक्ति को सामने रक्खा। उनके भाषण की कुछ पंक्तियां वर्तमान साहित्य के लिए प्रेरणा का कार्य करती हैं। इसके बाद प्रेमचंद जी, नवीन जी आदि के भाषण हुए। इन भाषणों ने साहित्य को जनता के जीवन के साथ-साथ चलता हुआ बताया और हिन्दी साहित्य में व्यापकता, पूर्ण राष्ट्रीयता को लाने के लिए आवश्यकता बताई। मध्याह्न को विषय-निर्वाचनी की बैठक हुई और चार बजे से मुख्य सम्मेलन का अधिवेशन प्रारंभ हुआ। श्रीयुत् जयचंद विद्यालंकार को विधि-पूर्वक मंगलाप्रसाद पारितोषिक देने की घोषणा की गई। रात्रि को इतिहास परिषद् की बैठक हुई, जिसमें महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द, ओझा, श्रीयुत् जयचंद विद्यालंकार आदि के भाषण हुए।

[संपादकीय। 'जागरण', 2 अप्रैल, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

प्रथम दिवस

थके हुए प्रतिनिधियों और गणमान्य गणों के साथ सूचनानुसार जुलूस निकला। जैसा कि प्रधानमंत्री श्री पत्तूलाल जी का कथन था, जुलूस का उद्देश्य नगर की मुख्य-मुख्य सड़कों पर घूम-घामकर प्रर्दिशनी के उद्घाटन समारोह को समारोहपूर्ण बनाना था। कविवर अयोध्यासिंह जी उपाध्याय 'हरिऔध' ने प्रदर्शिनी का उद्घाटन किया। उद्घाटन के पूर्व उनके भाषण ने जहां मनोरंजन किया, वहां एक तरह से लोगों के मन में 'अधिक उपदेश' की भावनाएं भी पैदा कर दीं। प्रदर्शिनी न तो ह्वीलर का बुक-स्टाल ही थी, न हिन्दी पुस्तक एजेंसी की दुकान ही। वह एक छोटा-मोटा संग्रहालय-सा था, जिसने अंधे हिन्दी संसार की आंखें उतनी न खोलीं, जितना उसने पुस्तक प्रकाशकों का विज्ञापन और लेखकों के मन में गौरवपूर्ण प्रशंसा का जागरण किया। भोजनोत्तर, विषय निर्वाचनी की बैठक हुई। इस बैठक में वह जोश दिखता था, जो भोजनोपरांत किसी प्रस्ताव को बनाने में प्रकट होता है। प्रस्तावों के निर्माण और उनकी स्वीकृति के बाद मुख्य सम्मेलन

का अधिवेशन प्रारंभ हुआ। कैसे संभव है कि केसरिए रंग से रंगी साड़ियां पहने हुए बालिकाओं का मंगल गान उन स्वयंसेवकों को न मोह सका हो, जो पास देखने में उतना ही उत्साह दिखा रहे थे, जितना उत्साह एक सार्जन्ट वारंट दिखाने में प्रकट करता है। पंडाल में लगी हुई विगत सभापतियों की तसवीरें, मोटे-मोटे अक्षरों में लिखे हुए आदर्श वाक्य और प्रतिनिधियों, विशिष्टि व्यक्तियों के कुर्त्तों-कोटों पर लगे हुए लाल-आसमानी फूल सब कोई मानो मुग्ध-सा हो उठे। एक निराशावादी दर्शक का उपस्थित देखकर यह भले ही प्रतीत हो, कि मुख्य अधिवेशन प्रांतीय अधिवेशनों भी गया-बीता दीखता था, परंतु सभापति, स्वागताध्यक्ष आदि के संदेशवाहक भाषण यह बता रहे थे कि सम्मेलन भारत की एक लंबी और युगातीत इच्छा को प्रकट कर रहा है। श्रीमान बड़ौदा नरेश का एक लिपि के प्रयोग का निर्देश, श्रीमान घनश्यामदास बिड़ला का हिन्दी को व्यापक बनाने का आदेश, परीक्षा-विभाग की भी वृद्धि के साथ-साथ सम्मेलन की काया वृद्धि के समाचार ध्यान देने योग्य थे। शाम को भी दोपहर की भांति विषय-निर्वाचनी की बैठक हुई। रात के ग्यारह बजे तक प्रस्तावों का निर्माण होता और उनकी स्वीकृति होती रही।

[संपादकीय। 'जागरण', 2 अप्रैल, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

हिन्दू समाज के वीभत्स दृश्य–3

मंदिरों पर एक दृष्टि

हिन्दू समाज के परम पवित्र तथा माननीय मंदिरों की ओर दृष्टिपात करने से हृदय कांप उठता है। वहां की दशा दयनीय ही नहीं, चिंताजनक भी है। जहां भक्ति की, ज्ञान की, आत्म-साधना की तथा तपस्या की निर्मल धारा बहाकर लोगों के जीवन को सुंदर और सुखकर बनाना चाहिए, वहां आज दुराचार, पापाचार, भ्रष्टता तथा दुष्कृत्यों का केंद्र देखकर आत्मा रो उठती है। उन्हें देखकर एक जोरदार प्रश्न उठता है, कि क्या यही मंदिर है? क्या यही भगवान् का निवास है?

यह बात अब तक किसी से छिपी नहीं है कि इन मंदिरों की आड़ में आज बड़े-बड़े लज्जा-जनक कृत्य हो रहे हैं। पुजारियों का, महंतों का और धर्मगुरुओं का जीवन भयानक विलासिता से भरा हुआ है। वे मंदिरों की आड़ में जघन्य से जघन्य कर्म करते नहीं शर्माते। ईश्वर को गाना सुनाकर खुश रखने के लिए उन्हें वेश्याएं चाहिए। इस बहाने वे अपनी राक्षसी कामना को पूर्ण करते और अपने जीवन को विलास-वासना और पतन के गहरे गढ़े में डाल देते हैं। तिस पर भी, हिन्दू समाज के लिए वे पूज्य हैं, माननीय हैं और देवता-तुल्य हैं, क्योंकि वे पुजारी हैं, महंत हैं और धर्मगुरु हैं। प्रतिदिन अनेक भोली-भाली तथा धर्मभीरु युवतियां पुण्य कमाने के लिए मंदिरों में पहुंचती हैं और वे उन ईश्वर के प्रतिनिधियों के द्वारा या उनके संकेत-मात्र से गायब कर दी जाती हैं और उनकी काम-वासना की शिकार बन जाती हैं। हिन्दू समाज को यह सब कुछ मालूम है। प्रतिदिन उसकी आंखों के सामने ऐसे दृश्य आते रहते हैं, लेकिन वह आंखों

पर पट्टी बांधकर, जबान पर ताला लगाकर चुप है, क्योंकि आखिर वे लोग धर्म के ठेकेदार हैं।

जहां इन पुजारियों तथा धर्मगुरुओं का जीवन सीधा-सादा, पवित्र और त्याग-तपस्या से पूर्ण रहना चाहिए, वहां आज वे इन सब बातों के विपरीत 'सद्‌गुणों' के भंडार बने हुए हैं। उनके विषय में क्या कहा जाए। दिखलाने के लिए तो वे बड़े संयमी हैं, त्यागी हैं और तप तथा भक्ति के साक्षात् अवतार हैं, लेकिन अच्छी तरह देखने पर ही उनका असली रूप प्रकट होता है। उनमें ढोंग, छल और कपट कूट-कूटकर भरा हुआ है। यों कहना चाहिए कि उनका चरित्र अद्‌भुत है। मांस-मछली, शराब, गांजा, भांग, अफीम आदि चीजों के बिना उनका काम नहीं चल सकता।

अब देश के प्रति उनके व्यवहार पर भी दृष्टिपात कीजिए। वे खद्दर के कपड़ों को स्वप्न में भी देखना पाप समझते हैं। देशी मिलों का बढ़िया कपड़ा उनके कोमल शरीर को चुभता है, गड़ता है और उससे उनका शरीर छिल जाता है। उनके लिए नो खास मैंचेस्टर का बना हुआ, महीन-से महीन मलमल चाहिए। देशी और विदेशी का प्रश्न उनके लिए एक बेवकूफी का प्रश्न है। उनको देशी से क्या मतलब, उन्हें देश से क्या सरोकार? वे तो देश के धर्मगुरु हैं, महंत हैं, पुजारी हैं। इसलिए, वे जन-समाज के लिए पूज्य हैं। उनकी बातों में, उनके कार्यों में किसी को हस्तक्षेप करने का क्या अधिकार। उनके आनंद में किसी को विघ्न डालने का, बाधा डालने का क्या हक?

और जब देश में कोई अच्छी बात होती है, कुप्रथाओं के विरुद्ध आवाज उठाई जाती है, प्रचार किया जाता है, पुरानी और लज्जाजनक रूढ़ियों को मिटा डालने का प्रयत्न किया जाता है, या कोई देश-हितकारी नियम या बिल पास होता है, तो ये धर्म के ठेकेदार, समय को न देखते हुए, अपने नीच स्वार्थ-साधन के लिए ऐसे कार्य के विरुद्ध अपनी पूरी ताकत लगा देते हैं। जनता द्वारा दिए हुए रुपयों को जनता के ही विरोधी कार्यों में व्यय करते हैं। रुपयों को पानी की तरह बहाकर वे ऐसे कार्यों के विरुद्ध आवाज उठाते हैं और देश-हित विरोधी प्रचार करने का प्रयत्न करते हैं। जनता का रुपया जनता के ही विरोध में खर्च करते उन्हें जरा भी संकोच नहीं होता। संसार के लिए उनका यह कार्य अनोखा है और कृतघ्नता का एक ज्वलंत उदाहरण है, पर वे अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी देश को सत्यपथ पर जाने से नहीं रोक सकते, क्योंकि उनमें कोई बल नहीं है। शारीरिक, मानसिक, आत्मिक तथा नैतिक बल के भीषण अभाव ही ने उन्हें पतन के गहरे गर्त में गिरा दिया है। उनकी बुद्धि को अज्ञान के काले बादलों ने घेर रखा है, इसी कारण वे अपने अहित की बात हित की और हित की बात अहित की समझ रहे हैं। भला, गिरा हुआ और निःशक्त मनुष्य समय की शक्तिशाली लहर को कैसे रोक सकता है?

मंदिरों के यह विधातागण नए युग की आवाज को नहीं सुन सकते। नए जमाने की जोरदार लहर के विरुद्ध खड़े होने में उन्हें सुख मिलता है, पर यह निश्चित है कि यदि उन्होंने यही क्रम रखा, यदि उनका यही हाल रहा, तो वह दिन भी दूर नहीं है, जबकि नवीन युग की प्रचंड शक्ति उनके अस्तित्व को मिटा देगी। यदि

उन्हें इस बात पर जरा भी संदेह हो, तो वे अन्य देशों की ओर दृष्टिपात करें। वे यह ध्यान से देखें कि नए जमाने की लहर से दूर रहकर रूस के पुजारियों, महंतों और धर्मगुरुओं ने क्या फल पाया। यह बात पुरानी नहीं है, कल की है। यह बात उन्हें एक भावी संकट की सूचना दे रही है और उन्हें सावधान कर रही है। तिस पर भी यदि वे नहीं चेते, तो जो उनके भाग्य में लिखा है, सो तो होगा ही, किंतु फिर उनके लिए कोई अवसर न रहेगा। सबसे अच्छा तो यह हो, कि वे अपने को सुधारें, नवीन युग के अनुकूल बनाएं। इसी में उनका हित है, कल्याण है। समय की लहर बहुत बलवान होती है। बड़ी-से-बड़ी शक्ति द्वारा भी नहीं रोकी जा सकती। देश की दशा को भली-भांति देखते हुए, धर्म के आडंबरों, उसकी रूढ़ियों और राक्षसी नियमों से मुक्त करके ही वे अपना, अपने धर्म का, अपने समाज तथा अपने देश का सबसे बड़ा हित कर सकेंगे और जनता के हृदयों में ऊंचा स्थान प्राप्त कर सकेंगे।

[संपादकीय 'जागरण', 2 अप्रैल, 1934 मे प्रकाशित, 'विविध प्रसंग' भाग-3 में सकलित।]

देहली में कांग्रेस नेताओं का सम्मेलन

कांग्रेस के कुछ नेताओं ने कलेजा मजबूत कर दिल्ली में एक सम्मेलन कर कार्उसिलों में जाने के प्रश्न पर विचार कर डाला, मगर कुछ इस तरह डरते-डरते मानो कोई अपराध करने जा रहे हों। सबसे बड़ा अपराध तो पराधीन होना है, और उससे कुछ घटकर कमजोर और असंगठित होना। जब ये दोनों महान अपराध हम कर रहे हैं, तो फिर कार्उसिल में आने के छोटे से अपराध के लिए इतना सोच-विचार क्यों। इस पराधीनता की दशा में हम असहयोग कर भी सकते हैं? उतना साहस भी हम में है? टैक्स हमसे जबरदस्ती लिए जाते हैं, हम देना चाहें या न देना चाहें। फिर क्यों मन को यह नहीं समझा लिया जाता कि हमें कार्उसिल में आने के लिए भी मजबूर किया जा रहा है। हम अपनी खुशी से नहीं, जबरदस्ती लाये जा रहे हैं। जब हम सरकारी अदालतों में जाकर वकालत करते हैं, जब हम सरकार के खोले हुए विद्यालयों में पढ़ना बुरा नहीं समझ सकते, अब हम रेल, तार, डाक, सड़कों, जहाजों से काम लिए बगैर नहीं रह सकते, जब दिन के चौबीस घंटों में हम बराबर सरकार से सहयोग करते रहते हैं और सरकार का खजाना भरते रहते हैं, यहां तक कि घर में कोई बारदात हो जाने पर हम सरकारी पुलिस के पास दौड़ते हैं, तो कार्उसिल में जाना किस नीति से बुरा है, यह हमारी समझ में नहीं आता। कार्उसिलों के बाहर रहकर भी बहुत कुछ कम किया जा सकता है, पर वहां भी हमें सरकार से सहयोग करना पड़ेगा। बिहार में हम किसी दशा में भी सरकारी सहयोग से अपने को नहीं बचा सके। हम तो समझते हैं सारा भारत बिहार हो रहा है और ऐसी दशा में अगर हम कार्उसिलों में जाकर कोई फायदे का काम कर सकते हैं, तो हमें करना चाहिए। कहा जाता है कार्उसिलों में जाकर हमने इतने दिनों में क्या कर लिया? लेकिन कार्उसिलों में न जाकर ही हमने क्या कर लिया? हां, अगर कुछ किया, तो यह किया कि बीसों

ही ऐसे कानून पास करा दिये, जो शायद कांग्रेस वालों के कार्उसिलों में रहते हुए इतनी आसानी से पास न हो सकते। गुड़ खाने और गुलगुलों से परहेज करने वाली नीति बहुत कुछ अच्छी नीति नहीं है।

[संपादकीय। 'जागरण', 9 अप्रैल, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

बे-राष्ट्रभाषा का राष्ट्र

कोई समय था, जब धर्म की एकता ही मनुष्यों के एकीकरण का मुख्य साधन थी और एक धर्म के मानने वाले बहुधा सामाजिक और सांस्कृतिक बातों में भी एक हो जाते थे। समाज और संस्कृति, जीवन और दृष्टिकोण सभी का उद्‌गम धर्म था। लेकिन, नई जागृति ने धर्म को उस ऊंचे स्थान से हटा दिया और उसकी जगह पर जिन व्यवस्थाओं को बिठाया, उनमें भाषा अगर मुख्य नहीं है, तो किसी से गौण भी नहीं है। आज हरेक कौम की अपनी एक भाषा है। अमेरिका की कौमी जबान रखने पर भी दो कौमें हैं। दक्खिन अमेरिका में कई कौमें स्पेनी और पुर्तगाली भाषा बोलती हैं, फिर भी वे अलग-अलग राष्ट्र हैं। राष्ट्रों के निर्माण में भौगोलिक परिस्थितियां ही मुख्य हो गई हैं, मगर भाषा भी उन्हीं भौगोलिक परिस्थितियों से बनती है। एक खास इलाके के रहने वाले एक खास जबान बना लेते हैं या यों कहो कि कुछ प्राकृतिक शक्तियां आप ही आप उनकी एक खास जबान बना देती है। इस लिहाज से कभी-कभी दस-दस पांच-पांच कोस में बोली बदल जाती है, लेकिन थोड़ा-बहुत अंतर होते हुए भी इन बोलियों में कुछ समानता रहती है और वही समानता एक ऐसी भाषा के रूप में संगठित हो जाती है, जिसमें साहित्य की रचना होने लगती है और वही समय पाकर उस प्रांत या देश की कौमी जबान बन जाती है। आज बिहार, संयुक्त प्रदेश, पंजाब, अल्मोड़ा, सी॰ पी॰, राजपुताना आदि प्रांतों की बोलियों में काफी अंतर होते हुए भी हिन्दी अपनी सार्वभौमिकता के कारण इन प्रांतों की माध्यम बनी हुई है। हम अपने खास इलाके के बाहर वालों से बातचीत या पत्र-व्यवहार करने में हिन्दी का ही व्यवहार करते हैं। अगर उर्दू को भी हिन्दी में मिला लिया जाए-क्योंकि जहां तक बोली का संबंध है इन दोनों भाषाओं में कोई अंतर नहीं-तो हिन्दी बोलने वालों की संख्या पंद्रह करोड़ से कम नहीं है और समझने वालों की संख्या तो इससे कहीं ज्यादा है। आश्चर्य है कि अभी तक वह क्यों कौमी जबान नहीं बन गई। कुछ दिन पहले तक तो अन्य प्रांतीय भाषाएं अपने उन्नत साहित्य के बल पर यह स्थान लेने का दावा करती थीं, लेकिन अनुभव ने अब यह सिद्ध कर दिया है कि हिन्दी ही में यह क्षमता है कि वह कौमी जबान बन सके। बात यह है कि अभी तक हमने इस विषय की ओर ध्यान नहीं दिया। दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार का काम जोरों से हो रहा है। अगर और प्रांतों में भी प्रचार किया जा सकता, तो अब तक मंजिल हमारी आंखों के सामने होती, लेकिन अब तक हमारी कोशिश परीक्षाओं तक ही बंद रही। इस क्षेत्र में जो संस्थाएं काम कर रही हैं, उन्होंने साहित्य-निर्माण का

काम हाथ में ले लिया, जिसमें उन्हें बिल्कुल सफलता नहीं हुई, क्योंकि वे साहित्य संस्थाएं नहीं बनाया करतीं, या पुराने कवियों के ग्रंथों के खोजने में समय और शक्ति का दुरुपयोग किया, क्योंकि जिस तरह का साहित्य वे कब्रों से निकाल सके, वह आजकल की जरूरतों को पूरा नहीं करता। हिन्दी-उर्दू का व्यर्थ का झगड़ा अलबत्ता खड़ा कर दिया गया। जरूरत थी कि जिस तरह दक्षिण में हिन्दी प्रचार का काम हो रहा है, उसी तरह अन्य प्रांतों में भी होता। और सबसे बड़ी जरूरत इस बात की थी कि हमारा राष्ट्रभाषा परिषद् होता, जिसकी हरेक प्रांत में शाखें होतीं। उस परिषद् में हम प्रत्येक प्रांत के साहित्यिक महारथियों को निमंत्रित कर सकते और साहित्य का निर्माण भी कर सकते और उनकी सलाह और सहयोग से राष्ट्रभाषा का प्रचार ही न बढ़ाते, बल्कि राष्ट्र-साहित्य का निर्माण भी कर सकते। राष्ट्र के लिए राष्ट्रभाषा जितनी जरूरी है, उतना ही जरूरी राष्ट्र-साहित्य भी है। और साहित्य संस्कृति का एक प्रधान अंग है। पहले इस तरह के परिषद् की जरूरत न समझी जा रही हो, लेकिन आज लोगों को यह खयाल पैदा होने लगा है। हमारी समझ में यह आने लगा है कि जब तक हम अन्य भाषाओं के स्रष्टाओं को हिन्दी में आने का निमंत्रण न देंगे और हमारे यहां ऐसे सम्मेलन न होंगे जिसमें सभी भाषाओं के लेखक और विद्वान् एकत्र हों और अपने अनुभव और प्रतिभा से एक-दूसरे को प्रभावित करें, हम राष्ट्र का निर्माण न कर सकेंगे। अभी तक हमारे यहां जो कुछ है यह प्रांतीय है, उस पर राष्ट्र की छाप नहीं है। इस ऐब को दूर करने के लिए हमें शीघ्र ही ऐसा आयोजन करना होगा कि भारत की साहित्य प्रतिभा को एकत्रित कर सकें। हमें विश्वास है कि भारत के साहित्यकार खुशी से हमसे सहयोग करेंगे, क्योंकि राष्ट्रभाषा में लिखकर वे अपने विचार-क्षेत्र को कहीं ज्यादा फैला सकेंगे। जब हमारी राष्ट्र-भाषा होगी, हमारा राष्ट्र-साहित्यिक होगा, तभी अंतर्राष्ट्रीय भाषाओं की मजलिस में हमें स्थान मिल सकेगा। मद्रास के द्वैमासिक पत्र 'त्रिवेणी' में एक बंगाली विद्वान् ने इसी विषय पर अपने विचारों को प्रकट करते हुए कहा है—

"प्रांतीय भाषाएं अपनी-अपनी विशेष रचना शैली पर चलती हैं। इसमें कोई हानि भी नहीं; लेकिन, हम कभी सच्ची राष्ट्र-संस्कृति न उत्पन्न कर सकेंगे, जो प्रांतीय संस्कृति से भिन्न हो, जब तक हमें देश के चुने हुए साहित्यिक रचयिताओं की सलाह, दायित्व और प्रकाशन न मिले। वही लोग कला के ऊंचे आदर्श हमारे सामने रख सकते हैं।"

महाराजा साहब बड़ौदा ने अपने भाषण में आदि से अंत तक इसी बात पर जोर दिया कि हिन्दी को क्यों और कैसे राष्ट्रभाषा बनना चाहिए। महाराजा साहब ने हिन्दी को अपने राज्य की सरकारी भाषा का स्थान दिया है, इसलिए उनका कथन और भी महत्व रखता है। लेकिन हम आपके इस खयाल से सहमत नहीं हैं कि हिन्दी केवल सामान्य भाषा के रूप में ही राष्ट्रभाषा हो सकती है। विद्वान् लेखक अपनी प्रांतीय भाषा को छोड़कर हिन्दी में लिखना न पसंद करेंगे। लेकिन जिसमें लिखने की प्रतिभा है, उसके लिए भाषा कोई रुकावट नहीं हो सकती। हिन्दी जैसी सरल भाषा को अपना लेना विद्वानों के लिए केवल दिनों की बात है। जब उन्हें हिन्दी द्वारा विस्तीर्ण क्षेत्र मिलेगा,

तो वे प्रांतीय भाषाओं में लिखने पर भी अपनी अच्छी-से-अच्छी रचनाएं हिन्दी में भी करेंगे। जिस तरह योरोप में प्रवेश पाने के लिए किसी रचना का अंग्रेजी या फ्रेंच में आना आवश्यक है, उसी तरह भारत की जनता के सामने आने के लिए तब हिन्दी में लिखना आवश्यक हो जाएगा, लेकिन अगर थोड़ी देर के लिए मान भी लें कि साहित्यकारों को अपनी भाषा का मोह हिन्दी में न लिखने देगा, तो भी उन विद्वानों के सत्संग और *परामर्श से लाभ तो उठाया ही जा सकता है। ऐसे सम्मेलनों से प्रत्यक्ष लाभ जितना होता है, उससे कहीं ज्यादा अप्रत्यक्ष लाभ होता है, जिससे विचारों में प्रगति आ जाती है, दृष्टिकोण बदल जाता है, और ऐसे संबंध पैदा हो जाते हैं, जिनके सामने प्रांतीय दुर्भावनाएं आप ही आप मिट जाती हैं।*

शायद संसार में भारत ही एक ऐसा देश है, जिसकी अपनी कौमी जबान नहीं है। आज एक बलवान केंद्रीय शासन के सिवा हमें एकता में बांधने वाली क्या चीज है? धर्म में शक्ति नहीं, वह चीज राष्ट्रभाषा ही हो सकती है।

[सपादकीय। 'जागरण', 9 अप्रैल 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग', भाग-3 में संकलित।]

वैवाहिक लेन-देन और कानून

'चांद' के एप्रिल के अंक में श्री केशवानंद वर्मा ने दहेज, कन्या-विक्रय आदि कुप्रथाओं को कानून द्वारा बंद कराने का प्रस्ताव किया है। ऐसी प्रथाओं को कानून द्वारा तो क्या, यमराज द्वारा भी बंद कराया जा सके, तो हमें आपत्ति नहीं, लेकिन हमें भय है कि यहां कानून हमारी कुछ सहायता नहीं कर सकता। जो बात अभी खुल्लम-खुल्ला होती है, तब गुप्त रूप से होगी और किसी को खबर तक न होगी। जो आदमी विवाह का इच्छुक है, वह अपना सब कुछ बेचकर लड़की खरीदेगा। उसे आप किसी तरह नहीं रोक सकते। इसी तरह लड़की का बाप भी वर को खरीदने के लिए अपना घर तक बेच देता है। कानून तो तब बीच में आ सकता है कि कोई फरियाद करे? हां, विवाह के बाद कसर निकाली जा सकती है और लेने वालों को बड़ा घर दिखाया जा सकता है। लेकिन, तब तो वही लेने वाले अपने हो जाते हैं। कौन अपनी पत्नी के प्यारे पिता या अपने दामाद पर मुकदमा चलाएगा? नहीं साहब, यह बेल मुंडेर चढ़ने की नहीं। हां, सरकारी कानून अगर इतना कर दे कि वर-वधू के जोड़े बना दे और जबरदस्ती या रजामंदी से उनका विवाह कर दे, तब शायद कुछ उपकार हो सके। मगर तब वह रकम वर या कन्या के पिता की जेब में न जाकर पुलिस की जेब में जाएगी। शायद उससे ज्यादा। समस्या टेढ़ी है। जब तक लेन-देन समाज में घृणा की दृष्टि से न देखा जाएगा और जनमत उसे जघन्य न समझने लगेगा, तब तक यही दशा रहेगी। हमें अपनी सारी शक्ति यह जनमत तैयार करने में लगानी होगी। मुश्किल यह है कि वही आदमी, जो आज कन्या के विवाह में रिफार्मर बनता है और दहेज को लानत करता है, कल पुत्र के विवाह में लंबी रकम डकार जाता है। कैसे काम चले।

[संपादकीय। 'जागरण', 9 अप्रैल, 1934 मे प्रकाशित 'विविध प्रसंग', भाग 3 में संकलित।]

सच्ची बात कहने का दंड

आगरा के सब-जज पं० रघुनाथप्रसाद त्रिवेदी ने एक मुकदमे के फैसले में यह लिखा है कि ऐंग्लो-इंडियन शासक जाति का अंग है, इसलिए वह हिन्दुस्तानी से ज्यादा इज्जतदार है। इस पर समाचार-पत्रों में त्रिवेदी साहब पर खूब बौछारें पड़ रही हैं। हम नहीं समझते, त्रिवेदी जी ने एक सच्ची बात कह दी तो क्या अपराध कर दिया। कोई ज्यादा दुनियादार जज कभी ऐसी बात न लिखता, यह ठीक है, लेकिन करता वही जो त्रिवेदी साहब ने किया। और यह बात कौन नहीं जानता। कदम-कदम पर यह सत्य हमें ठोकर जमाता रहता है। हमें त्रिवेदी साहब को धन्यवाद देना चाहिए कि उन्होंने अपने दिल की बात खोलकर कह दी। सहयोगी 'आज' ने बहुत ठीक अनुमान किया है कि आप कोई सनातनी महोदय हैं, जो शासकों को देवता समझते हैं और उनके कुत्तों के सामने दुम हिलाते हैं, क्योंकि ऐसी मार्के की बात किसी सनातनी खोपड़ी ही से निकल सकती है, और ऐसे लोग हमारे यहां सब-जज बना दिये जाते हैं। लेकिन, संपादक लोग जितना भी नाक-भौं चढ़ा लें, त्रिवेदी जी की रायबहादुरी रखी है, अगर अब तक नहीं मिल चुकी है, और शायद ग्रेड भी जल्द ही मिले। अगर कोई हिन्दुस्तानी किसी ऐंग्लों-इंडियन के हाथों कत्ल कर दिया गया होता, तो त्रिवेदी जी इस दलील से अवश्य ही मुजरिम को बरी कर देते, क्योंकि शासक जाति को यह अधिकार है कि जिस हिन्दुस्तानी को चाहे जान से मार डाले। शासित की जान का मूल्य ही क्या? धन्य है भारत, जहां ऐसे-ऐसे सपूत पैदा होते हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 9 अप्रैल, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

सर्वशक्तिमान पुलिस

यह तो हम अपने अनुभव से जानते हैं कि जब कोई अखबार निकलता है, तो पुलिस द्वारा उसके संचालकों की जांच होती है, जब तक पुलिस की सर्टिफिकेट न हो, कि यह आदमी खतरनाक नहीं है, और हमारे काले रजिस्टर में इसका नाम नहीं है तब तक गाड़ी रुकी रहती है, लेकिन अब मालूम हुआ कि मुंसिफों को भी पुलिस के सर्टीफिकेट के बगैर नौकरी नहीं मिल सकती। किसी को अगर मुंसिफी लेनी है, तो उसे पुलिस के अधिकारियों की खुशामद करनी चाहिए। ऐसा आदमी अदालत की कुर्सी पर बैठकर प्रबन्ध-विभाग के विरुद्ध फैसला देने के पहले खूब सोचेगा। वह जानता है कि जिन कर्मचारियों की सनद पाकर उसे यह आश्रय मिला है, उनका रोब और दवाब मानते रहने में भी उसकी खैरियत है। न्याय का एक खास सिद्धांत यह है कि जब तक किसी के विरुद्ध प्रमाण न हो, उसे निर्दोष समझो। हमारी सरकार का सिद्धांत कुछ और है। वह यह कि जब तक किसी की जांच न कर ली जाए, वह विश्वास के योग्य नहीं।

[संपादकीय। 'जागरण', 9 अप्रैल, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

अंग्रेजी फैसिस्ट दल की नीति

ब्रिटेन में भी खुदा के फजल से एक फैसिस्ट-पार्टी कायम हो गयी है और जहां तक भारत का संबंध है, वह कंजरवेटिव दल से भी आगे बढ़ी हुई है। उसके नेता साहब ने एक भाषण में फरमाया है—कैसा सुधार और कैसा सफेद कागज और कैसा डोमिनियम स्टेट्स और कैसा स्वराज्य। यह सब पागलों की बातें हैं। इंग्लैंड का काम है, तलवार के जोर से भारत पर कयामत के दिन तक राज्य करना, वहां खूब धन जमा करना और चैन की बंसी बजाना। बिल्कुल ठीक। ब्रिटेन का भारत के साथ वास्तव में यही धर्म है। भारत संसार में है ही इसलिए कि इंग्लैंड उस पर सवारी गांठे। फैसिज्म के आचार्य हर हिटलर भी एक बार भारत के विषय में अपनी कीमती राय जाहिर कर चुके हैं। कंजरवेटिवों को अब भारत की ओर से निश्चिंत हो जाना चाहिए। अंग्रेजी फैसिस्ट पार्टी उसका होश ठीक करने के लिए बहुत काफी है। चर्चिल साहब तो फूले न समाते होंगे। है यह फैसिस्ट पट्ठा बड़े जीवट का। अभी घुटनियों के बल घिसट रहा है, खड़ा भी न होने पाया, मगर बातें करता है ऐसी बढ़-बढ़कर। हम उसका यह जीवट तो तब देखते, जब आयरलैंड या कैनाडा या आस्ट्रेलिया के विषय में भी वह ऐसी बातें करता, मगर वहां उसकी दाल नही गलती। उसका नाम भी ले तो गोशमाली कर दी जाए। भारत को चार खोटी-खरी सुना देना तो अंग्रेजी शिष्टता का एक अंग है। हिन्दुस्तान में किरंटे लौंडे भी हिन्दुस्तानियों की ओर जब देखते हैं, तो तिरछी आंखों से ही लेकिन अंग्रेजी फैसिज्म के संस्थापक सर ओसवाल्ड को शायद जल्द मालूम हो जाएगा कि फैसिज्म स्थायी वस्तु नहीं है, वह कम्युनिज्म के समीप आते-आते एक दिन उसी में विलीन हो जाएगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 16 अप्रैल, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-2 मे संकलित।]

किसान सहायक एक्ट

दिसंबर में किसानों और काश्तकारों को महाजनों के अन्याय से बचाने के लिए जो कानून बनाया गया था, उसे गर्वनर ने फिर से विचार किए जाने के लिए वापस कर दिया है। थोड़े दिन हुए बैंकरों का एक डेपूटेशन सर माल्कम हेली के पास गया था। यह उसी का परिणाम है। वह बिल बना था किसानों की रक्षा के लिए। मगर हुआ यह है कि किसान तो पीछे रह गये, बड़े-बड़े ज़मींदारों और ताल्लुकेदारों के हित को ही प्रधानता दे दी गयी। बेचारा किसान जहां का तहां रह गया। किसान ने कर्ज लिया है बैलों के लिए या बीज के लिए या खाने के लिए। उसको यदि सरकार ऋण से मुक्त करा दे, तो वह कृषक-समाज का उद्धार करेगी। ज़मींदारों ने कर्ज लिया है ऐयाशी के लिए, शराबखोरी के लिए, बड़े-बड़े महल बनवाने के लिए। उनके हित के लिए किसानों को क्यों दबाया जाए, जो समाज में ज़मींदारों से कहा उपयोगी हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 16 अप्रैल, 1934 मे प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

कोर्ट-शिप

प्रयाग में अग्रवाल महिला महासभा की सभानेत्री जी ने समाज की वैवाहिक कुरीतियों को दूर करने के लिए कोर्ट-शिप की बात कही। लेकिन कोर्ट-शिप स्वयं तो एक खर्चीली वस्तु है। कारों की सैर और रेस्तरां की दावतें और आये दिन नए-नए उपहार, यह क्या मां-बाप के लिए कुछ हल्के टैक्स होंगे? और रूखी-सूखी कोर्ट-शिप मरुभूमि में पड़े हुए बीज की भांति शायद ही अंकुरित हो, फलना-फूलना तो दूर की बात है।

[संपादकीय। 'जागरण', 16 अप्रैल, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

ठेलम-ठाला

कायदा है, हमसे कोई बात बिगड़ जाती है, तो हम एक-दूसरे को इलजाम देकर अपने मन को समझा लिया करते हैं। एक कहता है, तुम्हारी गलती थी। दूसरा कहता है जी नहीं, यह आपकी हिमाकत थी। अगर अच्छी दुलहिन घर में आ गई है, तो दूल्हा भी खुश, ससुर भी खुश, टोला पड़ोस के लोग भी खुश, दहेज कुछ कम भी मिला तो क्या गम, बरातियों का सत्कार जैसा चाहिए, वैसा नहीं हुआ, वैसा क्या; उसका आधा भी नहीं हुआ, तो कोई गम नहीं, बहू अच्छी है, सुघड़ है, सुशीला है, लेकिन खुदा-न-खास्ता बहू काली हुई, या कानी हुई, या लंगड़ी हुई (क्योंकि ब्याह तकदीर का खेल है और तकदीर में तदबीर का क्या बस) तो कुछ न पूछिए, बस समझ लीजिए कि गजब हो गया। सास अपने पति को इलजाम देती है, पति पंडित जी के सिर इस ज़िम्मेदारी को ठेलते हैं, पंडितजी लालाजी के सिर जो बीच में पड़े चारों तरफ से ठेलम-ठेल शुरू हो जाती है। इलजाम का बोझ खुदा जाने कितना भारी होता है कि कोई उसे अपने ऊपर एक क्षण भी नहीं रखना चाहता। टेनिस के गेंद की तरह उसे सामने आते ही दूसरे की तरफ ठेल देना ही हमारा धर्म है। यह बात नहीं कि इस इलजाम को कहीं आश्रय नहीं मिलता। मिलता है, लेकिन वहीं, जहां उसे ठेलने की शक्ति नहीं होती। किसी गरीब के सिर सारी ज़िम्मेदारी डालकर हम अपना दिल हलका कर लेते हैं। बहू में कोई फर्क नहीं हुआ। उसका रंग जरा भी नहीं खुला, न वह मृगनयनी बनी, न हंस-गामिनी। बेचारा दूल्हा एकांत में बैठा अपना नसीब ठोंक रहा है, घर से भाग जाने का मंसूबा बांध रहा है, लेकिन घर के लोगों ने नाई पर इलजाम रखकर शांति प्राप्त कर ली।

कांग्रेस में भी आजकल कुछ वैसी ही ठेलम-ठाल हो रही है। महात्मा गांधी सत्याग्रह के असफल होने की सारी ज़िम्मेदारी कार्यकर्ताओं पर रखते हैं, कार्यकर्ता इसे उनकी ज्यादती बताकर अपनी ज़िम्मेदारी को उन पर ठेलते हैं। अगर स्वराज्य की सुघड़ सुशीला बहू घर में आ जाती, तो आज सबके सब बगलें बजाते, महात्मा जी घर-घर राम और कृष्ण की तरह पूजे जाते, कार्यकर्ताओं को बधाइयां मिलतीं। मगर बहू आई अवगुणों का सागर, कलह की खान, तमाखू का पिंडा। फिर क्यों न ठेलम-ठाल मचे। हार में हमें अपनी कमजोरियां सूझती हैं, जीत में अपनी खूबियां।

कार्उंसिल में जाने की नीति को आशीर्वाद देकर महात्मा जी ने वही किया, जो एक कुशल सेनापति का धर्म है। नई हालतों के साथ सेनाओं की चाल में अदल-बदल होना ही चाहिए। कांग्रेस में जो एक निर्जीवता आ गयी थी, उसे दूर करने की इसके सिवा दूसरी तदबीर न थी। कांग्रेस के तामीरी काम हैं लेकिन उनकी ओर कांग्रेस में कोई उत्साह नहीं है। कुछ तो सरकारी बाधाएं हैं, कुछ अपनी असुविधाएं। कांग्रेस में आत्म-विश्वास की कमी आ गयी थी, जो हरेक दशा में घातक होती है। इसलिए जो कार्उंसिल में जाकर देश का कुछ हित कर सकते हैं, उन्हें इसकी आजादी होनी चाहिए थी, लेकिन महात्मा जी ने कांग्रेस के नेताओं पर सत्याग्रह सिद्धांत को गलत रूप से जनता तक पहुंचाने का इलजाम लगाकर व्यर्थ ही उनकी दिल-शिकनी की। राजनीति को अध्यात्म के तल पर उठा ले जाना और अध्यात्म के सिद्धांतों से उसे चलाना दुनिया के लिए एक बिल्कुल नया तजुर्बा था। उसे सफल होने की आशा कम, असफल होने का भय ही अधिक था। महात्माजी को खुद आज से तेरह साल पहले सोच लेना चाहिए था, कि जिन लोगों के हाथ में हम यह अमोघ शस्त्र दे रहे हैं, वे इसे चला भी सकते हैं या नहीं। अगर उस वक्त उन्होंने कार्यकर्ताओं को समझने में गलती की, तो इसकी ज़िम्मेदारी कार्यकर्ताओं पर सोलहों आना क्यों रखी जाए। कार्यकर्ताओं ने अपनी बुद्धि और पहुंच के अनुसार उस अस्त्र का चलाने की कोशिश की। क्या महात्माजी ने उस वक्त यह समझा था कि ये सभी देवता हैं? अगर वह मानव-स्वभाव से इतने बेखबर हैं, तो यह उनका कसूर है जो एक राष्ट्र के नेता में बहुत बड़ा कसूर है। वह आज भी कह रहे हैं कि मैं सत्याग्रह के प्रयोग में निपुणता प्राप्त कर रहा हूं, उनमें भी यह क्रिया अभी जारी है, फिर साधारण बुद्धि के कार्यकर्ताओं में आज से चौदह साल पहले वह निपुणता कैसे आ जाती। और जब इतने संयम और व्रत के बाद भी आज उस पद को वह नहीं प्राप्त कर सके, तो जाहिर है कि किसी युग में भी इस सिद्धांत के विशेषज्ञ बड़ी संख्या में नहीं हो सकते। शिक्षित समाज ने इस वक्त महात्मा जी को समझने में गलती की, तो वे क्षम्य हैं। महात्मा जी गोरी जाति से सत्याग्रह की लड़ाई में विजयी होकर लौटे थे। उनके त्याग, विचार और देवत्व का हाल पत्रों में पढ़-पढ़कर सारे देश को उनसे श्रद्धा हो गई थी। जब उन्होंने राजनीति की बागडोर अपने हाथ में ली, तो राष्ट्र ने अपने को धन्य समझा, और अपनी आत्मा को उनके हाथ में देकर खुद उनके पीछे चलने में ही राष्ट्र का हित समझा। विचार एक दुर्लभ वस्तु है और बिरलों ही के हिस्से में आती है। महात्मा जी जैसा दिमाग पाकर, फिर कौन सोचता है और क्या सोचता? क्या यह संभव नहीं कि उस विजय ने महात्मा जी में भी आत्मविश्वास की मात्रा कुछ बढ़ा दी हो और चूंकि साधारण बुद्धि के कार्यकर्ताओं से उन्होंने विजय पाई थी, उसी कोटि के मनुष्यों पर उन्होंने विश्वास कर लिया हो। यह हम कभी नहीं मान सकते कि दक्षिण अफ्रीका के कार्यकर्ता सबके सब ऊंचे दर्जे के अध्यात्म के सिद्धांत को समझने वाले आदमी थे। यह स्वीकार करने की इच्छा नहीं होती कि हमारा शिक्षित वर्ग सत्याग्रह को उतना भी नहीं समझता, जितना अफ्रीका वालों ने समझा था।

महात्मा जी ने अपने आंदोलन की कमजोरी को स्वीकार करके अपना नैतिक साहस अवश्य दिखलाया है, लेकिन उसके असफल होने का इलजाम कार्यकर्ताओं के सिर मढ़ने की कोई खास जरूरत न थी। जिन लोगों ने तेरह साल तक हर तरह की कठिनाइयां झेलकर, अपने को तबाह करके, अपने स्वार्थ को मिटाकर इस आंदोलन को चलाया, उनसे अब यह कहना कि तुम इस काम के योग्य नहीं, और तुम्हारी कमजोरी से यह आंदोलन फेल हो गया, उनका दिल दुखाना है। यह क्यों नहीं स्वीकार कर लिया जाता कि जिस स्वराज्य के लिए लड़े उसकी इच्छा अभी देश में इतनी बलवती नहीं हुई है कि बाधाओं का सफलता के साथ सामना कर सके। अब यह मान लेना पड़ेगा कि जिस चीज को महात्मा जी भीतर की आवाज कहते हैं, जिसका मतलब यह होता है कि उसके गलत होने की संभावना नहीं, वह बहुत भरोसे की चीज नहीं है, क्योंकि उसने एक से ज्यादा अवसरों पर गल्ती की है। भविष्य में हमें राजनीति को राष्ट्रहित की दृष्टि से देखना होगा। हमें ऐसे आदमियों को कार्उसिल में भेजना होगा, जिनके त्याग, साहस, ईमानदारी और सेवाओं का हमें परिचय मिल चुका है, और इसी से हम अपनी मंजिल पर पहुंचेंगे।

[सपादकीय। 'जागरण', 16 अप्रैल, 1934 मे प्रकाशित। 'विविध प्रसंग', भाग-2 में संकलित।]

योरोप में लड़ाई के बादल

जर्मनी इस बात पर तुला है कि वह दूसरे राष्ट्रों की भांति खूब अस्त्र-शस्त्र बढ़ायेगा। मौशियो मुसोलिनी उसकी पीठ ठोंक रहे हैं। फ्रांस और ब्रिटेन की सांस फूल रही है। जर्मनी यों मानने वाला नहीं। राष्ट्र संघ की उसे परवाह नहीं है। तो क्या फ्रांस और इंग्लैंड यों ही चुपचाप बैठे देखते रहेंगे? इधर भी जोरों से तैयारियां हो रही हैं। बारूद तैयार है, केवल चिंगारी की देर है। पिछले महायुद्ध में न्याय मित्रराष्ट्रों के साथ था। अब की बार न्याय जर्मनी के साथ है।

[सपादकीय। 'जागरण', 16 अप्रैल, 1934 मे प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-2 म सकलित।]

रियासतों का संरक्षण एक्ट

यह कानून एसेंबली में अच्छे बहुमत से पास हो गया। उसी विषय पर बहस करते हुए मि. बी. दास ने एक बड़े मजे की बात कही क्यों न सभी राजाओं को पेंशन देकर अलग कर दिया जाय और राज्य का प्रबंध सरकार करे। हम तो समझते हैं, अगर सरकार यह प्रस्ताव करे, तो बहुत से राजे उसे मंजूर कर लेंगे। आखिर अलवर के ऋषिराज और इंदौर के महाराज कितने आनंद से जीवन व्यतीत कर रहे हैं। न ऊधो का लेना, न माधो का देना, मजे में दस-पांच लाख सलाना पेंशन लीजिए, पेरिस या लंदन में विहार कीजिए और पश्चिमी कामिनियों पर डोरे डालिए। यहां इस चिख-चिख में क्या रखा है। कहीं हिन्दू-मुस्लिम दंगे हो रहे हैं, कहीं जत्थे निकल रहे हैं, जान आफत में

है। उस पर चारों तरफ से गालियां मिल रही हैं। जनता एक तरफ पैंतरे बदल रही है, सरकार दूसरी तरफ आंखें दिखा रही है। इस झंझट में क्यों सिर खपाइए।

[संपादकीय। 'जागरण', 16 अप्रैल, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग', भाग-2 में संकलित।]

शक्कर पर एक्साइज़ ड्यूटी

शक्कर पर एक रुपया फी हंड्रेडरवेट की जो ड्यूटी लग गई है, इस पर सुना जाता है कि कई शक्कर मिल के मालिकों ने गवर्नमेंट से कहा है कि आप हमारे मिल को लेकर खुद चलाइए और हमें सात या आठ सैकड़ा नफा दे दीजिए। सरकार तक हमारी रसाई होती, तो हम यही कहते कि आप इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लीजिए और इनको सात फीसदी नफा देकर टरका दीजिए। क्या सात-आठ सैकड़े के लिए दनादन शक्कर मिल खुलते जा रहे हैं? इन चार वर्षों में कई मिलों की पूरी लागत निकल आई है और अब भी उनको पंद्रह सैकड़े से कम नफा नहीं है। यह शोरगुल इसलिए मचाया जाता मालूम होता है कि ऊख का दाम न बढ़ने पाए। किसानों को दो एक आना मन बेशी देने मे भी मिल वालों की जान निकलती थी। गरीब किसानों [illegible] देते तो माल के साथ यश पाते। अब कर भी देना पडेगा और धौंस भी सहनी पड़ेगी। हां, अब सरकार का भी यह धर्म है कि इस कर से आई हुई रकम को इस तरह खर्च करे कि ऊख की पैदावार अच्छी हो, उसमें माल ज्यादा पड़े और इस तरह किसानों का उपकार हो।

[संपादकीय। 'जागरण', 16 अप्रैल, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित]

आने वाला चुनाव और कांग्रेस

यह तो अब करीब-करीब तय हो गया है कि यह एसेंबली अब कुछ दिनों की मेहमान है। नई व्यवस्था के आने में अभी कम से कम दो साल की देर है। इतने दिनों इस बेजान एसेंबली को जिलाये रखना शायद सरकार भी न पसंद करे। स्वराज्य पार्टी के खौफ से अभी से खुशामदी और हवा का रुख देखकर चलने वाले मेंबरों में तहलका पड़ गया है और शायद आने वाले चुनाव में वे लोग बदल-बदलकर फिर पब्लिक के सामने आएं और लंबे-चौड़े वादे करें, लेकिन, शायद पब्लिक अब इतनी नादान नहीं है कि वह ऐसे कौम-फरोश मेंबरों पर विश्वास करे, जिन्होंने सरकार के विश्वास और कृपा-पात्र बने रहने की धुन में ऐसे-ऐसे कानून बना डाले, जो लज्जास्पद कहे जा सकते हैं। हमें अब कौंसिलों और एसेंबली में ऐसे स्वार्थी, कमजोर, अकर्मण्य मेंबरों को भेजने की जरूरत नहीं। हमें अब मेंबरों को चुनकर भेजना होगा, जिन्होंने अपनी सेवा, निडरता और निस्वार्थता का सबूत दे दिया है, जो प्रजा हित के लिए अपना सर्वस्व त्याग देने में भी नहीं हिचके। वही लोग आजादी की लड़ाई में हमारे सिपहसालार बन सकते हैं। जो लोग एक ओहदे, एक चाय की प्याली या एक खिताब

के लिए कौम का गला घोट सकते हैं, वह हरगिज इस लायक नहीं हैं कि जनता उन्हें अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजे। स्वराज्य पार्टी के ऊपर भी इस वक्त जो ज़िम्मेदारी, आशा है, वे उसे समझ रहे होंगे। उन्हीं के त्याग और साहस पर कौम को भरोसा है। सभी खद्दर पहनने वाले और जेल जाने वाले देवता नहीं हैं। उनमें भी अक्सर बड़े-बड़े हथकंडे बाज लोग शामिल हैं, जो जेल भी किसी-न-किसी स्वार्थ से ही गए थे। यह स्वराज्य-पार्टी की इज़्ज़त का सवाल है और उसे मुरौव्वत या तरफदारी के भंवर से बचाकर अपनी नाव खेनी पड़ेगी।

[संपादकीय। 'जागरण', 23 अप्रैल, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

उपभाषाओं का उद्धार

हमें यह देखकर आश्चर्य भी हुआ और खेद भी कि कहीं-कहीं प्रांतों की उपभाषाओं में जान डालने का प्रयत्न किया जा रहा है। अवधी, ब्रजभाषा, बुंदेलखंडी और भोजपुरी यही प्राय: हिन्दी में शामिल समझी जाती हैं और इन चारों के पास अपना-अपना साहित्य मौजूद है। अवधी और ब्रजभाषाओं का तो क्या कहना। हिन्दी साहित्य में जो कुछ है वह इन्हीं दोनों उपभाषाओं में है। तो क्या यह मंशा है कि बोलियों को साहित्य का रूप दिया जाये? बोलियों में जो कुछ साहित्य है, वह ग्राम गीतों में स्वरक्षित है और ग्राम गीत एकत्र करने से अगर उन बोलियों की रक्षा हो सकती है, तो हम इस आंदोलन के साथ हैं। लेकिन यह खयाल फैलाना कि भोजपुरी, तिर्हुती और प्रांत की एक सौ एक बोलियों में साहित्य की रचना की जाए और उसके पत्र निकलें, शक्ति के अपव्यय के सिवा कुछ नहीं है। पंद्रह करोड़ आदमी जिस भाषा को बोलते, समझते और लिखते हैं, वह तो अभी साहित्य नहीं बना सकी, उपभाषाएं वह चमत्कार कैसे कर दिखाएंगी, जिनके बोलने और समझने वाले लाखों ही तक रह जाते हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 23 अप्रैल, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग', भाग-3 में संकलित।]

पोर्चुगज़ पूर्वी अफ्रीका

पूर्वी अफ्रीका में पुर्तगाल वालों के अधीन भी एक प्रांत है। किसी जमाने में पुर्तगाल का संसार में वही स्थान था, जो आज ब्रिटेन का है। दक्खिन अमेरिका और अफ्रीका में उसके बड़े-बड़े राज्य थे पर अब वह सब राज्य उसके हाथ से निकल गए हैं, केवल पूर्वीय अफ्रीका में कुछ इलाका रह गया है। अफ्रीका के अन्य प्रांतों की तरह वहां भी हिन्दुस्तानियों की थोड़ी-सी आबादी है। 2500 से अधिक नहीं, लेकिन वहां उनके साथ किसी तरह का भेदभाव नहीं रखा जाता, गोरे-काले में कोई अंतर नहीं है। स्कूल में, व्यापार में, सरकारी ओहदों में, वोट के अधिकार में, न्यायालयों में, उनका दरजा शासक जाति के बिल्कुल समान है। इसका नतीजा यह है कि वहां

जो हिन्दुस्तानी आबाद हैं वह बहुत खुशहाल हैं और दिन-दिन उन्नति कर रहे हैं।
वहां का व्यापार प्रायः हिन्दुस्तानियों के ही हाथ में है। और हिन्दुस्तानियों का पुर्तगाल से कोई संबध नहीं। एक तरफ तो यह समता है, दूसरी ओर जहां अंग्रेजों की नौआबादियां हैं, वहां हिन्दुस्तानियों को कुत्तों से भी जलील समझा जाता है और उन्हें वहां से निकाल बाहर किया जा रहा है। गत दस साल में कोई 14,000 हिन्दुस्तानी वहां से निकाले जा चुके हैं, केवल इसलिए कि वे काले रंग के हैं और गोरे लोग कालों से कोई संपर्क नहीं रखना चाहते। हालांकि इन्हीं भारतीयों ने उस मुल्क को रहने के लायक बनाया, मगर वहीं योरोप के अन्य देशों के लोग हर साल हज़ारों की संख्या में जाते और आबाद होते हैं। उनसे वहां के गोरे अंग्रेज बराबरी का सलूक करते हैं। अगर उनके साथ दूसरा व्यवहार किया जाए, तो अंतर्राष्ट्रीय उलझने पैदा हो जाएं। गोरी जातियों में जब लड़ाइयां होती हैं तो काली सेनाओं की मदद से अपने शत्रुओं पर विजय पाना शर्म की बात नहीं है? लेकिन सुलह हो जाने पर गोरे-गोरे एक हो जाते हैं और कालों के साथ फिर वही पुराना सलूक किया जाने लगता है। अमेरिका जैसा सभ्य और उन्नत राष्ट्र जब आज तक हब्शियों के इंसानियत का बर्ताव नहीं कर सकता, आज भी हब्शियों के साथ पशुओं का-सा सलूक किया जाता है, हालांकि हब्शी जाति रहन-सहन, भाषा और वेश-भूषा हरेक बात में गोरों ही के समान हैं, तो हिन्दुस्तानियों को उनसे क्या आशा हो सकती है, जो रंग, भाषा और रहन-सहन में उनसे अलग हैं।

[सपादकीय। 'जागरण', 23 अप्रैल, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

रूस में भी पूंजीवाद

अभी समाचार-पत्रों में भी खबर छपी है कि रूस कई अरब रूबल के तमस्सुक जारी कर रहा है। पूंजीवादी जातियों में आए दिन कर्ज लिए जाते हैं। पूंजीपति लोग रुपये लगाते हैं, सूद लेते और धन बटोरते हैं, मगर हमें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि रूस में भी फिर वही बीमारी फैल रही है। अगर पूंजीपति वहां नहीं हैं, तो इस लोन के लिए रुपये कौन देगा? और कर्ज भी छोटा-मोटा नहीं है, अरबों का है। इससे तो यही मालूम होता है कि वहां अब भी पूंजीपतियों की संख्या काफी है। विदेशी जातियां तो शायद ही रूस में रुपये लगाने को तैयार हों। और अगर रूस बाहर की पूंजी अपने राज्य में लाना चाहता है, तो वह पूंजीवाद की सहायता कर रहा है। और उस पर पूंजीवाद की विजय है। हम समझ रहे थे कि कम-से-कम रूस एक ऐसा देश है, जिसने पूंजीवाद पर विजय पाई है और अपने देश में एक नई समाज व्यवस्था कायम कर दी है, लेकिन मालूम होता है कि हम भ्रम में थे। इंदौर की मासिक पत्रिका 'वीणा' के सम्मेलनांक में मान्यवर बाबू भगवानदास जी का एक लेख है, जिसे पढ़कर यह मानना पड़ता है कि सोवियत रूस अभी तक भेदभाव और ऊंच-नीच के अंतर को मिटा नहीं पाया। वहां अफसरों को बड़ी-बड़ी रकमें मिलती हैं, उनके रहने के

लिए बड़े-बड़े महल दिए जाते हैं और वे भी जनता पर उसी तरह रोब जमाते हैं जैसे अन्य देशों में। इसमें संदेह नहीं कि सोवियत ने भेद-भाव को कम कर दिया है, उसे मिटा नहीं सका।

लेकिन हमारा तो अनुमान है, कि यह खबर भी पूंजीवादी राष्ट्रों का रूस के खिलाफ प्रोपेगंडा है। रूस अभी एक नई सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था में है। पुराने संस्कार कुछ न कुछ रहेंगे ही। बेशक प्रोलिटेरियट के हाथ में बहुत अधिकार है। मजूरों और किसानों को विशेष अधिकार मिले हुए हैं, लेकिन यह पुरानी दशा की प्रक्रिया है, जब मजूरों और किसानों का कोई अधिकार ही न था। जिस तरह उस समय शिक्षित और धनी समाज मजूरों पर अन्याय करता था, उसी तरह मजूरों के हाथ में शक्ति आ गई है, तो वे शिक्षित समाज के साथ भेद-भाव कर रहे हैं। जैसे तब मध्यम वर्ग जमींदारियां, ओहदे, तिजारत और कारखाने अपने हाथ में कर लिए थे और जीवन के हरेक अंग पर मध्यमवर्ग की प्रभुता की छाप रहती थी, उसी तरह अब रूस के इंतजाम, समाज, शिक्षा, साहित्य, विनोद, अर्थात् जीवन के हरेक अंग पर कम्युनिस्ट छाप है, मगर हमारा ख्याल है, यह वहां की स्थाई दशा नहीं है। सोवितय का आदर्श कम्युनिस्ट पार्टी या डिक्टेटरशिप नहीं है। यह तो इस अवस्था के लिए अस्थाई तौर पर बना लिए गए हैं। उसका आदर्श एक ऐसा साम्यवाद है, जिसमें आदमी स्वार्थ से नहीं, केवल समाज के हित के लिए बगैर किसी दबाव के जिएगा और मरेगा, जब सभी मनुष्य होंगे, ऊंच, नीच या शासक और शासित का भेद भाव मिट जाएगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 23 अप्रैल, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 में संकलित।]

लारकाना में हथियारों की ज़रूरत

हथियारों के लाइसेंस देने में सरकार की नीति दिन-दिन कठोर होती जाती है। कितने ही लाइसेंस जब्त हो गए। जब तक सरकार का कोई खैरख्वाह न हो और जिस पर सरकार को पूरा विश्वास न हो, किसी को लाइसेंस नहीं मिलता। देहातों में तो मीलों तक शायद कोई राइफल नज़र ही नहीं आती। लुटेरों और डाकुओं ने जगह-जगह जनता के इस निहत्थेपन का फायदा उठाना शुरू कर दिया है और पत्रों में अक्सर दिन दहाड़े सशस्त्र डाकों की खबरें आती रहती हैं, खासकर देहातों से, जहां पुलिस कांस्टेबल महीने में एक बार, केवल गांव के चक्कर लगा आता है, या जब कोई वारदात हो जाती है और प्रजा को शिकंजे में कसने का कोई अवसर आता है तो दरोगा जी अपने दलबल के साथ मेहमानी खाने और नज़राना वसूल करने के लिए जा पहुंचते हैं। और कभी पुलिस की सूरत वहां नज़र नहीं आती। लारकाना सिंध का एक जिला है और इधर उस इलाके में कई सशस्त्र डाके पड़े। आखिर जिला मजिस्ट्रेट को यह एलान करना पड़ा है कि वह लाइसेंस के मुआमले में अब ज्यादा रियायत से काम लेंगे। यह तो लारकाना की बात हुई, मगर कमोबेश सारे देश में यही दशा है। सरकार

ही अगर प्रजा को अपनी रक्षा करने के साधनों से वंचित करती है, तो उसका कर्तव्य हो जाता है कि वह स्वयं उसकी रक्षा का ज़िम्मा ले, प्रजा को हथियार से काम लेना सिखाए और उनमें ऐसा संगठन पैदा करे कि वे अवसर पड़ने पर अपनी रक्षा कर सकें। किसी आदमी को कैद करने पर उसके भोजन की ज़िम्मेदारी कैद करने वाले पर आ जाती है। और हमारी सरकार हमारे हथियार तो छीन लेती है, पर हमारी रक्षा का ज़िम्मा नहीं लेती। जब डाका पड़ जाता है, दो-चार गरीबों की जान चली जाती है, तो पुलिस तहकीकात करने जा पहुंची है। गांव के निहत्थे किसान सशस्त्र डाकुओं के सामने बेबस हो जाते हैं और लाठियों से बंदूकों का मुकाबला करके अपनी जानें गंवाते हैं। हमें भय है कि अगर सरकार की लाइसेंस-नीति यही रही और प्रजा पर उसका यही अविश्वास रहा, तो ये उपद्रव और बढ़ेंगे और देहात में किसी खुशहाल आदमी का रहना कठिन हो जाएगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 23 अप्रैल, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित]

हिन्दी का दावा

किसी राष्ट्र को बनाने के लिए संस्कृति की समानता जरूरी होती है। भाषा और साहित्य संस्कृति का मुख्य अंग है। जब तक एक भाषा और एक साहित्य न हो, एक राष्ट्र की कल्पना नहीं हो सकती। जब तक कौम में अपने विचारों के फैलाने की कोई एक भाषा न हो, वह कौम नहीं कहला सकती। भारत में कई संपन्न प्रांतीय भाषाओं के होते हुए हम जो हिन्दी को राष्ट्रभाषा का स्थान देना चाहते हैं, वह इसलिए कि वह भारत में अधिकतर समझी जाती है और किसी प्रांत में उसको आसानी से सिखाया जा सकता है। बंगला बहुत संपन्न भाषा है, लेकिन बंगाल के बाहर उसे कोई समझ नहीं सकता। यही हाल मराठी, गुजराती और अन्य भाषाओं का है। हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है, जो सारे भारत में फैली हुई है। दक्षिण में बेशक उसकी पहुंच नहीं थी, लेकिन अब हिन्दी प्रचार आंदोलन ने वहां भी उसके समझने और बोलने वाले लाखों की तादाद में पैदा कर लिए हैं। इसमें संदेह नहीं, कि राष्ट्रभाषा हिन्दी हमारी इस प्रांतीय हिन्दी के रूप से कुछ भिन्न होगी। उसमें सभी प्रांतीय भाषाओं के शब्द और मुहावरे मिले होंगे और वह हिन्दी व्याकरण के नियमों को भी कभी-कभी तोड़ दिया करेगी। उस दशा में उसका रूप कुछ-कुछ मेरठ और दिल्ली की प्रचलित भाषा में मिलता रहेगा। उसे हिन्दी कहो या उर्दू, अंतर बोलने में बहुत कम केवल लिखने में होगा। इस विषय में सहयोगी अर्जुन कहता है--

उसके विषय में इतना कह देना काफी है कि उर्दू और हिन्दी भाषा के रूप लगभग समान हैं, लिपि का भेद अवश्य है, परन्तु लिपि का निर्णय तो सीखने वाले की सहूलियत से ही होगा। जो लिपि भारत के अधिकतर प्रांतों में आसानी से सीखी जा सकेगी, वही राष्ट्र लिपि बन जाएगी। कुछ समय के लिए दोनों ही लिपियां साथ-साथ भी रह सकती हैं। यही कारण है कि हिन्दी के हिमायती कभी यह मांग पेश

नहीं करते किसी स्थान से उर्दू को निर्वासित करके हिन्दी को स्थान दिया जाए। वह तो यही चाहते हैं कि जहां अभी हिन्दी को स्थान नहीं मिला, वहां उसका मार्ग खोल दिया जाए।

[संपादकीय। 'जागरण', 23 अप्रैल, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग', भाग-3 में संकलित।]

कांग्रेस की आर्थिक योजना

किसी नए धर्म या संघ की दीक्षा लेने के पहले, हम यह निश्चय कर लेते हैं कि उस धर्म या संघ की नीति क्या है, और दूसरे धर्मों से उसका क्या भेद है। जब तक यह निश्चय न हो जाए हम उस संप्रदाय में शामिल न होंगे। कांग्रेस के विषय में यह तो मालूम है कि वह अहिंसात्मक सिद्धांतों से स्वराज्य लेना चहती है, लेकिन भारत के और सभी राजनैतिक दलों की भी यही गरज है। उनसे कांग्रेस किन बातों से भिन्न है? सत्याग्रह सिद्धांत में। दूसरे दलों के पास दलील, खुशामद, प्रार्थना और 'सत्य की विजय होती है,' इस अमर सिद्धांत के सिवा कोई कार्यक्रम नहीं है। कांग्रेस अवसर पड़ने पर सत्याग्रह भी करती है, कानून भी तोड़ती है। दूसरा अंतर यह है कि दूसरे दल डोमीनियन स्टेट्स तक ही जाकर रह जाते हैं, कांग्रेस पूर्ण स्वराज्य को अपना लक्ष्य मानती है अभी तक तो इन राजनैतिक लक्षणों ने कांग्रेस की विशेषता निबाही, लेकिन जबकि कांग्रेस ने सत्याग्रह बंद कर दिया है, और डोमीनियन स्टेट्स या पूर्ण स्वराज्य केवल शब्दों का जंजाल है, तो अब कांग्रेस और दूसरे दलों में क्या फर्क रहेगा? मि॰ सत्यमूर्ति फरमाते हैं कि कांग्रेस के पास 'साहस' है जो और किसी दल के पास नहीं, लेकिन 'साहस' के बहुत से भिन्न-भिन्न रूप हैं। अगर अपने सिद्धांतों के लिए जेल जाने में साहस है, तो अपने सिद्धांतों के लिए जनता में जलील और बदनाम होना उससे कम साहस नहीं है। 'साहस' के बल पर 'साहस' वाली बात तो चलती नहीं और अपने मुंह मियां मिट्ठू बनना कि 'साहस' के एक हमीं ठेकेदार हैं, और सभी साहसहीन हैं, कुछ शोभा नहीं देता।

कहा जा सकता है के कांग्रेस ने हमेशा गरीबों की हिमायत की है, हमेशा किसानों और मजदूरों और साधारण श्रेणी की ही वकालत की है। एक से ज्यादा अवसरों पर उसने अपनी साम्यवादी प्रकृति प्रकट कर दी है, और आज जो कांग्रेस में शरीक हैं वह इसी नीति को समझकर। इस दलील में सच्चाई है, लेकिन कांग्रेस में अभी तक अपनी कोई योजना नहीं बनाई है और जब तक वह खुले तौर पर अपनी योजना पेश न कर दे जनता को उसके विषय में भ्रम हो सकता है। संभव है, कांग्रेस के अपनी नीति निश्चय करते ही बहुत से ऐसे सज्जन उससे संबंध तोड़ लें, जो अभी तक उसके सत्याग्रह और असहयोग के कारण उसमें शरीक हैं। कांग्रेस में अभी सभी विचारों के लोग मिले हुए हैं, जिनमें स्वराज्य की इच्छा के सिवा सामाजिक, आर्थिक आदि सिद्धांतों में भेद है। कांग्रेस में बड़े-बड़े ताल्लुकेदार और ज़मींदार, बड़े-बड़े व्यापारी और पूंजीपति शरीक हैं। सभी स्वराज्य को अपने-

अपने स्वार्थों की आंख से देख रहे हैं, लेकिन इसके साथ-साथ सबके दिलों में शक भी मौजूद है। जिनके पास कुछ नहीं, वे तो साम्यवादी बने बनाए हैं, लेकिन जिनके पास सम्पत्ति और जायदाद है, वे तो साम्यवाद के भक्त नहीं हो सकते। वे कांग्रेस में अपने हित-साधन के लिए आये थे। व्यापारी समझता था उसके टैक्सों और चुंगियों का बोझ कम हो जाएगा, ज़मींदार समझता था तब उसे मुकदमेबाजियों और अफसरों की खुशामदों और सलामियों से नजात हो जाएगी, चाहे उसकी आमदनी कुछ कम ही हो जाए। रहे किसान, उनका लगान तो आधा हो ही जाएगा और मजूरों की मजूरी बढ़ जाएगी। कुछ ऐसे लोग भी इस आंदोलन में शरीक हुए–जो अपने ज्यादा मालदार या इज्जतदार पड़ोसी को प्रजा की दृष्टि में गिराना चाहते थे। अब तक कांग्रेस का राजनैतिक पहलू ही हमारे सामने था। उसके सामाजिक और आर्थिक पहलू पर विचार करने की उस समय हमें फुर्सत ही न थी, पर आज कोई योजना केवल राजनैतिक आधार पर नहीं बन सकती। उसे आर्थिक समस्याओं का भी फैसला करना पड़ेगा, तभी उसके ऐब और हुनर मालूम होंगे। और लोग उसके विषय में अपनी राय कायम कर सकेंगे। वह आर्थिक योजना कैसी हो इस विषय में बाबू भगवानदास ने लिखा है–

"तर्क की कसौटी पर आर्थिक योजना इस ढंग से बनायी जाए कि उचित सीमा तक यह सभी के स्वार्थों की पूर्ति कर सके। यह योजना ऐसी बने कि वर्तमान पूंजीपति, साम्राज्यवादी शासक, संसार तथा राष्ट्रसंघ से यह कहने में लज्जा का अनुभव करें कि यह योजना बिल्कुल अव्यवहार्य है। कांग्रेस को नए ढंग और नयी शक्ति से काम करने के लिए इस प्रकार की योजना अवश्य बना लेनी चाहिए।"

[संपादकीय। 'जागरण', 30 अप्रैल, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

कांग्रेस की विधायक योजना

कांग्रेस को अभी तक विधायक योजनाओं की ओर ध्यान देने का अवसर नहीं मिला। कांग्रेस जैसी राजनैतिक संस्था के लिए विधायक योजना हाथ में लेना आसान नहीं है। किसी वक्त भी उससे संबंध रखने वाली योजनाएं सरकारी हुक्म से बंद की जा सकती हैं। पिछली बार इसके दस-पांच आश्रम जो थे सब बंद हो गए, यहां तक कि महिला आश्रम भी न बच सके। मगर इनमें से अधिकतर आश्रमों या शालाओं का प्रधान काम सत्याग्रह में भाग लेना या उसके लिए सिपाहियों को तैयार करना था। विधायक योजना तो उनका ऊपरी दिखावा था। अगर ईसाई मिशन या आर्यसमाज शिक्षा का इतना काम कर सकते हैं ! तो कांग्रेस जैसी संस्था अगर दिल से चाहे तो इससे कहीं ज्यादा काम कर सकती है ! आर्यसमाज का काम खासकर शिक्षा से संबंध रखता है। इसके अनाथालय और विधवाश्रम भी हैं और शफाखाने भी देश की एक खास जरूरत पूरी कर रहे हैं, लेकिन किसानों में शिक्षा का प्रचार, सहयोग, पंचायत, तन्दुरुस्ती और सफाई, गो-पालन आदि सैकड़ों ऐसे

काम हैं जिनसे राष्ट्र का बहुत कुछ उपकार हो सकता है और कोई सभ्यता का दावा करने वाली सरकार ऐसे विधायक काम में सहयोग देने के सिवा कुछ नहीं कर सकती। प्रश्न यही है, ऐसे आदमी कांग्रेस के पास हैं, जो मिशनरियों के जोश के साथ काम मे लगे? हमारे ख्याल में कांग्रेस के पास ऐसे-ऐसे नररत्न हैं, कि जो सेवा कार्य के लिए अपना जीवन तक अर्पण कर सकते हैं और कर चुके हैं। बस कांग्रेस के सरपंचों की ओर से इशारा मिलने की देर है। महात्मा गांधी ने विधायक याजना की ओर ध्यान दिलाया बेशक, पर कांग्रेस ने सत्याग्रह को ही महत्व का काम समझा, विधायक काम को उसकी नज़र में कभी सम्मान नहीं मिला, यहां तक कि पंडित जवाहरलाल नेहरू ने तो उन कामों को बुड्ढी औरत के लायक ही समझा। हमारा ख्याल है कि सत्याग्रह करके जेल जाने या गोलियां खाने में जो महानता है उससे कम किसी विधायक काम को अपने जीवन का व्रत बनाकर उसके लिए मर मिटने में नहीं है। और प्रजा का हित जितना विधायक कामों मे हो सकता है, इससे हम उनका जीवन जितना सुखी और इसलिए शक्ति-सपन्न बना सकते हैं, उतना राजनैतिक सुधारों से नहीं कर सकते। राजनीति का मनुष्य के जीवन में रुपये में एक आने से ज्यादा दखल नहीं होता, उन लोगों को छोड़कर जिन्होंने इसे जीवन का काम बना लिया है। किसान के लिए लगान का आधा हो जाना उतना उपकार नहीं है, जितना अंध-विश्वास और मिथ्या रस्मरिवाजों से मुक्त होना या नशे से परहेज करना। आपस में जो कलह बढ़ता जा रहा है और लोगों में मुकदमेबाजी का जो चस्का पडता जाता है उसे रोकना, किसानों को कारिंदों, पटवारियों और दूसरे अमलों के जुल्म से बचाना उनकी इससे कहीं बड़ी सेवा है कि उनका लगान कुछ कम हो जाय। स्वराज्य हम चाहते ही किसलिए हैं? इसीलिए तो कि हम राष्ट्र को ज्यादा सुखी और खुशहाल बना सकें, इसीलिए तो कि हम विधायक कामों में ज्यादा धन खर्च करने का सामर्थ्य प्राप्त कर सकें? वरना राष्ट्र को स्वराज्य से और क्या फायदा? जेम्स की जगह मि० नायडू के आ जाने से जनता का क्या उपकार होगा।

[संपादकीय। 'जागरण' 30 अप्रैल, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 2 मे संकलित।]

डाकों की धूम

डाकों की तादाद बढ़ती जाती है। अब तो चालीस-पचास की पूरी सशस्त्र फौजें डाके मारने लगीं। गांव वाले बंदूक की आवाज सुनते ही दम साध लेते हैं। डाकुओं का गांव पर पूरा राज्य हो जाता है। उनकी इच्छा है जो चीज चाहें ले जाएं, जो चीज चाहें छोड़ दे, किसकी मजाल है कि चू कर सके। अगर गांव वालों को पड़ोस का हक अदा करने की सूझ गइ तो दस-पांच यहीं शहीद हो गए। डाकू मजे से जिस तरह गाते-बजाते आए थे, उसी तरह हंसते-खेलते चले गए। तीसरे दिन पुलिस तहकीकात करने पहुंची और यह मानी हुई बात है कि डाकू आस पास के गांवों के लोग हो

रहे होंगे, संभव है दो-चार इस गांव के आदमी भी उसमें मिले रहे होंगे। यह कौन नहीं जानता कि गांव वालों के सहयोग के बगैर डाके नहीं पड़ सकते। इसलिए दो-चार गांव के भले आदमी, दस-पांच पड़ोस के गांवों के मोतबर आदमी ही डाके में शरीक हुए। सबूत की क्या कमी। इन अभागों ने अगर दारोगा जी को प्रसन्न कर दिया तो जान बच गई, नहीं चक्की पीसनी पड़ी। रोज यही तमाशा होता है, मगर किसी को परवाह नहीं। सरकार की पुलिस का काम है, सरकार के शत्रुओं को पकड़ना और मिटाना। प्रजा की रक्षा सरकार की पुलिस क्यों करे? प्रजा की रक्षा प्रजा की पुलिस करेगी जो अनंत भविष्य मे बनेगी। प्रजा का धर्म है सरकार को टैक्स और कर अदा करना। सरकार का धर्म है कर लेना, अपनी रक्षा करना। प्रजा के प्रति सरकार का और क्या धर्म हो सकता है। लाखों आदमी यों ही गर्दन तोड़ और जिगर मरोड़ बुखार से मरते हैं, दो चार सौ आदमी डाकुओं के हाथों शहीद हो जाएं तो क्या गम। प्रजा के हाथ में शस्त्र भला कैसे दिया जा सकता है। चचा मेकियावेली का ऐसा आदेश नहीं है।

[संपादकीय। 'जागरण' 30 अप्रैल [illegible] में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

त्योहारों में दंगे

देश की दशा कुछ ऐसी बिगड़ गई है कि कोई ऐसा त्योहार नहीं जाता जिसमें दस-पांच जगह दंगा-फसाद न हो और कुछ लोगों की जानें न जाएं। मुहर्रम हो या ईद, होली हो या दशहरा, दंगे हो ही जाते हैं। इन त्योहारों के आने से आनंद की जगह को चिंता और भय का सामना होता है और अगर त्योहार खैरियत से बीत जाए तो हम खुशी की सांस लेते हैं। नौबत यहां तक पहुंच गई है कि त्योहारों में दंगों का होना अचरज की बात नहीं, न होना अचरज की बात है। और दंगे होते हैं ऐसी ऐसी बेबुनियाद बातों पर कि देखकर हंसी आती है, मानो त्योहारों के आते ही लोगों के सिर पर कोई भूत सवार हो जाता है। कहीं इसलिए लड़ाई हो जाती है कि एक हिन्दू लड़के की पिचकारी से किसी मुसलमान के कपड़ों पर छींटे पड़ गए और उसके दीन में दाग लग गए। कहीं इसलिए कि ताजिया एक खास रास्ते से जाएगा, या फलां ताजिए से आगे जाएगा। ऐसी ऐसी बातों पर लाठियां छुरियां चल जाती हैं और दीन की झूठी हिमायत में बेगुनाहों का खून बहा दिया जाता है और पुश्तों से जो भाईचारा चला आ रहा है उसका गला घोंट दिया जाता है और आगे के लिए दुश्मनी का बीज बो दिया जाता है। मजा यह है कि ऐसे अवसरों पर पढ़े लिखे लोग नेतागिरी करने के लिए निकल आते हैं। चाहे जिंदगी में एक बार भी नमाज न पढ़ी हो, या मंदिर में न गए हों, न अपने स्वजातियों से कोई हमदर्दी की हो, मगर ऐसे मौके पर शहादत का यश लूटने के लिए वे कूद पड़ते हैं। इससे तो कहीं अच्छा होता कि त्योहार बंद ही हो जाते त्योहार आते हैं इसलिए कि लोग एक-दो दिन खुशी मनाकर रोज आने वाली कुलफतों को भूल जाएं और आपस में प्रेम से गले मिलें।

यहां त्योहारों में खून बहाया जाता है। न जाने कब तक देश की यह दशा रहेगी। जब तक छूत-छात और भेद-भाव और धार्मिक पाखंड चल रहा है, दशा के सुधरने का कोई मौका नहीं।

[संपादकीय। 'जागरण', 30 अप्रैल, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

पत्रकारों के लिए संतोष की बात

भारत के पत्रकारों की आज जो दशा है, वह किसी से छिपी नहीं। इससे कहीं ज्यादा मेहनत सिर्फ गुजारा लेकर शायद ही कोई करता हो। बहुतों को तो गुजारा भी नहीं मिलता। जायदाद है तो उसे बेचते हैं, नहीं ट्यूशन करके पेट पालते हैं और पत्र निकालते हैं। जिसे हाथ-पांव जोड़कर विदेशियों से कुछ विज्ञापन और कचहरियों से कुछ नोटिस मिल गए वह तो चाहे शाम को रोटी-दाल खा लेता हो, पर जो इतने भाग्यवान नहीं है, वह तो जिंदा दरगोर हैं। क्या सितम है कि बेचारे स्वदेशी-स्वदेशी चिल्ला करके कालम-के-कालम काले करते हैं, मगर उन्हीं विदेशियों के विज्ञापन छाप कर अपनी रोटियां चलाते हैं। किसी-न-किसी तरह गरीब को अपना पत्र तो चलाना ही है। इसलिए पत्रकारों को यह सुनकर खुशी होगी कि कम-से-कम एक बात में वह दूसरों से बाजी मारे हुए हैं, यानी वे पागल कम होते हैं। बंबई प्रांत के पागलखानों की रिपोर्ट से पता चलता है कि पिछले साल जहां पांच हज़ार आदमी पागल हुए, वहां उसमें सिर्फ एक पत्रकार था। मगर हमारा तो ख्याल है कि पत्रकार औवल से आखिर तक सभी पागल होते हैं। जिसके पास-होश-हवास है ही नहीं वह क्या पागल होगा। जिसके पास कुरता ही नहीं है वह दामन कहां से लाए। यह पागलपन नहीं तो और क्या है कि भूखों मर रहे हैं। बाल-बच्चे उसके नाम को रो रहे हैं और वह हजरत पत्र निकाल रहे हैं। बच्चे की मीठी-मीठी तोतली बातें सुनने की उसे फुरसत नहीं। वह सर हेर्ली या सर हेग या सर मित्तर का असेंबली वाला भाषण पढ़ने और उस पर विचार करने में गर्क है। पूछिए, दक्खिन अफ्रीका के हिन्दुस्तानी कुली वहां से निकाल दिए गए तो तुम क्यों पाजामे से बाहर हुए जा रहे हो। और तो कोई नहीं बोलता। वकील है, वह इत्मीनान से बहस कर रहा है। महाजन है, वह इत्मीनान से बैठा रुपये की अशर्फियां बना रहा है। ज़मींदार है, वह इत्मीनान से असामियों से नज़राने वसूल कर रहा है और हमारा यह पागल संपादक उस अभागे कुलियां के दु:ख में खून के आंसू बहा रहा है। हिटलर ने, या मुसोलिनी ने, या चर्चिल ने, या रूजवेल्ट ने एक बात की दी, बस यहां पत्रकार साहब को मालाखूलिया हो गया। कहीं डाका पड़ गया और उन्हें मालूम हुआ कि कोई इनके अंगड़-खंगड़ उड़ा ले गया, कहीं पुलिस ने गोली चला दी, और इनके सीने में गोली लग गई। यह सब पागलपन नहीं तो और क्या है? पागल क्या पागल होगा। हमारा तो खयाल है कि पत्र निकालना ही पागलपन है, दीवानगी है, जनून है।

[संपादकीय। 'जागरण', 30 अप्रैल, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

सरकार को मुबारकबाद

लेजिसलेटिव एसेंबली में इस 61 बैठकों के लंबे सेशन में एक बार भी सरकार ही हार नहीं हुई। जब देखो जीत। इसे कहते हैं इकबाल । इससे हमें कोई बहस नहीं कि प्रश्न क्या है, उससे भारत की प्रजा का हित होगा या अहित, सरकार ने या तो उस प्रश्न का समर्थन किया या विरोध, इसलिए सरकार के खैरख्वाह और जाँनिसार मेंबरों का फर्ज है कि सरकार को साथ दें। सरकार की खुशी कुछ कीमत, कुछ महत्व रखती है, उससे जीवन की कुछ कठिनाइयां हल हो सकती हैं, कुछ चिरसंचित अभिलाषाएं पूरी हो सकती हैं। जन-पक्ष में यश के सिवा और क्या है। तो ऐसे सूखे-प्याखे यश को लेकर कोई ओढ़े या बिछाए। अपने नाम के साथ दो-चार मूल्यवान् अक्षरों का जुड़ जाना या अपने दामाद या साले को किसी ओहदे पर पहुंचे देखना, जयघोष और पुष्पमालाओं से कहीं मूल्यवान है। फिर अपना सिद्धांत, धर्म और विश्वास भी तो है। सरकार ईश्वर का अवतार है। पहले राजा अवतार हुआ करता था। अब सरकार होती है। जो सच्चे भारतीय संस्कृति के उपासक हैं, वे ईश्वर के अवतार का विरोध कैसे कर सकते हैं? क्या बेचारे अपना लोक और परलोक दोनों बिगाड़ लें। फिर ऐसे महानुभाव भी तो हैं, जो विचार, रहन-सहन और दृष्टिकोण में पक्के साम्राज्यावादी है। वे प्रजा का साथ देकर क्यों अपने को जलील करें। अभी तो वे अपने को सरकार का एक अंग समझकर प्रसन्न होते हैं। इसमें कितना गौरव है, जरा सोचिए, कैसे-कैसे महान पुरुषों से भाईचारा हो जाता है। कहीं कमांडर-इन-चीफ के साथ चाय की मेज पर बैठ हुए हैं, कहीं होम मेंबरों के साथ उनके अंतरंग में सम्मिलित हैं। नहीं साधारण मेंबरों को कौन पूछता है। और अब की यह कोई अनोखी बात नहीं हुई। एसेंबली के संपूर्ण इतिहास में शायद दो-चार बार ही सरकार की किसी डिवीजन में हार हुई हो। क्या इससे यह साफ सिद्ध नहीं हो जाता कि पूरा भारत गवर्नमेंट के साथ है।

[संपादकीय। 'जागरण', 30 अप्रैल, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग भाग-2 में संकलित।]

सेंट्रल रिलीफ और वाइसराय फंड

हमें अपने एक बिहारी मित्र से मालूम हुआ कि सेंट्रल रिलीफ और वाइसराय रिलीफ फंडों का सम्मिश्रण जनता की दृष्टि में कुछ जंचा नहीं। अगर यह मालूम होता कि सेंट्रल फंड भी वाससराय फंड ही में मिला दिया जाएगा, तो सभी वाइसराय फंड ही में देते। कितनी ही जगह तो सेंट्रल रिलीफ में कार्यकर्ताओं और सहायकों को सरकार के कर्मचारियों से बैर मोल लेना पड़ा। वाइसराय रिलीफ फंड में गवर्नमेंट की सारी शक्ति काम कर रही थी और उसके दाता धनी लोग थे। सेंट्रल रिलीफ फंड में अधिकतर गरीबों ने भाग लिया और उसके अधिकांश कार्यकर्ता कांग्रेसी थे। जनता को भय था कि वाइसराय फंड से गरीबों का उतना उपकार न होगा, जितना

सेंट्रल फंड से। वह इसका प्रबंध अपने हाथ में रखकर कुछ इस तरह उसको खर्च करना चाहती थी कि जनता का उससे अधिक उपकार होता। वाइसराय फंड से सहायता मिलने में जो विलंब और जाब्ते की पाबंदियां अनिवार्य हैं, उन्हें वह सेंट्रल रिलीफ में यथाशक्ति कम कर देना चाहती थी, और कम-से-कम खर्च में अधिक-से अधिक काम कर दिखाना चाहती थी। दोनों फंडों के मिल जाने से जनता में सेंट्रल फंड के प्रति अब वह जोश नहीं रहा। मालूम नहीं कि हमारे मित्र का यह अनुमान कहां तक सत्य है। जनता के विश्वासपात्र नेताओं ने जो कुछ किया है जनता के लाभ को ही सामने रख कर किया, लेकिन जनता को इस एकीकरण के लिए पहले से तैयार नहीं किया गया। अगर जनता को विश्वास दिला दिया जाता कि मौजूदा हालतों में इससे अच्छा प्रबंध नहीं किया जा सकता था तो उन्हें यह विश्वास न होता।

[संपादकीय' 'जागरण', 30 अप्रैल, 1934 मे प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 मे संकलित।]

क्या स्त्रियों का पाजामा पहनना जुर्म है?

यों तो काले गोरे का भेद इस संसार में सभी जगह मौजूद है, यहां तक कि इंग्लैंड और फ्रांस तक मे भी कालों का अपमान होता रहता है, लेकिन यह मरज दक्षिण अफ्रीका में बड़े जोरों पर है और शायद बढ़ता जा रहा है। खबर है कि किसी हिंदुस्तानी स्त्री को गोरी औरतों की देखा-देखी पाजामा पहनने का शौक चर्राया, लेकिन काली औरत गोरी औरतों को नकल करने का साहस करे–यह बात वहां के मजिस्ट्रेट साहब को नागवार गुजरी। इस स्त्री पर मुकदमा चलाया गया और उसे जुर्माने की सजा दी गई है। यहां देहातों के बाज गंवार ठाकुर किसी शूद्र को कुर्ता-टोपी पहने देखकर जामे से बाहर हो जाते हैं और उसकी अच्छी तरह मरम्मत करते हैं। मगर ये बेचारे ठाकुर मूर्ख हैं। वहां शिक्षित मजिस्ट्रेट एक महिला को ममों की नकल करने के जुर्म में सजा देता है। क्या वह भी इतना ही उजड्ड नहीं है? हमें तो उस काली देवी की कुरुचि पर दया आती है, जो साड़ी ऐसी लोचदार चीज को छोड़कर पाजामा पहनने चली। जब से हिटलर ने जर्मनी में आर्यत्व की और अपनी संस्कृति की विशुद्ध रखने की नई नीति निकाली है, तब से काले-गोरे का भेद शायद और भयंकर हो गया है।

[संपादकीय। 'हंस', मई, 1934 म प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-3 म संकलित।]

नारियों के साथ अन्याय क्यों?

अब तक समस्त संसार में यह कायदा था कि नारी को एक ही काम के लिए पुरुषों से कम मजूरी मिलती थी। पुरुष चार आने पाता है तो नारी को तीन आने ही दिए जाते हैं। शायद यह धारणा हो कि नारी पुरुष के बराबर काम नहीं कर सकती। या यह कि पुरुष को एक परिवार का पालन करना पड़ता है और नारी जो कुछ पाती है, सब अपने ही ऊपर खर्च करती है। लेकिन समय बदल रहा है या बदल गया

है और अब नारियों ने सिद्ध कर दिया है कि बहुत से कामों में वह पुरुषों के बराबर ही नहीं पुरुषों से ज्यादा काम करती है। रहा परिवार का सवाल। तो अब यह जरूरी नहीं रह गया है कि नारी परिवारहीन हो। इस बेकारी के जमाने में कितने ही पुरुष अपनी पत्नियों की कमाई पर गुजर बसर करते हैं। और अब तो अविवाहित स्त्री भी पिचकारियों द्वारा संतानवती हो सकती है फिर किस कायदे से उसको कम वतन दिया जाए? हां, नारियों से हमारा नम्र निवेदन है कि अब वे एकांत भोग की बान छोड़ें और अपने बेकार पुरुषों की उसी तरह नाजबरदारी करें जैसे पुरुष अब तक अपनी बेकार स्त्रियों की करता रहा है।

[संपादकीय। 'हंस' मई, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

संतान-निग्रह और प्राकृतिक नियम

ब्रह्मचर्य के महत्व को हिन्दू-शास्त्रकारों ने जितना समझा था, उतना शायद और कहीं न समझा गया हो, लेकिन इसका उद्देश्य संतान-निग्रह नहीं, बल्कि मनुष्य के बल बुद्धि की रक्षा करना था। उत्तम संतान के लिए भी बल-बुद्धि की रक्षा आवश्यक थी लेकिन हम उस आदर्श से गिरते गिरते यहां तक गिरे के बाल-विवाह की भरमार होने लगी और उसे रोकने के लिए कानून बनाना पड़ा। प्राचीन आदर्श हृष्ट-पुष्ट संतानों से भरा पूरा घर था। उस युग मे आबादी की जरूरत थी और रोटी का प्रश्न इतना जटिल न था। अब जमाना बदल रहा है और संसार में जरूरत से ज्यादा आदमी हो गए हैं। इसके साथ ही बच्चों के पालन-पोषण का भार भी बढ़ गया है। हम अपने बालकों को पुष्टिकारक भोजन और अच्छी शिक्षा देना चाहते हैं, और बहुत से बच्चों का बोझ सिर पर लादकर अपनी जिंदगी नहीं तल्ख करना चाहते। साधारण वित्त के आदमी को अगर सात-आठ लड़कों-लड़कियों का खर्च उठाना पड़े, तो समझ लो, कि उसकी और उसके बच्चों की शामत है।

अपनी भी सांसत और बच्चों की भी सांसत। इसी जरूरत ने संतान-निग्रह के विचार को जन्म दिया। इसमें तो किसी को आपत्ति नहीं है, कि संतान निग्रह आवश्यक वस्तु है। मतभेद इसी में है कि वह उद्देश्य ब्रह्मचर्य द्वारा पूरा किया जाए या कृत्रिम उपायों से। अगर ब्रह्मचर्य द्वारा हो सके, तो सबसे उत्तम, लेकिन वह न हो सके तो हम कृत्रिम साधनों को भी बुरा नहीं समझते। कुछ विद्वानों का कथन है कि हमें प्रकृतिक विधान में बाधक न होना चाहिए, क्योंकि इसका परिणाम भीषण होता है। मगर मानव संस्कृति तो प्राकृतिक विधान के विरोध का ही नाम है। अगर हम प्रकृति-मार्ग पर ही चलते तो आज भी कंदराओं में रहते और शिकार पर जिंदगी बसर करते होते। प्रकृति पर विजय पाना तो मानवी सभ्यता का लक्ष्य ही है। हां, संतान-निग्रह के विरुद्ध जो सबसे विचारने योग्य बात है, वह यह है कि इससे स्त्री-पुरुष की भोग लालसा बढ़ जाती है और विलास प्रवृत्ति पर अंकुश रखने के लिए जिस त्याग और बलिदान की जरूरत है, उसके शिथिल हो जाने के कारण स्त्री-पुरुष में प्रेम-बंधन ढीला हो जाता है और वह गृहकलह और असंतोष के रूप में प्रकट होता है।

इसके सिवा कुछ बीमारियां पैदा हो जाने की शंका भी रहती है, अतएव हमारे विचार में दंपति को अपनी जरूरत, स्थिति, स्वास्थ्य आदि का विचार करके ही इस विषय में निश्चय करना चाहिए। इसके लिए कोई व्यापक नियम नहीं बनाया जा सकता।

[संपादकीय। 'हंस', मई, 1934 मे प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

अंग्रेजी औषधियों का बल-पूर्वक प्रचार

कानपुर के हाकिम जिला साहब ने बोर्ड को इसलिए करारी फटकार बताई है कि बोर्ड ने अपने रोग निवारक दंड को औषधालय, मतब और होमियोपैथिक दवाखाने खोलने में खर्च किया है और इसके दंड-स्वरूप वह इस फंड को प्रजा से वसूल करना नहीं चाहते। साहब एलोपैथिक औषधियों के खासतौर पर प्रेमी मालूम होते हैं। हम भी मानते हैं कि बहुत-सी बीमारियों में एलोपैथिक दवाएं तीर की तरह निशाने पर जा बैठती हैं, मगर यह किसी तरह नहीं मान सकते कि आयुर्वेदिक, यूनानी या होमियोपैथिक की दवाएं बिल्कुल बेकार हैं। आज भी कितने मरीज एलोपैथिक दवाओं से अपनी देह को विषाक्त करने के बाद निराश होकर आयुर्वेद या तिब की शरण में आते हैं और अच्छे हो जाते हैं। ऐसे अंग्रेज भी मौजूद हैं जो आयुर्वेदिक और तिब की दवाओं पर पूरा विश्वास रखते हैं और अक्सर डॉक्टर भी आयुर्वेदिक औषधियों का व्यवहार करते हैं और होमियोपैथिक तो मानो किसी देवता का आशीर्वाद है, जिसकी राई भर गोलियों में वह तासीर है जो एलोपैथिक की बोतलों में भी नहीं। और सस्तेपन के लिहाज से तो वह भारत जैसे दरिद्र देश के लिए खासतौर पर अनुकूल है। हमें ये देखकर आश्चर्य हुआ कि आज भी ऐसे तंग ख्याल अंग्रेज पड़े हुए हैं, जो इतना नहीं समझते कि भारत वालों के लिए भारत में पैदा होने वाली औषधियां जितनी फायदेमंद हो सकती हैं, उतनी विदेशी एलोपैथिक दवाएं नहीं हो सकतीं और कितने ही निष्ठावान लोग तो एलोपैथिक से इसलिए घृणा करते हैं कि उसमें शराब ही नहीं, गाय और सुअर तक की चर्बी भी मिली होती है। माना कि रोगी को इस तरह के विचार करना मुनासिब नहीं, लेकिन यह कहां का इंसाफ है कि वह हाकिम जिला ही क्यों न हों, जनता को एक खास तरह की दवाओं का सेवन करने के लिए मजबूर करे। क्या औषधियों के बारे में भी हमें आजादी नहीं?

[संपादकीय। 'जागरण', 7 मई, 1934 में पर्काशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

ओरियंटल बीमा-कंपनी की डायमंड जुबली

गत 5 मई को ओरियंटल बीमा कपंनी ने अपनो डायमंड जुबली मनाकर यह सिद्ध कर दिया है कि वह 60 वर्षों के अपने सुदीर्घ जीवन में जितना काम कर सकी, जो और किसी कंपनी ने आज तक नहीं किया। सन् 1933 में ही उसने 38,191 नई पॉलिसियां जारी कीं, जिसमें सात करोड़ रुपयों से अधिक का बीमा किया गया।

जीवन का बीमा आजकल प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक हो गया और वह यह चाहता है कि वह किसी प्रमाणित कंपनी में बीमा कराए। ऐसी दशा में भारतवर्ष की सबसे पुरानी, प्रतिष्ठित और बड़ी 'ओरियंटल बीमा कंपनी' से बढ़कर उसके लिए कौन कंपनी हो सकती है। हम कंपनी को उसकी इस डायमंड जुबली के अवसर पर बधाई देते हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 7 मई, 1934 में प्रकाशित। 'प्रेमचन्द का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

एसेंबली का विसर्जन

गवर्नमेंट ने ऐलान कर दिया कि यह एसेंबली 14 जुलाई को तोड़ दी जाएगी। ख्याल किया जा रहा था कि स्वराज्य पार्टी की तैयारियों से शायद सरकार को कुछ चिंता हो और वह एसेंबली की अवधि और बढ़ा दे, मगर यह ख्याल गलत निकला और गवर्नमेंट ने स्वराज्य पार्टी की चुनौती स्वीकार कर ली। उसने दिखा दिया कि किसी पार्टी से भयभीत नहीं है। अब देखना है सुफेद कागज साहब पर क्या गुजरती है। बेचारे पर चौमुखी बौछारें पड़ रही हैं, किसी-किसी तरफ बचाए। कंजरवेटिव कहते हैं, यह तो साम्राज्य का ही सर्वनाश किए डालता है, भारत वाले कहते हैं, आप को बुलाया किसने? मुश्किल यही है कि भारत में ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो जी खोलकर उसकी निंदा करते हुए भी उस वक्त उसके वफादार दोस्त बन जाएंगे, जब उसका दस्तरखान बिछेगा और तश्तरियों में स्वादिष्ट पदार्थ परोसे जाएंगे, देखना यही है कि स्वराज्य पार्टी तो स्वादिष्ट पदार्थों की सुगंध से आकर्षित नहीं हो जाती। संभव है एसेंबली तोड़ते समय यह आशा सरकार की निगाह में रही हो।

[संपादकीय। 'जागरण', 7 मई, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

नागपुर म्युनिसिपैलिटी का सराहनीय काम

नागपुर म्युनिसिपैलिटी के बेकारी की समस्या का हल करने को जो प्रयत्न किया है, उसकी जितनी तारीफ की जाए कम है। उसने वहां की प्रांतीय सरकार ने छह लाख रुपये कर्ज मांगे हैं जिससे इमदादी काम खोलकर बेकरों की मदद की जाए। उसने यह भी कहा है कि अगर सरकार यह रकम उधार न दे सके, तो उसे अनुमति दे कि वह खुद कर्ज से यह रकम जमा करे। बेकारी दिन-दिन बढ़ रही है और इसका स्वास्थ्य और जीवन पर बहुत ही बुरा असर पड़ रहा है और शंका हो रही है कि यही हाल रहा, तो लूट-पाट न शुरू हो जाए, लेकिन इस वक्त इस दशा को सुधारने का जो प्रयत्न हुआ है, वह उलटा हुआ है, कितने ही दफ्तरों और कारखानों में आदमियों को जवाब दे दिया है और इससे बेकारी की संख्या और बढ़ गई है। खर्च में कमी करने के लिए बड़े-बड़े अफसरों की तखफीफ न करके छोटे-छोटे कर्मचारियों ही की गर्दन पर छुरी चलाई गई है। गरीबों की जीविका का अपहरण

करके किसी तरह बजट को बराबर कर लिया गया है, जिन विभागों को सरकार अपनी रक्षा के लिए जरूरी समझती है, उसमें तो बराय नाम तखफीफ हुई है। आफत उन विभागों पर आई है जिनके अव्यवस्थित हो जाने से सरकार पर कोई असर नहीं पड़ता। हां, जनता को कष्ट होता है और लोगों की रोजी जाती है। हमें आशा है और म्युनिसिपैल्टियां भी नागपुर का अनुसरण करेंगी।

[संपादकीय। 'जागरण', 7 मई, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

बंबई में मजदूरों की हड़ताल

बंबई के मजूरों की हड़ताल अभी तक जारी है, और उसका क्षेत्र दिन-दिन बढ़ता जाता है। नागपुर और दिल्ली में कई मिलें बंद हो गई हैं। सरकार ने बंबई में मजूरों के प्रमुख नेताओं को हिरासत में ले लिया है और मजूरों पर कई बार लाठी चार्ज हो चुके हैं और गोलियां भी चली हैं। हुल्लड़बाजी तो कोई सरकार न पसंद करेगी और उसे रोकना उसका काम है। यह भी मानी हुई बात है कि ऐसी हड़तालों में कुछ-न-कुछ हुल्लड़बाजी होना लाजिमी है और स्वेच्छा से हड़ताल करने वालों की तादाद कभी बहुत ज्यादा नहीं होती, लेकिन सरकार को काम केवल हुल्लड़बाजी को रोकना ही नहीं है बल्कि इसकी तहकीकात भी करना है कि मजूरों की शिकायतें क्या हैं, और वह जा हैं या बेजा। मजूरों को हुल्लड़बाजी से कोई प्रेम नहीं है और न वे अकारण अपना सिर फोड़वाने, या गोली खाने के लिए तैयार हो जाते हैं। फरजी शिकायतों के बल पर कोई भी नेता इतनी बड़ी हड़ताल नहीं करा सकता, और होती भी तो बहुत जल्द ठंडी हो जाती। जब सरकार इन झगड़ों में दखल देती है, तो उसे दोनों तरफ की दलीलें सुननी चाहिए। हम यह मान लेते हैं कि नेताओं ने न उभाड़ा होता, तो मजूर दबे-दबाए अपना काम करते रहते और हर तरह की सख्ती सहते जाते, लेकिन नेता वही होता है जो गरीबों और मजूरों से दु:ख से केवल दु:खी होकर न रह जाए, बल्कि उसके निवारण के उपाय भी बताए। मजूरों की मजूरी घटाई जा रही है, और यह कहा जा रहा कि मालिकों को लाभ नहीं हो रहा है। इसका फैसला कौन करे के वास्तव में लाभ हो रहा है या नहीं। संभव है, मालिक को आशानुसार लाभ न होता हो और वह इसे हानि समझता हो। या मैनेजिंग एजेंट लोग लंबी-लंबी रकम जेब में डाल कर कहते हों कि कुछ नफा नहीं हो रहा है। इसकी पूरी जांच होनी चाहिए। इतना लिख चुकने पर हमें यह जानकर संतोष हुआ कि बंबई की इस समस्या की जांच करने के लिए कमेटी बनाई गई है, जिसने अपना काम शुरू कर दिया है। हमें आशा है इस कमेटी में मजूरों की शिकायतों पर ध्यान दिया जाएगा। अब वह जमाना नहीं रहा, जब मजूर अपनी दशा को अपने भाग्य के अधीन समझ कर संतुष्ट हो जाते थे। मजूर अब अपनी दशा और भाग्य को सुधारना चाहता है और उसका प्रयत्न करता है। मजूरों ने अन्य देशों में कैसे-कैसे अधिकार प्राप्त कर लिए हैं, इससे वे बेखबर नहीं हैं। वह अपना खून और पसीना एक करके भी एक पेट भर अन्न नहीं पाता, उल्टे उसकी मजूरी काटी जाती है, उधर मिल के पूंजीपति,

डाइरेक्टर और मैनेजिंग एजेंट कुछ नफा न होने पर भी उसी शान और सुख से दनदना रहे हैं, तो उसका खून खौल उठता है और वह इस व्यवस्था को जड़ से खोद डालना चाहता है, जिसमें ऐसा अन्याय संभव है, चाहे इस कोशिश में उसकी जान ही पर क्यों न बन आए वह यह नहीं देख सकता कि उसकी मेहनत की कमाई पर दूसरे मौज करें और वह मुंह ताकता रहे। अब तो उसे तब ही संतोष हो सकता है कि मिल के प्रबंध में उसके प्रतिनिधि भी रहें और लाभ में उसका भी भाग हो। यह सरकारी आयोजना ही अब इस समस्या हो हल कर सकती है, दूसरा कोई उपाय नहीं।

[संपादकीय। 'जागरण', 7 मई, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

बिहार के लिए मि० ऐंड्रूज़ की अपील

इंग्लैंड में, कहा जाता है, कि बिहार की सच्ची स्थिति अभी तक बहुत कम आदमियों को मालूम है, और मि० ऐंड्रूज़ ब्रिटिश जनता को बिहार की दशा समझा रहे हैं और उसके लिए अपील कर रहे हैं। एक भाषण में उन्होंने कहा–जिस समय ब्रिटेन संकट में था, भारत ने एक अरब रुपये से उसकी मदद की थी। आज भारत का एक पूरा प्रांत वीरान हो गया है। उसके लिए इंग्लैंड और उसकी सरकार क्या कर रही है? मि० ऐंड्रूज़ शायद भूल जाते हैं कि भारत, भारत है, ब्रिटेन, ब्रिटेन, और दोनों कभी एक नहीं हो सकते। भारत ने हमेशा अपना घर फूंककर तमाशा देखा है। यहां के लोग ऋषियों की संतान हैं, जिनका सारा जीवन ही यज्ञ होता था। भारत आज इस गिरी हुई दशा में भी पचास लाख साधुओं और पांच करोड़ पंडों-पुजारियों का तर माल खिला रहा है। उसके लिए एक-दो अरब कोई बात नहीं, मगर ब्रिटेन तो सारे काम तिजारत के नियमों से ही करता है, वह भला ऐसी भावुकता के झमेले में क्यों पड़ने लगा। भारत उसके माल की मंडी है, और उसकी फालतू आबादी के लिए धन कमाने का क्षेत्र। बस भारत हो वह इसी दृष्टि से देखता है। बिहार में नए-नए मकान बनवाने के लिए अगर अच्छे वेतन के इंजीनियरों की जरूरत हो, तो इंग्लैंड यह सेवा करने के लिए हाजिर है। अगर बिहार को अच्छे वेतन पर कुछ प्रबंधकों की, डॉक्टरों की, विशेषज्ञों की जरूरत हो, तो इंग्लैंड हर्ष से यह सेवा स्वीकार करेगा। मगर गिरे हुए प्राणियों की मदद करना तो तिजारत का कोई सिद्धांत नहीं है। फिर वह ऐसी बेकायदा बात क्यों करने लगा? रही यह बात कि इंग्लैंड को बिहार की हालत का पता ही नहीं, यह हम नहीं मानते। यह कहिए कि वह जानना नहीं चाहता या जानकर अनजान बनता है। वह क्यों ऐसी बात जाने कि गांठ से कुछ गंवाना पड़े। कुछ वसूली की बात हो तो देखिए, वह कितना मुस्तैद हो जाता है। खाने वाला खिलाना क्या जाने? और काले आदमियों की ज़िंदगी की कदर ही क्या? पच्चीस-तीस हज़ार आदमी ही तो मरे। चलो इतना कूड़ा कम हुआ। ब्रिटेन जो कुछ करेगा, अपनी दूकानदारी। इसके सिवा उसके पास कोई दूसरी नीति नहीं है।

[संपादकीय। 'जागरण', 7 मई, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित]

रादरमियर की हाय-हाय

लार्ड रादरमियर इंग्लैंड के प्रमुख साम्राज्यवादियों में हैं। जब से सुफेद कागज निकला है, आपको दाना-पानी हराम हो रहा है। सोते-सोते चौंक उठते हैं, कि भारत हाथ से गया। फिर यह मैनचेस्टर और लंकाशायर का माल किसके सिर पर लादा जाएगा। और यह लाखों अंग्रेजी परिवार किसके माथे फुलौड़ियां खाएंगे? यह एक लाख साल के मोटे वेतन कहां मिलेंगे। जिन्हें इंग्लैंड में कोई टके को न पूछे, उनके लिए यहां स्वर्ग के सारे भोग-विलास मौजूद। ऐसी सोने की चिड़िया हाथ से निकली तो इंग्लैंड का क्या हाल होगा? फिर उसकी यह शान-शौकत कहां जाएगी? बिल्कुल दूकानदारी की-सी बात, ठोस, वास्तविक, कल्पना-शून्य। मगर अब तक तो हम सुनते आते थे, कि ब्रिटेन भारत को आदमियत सिखाने के लिए अपने ऊपर यह भार लादे हुए है, खालिस परोपकार के लिए। हम लार्ड रादरमियर से निवेदन करना चाहते हैं कि यह सोने की चिड़िया अभी बहुत दिनों आपके पिंजरे में रह सकती है। हां, उसे चारा और पानी देते जाइए, अगर इसमें कमी हुई, तो चिड़िया फड़फड़ाकर मर जाएगी। भारत केवल इसलिए, राजनैतिक अधिकार चाहता है कि वह अपने भूख से व्याकुल बालकों का उदर भर सके, इसलिए नहीं कि वह इंग्लैंड में द्वन्द्व-युद्ध करे।

[संपादकीय। 'जागरण', 7 मई, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

स्वराज्य पार्टी

रांची में स्वराज्य पार्टी की बैठक हो गई, उसकी व्यवस्था बन गई, उसका कार्यक्रम निश्चित हो गया, उसके नेता चुन लिए गए और वह लोग भी चुन लिए गए। जो एसेंबली के लिए खड़े होंगे, मगर जैसा बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन ने अपने एक बयान में कहा है, अभी आल-इंडिया कांग्रेस कमेटी की बैठक नहीं हुई और यदि उस बैठक में कांग्रेस का बहुमत कार्उसिल-प्रवेश के लिए हुआ और कांग्रेस स्वयं निर्वाचन में भाग लेने को तैयार हो गई, तो स्वराज्य पार्टी कहां रहेगी? क्या उस दशा में भी स्वराज्य पार्टी बनी रहेगी? शायद ऐसा निश्चय-सा है कि कांग्रेस कमेटी का बहुमत कार्उसिल-प्रवेश के खिलाफ होगा, क्योंकि कांग्रेस के स्तंभ कार्उसिल-प्रवेश के खिलाफ हैं और स्वराज्य पार्टी कांग्रेस के अधीन और उसकी निगरानी में अपना काम करेगी। स्वराज्य पार्टी को जब अटानोमी मिल गई, तो फिर उस पर इस कार्यकारिणी की निगरानी की पख क्यों लगा दी गई, समझ में नहीं आता। क्या खुदा न ख्वास्ता स्वराज्य पार्टी की ओर से यह शंका भी है कि वह कांग्रेस के सिद्धांतों और आदर्शों का सम्मान न करेगी? स्वराज्य पार्टी की स्थिति ऐसी क्यों नहीं रखी गई कि वह कांग्रेस से अलग कोई संस्था नहीं है, बल्कि उन कांग्रेसियों का दल है, जो व्यवस्थापक सभाओं में कांग्रेस का काम करेंगे। अटानोमी या स्वाधीनता वाली बात हमारी समझ में नहीं आती। इससे तो यह ख्याल होता है कि यह कुछ ऐसे लोगों का दल है, जिन्हें कांग्रेस ने

अयोग्य समझ कर कह दिया है कि अच्छा, तुम लोग और कुछ नहीं कर सकते, तो जाओ काउंसिल में ही बैठो, मगर खबरदार कोई शरारत न करना। निर्वाचन में पूरी सफलता पाने के लिए कांग्रेस की पूरी शक्ति और पूरे प्रभाव की जरूरत है। ऐसे सौतेले लड़के के-से व्यवहार से शायद स्वराज्य पार्टी की वह आशाएं न पूरी हों, जो उसने बांध रक्खी हैं और संभव है, वह एसेंबली में अन्य दलों की तरह एक अल्पसंख्यक दल होकर रह जाए। पिछली स्वराज्य पार्टी में ऐसे-ऐसे सितारे थे, जो अपना प्रकाश रखते थे, उनके अपने-अपने अनुयायी थे। वैसा प्रभावशाली कोई आदमी इस स्वराज्य पार्टी में नज़र नहीं आता। वह कांग्रेस के प्रकाश से चमकने वालों की जमाअत है, और कौन नहीं जानता कि ऐसे सितारे केवल चमक लेते हैं उनके प्रकाश से किसी का उपकार नहीं होता।

हम तो फिर भी यही कामना रखते हैं कि कांग्रेस कमेटी खुद निर्वाचन का प्रश्न हाथ में ले, खुद अपने उम्मीदवार खड़े करे, चाहे वे वही हों, जो आज स्वराज्य-पार्टी में हैं, और इस कार्यक्रम को सफल बनाने में अपना पूरा जोर लगावें, लेकिन, अगर कांग्रेस ऐमा न करे, तो हम जनता से यही अनुरोध करेंगे कि वह स्वराज्य पार्टी ही को प्रतिनिधि बनाकर भेजे। इस पार्टी से उन्हें जितने उपकार की आशा हो सकती है, अन्य किमी दल से भी नहीं हो सकती।

[संपादकीय। 'जागरण', 7 मई, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

अंग्रेजी न्याय-परंपरा

सर शादीलाल ने लाहौर की चीफ जजी का पद त्याग करते समय अंग्रेजी न्याय-परंपरा पर बड़ा रोचक भाषण दिया और अंग्रेजी अदालतों की मिसालें पेश कीं। वहां न्याय-विभाग गवर्नमेंट से बिल्कुल अलग है। भारत में भी उसी आदर्श पर अदालतों की स्थापना हुई है, लेकिन यहां वह आजादी कहां? अगर अदालत ने गवर्नमेंट की नीति के विरुद्ध कोई फैसला किया, तो इसका फल उसे जल्द ही मिलेगा। सर शादीलाल ने जजों के लिए यही सबसे श्रेष्ठ मार्ग बतलाया कि वे निजी हानि लाभ का विचार न करके सदैव न्याय की रक्षा करें और गवर्नमेंट उसका जो दंड या पुरस्कार दे, उसे चुपचाप स्वीकार कर लें।

लेकिन जजों के दिल में यह बात समाएगी, इसमें संदेह है।

[संपादकीय। 'जागरण', 14 मई, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

इस हिमाकत की भी कोई हद है?

छूत-छात और जात-पांत का भेद हिन्दू समाज में इतना बद्धमूल हो गया है, कि शायद उसका सर्वनाश करके ही छोड़े। खबर है कि किसी स्थान में एक कुलीन हिन्दू स्त्री कुएं पर पानी भरने गई। संयोगवश कुएं में गिर पड़ी। बहुत से लोग तुरंत कुएं पर जमा हो गए

और उस औरत को बाहर निकालने का उपाय सोचने लगे, मगर किसी में इतना साहस न था कि कुएं में उतर जाता। वहां कई हरिजन भी जमा हो गए थे। वे कुएं में जाकर उस स्त्री को निकाल लाने को तैयार हुए, लेकिन हरिजन कुएं में कैसे जा सकता था। पानी अपवित्र हो जाता। नतीजा यह हुआ कि अभागिनी स्त्री कुएं में मर गई।

क्या छूत का भूत कभी हमारे सिर से न उतरेगा?

[संपादकीय। 'जागरण', 14 मई, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

कांग्रेस कमेटी क्या करेगी

कांग्रेस कमेटी की आने वाली बैठक बड़ी महत्वपूर्ण होगी ओर इस समय सारे देश की आंखें उसकी ओर लगी हुई हैं। यह प्रश्न उठ रहा है कि अगर कांग्रेस को कार्उसिलों से लाभ की फिर आशा हो गई है, तो वह पार्लामेंटरी बाजू क्यों बनाती है, क्यों खुद चुनाव में शरीक नहीं होती? अगर ये गुनाह बेलज्ज़त नहीं है, तो कोई पार्टी क्यों इसका मजाक उठाए? शिकारियों के पीछे ढोल बजाने में शिकारी का गौरव है न आनंद। इससे तो कहीं अच्छा है कि कांग्रेस भी शिकार में शरीक हो जाए। महात्मा गांधी की नीति पर भी कड़ी आलोचनाएं की जा रही हैं और यह ख्याल पैदा हो रहा है कि जब सत्याग्रह केवल महात्मा गांधी ही कर सकते हैं, तो कांग्रेस क्यों न उसे बिल्कुल ही उठा दे। बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन के भाषण को अगर हम युक्तप्रांतीय कांग्रेस की आवाज समझें, तो वह एक बागी की आवाज है, जो अब आंख बंद करके नेता के पीछे नहीं चलना चाहता और मुल्क के लिए किसी नए कार्यक्रम की जरूरत समझता है। वह नया कार्यक्रम क्या होगा? इसका फैसला कांग्रेस कमेटी करेगी। इधर साम्यवादी दल भी अपना जलसा करने जा रहा है और सोच रहा है, क्यों न वह अपना कार्यक्रम लेकर चुनाव के मैदान में उतर पड़े। अगर यह दल भी कार्उसिल प्रवेश के पक्ष में है, तो फिर कांग्रेस में ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम रह जाएगी, जो कांग्रेस का कौमी काम करने की लगन रखते हों। गरज कांग्रेस ने स्वराज्य पार्टी को यह अधिकार देकर अन्य सभी दलों में असंतोष पैदा कर दिया है, और जब मुल्क के सामने कोई दूसरा प्रोग्राम नहीं है, तो कोई दल भी अपने को कार्उसिल से बाहर नहीं रखना चाहता। हमारे ख्याल में इस शिथिलता और जड़ता को जगाने का इसके सिवा दूसरा उपाय नहीं है कि कांग्रेस खुद कार्उसिल के लिए अपने उम्मीदवार खड़ा, करे, और अपने सारे प्रभाव और शक्ति को काम में लाकर अपना बहुमत स्थापित करे। अगर स्वराज्य पार्टी को ही यह अधिकार दे दिया गया, तो आपस में ही खींचतान शुरू हो जाएगी और कांग्रेस कई दलों में बंटकर अपनी पूरी शक्ति से किसी दल को मदद न कर सकेगी। रहा कांग्रेस का अधिवेशन, वह वर्तमान दशाओं में कठिन है। न कांग्रेस कमेटियां, हैं, न मेंबर। फिर प्रतिनिधि कहां से आवेंगे और उनका चुनाव कैसे होगा। कांग्रेस अधिवेशन जब तक होगा तब तक चुनाव खत्म हो जाएगा। इस तरह परिस्थितियों को नियमों के हाथ में छोड़ देने से काम बिगड़ता है। होता वही है, जो नेता करते हैं, चाहे भरे पंडाल में हो, या छोटे से कमरे में। कांग्रेस

कमेटी के फैसले ही को कांग्रेस का फैसला मान कर देश का चलाना मुनासिब है।

यह भी निश्चित-सा मालूम होता है, कि उम्मीदवार वही सज्जन बनाए जाएंगे, जो जेल हो आए हैं, और बराबर लड़ाई में शरीक रहे हैं। अगर ऐसा किया गया, तो यह कांग्रेस की पहली स्वार्थपरता होगी। जो सिपाही मैदान में लड़ सकता है, वह कार्उसिल में बैठकर विचार भी कर सकता है, इसमें हमें संदेह है। अगर सब बातें बराबर हों तो जेल जाने वाले को जरूर प्रधानता मिलनी चाहिए, लेकिन महज जेल जाना अन्य सभी तरह की लियाकत की कमी नहीं पूरी कर सकता। कितने ही तो महज इसलिए जेल नहीं गए कि उन्होंने उस समय जेल से बाहर रहना ही सबसे बड़ा त्याग समझा। जिस समय जेल जाना राष्ट्र की सेवा ही नहीं, स्वार्थ की भी इतनी ही बड़ी सेवा थी, उस सयम जो लोग चढ़ा-ऊपरी न करके अलग रहे उनको सेवा का अवसर न देना उनके साथ अन्याय होगा। और अगर जेल यातना ही कार्उसिल में जाने की सबसे बड़ी शर्त हो, तो पं० मोहनलाल नेहरू के शब्दों में 'सी' क्लास बुगतने वालों को ही कार्उसिल में भेजना चाहिए। कांग्रेस के वह नेता, जो ए या बी क्लास में रहे, किस नीति से उन वालंटियरों को समझाएंगे जिन्होंने सी क्लास और खड़ी बेड़ी और काल-कोठरी कोई भी तपस्या बाकी नहीं छोड़ी?

[संपादकीय। 'जागरण', 14 मई, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

न्याय में विलंब अन्याय है

जस्टिस यंग ने लाहौर हाईकोर्ट में चीफ जजी का चार्ज लेते हुए कहा कि अंग्रेजों के मैगना कार्टा की एक शर्त यह थी कि हम न्याय में विलंब न करेंगे, जो अन्याय के तुल्य है। आपने कहा कि इंग्लैंड में तो अभी तक उस शर्त की पाबंदी होती चली जाती है, लेकिन भारत में उसे अदालतें भूल गई हैं और आज एक तरह से अदालतों में अन्याय ही होता है, क्योंकि न्याय इतनी देर में होता है कि वह अन्याय के समान हो जाता है। अक्सर आठ-आठ साल में अपीलों का नंबर आता है। जजों की संख्या तो बढ़ाई नहीं जा सकती। इसलिए मि० यंग की राय है कि अदालतों की छुट्टियां घटा देनी चाहिए ताकि काम बकाया में न रहे। आपके ख्याल में होली, दशहरा, बड़ा दिन, ईस्टर, ईद और मुहर्रम यही छुट्टियां काफी हैं। आपने बहुत ही ठीक कहा कि जब धार्मिक व्यापारी साल में इसकी आधी छुट्टियां भी नहीं मनाते, तो क्या वकील और जज उनसे ज्यादा धार्मिक हैं, जो साल में छः महीने धर्मोत्सव ही मनाया करें। जस्टिस यंग ने एक बड़े ही महत्त्व का प्रश्न उठाया है और यदि उनके उद्योग से अदालतों की तातीलें कम हो गईं और न्याय की गति तेज हो गई, तो उनका नाम अमर हो जाएगा, क्योंकि अब तक यहां शिक्षा और अदालत, यह दोनों विभाग केवल चैन की वंशी बजाने के लिए हैं। लंबी-लंबी तातीलों में ऑनरेबुल जज साहबान योरोप की सैर को निकलते हैं। मुफ्त में वेतन मिले, तो काम क्यों किया जाए?

[संपादकीय। 'जागरण', 14 मई, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

पत्रों में अधूरी खबरें

दैनिक अखबारों में कभी-कभी ऐसी खबरें छपती हैं कि जनता में उससे बड़ी गलतफहमी पैदा हो जाती है और ऐसा मालूम होता है, खबरें देने वाले एजेंट किसी कारण से जान-बूझकर अधूरी खबरें भेजते हैं। मसलन् चम्पारन में अभी यह खबर छपी कि मुसलमानों ने हिन्दुओं की दो सौ पचास गाएं छीन लीं, जिन्हें उनके स्वामी चरागाहों की ओर लिए जा रहे थे और जब उन्होंने अपनी गाएं मांगी तो उन्हें मारा-पीटा। इस पर बीस हज़ार हिन्दू जमा हो गए, उधर पांच हज़ार मुसलमान भी जमा हुए। पुलिस हो पता लगा। उसने आकर हिन्दुओं पर गोलियां चलाईं और बहुतों को पकड़ लिया। खबर साफ कह रही है कि मुसलमानों की ज्यादती है और कोई कितना ही उदार हिन्दू क्यों न हो, वह यह कभी पसंद न करेगा कि मुसलमान या कोई और उन गायों को छीन ले। यह तो डाका है, राहजनी है और जब बेचारे हिन्दू इस बात पर बिगड़कर एकत्र होते हैं, तो उनके साथ कितना बड़ा अत्याचार किया जाता है। ऐसी खबरों से ख्वामख्वाह सांप्रदायिक भावनाएं प्रबल होती है और हिन्दू समझने लगता है कि जब हमारे ही ऊपर चारों तरफ से वार पड़ता है, तो फिर हमें भी लड़ मरना चाहिए। मगर वास्तव में बात कुछ और थी। मुसलमानों की गायें भी चर रही थीं और जब यह रेवड़ उस गांव में पहुंचा तो दोनों झुंड एक में मिल गए। हिन्दुओं ने अपने रेवड़ को अलग करना चाहा, पर संभव है उसमें दो-एक गाय मुसलमानों की भी रह गई हों। इस पर दोनों में झगड़ा हो गया। मुसलमानों ने रेवड़ को रोक दिया और कहा-जब तक हमारा तसफिया न हो जाएगा, हम गायों को न जाने देंगे। इस पर बात बढ़ गई। इतना स्पष्ट कह देने से खबर में वह मुसलिम ज्यादती का पहलू गायब हो जाता है और मामूली मवेशियों का झगड़ा रह जाता है, जैसा आए दिन देहातों में होता रहता है।

[संपादकीय। 'जागरण', 14 मई, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

स्व० पंडित बदरीनाथ भट्ट

पंडित बदरीनाथ भट्ट आज इस संसार में नहीं हैं। बीमार तो वह दो-ढाई साल से थे, लेकिन जिस आदमी के पोर-पोर में जानदारी भरी हुई हो, जो रोग-शैया पर पड़ा हुआ भी हंसता और हंसाता रहा हो, जिसके समीप जाते ही मुरझाया हुआ मन लहलहा उठता हो, जो मानो अपने वाणी और स्नेह से जीवन बिखेरता रहा हो वह मौत के इतने समीप है, यह हम न समझते थे। साल भर से अधिक हुआ हमने लखनऊ में उनके दर्शन किए थे। आराम-कुर्सी पर लेटे हुए थे। देह क्षीण हो गई थी, चेहरे पर जरदी छायी हुई, आंखों के नीचे गड्ढे पड़े हुए, होंठ सूखे हुए, लेकिन बीमारी आत्मा तक न पहुंच सकी थी। बातों में तब भी वही शोखी, वही जिंदादिली थी। अपनी बीमारी का जिक्र करते रहे, मगर उसमें असाध्य रोगी की निराशा या करुणा न थी, न वह मोह, न वह हसरत, बल्कि एक जीवन से भरे हुए हृदय का चुहल

और विनोद था, जो मानो मृत्यु को समाने खड़ी देखकर भी निःशंक भाव से कह रहा था—जब मरूंगा तब मर जाऊंगा, मरने से पहले नहीं मर सकता। हास्य के स्रष्टा बहुधा बड़े गंभीर और रूखे होते हैं। भट्ट जी का मन भी हास्यमय था और तन भी। लतीफों और चुटकुलों के तो मानो वह भंडार थे और मनुष्य की कमजोरियों को एक निगाह में पहचान लेतें थे। अपने जीवन के दुःखद प्रसंगों को भी जो विनोद के रंग में रंग सकता हो, ये सिफत भट्ट जी ही में थी। दूसरे अपनी विजय को जितने आनंद से बयान कर सकते हैं, उतने ही आनंद से वह अपनी पराजय की चर्चा करते थे। हास्य की उस खान में जो चीज जाती थी, विनोद बन जाती थी। हिन्दी-प्रेमी सज्जनों के व्यवहार के उन्हें कई बार कड़वे अनुभव हुए थे और 'हिन्दी प्रेमी सज्जन' उनके लतीफों में बार-बार नए-नए रूप में आते रहते थे। खेद यही है कि उनके नाटकों के सिवा उनकी हास्य-रचना कहीं संग्रह नहीं हुई। उन्होंने कई पत्रों में नियमित रूप से साहित्यिक विनोद के स्तंभ की पूर्ति की। उसमें राजनैतिक व्यंग भी होता था, कटाक्ष भी, चुटकियां भी, गुदगुदियां भी। अगर उनमें से रत्नों को छांट लिया जाए, तो हास्य का बड़ा ही रोचक संग्रह तैयार हो जाए। 'गोलमाकारिणी-सभा' की रिपोर्ट और 'मिस्टर की डायरी' में आज भी मनोरंजन की बहुत सामग्री मिल सकती है।

भट्ट जी मिताहारी थे, मितव्ययी थे, संयमी थे, स्पष्टवादी थे, व्यवहार में खरे थे, उसमें कहीं भी वह नफासत और नजाकत न थी, जो हम उदीयमान कवियों में देखते हैं, वह सैलानीपन न था, जो साहित्यिकों की विशेषता समझी जाती है। उन्होंने दुनिया देखी थी, कठिनाइयों का सामना किया था और उन पर विजय पाई थी, उन फूलों में न थे, जो हवा के एक झोंके से मुरझा जाते हैं, वह मनुष्य पहले थे, कवि, ड्रामेटिस्ट और हास्यकार पीछे। उनकी भावुकता कभी संयम से बाहर न जाती थी। वह उन लोगों में न थे जो इस बात पर गर्व करते हैं कि उनके पास कौड़ी कफन को नहीं है, जो मित्रों की मेहमानी पर जीवन बिताकर बेफिक्री का दम भरते हैं। वह स्वयं अपना भोजन पकाते थे, पैसे की जगह धेला खर्च करते थे और हिसाब साफ रखते थे। बड़ी-बड़ी कठिनाइयां झेलीं, पर किसी पर एहसान नहीं लिया। उन्हें कोई व्यसन न था (साहित्यिक व्यक्तियों के लिए कोई-न-कोई व्यसन पाल लेना आजकल आईन में दाखिल है) उनकी कल्पना लकड़ी टेकती हुई न चलती थी, उसमें जो ओज था और संयम था, उसी से रचना शक्ति उत्पन्न होती थी, उसी तरह जैसे बाहुबल से दया और क्षमा उत्पन्न होती है।

भट्ट जी मौलिकता के पुजारी थे और जो कुछ लिखा मौलिक लिखा। बंगला अनुवादों से उन्हें घृणा थी। हिन्दी में जो निराशावाद का जोर है, इसकी ज़िम्मेदारी वह बंगला साहित्य के सिर रखते थे। वह खुद वीर-भक्त थे। बंगाली नाटककारों के वीररस प्रदर्शन का खूब मजाक उड़ाते थे। प्राचीन कवियों के नग्न शृंगार वर्णन को भी वह हिन्दी-साहित्य का कलंक समझते थे और यह उनके साहित्यिक परिहास का एक स्रोत था।

भट्ट जी ने जीवन में एक ही काम रोमांटिक ढंग से किया और यह अपना विवाह था। जिस देवी से उनका प्रेम था, उससे वंश-परंपरा की जरा भी परवाह न करके उन्होंने

चुपके से विवाह कर लिया। मित्रों को खबर तक न दी। इसकी खबर उस वक्त मिली, जब आपका घर आबाद हो चुका था, इसलिए डोली छेंककर दावत लेने का अवसर भी मित्रों के हांथ से जाता रहा। कई दिन बाद मित्रों के पास मिठाई पहुंची, जिसने उनके आंसू पोंछे। हमारे पास वह मिठाई भी न पहुंची। एक दिन रास्ते में उनसे हमारी मुलाकात हुई। हंसकर बोले–'गजी आपकी मिठाई रखी हुई है, आदमी आपका मकान तलाश करके चला आता है, गली, मकान, सब कुछ देता हूं, पर उसे कुछ पता नहीं चलता। अब मैं खुद ही लेकर आऊंगा।'

आखिर हमने बेहयाई की और उनके घर जाकर मिठाई खाई।

वही जिंदादिल, बलिष्ठ, संयमी, प्रतिभाशाली व्यक्ति ऐन जवानी में अकाल मृत्यु का ग्रास बन गया, जब साहित्य को उसी प्रौढ़ प्रतिभा से बहुत कुछ आशाएं बंध रही थीं। आज भी उनसे अच्छे कवि, उनसे अच्छे नाटककार और उनसे अच्छे हास्य लेखक मौजूद हैं, लेकिन ऐसी विनोदशीलता, ऐसी उबलती हुई प्रसन्नता, ऐसी उछलती हुई खुशमिजाजी हमें नहीं नज़र आती। भट्ट जी इस मैदान में अकेले थे। उनकी याद बहुत दिनों आएगी और हृदय में उनका जो स्थान था वह बहुत दिनों खाली रहेगा।

[संपादकीय। 'जागरण', 14 मई, 1934 मे प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

जागरण की समाधि

लगभग पौने दो साल तक देश की भली-बुरी सेवा करने के बाद 'जागरण' अब उतने दिनों के लिए समाधि ले रहा है, जब तक वह इस योग्य न हो जाए कि इससे अच्छे रूप में, पाठकों की सेवा कर सके। हमने जिस वक्त इसे हाथ में लिया था, आशा थी कि इसे हिन्दी का आदर्श साप्ताहिक-पत्र बना सकेंगे। अन्य कितनी ही मानवी आशाओं की भांति हमारी वह आशा पूरी न हुई और इस रूप में इसे चलाते रहना हमें रुचिकर न हुआ। हमें यह तो पहले भी मालूम था कि पत्र-संचालन भी व्यवसाय है और अन्य व्यवसायों की भांति आजकल इसे भी बड़ी पूंजी की जरूरत है। पर हमने सोलह आने व्यवसाय-बुद्धि से इसका भार न लिया था, अपनी शक्ति और समय के सदुपयोग का भाव ही प्रधान था। हमें प्रसन्न हैं, कि उदार साहित्यिक मित्रों और कृपालु पाठकों ने हमें इतने दिनों सेवा करने का अवसर दिया। हम उनका एहसान कभी न भूलेंगे। जीवन नए-नए अनुभवों का नाम है। और हमें जागरण के संचालन द्वारा जो अनुभव हुए, वह दूसरों से सुन-सुनाकर कभी न होते। हमने अपनी परिमित सीमा के अंदर वही लिखा, जो हमारी आत्मा ने कहा और उन्हीं बातों का समर्थन किया, जिसे हमने अपनी बुद्धि के अनुसार देश के लिए हितकर समझा। हमने कभी किसी का दिल दुखाने की या सस्ती शोहरत हासिल करने की चेष्टा नहीं की। फिर भी यदि हमने अनजान में किसी का दिल दुखाया हो, तो हम सच्चे दिल से उसके लिए क्षमा मांगते हैं।

जिन ग्राहकों के पैसे हमारे ऊपर आते हैं, उनसे हमारी विनती है कि वे हमें 'हंस' की प्रतियां भेजकर उस ऋण को चुकाने की अनुमति दें। जिन सज्जनों के पास 'हंस' जाता हो, वे उस मूल्य की पुस्तकें हमसे ले सकते हैं। हमें आशा है कि पाठक हमें क्षमा करेंगे। अंत में हम कवि मीर के शब्दों में पाठकों से विदा मांगते हैं–

अब तो जाते हैं मैकदे से मीर।
फिर मिलेंगे अगर खुदा लाया।

[संपादकीय। 'जागरण', 21 मई, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

सांप्रदायिक बंटवारा

सांप्रदायिक बंटवारे का प्रश्न बड़ा जटिल है, और बार-बार चेष्टा करने पर भी उसे हल नहीं किया जा सका। मुसलमानों को जो कुछ मिल गया है, उसमें वह रत्ती भर भी कम नहीं करना चाहते। अब कांग्रेस क्या करे? अगर वह इस बंटवारे में हाथ लगाती है, तो हिन्दू-सभा इस प्रश्न को लेकर स्वयं मैदान में आ जाती है, और हिन्दुओं की सांप्रदायिक चेतना को भड़का कर स्वराजिस्टों या कांग्रेसी उम्मीदवारों की सफलता में बाधक हो जाती है। इस वक्त वह चेतना चाहे बलवती न हो, लेकिन चुनाव के समय वह अपने जबड़े और पंजे निकालकर भयानक बन जाएगी। लेकिन कांग्रेस की विजय अपने आदर्श पर जमे रहने में है, चाहे उसकी हार ही क्यों न हो जाए। उसके लिए हरेक भारतीय भारतीय है, वह दाढ़ी वाला है या चोटी वाला, पुराण वाला है या कुरान वाला इससे उसे कोई प्रयोजन नहीं। अगर वह एक बार सिद्धांत को स्वीकार कर लेगी, तो फिर जात-पांत के इस दलदल में उसके लिए पांव रखने का ठिकाना न मिलेगा। ब्राह्मण अपनी जनसंख्या के अनुपात से अपना हिस्सा मांगेंगे, क्षत्री अपना, वैश्य अपना, शूद्र अपना। वह किस-किस वर्ग को संतुष्ट कर सकेगी? उसके लिए सभी भारतवासी बराबर हैं, चाहे वह किसी संप्रदाय के हों। अगर हिन्दू सभा सांप्रदायिकता के बल पर उसको परास्त कर सकती है, तो कोई मुजायका नहीं, उसकी जीत इसी हार में है।

[संपादकीय। 'जागरण', 21 मई, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन

पटना में कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन हो गया और उसमें राजनैतिक समस्याओं पर वही निश्चय हुआ, जिसकी हम कामना कर रहे थे। कांग्रेस कमेटी ने केवल कौंसिल-प्रवेश की ही अनुमति नहीं दी, बल्कि इस काम को स्वराज्य पार्टी के हाथों में न देकर खुद अपने हाथों में ले लिया है। सत्याग्रह बिल्कुल उठ लिया गया और महात्मा गांधी के सिवा अब किसी को भी कांग्रेस की ओर से सत्याग्रह करने का अधिकार नहीं है। इसके साथ ही कांग्रेस की विधायक योजना पर भी ज़ोर दिया गया और प्रत्येक मनुष्य को स्वाधीनता दे दी गई है कि वह अपनी योग्यतानुसार राष्ट्र की सेवा करे, कौंसिल

के भीतर या बाहर। इस अवसर पर सबसे महत्त्व की जो बात हुई वह साम्यवादी संघ की स्थापना थी। संघ का एक अधिवेशन भी हुआ। जिसके सभापति आचार्य नरेन्द्रदेव जी थे। आने इस अवसर पर जो भाषण दिया, वह अपने विद्वत्ता, शैली और तर्कपूर्णता के लिहाज़ से बड़ा महत्त्वपूर्ण था। साम्यवादी विचार दिन-दिन बढ़ रहे हैं और कांग्रेस में चाहे पूरे साम्यवादी ज़्यादा न हों, पर ऐसा शायद ही कोई हो, जो साम्यवाद को किसी-न-किसी अंश में स्वीकार न करता हो, लेकिन साम्यवाद को वाद के रूप में मानना दूसरी बात है, और उसे अपने जीवन का भोग बना लेना दूसरी बात है। कोई आदमी त्याग-त्याग चिल्लाता रहे, उसका कोई महत्त्व नहीं। जब वह संन्यस्त हो जाता है, तभी उसके विचार कार्य रूप में आते हैं। ऐसा व्यक्ति, जो साम्यवादी होने का दावा करके भी उसी तरह विलासमय जीवन व्यतीत करता है, जैसे कोई दूसरा धनी, तो उसके साम्यवादी होने का क्या अर्थ हो सकता है? अगर वह उसी तरह लेन-देन करता है और दो रुपये सैकड़े सूद लेता है, या उसी तरह फर्स्ट या सैकंड क्लास में सफर करता है, या उसी तरह नौकरों से अपने जूते के फीते खुलवाता और पांव धुलवाता है, या उसी तरह नाना प्रकार के पदार्थ खाता है तो उसे क्यों सोशलिस्ट कहा जाए? सोशलिस्ट केवल मनोवृत्ति का नाम नहीं, जीवन के एक विशेष व्यावहारिक आदमी का नाम होना चाहिए। साम्यवादी और असाम्यवादी के जीवन में कुछ तो ऐसा अंतर होना चाहिए, जिससे मालूम हो सके कि समाज की इस व्यवस्था से असंतुष्ट है। यह कभी आशा नहीं की जा सकती कि सोशलिज़्म का दावा करने वाले सभी एकदम आदमी अपनी जायदादें छोड़ दें और खेतों में कुदाल चलाना या मिलों में काम करना शुरू कर दें, लेकिन क्या उनसे यह आशा भी नहीं की जा सकती कि वे सूद लेना छोड़ दें, बराबर तीसरे दरजे में सफर करें, निजी सेवा के लिए नौकर रखकर मनुष्य जाति का अपमान न करें और शादी-ब्याहों में धन का अपव्यय न करें। केवल ज़बान से साम्यवादी बन जाना इसका कभी प्रमाण नहीं हो सकता कि हम उस नवयुग का आह्वान कर रहे हैं, जब समाज पर धन और संपत्ति का वह प्रभुत्व न रहेगा। जो लोग धनाभाव के कारण झक मारकर सोशलिस्ट बन गए हैं, उन्हें भी अपने जीवन में साम्यवाद को बरतने का प्रयत्न करना होगा। तात्पर्य यह कि हमें साम्यवाद पर बहस-मुबाहसा करके ही संतुष्ट न हो जाना चाहिए, बल्कि उसे जीवन में चरितार्थ करना चाहिए, तभी उसकी उपयोगिता सिद्ध होगी और उसका प्रचार दिन-दूना रात चौगुना होगा और जब कभी साम्यवाद अपने वास्तविक रूप में आएगा, तो हम उसका स्वागत करने को तैयार रहेंगे।

[संपादकीय। 'जागरण'।28 मई, 1934 में प्रकाशित। 'प्रेमचन्द का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 मे संकलित।]

'जागरण' की नई व्यवस्था

गत सप्ताह में हमने पाठकों से निवेदन किया था कि 'जागरण' को अपने ही आदर्शानुकूल न निकाल सकने के कारण हम उसका प्रकाशन उतने दिनों के लिए स्थगित कर

रहे हैं, जब तक हमारे पास ऐसे साधन न हो जाएं कि हम उसे इससे अच्छे रूप में निकाल सकें। हमारे इस निवेदन का आशय यह समझा गया कि हम 'जागरण' को सदैव के लिए बंद कर रहे हैं और पाठकों तथा मित्रों ने 'जागरण' को एक सप्ताह भी समाधि की व्यवस्था में रहने देना स्वीकार न किया। चारों ओर से ऐसे पत्र आने लगे कि 'जागरण' को किसी दशा में भी बंद न होना चाहिए। संयोग से इसी अवसर पर कुछ ऐसे साधन भी प्राप्त हो गए, जिनके सहयोग से हमें विश्वास है 'जागरण' इससे अच्छे रूप में निकलकर जनता की सेवा कर सकेगा। हम बड़े हर्ष के साथ निवेदन करते हैं कि 'जागरण' के संपादन का भार श्री संपूर्णानंद ने लेना स्वीकार कर लिया है और अगले अंक से 'जागरण' उन्हीं के संपादन में निकलेगा। श्री संपूर्णानंद के विषय में हमें कुछ कहने की ज़रूरत नहीं। राजनीति और साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में उन्होंने अमर कीर्ति प्राप्त की है और जिस त्याग, लगन और साहस से उन्होंने राष्ट्र की सदैव सेवा की है, वह हमारे लिए गर्व की वस्तु है। ऐसे अनुभवों विद्वान् और प्रतिभाशाली सज्जन के हाथों में 'जागरण' का भविष्य निश्चित है। हमें आशा है, हमारे साहित्यिक सहयोगियों और पाठकों ने 'जागरण' पर जो कृपा-दृष्टि रखी है, वह पूर्ववत् बनाए रखेंगे। 'जागरण' अब कहीं सुयोग्य के हाथों में जा रहा है, इस पर उसे बधाई देते हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 28 मई, 1934 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

न्यायालय और पुलिस

हमारे न्यायालयों में आए दिन पुलिस के हथकंडों की कड़ी आलोचनाएं होती रहती हैं। पुलिस झूठी शहादतें बनाने और झूठे मुक़दमे तैयार करने में जो चालें चलती है, उसकी कितनी ही बार कलई खुल चुकी है, पर हमारी सरकार हाईकोर्टों की बिल्कुल परवाह नहीं करती और पुलिस अपनी बेढंगी रफ्तार से चली जा रही है। हमने ऐसा कभी नहीं सुना कि झूठे मुकदमे चलाने और झूठी रिपोर्ट लिखने के जुर्म में कभी पुलिस-विभाग से जवाब तलब किया गया हो। उलटे पुलिस विभाग की सालाना रिपोर्टों में इंस्पेक्टर-जनरल साहिबान हाईकोर्ट के जजों की नीति पर नुक्ताचीनी करते हैं और तरह-तरह के हीलों और दलीलों से पुलिस के हथकंडों की सफाई पेश करते हैं। जिस राष्ट्र में न्यायालय इतने कमज़ोर हों कि शासन को उनकी परवाह न हो, वहां न्याय प्रहसन मात्र है। जब तक प्रबंध विभाग न्यायालयों के साथ सहयोग नहीं करता और पुलिस को भी झूठे मुक़दमे बनाने और निरपराधों को फंसाने के लिए उसी तरह दंड नहीं देता, जैसे साधारण अपराधियों को, उस वक्त तक प्रजा के लिए कहीं त्राण नहीं।

[संपादकीय। 'जागरण', 28 मई, 1934 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

समाचार-पत्रों के मुफ्तखोर पाठक

जहां विदेश से निकलने वाले पत्रों के लाखों ग्राहक होते हैं वहां हमारे अच्छे से अच्छे भारतीय पत्र के ग्राहकों की संख्या कुछ हज़ारों से अधिक नहीं होती। यह एक विचारणीय बात है। जापान का ही एक उदाहरण लीजिए। यह तो सबको म़ालूम है कि जापान भारतवर्ष का अष्टमांश ही है, फिर भी जहां भारत से कुल 3500 पत्र प्रकाशित होते हैं, वहां जापान से 4500, और यह 4500 भी ऐसे पत्र हैं जिनके प्रकाशन की संख्या हजारों नहीं लाखों की है। 'ओसाका मेनीची' नाम का एक दैनिक पत्र है। उसके कार्यालय की इमारत ही तैंतीस लाख रुपये की है। 'ओसाका ओसाही' और 'टोकियो नीची' नामक दो पत्र भी इसी कोटि के हैं। एक-एक पत्र के कार्यालय में दो तीन हजार तक आदमी काम करते हैं और उनका जाल संसार भर में फैला हुआ है। जिस पत्र के कार्यालय में चार छ: सौ आदमी काम करते हैं, उसकी तो वहां कोई गणना ही नहीं होती। कई पत्र तो वहां ऐसे हैं जो पचास लाख तक छापे जाते हैं और दिन में जिनके आठ-आठ संस्करण निकलते हैं और जिनका वितरण करने के लिए हवाई जहाज़ों से काम लिया जाता है। यह है जापानी पत्रों का वैभव । और इस वैभव का कारण है वहां की शिक्षित जनता का पठन प्रेम और सहयोग। वहां के प्रत्येक पांच आदमियों में आपको एक आदमी अखबार पढ़ने वाला अवश्य मिलेगा। पूंजीपति से लेकर मजदूर तक, बूढ़े से लेकर छोटे बच्चे तक, पत्रों को स्वयं खरीद कर पढ़ते हैं। फ़ुरसत के समय को वे लोग बेकार के हंसी-मजाक, खिलवाड़ या गाली-गलौज में नहीं, अखबारों के पढ़ने में बिताते हैं। जिस प्रकार वे अपनी शारीरिक भूख के लिए अन्न को आवश्यक समझते हैं, उसी प्रकार वे अपनी आत्मा की भूख के लिए पत्रों को खरीदकर पढ़ना जरूरी समझते हैं। उन्होंने पत्रों को पढ़ना अपना एक अटल नियम बना रखा है। जो मनुष्य जिस रुचि का होता है, अपनी रुचि के पत्र का ग्राहक बन जाता है और उस पत्र से अपना ज्ञान-वर्द्धन और मनोरंजन करता है। वहां के लोग पत्रों को खरीद कर पढ़ते हैं। कहीं से मांगकर नहीं लाते। वे दूसरों के अखबार को जूठन समझते हैं। यही कारण है कि वहां के पत्रों के ग्राहकों की संख्या पचास लाख तक है। जब हम यह समाचार पढ़ते हैं और भारतीय पत्रों की ओर दृष्टिपात करते हैं तो दांतों तले उंगली दबाने लगते हैं। कहते हैं विदेश के लोग पत्र निकालना जानते हैं। वे लोग शिक्षा में और सभी बातों में हमसे आगे बढ़े हुए हैं। उनके पास पैसा है। यह सभी बातें सही हो सकती हैं। किंतु भारतीय पत्रों की प्रकाशन संख्या न बढ़ने का केवल यही कारण नहीं है कि भारतीय विद्वान् पत्र निकालना नहीं जानते, वे शिक्षा में पिछड़े हुए हैं और पत्रों को खरीदने के लिए भारतीय जनता के पास पैसा नहीं है। यह दलीलें कुछ अंशों में ठीक हो भी सकती हैं, पर भारतीय पत्रों के न पनपने का एक और भी प्रबल कारण है।

हमारे यहां ऐसे लाखों मनुष्य हैं, जो पैसे वाले हैं, जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी है, जो शिक्षित हैं, और जिन्हें पत्रों को पढ़ते रहने का शौक भी है। पर वे लोग मुफ्तखोर हैं। पत्रों के लिए पैसा खर्च करना वे पाप समझते हैं। या तो पत्रों को खोज-खाजकर

अपने मित्रों और परिचित लोगों के यहां से ले आयेंगे, या लाइब्रेरियों में जाकर देख आयेंगे। लेकिन उनके लिए पैसा कभी न खर्च करेंगे। सोचते हैं जब तिकड़मबाजी से ही काम चल जाता है तो व्यर्थ पैसा कौन खर्च करे। यह दशा ऐसे लोगों की है जो हजारों का व्यवसाय करते हैं और ब्याह शादी या ओसर मोसर में अंधे बनकर धन व्यय करते रहते हैं। ये लोग बीड़ी और सिगरेट में, पान और तंबाकू में, नाटक और सिनेमा में, लाटरी और जुए में, चाय और कॉफी में और विविध प्रकार के दुर्व्यसनों में अपनी आमदनी का बहुत बड़ा हिस्सा फूंक सकते हैं, किंतु पत्रों के लिए एक पाई भी खर्च नहीं कर सकते। जीभ के स्वाद के लिए बाजारों में मीठी और नमकीन चीजों पर ये लोग रुपये खर्च कर सकते हैं पर पत्रों को भूलकर भी नहीं खरीद सकते। इसके विपरीत, खरीदने वालों को मूर्ख समझते हैं, यद्यपि उन्हीं की जूठन से इनका काम चलता है। अगर बहुत हिम्मत की तो किसी लाइब्रेरी के मेंबर बन गए और लाइब्रेरियन को अपनी मीठी बातों में फंसाकर नियम के विरुद्ध अनेक पुस्तकें और पत्र पढ़ने के लिए ले गये। और भाग्यवश यदि किसी लेखक से परिचय हो गया, या अपनी तिकड़म से किसी पत्र संपादक को साध लिया तो कहना ही क्या, कारूं का खजाना उन्हें मिल गया। इस प्रकार ये लोग अपना मतलब निकाल लेते हैं। इससे आगे बढ़ना ये लोग मूर्खता समझते हैं। भारतीय पत्रों के प्रति इन लोगों के प्रेम, कर्तव्य पालन और सहानुभूति को कितना सुंदर उदाहरण है ! क्या ऐसा सुंदर उदाहरण आपको संसार के किसी भी देश में मिल सकेगा? धन्य हैं ये लोग और धन्य है अपनी भाषा के प्रति इनका अनुराग।

इन लोगों की यही दुर्वृत्ति भारतीय पत्रों के जीवन को सदैव संकट में डाले रहती है। यह लोग जरा भी नहीं सोचते कि यह प्रवृत्ति समाचार-पत्रों के लिए कितनी भयानक और हानिकार सिद्ध हो सकती है। इनकी इस प्रवृत्ति के कारण ही भारतीय पत्र पनपने नहीं पाते। जहां विदेशी पत्रों की निजी इमारतें लाखों रुपयों की होती हैं और उनके कार्यालयों में हजारों आदमी काम करते हैं, वहां हमारे भारतीय पत्रों के कार्यालय किराए के साधारण या टूटे-फूटे मकानों में होते हैं और कहीं-कहीं तो उनमें काम करने वाले मनुष्यों की संख्या एक दर्जन भी नहीं होती। नाममात्र के लिए कुछ इने-गिने पत्र ही ऐसे हैं जिनके कार्यालय में काम करने वाले दो सौ के लगभग या कुछ ही अधिक हों। ऐसे लोगों की कृपा के कारण ही भारतीय पत्रों का यह हाल है। कहीं-कहीं तो बेचारा एक ही आदमी संपादक, मुद्रक, व्यवस्थापक, प्रकाशक और प्रफूरीडर है। संसार के लिए यह बात नई और आश्चर्यजनक है। यह सब इन मुफ्तखोर तथा अपनी भाषा के साथ अन्याय करने वालों को कुछ लज्जा आनी चाहिए। उन्हें मालूम होना चाहिए कि वे लोग भारतीय पत्रों का गला घोंट रहे हैं और उन्हें संसार के उपहास और व्यंग्य की एक वस्तु बना रहे हैं। जब कि ये लोग बड़ी-बड़ी रकमें व्यर्थ के कामों में फूंक सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि ये अपने देशीय पत्रों के लिए एक छोटी-सी रकम खर्च करके उनके प्राणों की रक्षा न कर सकें।

[संपादकीय। 'हंस', जून, 1934 में प्रकाशित। साहित्य का उद्देश्य, प्रथम संस्करण, में संकलित। परंतु बाद के संस्करणों में उसे हटा दिया गया। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

हमारे देशी नरेशों का पतन

आजकल समाचार-पत्रों में हमारे देशी नरेशों के पतन की अनेक कथाएं पढ़ने को मिल रही हैं। ऐश-आराम से उन्हें फुरसत ही नहीं मिलती। प्रजा निर्धनता, बेकारी और करों के बोझ से बुरी तरह दबी हुई कराह रही है। राज-परिवार के आत्म-सम्मान का ध्यान रखने वाले लोग उनके राग-रंग और पतित कर्मों का विरोध कर रहे हैं, किंतु उन महाराजाओं के कानों पर जूं तक नहीं रेंगती। वे अपने परिवार के स्पष्टवादी लोगों, और यहां तक कि अपनी रानियों, को भी अपने महलों में कैद कर देते हैं। ऐसी बातों की पोल न खुलने देने के लिए कोई कोशिश उठा नहीं रखते और निरंकुशता के मद से मत्त होकर भोग-विलास और प्रजा के रक्त-शोषण में लीन हो जाते हैं।

मध्यभारत प्रजा-परिषद् के मंत्री श्री कन्हैयालाल वैद्य ने Whither Jhabua? नाम की पुस्तिका हमारे पास भेजी है। इस पुस्तिका में झाबुआ नरेश के काले कारनामों को प्रकट किया गया है और यह दिखलाया गया है कि झाबुआ किस ओर जा रहा है। इस पुस्तिका में यहां के महाराजा उदयसिंह पर जो भीषण आरोप लगाए गए हैं, उन्हें निराधार नहीं माना जा सकता। एक देशी नरेश भोग-विलास और पतन की किस सीमा तक पहुंच सकता है, यह बात इस पुस्तिका में सप्रमाण बतलाई गई है। इसे पढ़कर लज्जा से सिर नीचा कर लेना पड़ता है। झाबुआ नरेश ने अपनी महारानी गौर जी को एक प्रकार से कैद-सा कर रखा है। कहा तो यहां तक जाता है कि महाराजा साहब की कोप-दृष्टि के कारण उनका जीवन सदैव संकट में रहता है। वे उनका अपमान ही नहीं करते, उनके साथ क्रूरता का अमानुषिक व्यवहार भी करते हैं। हमें इसकी प्रसन्नता है कि महारानी ने इन बातों की शिकायत पोलिटिकल एजेंट को लिखकर भेजी है। उन्होंने बहुत ही करुणापूर्ण शब्दों में उनसे अपने जीवन की रक्षा के लिए प्रार्थना की है और यह भी उन्हें लिखा है कि उनके पतिदेव महाराजा उदयसिंह स्नायु संबंधी कमजोरी से अत्यधिक पीड़ित हैं। महारानी ने जो अर्जी पोलिटिकल एजेंट को भेजी है, इस पुस्तिका में उसकी प्रतिलपि दी गई है। हम महारानी के साहस की प्रशंसा करते हैं। इधर ताजे समाचारों से मालूम हुआ है कि पोलिटिकल एजेंट ने बड़ी सतर्कता से इस ओर ध्यान दिया है और शीघ्र कोई खास कार्रवाई न होने वाली है। हमारी राय में ऐसी स्नायु-संबंधी अत्यंत कमजोरी से ग्रस्त और स्त्री जाति का अपमान करने वाले क्रूर नरेश के प्रति बहुत शीघ्र उचित कार्रवाई की जानी चाहिए।

हम श्री कन्हैयालाल वैद्य को धन्यवाद देते हैं, जिन्होंने बड़ी निर्भयता के साथ, झाबुआ नरेश की इन लीलाओं को प्रकाशित किया।

[संपादकीय। 'हंस', जून, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

क्या हम वास्तव में राष्ट्र-वादी हैं?

टके-पंथी पुजारी, पुरोहित और पंडे हिन्दू जाति के कलंक हैं

यह तो हम पहले भी जानते थे और अब भी जानते हैं कि साधारण भारतवासी राष्ट्रीयता का अर्थ नहीं समझता, और यह भावना जिस जागृति और मानिसक उदारता से उत्पन्न होती है, वह अभी हममें से बहुत थोड़े आदमियों में आई है। लेकिन इतना जरूर समझते थे, कि जो पत्रों के संपादक हैं, राष्ट्रयीता पर लंबे-लंबे लेख लिखते हैं, और राष्ट्रीयता की वेदी पर बलिदान होने वालों की तारीफों के पुल बांधते हैं, उसमें जरूर यह जागृति आ गई है और वह जाति-पांति की बेड़ियों से मुक्त हो चुके हैं, लेकिन अभी हाल में 'भारत' में एक लेख देखकर हमारी आंखें खुल गईं और वह यह अप्रिय अनुभव हुआ है कि हम अभी तक केवल मुंह से राष्ट्र-राष्ट्र का गुल मचाते हैं, हमारे दिल में अभी जाति-भेद का अंधकार छाया हुआ है। और यह कौन नहीं जानता कि जाति-भेद और राष्ट्रीयता दोनों में अमृत और विष का अंतर है। यह लेख किन्हीं 'निर्मल' महाशय का है, और यदि यह वही 'निर्मल' हैं, जिन्हें श्रीयुत ज्योतिप्रसाद जी 'निर्मल' के नाम से हम जानते हैं, तो शायद वह ब्राह्मण हैं। हम अब तक उन्हे राष्ट्रवादी समझते थे, पर 'भारत' में उनका यह लेख देखकर हमारा विचार बदल गया, जिसका हमें दु:ख है। हमें ज्ञात हुआ कि वह अब भी उन पुजारियों का, पुरोहितों का और जनेऊधारी लुटेरों का हिन्दू समाज पर प्रभुत्व बनाए रखना चाहते हैं जिन्हें वह ब्राह्मण कहते हैं, पर हम उन्हें ब्राह्मण क्या, ब्राह्मण के पांव की धूल भी नहीं समझते। 'निर्मल' की शिकायत है कि हमने अपनी तीन-चौथाई कहानियों में ब्राह्मणों को काले रंगों में चित्रित करके अपनी संकीर्णता का परिचय दिया है, जो हमारी रचनाओं पर अमिट कलंक है। हम कहते हैं कि अगर हममें इतनी शक्ति होती, तो हम अपना सारा जीवन हिन्दू-जाति को पुरोहितों, पुजारियों, पंडों और धर्मोपजीवी कीटाणुओं से मुक्त कराने में अर्पण कर देते। हिन्दू-जाति का सबसे घृणित कोढ़, सबसे लज्जाजनक कलंक यही टकेपंथी दल है, जो एक विशाल जोंक के भांति उसका खून चूस रहा है, और हमारी राष्ट्रीयता के मार्ग में यही सबसे बड़ी बाधा है। राष्ट्रीयता की पहली शर्त है, समाज में साम्य-भाव का दृढ़ होना। इसके बिना राष्ट्रीयता की कल्पना नहीं की जा सकती। जब तक यहां एक दल, समाज की भक्ति, श्रद्धा, अज्ञान और अंधविश्वास से अपना उल्लू सीधा करने के लिए बना रहेगा, तब तक हिन्दू समाज कभी सचेत न होगा। और यह दल दस-पांच लाख व्यक्तियों का नहीं है, असंख्य है। उसका उद्यम यही है कि वह हिन्दू जाति को अज्ञान की बेड़ियों में जकड़े रखे, जिसमें वह जरा भी चूं न कर सके। मानो आसुरी शक्तियों ने अंधकार और अज्ञान का प्रचार करने के लिए स्वयंसेवकों की यह अनगिनत सेवा नियत कर रखी है। अगर हिन्दू-समाज को पृथ्वी से मिट नहीं जाना है, तो उसे इस अंधकार-शासन को मिटाना होगा। हम नहीं समझते, आज कोई भी विचारवान् हिन्दू ऐसा है, जो इस टकेपंथी दल को चिरायु देखना चाहता हो, सिवाय उन लोगों के जो स्वयं

उस दल में हैं और चखौतियां कर रहे हैं। निर्मल जी, खुद शायद उसी टकेपंथी समाज के चौधरी हैं, वरना उन्हें टकेपंथियों के प्रति वकालत करने की जरूरत क्यों होती? वह और उनके समान विचार वाले उनके अन्य भाई शायद आज भी हिन्दू-समाज का अंधविश्वास से निकलने नहीं देना चाहते, वह राष्ट्रीयता की हांक लगाकर भी भावी हिन्दू-समाज को पुराहितों और पुजारियों ही का शिकार बनाए रखना चाहते हैं। मगर हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि हिन्दू-समाज उनके प्रयत्नों और सिर-तोड़ कोशिशों के बावजूद अब आंखें खोलने लगा है और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है, कि जिन कहानियों को 'निर्मल' जी ब्राह्मण-द्रोही बताते हैं, वह सब उन्हीं पत्रिकाओं में छपी थीं, जिनके संपादक स्वयं ब्राह्मण थे। मालूम नहीं 'निर्मल' जी 'वर्तमान' के संपादक श्री रमाशंकर अवस्थी, 'सरस्वती' के संपादक श्री देवीदत्त शुक्ल, माधुरी के संपादक पं० रूपनारायण पांडे, 'विशाल' भारत के संपादक श्री बनारसीदास चतुर्वेदी आदि सज्जनों को ब्राह्मण समझते हैं या नहीं, पर इन सज्जनों ने उन कहानियों को छापते समय जरा भी आपत्ति न की थी। वे उन कहानियों को आपत्तिजनक समझते, तो कदापि न छापते। हम उनका गला तो न दबा सकते थे। मुरौवत में पड़कर भी आदमी अपने धार्मिक विश्वास को तो नहीं त्याग सकता। ये कहानियां उन महानुभावों ने इसीलिए छापीं, कि वे भी हिन्दू-समाज को टकेपंथियों के जाल से निकालना चाहते हैं, वे ब्राह्मण होते हुए भी इस ब्राह्मण जाति को बदनाम करने वाले जीवों का समाज पर प्रभुत्व नहीं देखना चाहते। हमारा खयाल है कि टकेपंथियों से जितनी लज्जा उन्हे आती होगी, उतनी दूसरे समुदायों को नहीं आ सकती, क्योंकि यह धर्मोपजीवी दल अपने को ब्राह्मण कहता है। हम कायस्थ कुल में उत्पन्न हुए हैं और अभी तक उस संस्कार को न मिटा सकने के कारण किसी कायस्थ को चोरी करते या रिश्वत लेते देखकर लज्जित होते हैं। ब्राह्मण क्या इसे पसंद कर सकता है, कि उसी समुदाय के असंख्य प्राणी भींख मांगकर, भोले-भाले हिन्दुओं को ठगकर, बात-बात में पैसे वसूल करके, निर्लज्जता के साथ अपने धर्मात्मापन का ढोंग करते फिरें। यह जीवन व्यवसाय उन्हीं का पसंद आ सकता है, जो खुद उसमें लिप्त हैं और वह भी उसी वक्त तक, जब तक कि उनकी अंध स्वार्थ-भावना प्रचंड है और भीतर की आंखे बंद हैं। आखें खुलते ही वह उस व्यवसाय और उस जीवन से घृणा करने लगेंगे। हम ऐसे सज्जनों को जानते हैं, जो पुरोहित-कुल में पैदा हुए, पर शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद उन्हें वह टकापंथपन इतना जघन्य जान पड़ा कि उन्होंने लाखों रुपये साल की आमदनी पर लात मारकर स्कूल में अध्यापक होना स्वीकार कर लिया। आज भी कुलीन ब्राह्मण पुरोहितपन और पुजारीपन को त्याज्य समझता है और किसी दशा में भी यह निकृष्ट जीवन अंगीकर न करेगा। ब्राह्मण वह है, जो निस्पृह हो, त्यागी हो और सत्यवादी हो। सच्चे ब्राह्मण महान्मा गांधी हैं, मदनमोहन मालवीय जी हैं, नेहरू हैं, सरदार पटेल हैं, स्वामी श्रद्धानन्द हैं। वह नहीं जो प्रातःकाल आपके द्वार आकर करताल बजाते हुए-'निर्मलपुत्र देहि भगवान्' की हांक लगाने लगते हैं, या गणेश-पूजा और गौरी-पूजा और अल्लम-गल्लम पूजा पर यजमानों से पैसे रखाते हैं, या गंगा में स्नान करने वालों से दक्षिणा वसूल करते हैं, या विद्वान् होकर ठाकुर

जी और ठकुराइन जी के श्रृंगार से अपना कौशल दिखाते हैं, या मंदिरों में मखमली गावतकिए लगाए वेश्याओं का नृत्य देखकर भगवान् से लौ लगाते हैं। हिन्दू बालक जब से धरती पर आता है और जब तक वह धरती से प्रस्थान नहीं कर जाता, इसी अंधविश्वास और अज्ञान के चक्कर में सम्मोहित पड़ा रहता है। और नाना प्रकार के दृष्टांतों से मनगढंत किस्से-कहानियों से, पुण्य और धर्म के गोरख-धंधों से, स्वर्ग और नरक की मिथ्या कल्पनाओं से, वह उपजीवी दल उनकी सम्मोहनावस्था को बनाए रखता है, और उनकी वकालत करते हैं हमारे कुशल पत्रकार 'निर्मल' जी, जो राष्ट्रवादी हैं। राष्ट्रवाद ऐसी उपजीवी समाज को घातक समझता है, और समाजवाद में तो उसके लिए स्थान ही नहीं। और हम जिस राष्ट्रीयता का स्वप्न देख रहे हैं उसमें तो जन्मगत वर्णों की गंध तक न होगी, वह हमारे श्रमिकों और श्रमिकों का साम्राज्य होगा, जिसमें न कोई ब्राह्मण होगा, न हरिजन, न कायस्थ, न क्षत्रिय। उसमें सभी भारतवासी होंगे, सभी ब्राह्मण होंगे, या सभी हरिजन होंगे।

कुछ मित्रों की यह राय हो सकती है कि माना टकेपंथी समाज निकृष्ट है, त्याज्य है, पांखडी है, लेकिन तुम उसकी निंदा क्यों करते हो, उसके प्रति घृणा क्यों फैलाते हो, उसमें प्रति प्रेम और सहानुभूति क्यों नहीं दिखलाते, घृणा तो उसे और भी दुराग्रही बना देती है और फिर उसके सुधार की संभावना भी नहीं रहती? इसके उत्तर में हमारा यही नम्र निवेदन है कि हमें किसी व्यक्ति या समाज से कोई द्वेष नहीं, हम अगर टकेपंथीपन का उपहास करते हैं, तो जहां हमारा एक उद्देश्य यह होता है कि समाज में से ऊंच-नीच, पवित्र-अपवित्र का ढोंग मिटावें, वहां दूसरा उद्देश्य यह भी होता है कि टकेपंथियों के समाने उनका वास्तविक और कुछ अतिरंजित चित्र रक्खें, जिसमें उन्हें अपने व्यवसाय, अपनी धूर्तता, अपने पाखंड से घृणा और लज्जा उत्पन्न हो, और वे उनका परित्याग कर ईमानदारी और सफाई की जिंदगी बसर करें और अंधकार की जगह प्रकाश के स्वयंसेवक बन जाएं। 'ब्रह्मभोज' और 'सत्याग्रह' नामक कहानियों ही को देखिए, जिन पर 'निर्मल' जी को आपत्ति है। उन्हें पढ़कर क्या यह इच्छा होती है कि चौबे जी या पंडित जी का अहित किया जाए? हमने चेष्टा की है कि पाठक के मन में उनके प्रति द्वेष न उत्पन्न हो, हां, परिहास-द्वारा उनकी मनोवृत्ति दिखाई है। ऐसे चौबों को देखना हो, तो काशी या वृंदावन में देखिए और ऐसे पंड़ितों का देखना हो तो, तो वर्णाश्रम स्वराज्य संघ में चले जाइए, और यदि निर्मल जी पहले ही उस धर्मात्मा दल में नहीं जा मिले हैं, तो अब उन्हें चटपट उस दल में जा मिलना चाहिए, क्योंकि वहां उन्हीं की मनोवृत्ति के महानुभाव मिलेंगे। और वहां उन्हें मोटेराम जी के बहुत से भाई-बंधु मिल जाएंगे, तो उनसे कहीं बड़े सत्याग्रही होंगे। हमने कभी इस समुदाय की पोल खोलने की चेष्टा नहीं की, केवल मीठी, चुटकियों से और फुसफुसे परिहास से काम लिया, हालांकि जरूरत थी बर्नार्ड शॉ जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति की, जो घन के-से चोट लगाता है।

निर्मल जी को इस बात की बड़ी फिक्र है कि आज से पचास साल बाद के लोग जो हमारी रचनाएं पढ़ेंगे, उनके सामने ब्राह्मण-समाज का कैसा चित्र होगा

और वे हिन्दू समाज से कितने विरक्त हो जाएंगे। हम पूछते हैं महात्मा गांधी के हरिजन आंदोलन को लोग आज के एक हज़ार साल के बाद क्या समझेंगे? यही कि हरिजनों को ऊंची जाति के हिन्दुओं ने कुचल रखा था। हमारे लेखों से भी आज के पचास साल के बाद लोग यही समझेंगे कि उस समय हिन्दू-समाज में इसी तरह के पुजारियों, पुरोहितों, पंडों, पाखंडियों और टकेपंथियों का राज था और कुछ लोग उनके इस राज को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न कर रहे थे। निर्मल जी इस समुदाय को ब्राह्मण कहें, हम नहीं कह सकते। हम तो उसे पाखंडी समाज कहते हैं, जो अब निर्लज्जता की पराकाष्ठा तक पहुंच चुका है। ऐतिहासिक सत्य चुप-चुप करने से नहीं दब सकता। साहित्य अपने समय का इतिहास होता है, इतिहास से कहीं अधिक सत्य। इसमें शरमाने की बात अवश्य है कि हमारा हिन्दू-समाज क्यों ऐसा गिरा हुआ है और क्यों आंखें बंद करके धूर्तों को अपना पेशवा मान रहा है और क्यों हमारी जाति का एक अंग पाखंड को अपनी जीविका का साधन बनाए हुए हैं, लेकिन केवल शरमाने से तो काम नहीं चलता। इस अधोगति की दशा सुधार करना है। इसके प्रति घृणा फैलाइए, प्रेम फैलाइए, उपहास कीजिए या निंदा कीजिए सब जायज है और केवल हिन्दू-समाज के दृष्टिकोण से ही नहीं जायज है, उस समुदाय के दृष्टिकोण से भी जायज है, जो मुफ्तखोरी, पाखंड और अंधविश्वास में अपनी आत्मा का पतन कर रहा है और अपने साथ हिन्दू-जाति को डुबोए डालता है। हमने अपने गल्पों में इस पाखंडी समुदाय का यथार्थ रूप नहीं दिखाया है, वह उससे कहीं पतित है, उसकी सच्ची दशा हम लिखें, तो शायद निर्मल जी को तो न आश्चर्य होगा, क्योंकि वह उसी समुदाय के एक व्यक्ति हैं, लेकिन हिन्दू-समाज की जरूर आंखें खुल जाएंगी, मगर यह हमारी कमजोरी है कि हम बहुत-सी बातें जानते हुए भी उनके लिखने का साहस नहीं रखते और अपने प्राणों का भय भी है, क्योंकि यह समुदाय कुछ भी कर सकता है। शायद इस साम्प्रदायिक प्रसंग को इसीलिए उठाया भी जा रहा है कि पंडों और पुरोहितों को हमारे विरुद्ध उत्तेजित किया जाए।

निर्मल जी हमें 'आदर्शवाद' और कला के विषय में भी कुछ उपदेश देने की कृपा की है, पर हम यह उपदेश ऐसों से ले चुके हैं, जो उनसे कहीं ऊंचे हैं। आदर्शवाद इसे नहीं कहते कि अपने समाज में जो बुराइयां हों, उनके सुधार के बदले उन पर परदा डालने की चेष्टा की जाए, या समाज को एक लुटेरे समुदाय के हाथों लुटते देखकर जबान बंद कर ली जाए। आदर्शवाद का जीता-जागता उदाहरण हरिजन-आंदोलन हमारी आंखों के सामने है। निर्मल जी जबान में तो इस आंदोलन के विरुद्ध कुछ कहने का साहस नहीं रखते, लेकिन उनके दिल में घुसकर देखा जाए, तो मंदिरों का खुलना और मंदिरों के ठेकेदारों के प्रभुत्व का मिटना, उन्हें जहर ही लग रहा होगा, मगर बेचारे मजबूर हैं, क्या करें?

निर्मल जी हमें ब्राह्मण-द्वेषी बताकर संतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने हमें हिन्दू-द्रोही भी सिद्ध किया है, क्योंकि हमने अपनी रचनाओं में मुसलमानों को अच्छे रूप में दिखाया है। तो क्या आप चाहते हैं, मुसलमानों को भी उसी तरह चित्रित करें, जिस तरह पुरोहितों और पाखंडियों को करते हैं? हमारी समझ में मुसलमानों से हिन्दू जाति

को उसकी शतांश हानि नहीं पहुंची है, जितनी इन पाखंडियों के हाथों पहुंची और पहुंच रही है। मुसलमान हिन्दू को अपना शिकार नहीं समझता, उसकी जेब से धोखा देकर और अश्रद्धा का जादू फैलाकर कुछ ऐंठने की फिक्र नहीं करता। फिर भी मुसलमानों को मुझसे शिकायत है कि मैंने उनका विकृत रूप खींचा है। हम ऐसे मुसलमान मित्रों के खत दिखा सकते हैं, जिन्होंने हमारी कहानियों में मुसलमानों के प्रति अन्याय दिखाया है। हमारा आदर्श सदैव यह रहा है कि जहां धूर्तता और पाखंड और सबलों द्वारा निर्बलों पर अत्याचार देखो, उसको समाज के सामने रखो, चाहे हिन्दू हो, पंडित हो, बाबू हो, मुसलमान हो, या कोई हो। इसलिए हमारी कहानियों में आपको पदाधिकारी, महाजन, वकील और पुजारी गरीबों का खून चूसते हुए मिलेंगे, और गरीब किसान, मजदूर, अछूत और दरिद्र उनके आघात सहकर भी अपने धर्म और मनुष्यता को हाथ से न जाने देंगे, क्योंकि हमने उन्हीं में सबसे ज्यादा सच्चाई और सेवा-भाव पाया है। और यह हमारा दृढ़ विश्वास है कि जब तक यह सामुदायिकता और सांप्रदायिकता और यह अंधविश्वास हम में से दूर न होगा, जब तक समाज को पाखंड से मुक्त न कर लेंगे, तब तक हमारा उद्धार न होगा। हमारा स्वराज्य केवल विदेशी जुए से मुक्त करना नहीं है, बल्कि हम सामाजिक जुए से भी, इस पाखंडी जुए से भी, जो विदेशी शासन से कहीं घातक है, और हमें आश्चर्य होता है कि निर्मल जी और उनकी मनोवृत्ति के अन्य सज्जन कैसे इस पुरोहिती शासन का समर्थन कर सकते हैं। उन्हें खुद इस पुरोहितपन को मिटाना चाहिए, क्योंकि वह राष्ट्रवादी हैं। अगर कोई ब्राह्मण, कायस्थों के करारदाद की, उनके मदिरा सेवन की, या उनकी अन्य बुराइयों की निंदा करे, तो मुझे जरा भी बुरा न लगेगा। मैंने खुद इन बुराइयों की ओर समाज को मुखातिब किया है। कोई हमारी बुराई दिखाए और हमदर्दी से दिखाए, तो हमें बुरा लगने या दांत किटकिटाने का कोई कारण नहीं हो सकता। मिस मेयो ने जो बुराइयां दिखाई थीं उनमें उसका दूषित मनोभाव था। वह भारतीयों को स्वराज्य के अयोग्य सिद्ध करने के लिए प्रमाण खोज रही थी। क्या निर्मल जी मुझे भी ब्राह्मण-द्रोही, हिन्दू-द्रोही की तरह स्वराज्य-द्रोही भी समझते हैं?

अंत में मैं अपने मित्र निर्मल जी से बड़ी नम्रता के साथ निवेदन करूंगा, कि पुरोहितों के प्रभुत्व के दिन अब बहुत थोड़े रह गये हैं और समाज और राष्ट्र की भलाई इसी में है कि जाति से यह भेदभाव, यह एकांगी प्रभुत्व यह खून चूसने की प्रवृत्ति मिटायी जाए, क्योंकि जैसा हम पहले कह चुके हैं, राष्ट्रीयता की पहली शर्त वर्ण-व्यवस्था, ऊंच-नीच के भेद और धार्मिक पाखंड की जड़ खोदना है। इस तरह के लेखों से आपको आपके पुरोहित भाई चाहे अपना हीरो समझें और मंदिर के महंतों और पुजारियों की आप पर कृपा हो जाए, लेकिन राष्ट्रीयता को हानि पहुंचती है और आप राष्ट्र-प्रेमियों की दृष्टि में गिर जाते हैं। आप यह ब्राह्मण समुदाय की सेवा नहीं, उसका अपमान कर रहे हैं।

[संपादकीय। 'जागरण', 8 जनवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

सरकारी नौकरियां और सांप्रदायिकता

भारत सरकार के गृहविभाग ने सरकारी नौकरियों के बंटवारे के संबंध में अभी-अभी जो विज्ञप्ति प्रकाशित की है, उससे उसकी नीयत का ठीक-ठीक पता लग जाता है। सांप्रदायिकता के नाम पर, मुसलमानों के लिए पच्चीस प्रतिशत स्थान सुरक्षित कर दिए गए हैं। हमारी समझ में तो इसका अर्थ यही है कि सरकार हमारी राष्ट्रीय प्रगति को कुचलने का प्रयत्न कर रही है। वह नहीं चाहती कि हममें जीवन आ जाए। इस प्रकार सांप्रदायिकता का पोषण करके वह हमारी राष्ट्रीयता को हवा में उड़ा देना चाहती है। सरकार का यह रुख बड़ा भयावह है। राष्ट्र के लिए यह कितना खतरनाक सिद्ध होगा, इसकी कल्पना करते ही महान् खेद होता है, लेकिन सरकार को इसकी क्या परवाह है। उसे तो राष्ट्रीयता छिन्न-भिन्न करनी है। प्रत्येक समझदार व्यक्ति ने स्पष्ट शब्दों में नौकरियों के सांप्रदायिक विभाजन का विरोध किया है। किंतु सरकार तो अपनी ही मनमानी करती है। हम उसके इस रुख को घातक समझते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि हम मुसलमानों की उन्नति के विरोधी हैं। हमें उनके लिए पच्चीस प्रतिशत स्थानों के सुरक्षित होने पर भी खेद नहीं है, खेद है इस सांप्रदायिक मनोवृत्ति पर, जिससे राष्ट्रीयता का गला घुट रहा है। नौकरियों के इस प्रकार विभाजन से क्या होगा? सांप्रदायिक द्वेष की मनोवृत्ति पनपेगी, धर्मांधता बढ़ेगी, हृदय ईर्ष्यालु होंगे, योग्यता का मूल्य गिर जायेगा। मूल्य रहेगा, सांप्रदायिकता का। उसी का भयानक तांडव दृष्टिगोचर होगा, और यह राष्ट्र के लिए कितना घातक हो सकता है, यह किसी भी समझदार व्यक्ति की समझ से बाहर की बात नहीं है। प्रत्येक समझदार व्यक्ति इस दृष्टिकोण का विरोध करेगा और चाहेगा कि नौकरियां संप्रदाय के नाम पर नहीं, योग्यता के नाम पर दी जायं। फिर चाहे उसमें मुसलमानों के हाथ पच्चीस के बजाय पचास प्रतिशत ही क्यों न लग जायें, किसी समझदार को इससे दु:ख न होगा। लेकिन इस प्रकार सांप्रदायिक आधार पर नौकरियो का विभाजन किया जाना खतरनाक है। इस प्रकार की नियुक्तियो से न तो हिन्दुओं ही को लाभ हो सकता है, न मुसलमानों को, बल्कि इससे दोनों के बीच स्थाई मतभेद और विरोध की नींव पड़ेगी। हम तो यही कहेंगे कि भारत सरकार का यह प्रयोग, केवल राष्ट्रीय हित को खतरे में डालने के लिए ही हुआ है। हिन्दू और मुसलमानो का एक होना वह पसंद नहीं करती और इसी कामना से उसने राष्ट्रीयता जीवन में इस सांप्रदायिक विष का इंजेक्शन दिया है।

[सपादकीय। 'हस', जुलाई, 1934 मे प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-2 मे सकलित।]

स्व० पं० चन्द्रशेखर शास्त्री

अभी गत सप्ताह प्रयाग में पं० चन्द्रशेखर शास्त्री का स्वर्गवास हो गया। शास्त्री जी संस्कृत के विद्वान् होते हुए भी हिन्दी के बड़े हिमायती और सेवक थे। बहुत वर्षों से आप हिन्दी की सेवा करते आ रहे थे। कई वर्षों आपने संस्कृत में 'शारदा' नामक

उच्चकोटि की पत्रिका निकाली थी, पर वह अधिक वर्ष न चल सकी। साहित्य से आपको बड़ा अनुराग था, बल्कि यह कहना चाहिए कि साहित्य-सेवा करना आपका एक व्यसन ही था। दस-बारह वर्षों पूर्व आपने 'समाज' नामक एक हिन्दी पत्र भी निकाला था, पर हिन्दी का दुर्भाग्य कि वह भी न चल सका। पटना की शिक्षा के संपादन-विभाग से भी आपका संबंध रहा है। आपने अनेक ग्रंथों का निर्माण किया है। साहित्य सम्मेलन की सेवा आप बड़े निःस्वार्थ भाव से करते रहे हैं। आपका सारा जीवन साहित्य की सेवा करते ही बीता। इधर एक बहुत बड़ा आयोजन आपने किया था–सचित्र और संपूर्ण सटीक हिन्दी महाभारत प्रकाशन करने का। कुछ खंड प्रकाशित हो भी चुके थे कि आप चल बसे। हम शास्त्री जी के सुपुत्र श्री प्रफुल्लचन्द्र ओझा और उनके परिवार से संवेदना प्रकट करते और आशा रखते हैं कि वे शास्त्रीजी के शेष कार्य को उसी योग्यता और उत्साह से पूर्ण करने का प्रयत्न करेंगे।

[संपादकीय। 'हंस', जुलाई, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

स्वर्गीया मैडम क्यूरी

गत सप्ताह संसार प्रसिद्ध रेडियम की आविष्कर्त्री मैडम मेरी क्यूरी का स्वर्गवास हो गया। इसमें संदेह नहीं कि जगत के विद्वानों, खासकर वैज्ञानिकों के लिए यह समाचार महान् दुखदायी होगा। आपका रेडियम का आविष्कार विश्व के इतिहास में एक महान् कार्य है। रेडियम से साधारणत: अब सभी लोग थोड़े-बहुत परिचित हो गए हैं। यह संसार में सबसे मूल्यवान् धातु है और बहुत ही कम तादाद में पाई जाती है। कहा जाता है कि दो सौ टन से भी अधिक कच्ची धातु के शोधन करने पर केवल एक ग्राम रेडियम प्राप्त हो सकता है और इस एक ग्राम रेडियम का मूल्य दो लाख रुपया होता है। इससे ख्याल किया जा सकता है कि संसार में इससे मूल्यवान धातु और कोई नहीं है। सन् 1896 में बेक्वेरेल ने पिनाकम के रेडियो-ऐक्टिव गुणों का ज्ञान प्राप्त किया। मैडम क्यूरी ने भी अपने पति के साथ इस तत्व पर अनुसंधान आरंभ कर दिया. आस्ट्रियन सरकार के द्वारा पिच ब्लैंड नामक पिनाकम की एक टन कच्ची धातु, इन्हें अनुसंधान के लिए प्राप्त हुई। आपने अपने टूटे झोंपड़े में अपना कार्यारंभ कर दिया। आज वह टूटा झोंपड़ा वैज्ञानिकों की दृष्टि में बड़ा महत्वपूर्ण है।

मैडम क्यूरी ने कई पुस्तकें भी लिखी हैं। सन् 1903 में आपको भौतिक विज्ञान विषय का नोबेल पुरस्कार मिला था। रायल सोसायटी ने पदक से और पेरिस विश्व-विद्यालय ने डॉक्टर की उपाधि से आपको सम्मानित किया था। सन् 1906 में आपके पति मिस्टर क्यूरी की मृत्यु हुई और सन् 1934 के इसी सप्ताह में मैडम क्यूरी भी स्वर्गवासिनी हो गईं। यद्यपि आप इस समय संसार में नहीं हैं, पर इसमें संदेह नहीं कि आपका यश सदा-सर्वदा अमर रहेगा।

[संपादकीय। 'हंस', जुलाई, 1934 में प्रकाशित। विविध प्रसंग, भाग-3 में संकलित।]

हिटलर की तानाशाही

अभी-अभी, गत पक्ष में, हिटलर ने जर्मनी में भीषण हत्याकांड किया, उससे वहां हाहाकार मच गया है। कहा जाता है कि लगभग दो सौ नाजी नेताओं को कत्ल कर दिया गया। जब कुछ समय पूर्व जर्मनी के प्रचार मंत्री हर गोबेल्स ने हर वॉन पापेन का भाषण प्रकाशित करने की मनाही कर दी थी, तभी यह ख्याल हो गया था कि नाजी-पक्ष के प्रधान मंडल में बहुत शीघ्र कलह और विग्रह उत्पन्न हो जाएगा और बहुत कुछ हो भी गया था, पर जर्मनी के सर्वेसर्वा हर हिटलर ने अपने बुद्धि-कौशल और वाक्‌पटुता से उस समय उसे दूर कर दिया। किंतु, उपर्युक्त घटना से यह साफ समझ में आ गया था कि नाजी-दल में घोर मतभेद हो गया है और वही शीघ्र ही रंग लाएगा। और असल में हुआ भी वही। बर्लिन और म्युजिक के नाजी तूफानी दल के लगभग दो सौ नेताओं को हर हिटलर ने हवाई जहाज से यात्रा करके स्वत: गिरफ्तार किया। बर्लिन के चांसलर वान श्लीपर ने इस गिरफ्तारी पर आपत्ति की तो उन्हें गोली का निशाना बना दिया गया। उनकी स्त्री पति को बचाने के लिए बीच में आईं, तो वह भी गोली का शिकार हो गईं। गिरफ्तार किए हुए नाजी नेताओं को अपने विचार प्रकट करने के लिए एक घंटे का समय भी नहीं दिया गया। तुरंत तलाशी ली गई, जांच की गई और उनके प्राणांत कर देने का हुक्म हो गया। वाइस चांसलर हर वॉन पापेन को नजरबंद कर लिया गया। उनके घर की तलाशी ली गई। उनके रहन-सहन पर नजर रखी गई। पर भेद की कोई बात न मालूम हुई और उन पर से प्रतिबंध उठा लिया गया।

इस नृशंस हत्याकांड के विषय में यह कहा गया है कि मृत अपराधियों ने जर्मनी के वर्तमान शासन को उलट देने के लिए एक प्रचंड षड्यंत्र रचा था और उसका इस प्रकार दमन न कर दिया जाता, तो देश पर घोर विपत्ति आ जाती। पर, इसके विषय में प्रमाण तो कोई नहीं दिया गया। जब यह कहा जाता है कि दो सप्ताह पूर्व ही इस षड्यंत्र के समाचार मिल गए थे तो यह प्रश्न सामने आ जाता है कि हत्याकांड वाले दिन तक भी वह समाचार प्रकाशित क्यों नहीं किया गया? और क्यों ऐसा भयंकर, बर्बर, रोमांचकारी और घृणास्पद रक्तपात मचाया गया? देश की रक्षा के नाम पर भी यह नारकीय कृत्य, हर-हिटलर के माथे पर अपनी जघन्यता का कलंक लगा देता है।

और यह मान लिया जाए कि मृत नाजी नेताओं ने जर्मनी के वर्तमान शासन के खिलाफ षड्यंत्र किया था तो इससे यही प्रकट होता है कि जर्मनी की प्रजा का, या उनके अपने साथियों का ही एक बहुत बड़ा दल, उनका शासन मानने को तैयार नहीं है। लगभग पच्चीस लाख नाजियों में से तृतीयांश उनके शासन के खिलाफ है और वे कम्युनिस्ट या साम्यवादी विचार रखते हैं, यह भी कहा जाता है कि हर हिटलर ने शासनाधिकार प्राप्त करने के समय प्रजा और अधिकारी वर्ग के हित-साधन के लिए जो प्रतिज्ञा की थी वह पूरी नहीं की गई, इससे भी लोगों में असंतोष फैल गया है। आरंभ में स्टार्म ट्रूप्स या तूफानी-दल के नाम से जो नाजी दल सेना खडी

की गई थी, और जिसकी संख्या पच्चीस-तीस लाख है, आर्थिक मंदी के कारण उसके खर्च का निर्वाह नहीं हो रहा है और इसलिए हिटलर उसे चुपचाप तोड़ देना चाहता है। उसके इस कार्य में मृत नाजी नेता विघ्न-स्वरूप थे।

लंदन के कुछ प्रतिष्ठित अखबारों ने यह भी छापा है कि हिटलर के भूतपूर्व केसर को पुन: जर्मनी में लाकर राजतंत्र स्थापित करना चाहता है और नाजी दल और उसके मृत नेता हिटलर के इस कार्य के विरोधी थे, इसीलिए उन्हें अपने मार्ग से यों क्रूरतापूर्वक हटा दिया गया। अभी-अभी जो मुसोलिनी-हिटलर सम्मेलन हुआ था, कहा जाता है कि उसमें मुसोलिनी ने हिटलर को पुन: जर्मनी में राजतंत्र स्थापित करने की सलाह दी थी। अगर मुसोलिनी ने राजतंत्र के लिए सलाह दी है, तो बुरा नहीं किया, वे भी तो इटली में वही राजतंत्र स्थापित करके सर्वेसर्वा पद का सारा सुख लूट रहे हैं। पर राजनीतिज्ञों का यह खयाल है कि हिटलर ने अगर भूतपूर्व केसर को तख्त पर बैठाया, तो उसी के नहीं, सारे संसार के सुख-सौभाग्य पर वज्रपात हो जाएगा।

हिटलर ने जर्मनी के पूंजीपतियों के हाथ की कठपुतली बनकर कुछ समय पूर्व यूहदियों पर जो अत्याचार किया था, उसी से उसी ख्याति संसार में हो गई और अब इस क्रूर कर्म ने तो विद्युत-प्रकाश डालकर उसके हृदय का रग-रेशा तक साफ दिखला दिया है।

[संपाकदीय। 'हंस', जुलाई, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

ग्राहकों से

'हंस' के चौथे वर्ष का यह 11वां अंक है। 12वां अंक 15 सितंबर तक तैयार होकर रवाना कर दिया जाएगा। अतएव जिनका वार्षिक मूल्य 12वें अंक से समाप्त हो जाता है, 'हंस' के उन प्रेमी ग्राहकों से निवेदन है कि वे आगामी वर्ष के लिए 12वां अंक पहुंचते ही साढ़े तीन रु॰ मनीआर्डर भेज दें। इससे हमको वी॰ पी॰ भेजने के झंझट से बचने का अवसर मिलेगा और उनके भी चार आने बच जाएंगे।

किसी विशेष कारणवश जो सज्जन आगामी 5वें वर्ष से ग्राहक न रहना चाहते हों, वे कृपाकर अपने किन्हीं मित्र को ग्राहक बना दें, या जो ऐसा भी न कर सकते हों, वे आगामी अंक के पहुंचते ही हमें सूचित कर दें ताकि हम उनकी सेवा में वी॰ पी॰ भेजने की व्यवस्था न करें। जिन सज्जनों की ओर से रुपया या कोई सूचना न मिलेगी, उनकी सेवा में वी॰ पी॰ भेजा जाएगा और आशा है, वे उसे ध्यान रखकर ग्रहण करने की कृपा करेंगे, अन्यथा उनकी ज़रा-सी असावधानी से, हमारी प्रति ग्राहक एक रुपया की हानि सहज ही हो जाएगी। हमें पूर्ण विश्वास है कि हमारे ग्राहक हमें हानि में न डालेंगे।

[संपादकीय। 'हंस', अगस्त, 1934 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

चुनाव चुथौअल

कांग्रेस के चुनावों में मानवता की जो छीछालेदार हुई है, वह परम खेदजनक है। महाकोशल से परम राष्ट्रसेवक सेठ गोविन्ददास तथा पं॰ द्वारिकाप्रसाद मिश्र ने और इधर प्रयाग से श्री सुन्दरलाल तथा श्रीमती उमा नेहरू ने कई आकस्मिक और दुःखद घटनाओं के कारण—जिन्हें हम यहां दुहराना नहीं चाहते—चुनाव में न खड़े होने की घोषणा करके अपने प्रतिद्वंद्वियों के लिए मार्ग साफ कर दिया है। यह उनकी उदारता है और यह तो प्रत्यक्ष है कि गृहयुद्ध और फूट की संभावना ने ही उक्त सज्जनों को यह निश्चय करने के लिए बाध्य किया है। यह बड़े खेद और लज्जा की बात है कि चुनाव के लिए इस प्रकार बखेड़ा उठाया जाता है। योग्य व्यक्तियों के होते हुए भी उनके मार्ग में कांटे बिछाकर जो लोग स्वयं खड़े होना चाहते हैं, उन्हें समझ लेना चाहिए कि वे यह अनुचित कार्य करके राष्ट्र का हित नहीं, अहित कर रहे हैं। उनकी देशभक्ति तो इसी में है कि वे अपने से अधिक त्यागी और देश-सेवक को राष्ट्र-सेवा का अवसर प्रदान करते, उसे सहयोग देते। यह न करके अपने सामने किसी को त्यागी, राष्ट्र-हितैषी न मानकर, योग्य व्यक्तियों के विरुद्ध प्रदर्शन करता, उनके प्रतिद्वंद्वी होकर खड़े होना, नोटिसबाजियों के द्वारा गाली-गलौज करना, अक्षम्य देश-द्रोह है। वोटरों को भी ऐसे व्यक्तियों से सावधान होने की आवश्यकता है।

चुनाव में खड़े होने का अर्थ है, देश का प्रतिनिधित्व करने की तैयारी, उसके हित के लिए कुछ करने का व्रत लेना, राष्ट्रीय हित के विरोधियों पर विजय प्राप्त करने की प्रतिज्ञा करना, देश को स्वतंत्रता की ओर ले जाना तथा उसका कल्याण करना। जो इस जिम्मेदारी को जानता है, देशहित का जिसे गंभीर अनुभव है-राष्ट्र का प्रतिनिधि बनने का अधिकार उसी को है। और जो, अपने से अधिक योग्य व्यक्ति के होते हुए भी उसकी उपेक्षा करके उसका प्रतिद्वंद्वी बनकर खड़ा होना चाहता है, वह अनधिकारी है। राष्ट्रीय प्रतिनिधि बनने का उसे कोई हक नहीं है। उसे तो वोट ही न मिलने चाहिए। चुनाव का उम्मीदवार वही हो सकता है, जिसने राष्ट्र के लिए त्याग किया हो, जो राष्ट्रहित को गंभीरता से जानता हो, जनता जिसे अपना प्रतिनिधित्व करने के योग्य समझती हो, जिसका व्यक्तित्व संदेहहीन और पवित्र हो, देश की दरिद्रता और दुःखों को देखकर जिसकी आंखों में आंसू आते हों और उनका प्रतिकार करने के लिए जो तन, मन, धन से प्रयत्नशील हो। और जो केवल यश की इच्छा से, या सम्मान की भूख से त्याग दिखलाता हो, केवल कौंसिलों अथवा एसेंबली का मेंबर बन जाने की धुन रखता हो, उसे राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व करने का कोई अधिकार नहीं है और न वह राष्ट्र का हित ही कर सकता है। ऐसे लोगों को वोट देना, राष्ट्रीय अहित में सहयाग देना है।

[संपादकीय। 'हंस', अगस्त, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

वॉन हिंडनबर्ग का स्वर्गवास

गत महायुद्ध के तेजस्वी नक्षत्र तथा जर्मनी के प्रतापी प्रेसीडेंट मार्शल वॉन हिंडनबर्ग अब इस संसार में नहीं हैं। गत दो अगस्त को जर्मनी में उनका स्वर्गवास हो गया।

वॉन हिंडनबर्ग एक कुशल सेनापति तो थे ही साथ ही गंभीर राजनीतिज्ञ भी थे। जितनी कुशलता के साथ उन्होंने एक सुयोग्य सेनापति के रूप में युद्ध का संचालन किया था, उतनी ही गंभीरता और उत्कृष्टता के साथ अपने प्रेसीडेंट पद को भी निभाया था। यही कारण है, कि गत महासमर में हारे जाने पर भी जर्मनी विजयी रहा। वॉन हिंडनबर्ग ने दूरदर्शिता से काम लेकर युद्ध बंद कर दिया और ब्रसेल्स की संधि पर हस्ताक्षर करके मित्र राष्ट्रों के प्रबल संघर्ष से पस्त हो रहे स्वदेश को नष्ट होने से बचा लिया। गत महायुद्ध के दर्शक भली-भांति जानते हैं, कि उस समय अगर युद्ध बंद न हो जाता तो जर्मनी में आज उठने की शक्ति न आती। इस तरह जर्मनी की वर्तमान जागृति तथा उसके शक्तिशाली राष्ट्र होने का श्रेय हिंडनबर्ग को है। जब जर्मनी-फ्रांस युद्ध का सूत्रपात हो गया था, तब रूस ने भी जर्मनी पर पूर्वीय सीमा से धावा बोल दिया। यह जर्मनी के लिए महान् संकट का समय था। हिंडनबर्ग उस समय अवसर-प्राप्त पेंशनर थे। किंतु, इन प्रबल शत्रुओं से मोर्चा लेना उन्हीं का काम था, क्योंकि सब सेनापति जवाब दे चुके थे। निदान हिंडनबर्ग के पास कैसर तथा अन्य देशभक्तों के तार आने लगे और देश की पुकार पर बूढ़े हिंडनबर्ग से न रहा गया। वृद्ध शरीर ने पुन: सेनापति पद को संभाला। वृद्ध हिंडनबर्ग ने पूर्वीय सीमा का काफी अच्छा भौगोलिक अध्ययन कर रक्खा था, उसके फलस्वरूप उन्होंने बड़ी कुशलता के साथ रूसी सेना को दलदल में फंसाकर पस्त कर दिया। छ: लाख रूसी सेना को आत्म-समर्पण करना पड़ा। इस विजय ने भी अपने सच्चे सेवक का पूरा-पूरा सम्मान किया और 4 अप्रैल, 1925 को हिंडनबर्ग जर्मनी के प्रेसीडेंट बना दिए गए। सात वर्ष प्रेसीडेंट रहने के उपरांत उनका कार्यकाल समाप्त हुआ, किंतु हिंडनबर्ग पुन: खड़े हुए और कहा- अगर इस बार भी मैं चुना गया, तो देश की काफी सेवा करूंगा, अन्यथा जर्मनी को मुझसे यह कहने का हक न रहेगा कि मैं उसकी सेवा के लिए तैयार न था। इस चुनाव में हिटलर भी खड़े हुए थे, किंतु जर्मनी हिंडनबर्ग को पहचानता था। उनके सामने कोई ठहर न सका। बहुमत उन्हीं के पक्ष में रहा और वह 1933 में पुन: प्रेसीडेंट चुन लिए गए।

प्रेसीडेंट पद पर आसीन होने के पश्चात् वॉन हिंडनबर्ग ने जर्मनी की क्या-क्या सेवाएं कीं, यह राजनीति के जानकारों से छिपा नहीं है। ब्रसेल्स की संधि को स्वीकार करने के पश्चात् प्रेसीडेंट होने पर हिंडनबर्ग ने प्रधान कार्य यह किया कि अपने देश की अस्त-व्यस्त शक्ति का पुनर्गठन कर डाला और उसे शक्तिशाली राष्ट्र में परिणित कर दिया। नवशक्ति-प्राप्त जर्मनी अपने पैरों खड़ा हो गया और अपमान से भरी हुई ब्रसेल्स की संधि को ठुकरा दिया, हर्जाने का रुपया देने से इंकार कर दिया, मित्र राष्ट्रों में बंटे हुए अपने अंग को भी मांगा और वह एक

स्वतंत्र सिंह की तरह दहाड़ा भी। यदि इस समय का जर्मनी ब्रसेल्स की संधि से दबा हुआ जर्मनी होता, तो मित्रराष्ट्र उसे तुरंत दबोच डालते, किंतु अब तो वह शक्तिशाली जर्मनी था, हिंडनबर्ग ने उसे सम्मानित जीवन व्यतीत करने के योग्य बना दिया था, ऐसी अवस्था में वह कैसे दबता? किसी की हिम्मत न थी, जो उसको छेड़ सकता। जर्मनी अब शक्तिशाली राष्ट्र है, अब उसमें बड़े-से-बड़े शत्रु को भी धूल में मिलाने की सामर्थ्य है। यह सब हिटलर का कार्य नहीं है, उसी वृद्ध हिंडनबर्ग का प्रताप है। उसी का सींचा हुआ यह पौदा विशालता धारण कर ऊंचा सिर किये तना हुआ है। इस प्रकार जर्मनी का नव-निर्माण करके सतासी वर्ष की अवस्था में वह बूढ़ा राष्ट्रपति सर्वदा के लिए मातृभूमि की गोद में सो गया और जर्मनी को शोक-सागर में डाल गया। वही एक ऐसा आदमी था, जिसने हिटलर को भी अपने पंजे में कर रक्खा था और उसके सामने हिटलर को दबना पड़ता था, किंतु अब उसके अभाव में हिटलर की स्वेच्छाचारिता क्या करेगी, यह नहीं कहा जा सकता। हिटलर के अब तक के कामों को देखते हुए तो यही कहना पड़ता है कि जर्मनी का भविष्य उतना सुंदर नहीं रहा, जितना हिंडनबर्ग के समय था।

हिंडनबर्ग के अवसान से न केवल जर्मनी की ही हानि हुई है, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय क्षति भी भारी हुई है। हिंडनबर्ग अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के अच्छे जानकार थे। जिस राष्ट्र को ऐसे महापुरुषों को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त होता है, वास्तव में वह राष्ट्र धन्य है। यद्यपि हिंडनबर्ग पंचतत्व को प्राप्त हो गए हैं, किंतु वे अमर हो चुके हैं। उनका देशभक्ति का आदर्श, उनकी विजय-पताका फहराता रहेगा।

[संपादकीय। 'हंस', अगस्त, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

लेखक-मंडल

प्रयाग के श्री सत्यजीवन जी वर्मा ने कुछ समय से पत्रों में लेखक-मंडल कायम करने के लिए काफी लिखा-पढ़ी कर रखी थी। अनेक विद्वानों ने भी इस विषय में अपने विचार व्यक्त किए थे। अभी पिछले सप्ताह ही सत्यजीवन वर्मा ने लेखक-मंडल के कार्य-क्षेत्र के विषय में भी एक लेख लिखकर प्रकाश डाला था। पर इसी बीच अख़बारों में पढ़ा कि इटावा में अखिल भारतवर्षीय लेखक-मंडल कायम हो गया। आश्चर्य, यह भी एक यशोलिप्सा का उदाहरण है। प्रयाग से इसका प्रयत्न आरंभ हुआ, और अभी उसके कार्य-क्षेत्र पर विचार ही हो रहा था कि लेखक-मंडल कायम हो गया। सैद्धांतिक रूप से विचार करने पर मालूम होता है कि इस प्रकार अचानक अखिल भारतीय लेखक-संघ कायम करके कोई अधिक अक्लमंदी का काम नहीं किया गया। इसके माने तो यही है कि जिस कार्य को प्रयाग के हिन्दी-प्रेमियों ने उठाया था, उसे बीच ही में इटावा के कुछ सज्जनों ने हथियाकर सारा यश अपने सिर ले लेना चाहा है। जिस लेखक-संघ के लिए महीनों से आंदोलन हो रहा था,

उसको इस प्रकार एक जगह चार-छ: व्यक्ति इकट्ठा होकर कायम कर लें, यह कैसी बात है? जब वह अखिल भारतीय है, तो उसका बहुत बड़ा रूप है और उसे अखिल भारतीय आयोजन करके, अधिकाधिक प्रमुख व्यक्तियों के हाथों स्थापित होना चाहिए था।

[संपादकीय। 'हंस', अगस्त, 1934 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

साहित्य का उत्थान या पतन?

हिन्दी में आज पत्र-पत्रिकाओं की अति-वृद्धि हो रही है, इससे साधारणतया यह कहा जा सकता है कि यह साहित्योत्थान के लक्षण हैं। अच्छी पूंजी से, अच्छे पैमाने पर उच्चकोटि के पत्र का स्थाई रूप से प्रकाशन हो, तो अवश्य साहित्योत्थान के लक्षण हैं। पर, बात यह नहीं है। आज यश की लालसा के फेर में पड़कर साधारण से साधारण व्यक्ति भी, बिना साधन के, किसी एकाध, या दो-चार मित्रों को उल्लू बनाकर, या गांठ का सौ-पचास रुपया निकालकर पत्रकार बनने की धुन में किसी पत्र के प्रकाशन और संपादन करने का विज्ञापन कर देते और 'प्रधान संपादक' की छाप से पत्र निकाल देते हैं।

आज किसी भी विचारवान् से यह छिपा नहीं है कि पत्र-प्रकाशन बिना विशेष व्यवसायी साधनों के सफल नहीं होता, पर यश की लालसा उन्हें इस गंभीर प्रश्न पर विचार करने का अवसर ही नहीं देती। और फल यह होता कि ऐसे पत्र चार-छह या दस-बारह, अंक निकालकर अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देते हैं। प्रेस वाले अपने बिल के लिए चिल्लाते हैं और ग्राहक अपने चंदे के लिए चीखते हैं, पर किसी को पावना नहीं प्राप्त होगा। इस अविचार से यह होता है कि पत्रों पर से जनता का विश्वास उठ-सा जाता है और अच्छे-अच्छे पत्रों के लिए भी इसका परिणाम विघ्न और अनिष्टकारक होता है।

एक सज्जन हैं, जिन्होंने आठ-दस वर्षों पूर्व एक पत्रिका का संपादन किया था, और दुर्भाग्य से उसके एक-दो अंक ही निकल कर पत्रिका बंद हो गई थी, पर वे महानुभाव अभी तक अपने को उस पत्रिका का संपादक लिखे जाते हैं। अपने घर के आगे भी उन्होंने 'संपादक....' साइनबोर्ड लगा रखा है। यह है यश की लालसा का एक उदाहरण।

अभी कुछ समय पूर्व एक सज्जन ने हमारे एक मित्र को लिखा कि हम पाक्षिक 'जागरण' की कोटि का एक साहित्यिक पाक्षिक-पत्र प्रकाशित करना चाहते हैं। उन्होंने सलाह दी-"भाई, यह कार्य बड़ा कठोर है, खूब समझ-बूझकर इस काम में हाथ लगाइए। बहुत अच्छे संपादक की व्यवस्था कीजिए। ऐसा न हो कि आप बिना उचित पूंजी एकत्र किए, बिना अच्छे साधन जुटाए, बिना अच्छा संपादक चुने पत्र निकाल दें और असफल होकर उसे शीघ्र ही अकाल कालकवलित हो जाना पड़े। इस प्रकार जरा जीर्ण सन्तानोपत्ति की तरह पत्रों का प्रकाशन तो देश के दुर्भाग्य की तरह माता

हिन्दी के सिर पर भी कलंक का टीका लगाता है। पर इस विनीत निवेदन से उनकी यशोलिप्सा में जरा भी कमी न हुई। पत्र निकला। हमने देखा। बड़ा खेद हुआ। साहित्यिक पत्र की जगह वह एक कूड़ा-करकट पत्र था। किसी भी अच्छे लेखक का उसमें कोई लेख न था। कुछ लेख तो ऐसे थे, जो पुराने पत्रों से काट-छांटकर, अपने बनाकर छाप दिए गए थे। संपादक तो ऐसे थे, जिनका नाम भी कभी किसी साहित्यिक ने न सुना था और उनके संपादन का भी वही हाल था। ऐसे अनेक पत्र अविचार के कारण पैदा होते और मर जाते हैं। इसीलिए यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह साहित्य का उत्थान है या पतन?

[संपादकीय: 'हंस', अगस्त, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-3 में संकलित।]

आतंकवाद का उन्मूलन

आतंकवाद को नष्ट करने के संबंध में विचार करने के लिए कलकत्ते के कुछ चुने हुए व्यक्तियों की एक सभा हुई थी। उसमें सर्वसम्मति से एक प्रार्थना-पत्र तैयार किया गया है, जो सरकार के पास भेजा जायेगा। सभा करने वालों का अभिमत है कि जनता की राय को संगठित किये बिना आतंकवाद नष्ट नहीं किया जा सकता। साथ ही एक बात और भी महत्वपूर्ण कही गयी है, वह यह है कि आतंकवाद का मूल कारण बेकारी है। निस्संदेह सभा की राय सोलहों आना सच है। 'मरता क्या न करता'। जब बंगाल का युवक अपना घर फूंककर उच्च शिक्षा के नाम पर बी॰ ए॰, एम॰ ए॰ पास करता है और उसे उसके इस कठोर परिश्रम और सर्वस्व-स्वाहा का फल बेकारी और अपनी साधारण-से-साधारण आवश्यकताओं को पूर्ण करने की असमर्थता में मिलता है, तो उसे अपने जीवन से निराशा हो जाती है, वह पागल हो जाता है, उसके हृदय में विद्रोह अग्निक्रीड़ा करने लगता है।

वह सोचता है—क्या करूं? जीवन कैसे बिताऊं? क्या मुझे मेरे परिश्रम का यही फल मिलना चाहिए था? मेरे सहस्रों रुपयों के बलिदान का पुरस्कार यही बेकारी है? वह आतंकवादी बन जाता है। इसके सिवा उसके लिए जीवन को बिताने का कोई मार्ग नहीं है। इस तरह बेकारी ही आतंकवाद का मूल कारण है। जब तक बंगाल सरकार बेकार युवकों को काम नहीं देती, उन्हें अपनी आवश्यकताओ को पूर्ण करने के साधन नहीं बतलाती, तब तक वह चाहे कितने ही कठोर-से-कठोर और घातक कानून बना दे, कितनी ही दमननीति से काम ले, आतंकवाद के शमन में सफल नहीं हो सकती। आज भारतवर्ष के द्वारा समस्त योरोप अपने खजाने भर रहा है, जापान अपनी जेबें गरम कर रहा है। सभी मालामाल हो रहे हैं और भारतीय बच्चे भूखे तड़प रहे हैं। वे अपने ही देश में सुखी नहीं रह सकते, उनको परिश्रम करके जीवन बिताने का ठिकाना भी नहीं है। फिर वे क्यों न आतंकवादी बन जायें, क्यों न वे विद्रोही हो जायें? सरकार स्वयं उन्हें विद्रोही बनने का अवकाश दे रही है। अगर वह सच्चे हृदय से चाहती है कि आतंकवाद नष्ट हो जाये, तो

जितनी भी जल्द हो सके उसे उनकी बेकारी का इलाज करना चाहिए। आतंकवाद को दूर करने का यही सच्चा मार्ग है।

[संपादकीय। 'हंस', सितंबर, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

कालाकांकर नरेश का स्वर्गवास

साहित्य-क्षेत्र में तो कालाकांकर का नाम पचासों वर्षों के पूर्व ही चमक उठा था, पर इधर वह राष्ट्रीय क्षेत्र में भी जगमगाने लगा था। कालाकांकर के वर्तमान नरेश श्री अवधेशसिंह जी ने अपने को पूर्ण राष्ट्रवादी और कांग्रेस-भक्त बनाकर यू॰ पी॰ के तालुकेदार वर्ग में उच्च पद प्राप्त कर लिया था। कालाकांकर को महात्मा जी के पदार्पण द्वारा आप ही ने सर्वप्रथम पावन बनाया था। आपने अपने परिवार भर का ही रंग एकदम बदल दिया था। आप बड़े उत्साही, देशभक्त और निर्भीक व्यक्ति थे। साइमन-कमीशन का बायकाट करने में आपने बड़ा जोरदार काम किया था और फलस्वरूप आपको अनेक कष्ट उठाने पड़े थे। खेद की बात है कि ऐसे आदर्श देश-भक्त नरेश का, जो अपने को एक स्वयंसेवक समझता था, ता॰ 20 सितंबर के प्रात:काल स्वर्गवास हो गया। हम आपके परिवार के साथ समवेदना प्रकट करते और ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि उनकी आत्मा को शांति प्रदान करे।

[संपादकीय। 'हंस', सितंबर, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

झाबुआ नरेश का निर्वासन

झाबुआ नरेश के खिलाफ वर्षों से आंदोलन हो रहा था। प्रजा आपके शासन से अत्यंत असंतुष्ट थी। अनेक बार आपकी शिकायतें हुईं, और आप दांव-पेंच से अपने को बचाते रहे। आखिर आपके कुकर्मों का घट भर गया और इंदौर-स्थित सेंट्रल इंडिया के पोलिटिकल एजेंट ने आपको बुला भेजा। ता॰ 11 सितंबर को सरकारी विज्ञप्ति प्रकाशित करके आपको शासन से अलग करके अनिश्चित काल के लिए निर्वासित घोषित कर दिया गया। अब राज्य विशेष रूप से नियत एक मंत्री के हाथ में रहेगा, जो सरकार द्वारा चुना जायगा। सरकार को इस समय ध्यान रखना चाहिए कि जिस उद्देश्य से राजा को अलग किया गया है, यदि नयी व्यवस्था से उसकी पूर्ति न हुई, प्रजा के कष्ट दूर न हुए तो परिणाम और भी दु:खदायी हो जायेगा।

[संपादकीय। 'हंस', सितंबर, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

डॉक्टर हीरालाल का स्वर्गवास

कटनी (सी॰ पी॰) के डॉक्टर हीरालाल जी सीपी के मूल्यवान मोती की तरह आभा वाले व्यक्ति थे। लगभग पचास वर्षों से आप हिन्दी-साहित्य की सेवा करते आ रहे

थे। अंग्रेजी के आप पुराने ग्रेजुएट और संस्कृत, पाली और प्राकृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। साधारण-सी नौकरी से आप डिप्टी कमिश्नर के पद तक पहुंचे थे और इसी अवसर में आपने इतिहास और पुरातत्व-संबंधी खोजों के द्वारा अपने को काफी विख्यात कर लिया था। यों कहना चाहिए, कि इतिहास-पुरातत्व के क्षेत्र में आप भारत के एक गिने-चुने अंतर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त महान् व्यक्ति थे। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा तथा अनेक हिन्दी संस्थाओं से आपका संबंध था। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के तो आप वर्षों सभापति भी रहे थे। दो वर्षों पूर्व पटना में होने वाली ओरियण्टल कांफ्रेंस के आप सभापति बनाये गये थे। और अभी-अभी आप विश्व-पुरातत्व-परिषद् में भारत के प्रतिनिधि की हैसियत से भेजे गये थे। आप बड़े ही सरल और उदार थे। अभिमान आप में जरा भी नहीं था। आपने आजन्म हिन्दी-साहित्य की सेवा की, पर खेद, कि हिन्दुस्तानियों ने आपका यथार्थ सम्मान न किया। नागपुर विश्वविद्यालय ने तो अब जाकर कहीं उन्हें डी॰ लिट्॰ की उपाधि से विभूषित करके शायद अपने को आक्षेप से मुक्त किया था। पर डॉक्टर साहब का व्यक्तित्व और कार्य ही ऐसा जबरदस्त था कि बिना मांगे उन्हें देश और विदेश से महान् 'दमोह दीपक', 'जबलपुर ज्योति' आदि कई महत्वपूर्ण पुस्तकें भी लिखी थीं। हिन्दी और देश का दुर्भाग्य है कि 19 अगस्त को आपका स्वर्गवास हो गया। हम आपके परिवार के साथ सच्चे हृदय से समवेदना प्रकट करते हैं।

[संपादकीय। 'हंस', सितंबर, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

'नवशक्ति' का स्वागत

अभी-अभी तीन-चार सप्ताह से श्री देवव्रत जी के सम्पादन और प्रकाशन में 'नवशक्ति' नाम की एक सचित्र साप्ताहिक पत्रिका निकलने लगी है। पत्रिका पूर्ण राष्ट्रीय है और उसे बिहार के गांधी बाबू राजेन्द्रप्रसाद जी तथा अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त है, और प्रसन्नता की बात है कि वह आरंभ ही से बड़े पैमाने पर निकली है। निकलने से पूर्व ही इस पर भी जमानत का वार हुआ था और वह जमा कर दी गयी। पत्र के सम्पादक श्री देवव्रत जी 'प्रताप' के प्रतापी सम्पादक स्व॰ विद्यार्थी का वर्षों सहयोग प्राप्त करके सम्पादन में दक्षता प्राप्त कर चुके हैं, अतएव उनके हाथ से हुआ कार्य सुंदर ही होना चाहिए। हमें परम सन्तोष है कि 'नवशक्ति' के अभी तक के तीनों अंक एक-से-एक अच्छे और प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी के यहां प्रश्रय पाने योग्य हैं। श्री देवव्रत को उनके इस महान् उद्योग के लिए हम बधाई देते और 'नवशक्ति' का हृदय से स्वागत करते हैं।

[संपादकीय। 'हंस', सितंबर, 1934 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

विचार खण्ड-4 समाप्त।

फ्रांस की तैयारी

कभी निःशस्त्रीकरण-सम्मेलन की बैठकें होती हैं, कभी राष्ट्र संघ के अधिवेशन होते हैं और लच्छेदार भाषण में शांति की योजनाएं तैयारी की जाती हैं, किंतु 'मुख में राम, बगल में छुरी' की वृत्ति के कारण टांय-टांय फिस हो जाती हैं। जब तक राष्ट्रों के हृदयों में मैल रहेगा, कपट और स्वार्थ के लिए गुंजाइश रहेगी, सच्ची सहानुभूति सच्चे प्रेम का अभाव रहेगा, मैत्री हो नहीं सकती। हृदय भिन्न और सशंकित रहेंगे। जब नीयत ही साफ नहीं है, तब हो ही क्या सकता है। राष्ट्र संघ और निःश्स्त्रीकरण सम्मेलन की बैठकें कुछ नहीं कर सकतीं। चाहे उनमें कितने ही महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास हो जायें, लेकिन उनका कोई मूल्य नहीं है। सब व्यर्थ है। यही कारण है कि सब राष्ट्र अपनी-अपनी डफली बजा रहे हैं, मनमानी तैयारी कर रहे हैं। फ्रांस का समाचार है कि फ्रांस आजकल हवाई तैयारियों में जोरों से लगा हुआ है। वह एक छः हजार फीट ऊंची टावर बनवायेगा, जिसके तीन प्लेटफार्म से लड़ाकू जहाज भेजे जायेंगे। उस टावर पर तीन सौ तोपें लगी रहेंगी, जो हर दिशा में गोले फेंक सकेंगी। एक तरफ यह हो रहा है दूसरी तरफ शांति की दुहाई दी जा रही है। यह नियत के दिवालियेपन का प्रमाण है। इसमें संदेह नहीं कि योरोप शांति की अपेक्षा सर्वनाश की तैयारी जोरों से कर रहा है।

[संपादकीय। 'हंस', सितंबर, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

भ्रम-निवारण

कुछ समाचार-पत्रों में समाचार पढ़कर 'हंस' के गत अंक में, इटावा में लेखक-संघ कायम होने पर टिप्पणी लिखते हुए हमने अपने विचार व्यक्त किये थे। उसके उत्तर में इटावा से श्री प्रेमनारायण जी अग्रवाल बी॰ ए॰ ने एक पत्र लिखकर उसे भ्रम बतलाया है। आपका कहना है कि हिन्दी-पत्रों में यह आन्दोलन देखकर कि लेखक-संघ शीघ्र ही खुलेगा, एक समाचार 'युनाइटेड प्रेस ऑफ इण्डिया' को भेजा और उसमें लिखा कि हिन्दी लेखक-संघ के संगठन का प्रयत्न किया जा रहा है और जो संभवतः शीघ्र ही हो जायगा, उसका कार्यालय प्रयाग में रहेगा। उसमें यह नहीं लिखा गया था कि इटावा में खोल दिया गया है या खुलेगा। बात केवल यह थी कि यह समाचार इटावा से भेजा गया था और समाचार के ऊपर इटावा लिख दिया गया था। कुछ तो लिखना ही चाहिए था कि मालूम हो कि 'युनाइटेड प्रेस' को किस स्थान से यह समाचार मिला है, इसलिए मैंने इटावा लिख दिया था। समाचार के शब्द तो मुझे ठीक-ठीक याद नहीं, पर इतना अच्छी तरह मालूम है कि उसमें यह नहीं लिखा था कि संघ इटावा में खुल गया। मेरे विचार से सम्पादक की गलती से यह जुड़ गया होगा।

अस्तु, प्रसन्नता की बात है कि वह समाचार गलत साबित हो गया।

[संपादकीय। 'हंस', सितंबर, 1934 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद्र का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

'विद्यार्थी'-स्मारक सीमित की अपील

कानपुर की लज्जाजनक दुर्घटनाओं में अपनी बलि देने वाले अमर शहीद स्व॰ गणेशशंकर जी के स्मारक के लिए एक स्मारक समिति संगठित हुई है, और उसने एक अपील प्रकाशित करके एक लाख रुपये की याचना की है। जैसा कि महात्मा जी ने श्री बालकृष्ण शर्मा को एक पत्र में लिखा है कि अब तक विद्यार्थी जी के स्मारक के पूर्ण द्रव्य इकट्ठा नहीं हो सका है, यह हम सबके लिए शर्म की बात है—वास्तव में यह शर्म की बात है। हम आशा करते हैं कि प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी देशभक्त, देश के उस तेजोमय रत्न, अमर धर्मवीर के स्मारक के लिए अपने निजी व्यय से बचाकर भी शीघ्र ही सहायता देगा और स्मारक के लिए अपेन निजी व्यय से बचाकर भी शीघ्र ही सहायता देगा और अपने कर्त्तव्य को पूर्ण करेगा।

[संपादकीय। 'हंस', सितबर, 1934 मे प्रकाशित। 'प्रेमचंद्र का अप्राप्य साहित्य', खण्ड-2 में सकलित।]

संपादनकला की शिक्षा

अभी इसी मास में कलकत्ता विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर श्री श्यामप्रसाद मुखर्जी के सभापतित्व में एक सार्वजनिक सभी हुई थी और उसमें संपादक संघ के अधिष्ठाता श्री मृणालकांति बोस ने अपने भाषण में कहा था कि देश के विश्वविद्यालय संपादन कला की शिक्षा का कार्य अपने हाथ में ले लें, तो पत्र-पत्रिकाओं की दशा बहुत कुछ सुधर जाये। इससे शिक्षित युवकों को कार्य मिलेगा और बेकारी दूर होगी, क्योंकि समाचार-पत्रों की प्रतिदिन उन्नति होती जा रही है और होगी। वास्तव में जैसा बोस महाशय ने कहा है कि अगर कलकत्ता विश्वविद्यालय इस कार्य को अपने हाथ मे ले ले, तो इससे देश का बड़ा लाभ होगा। हमारा तो अनुरोध है कि प्रत्येक विश्वविद्यालय इस प्रश्न पर विचार करे और इस महत्वपूर्ण विषय के अध्ययन का प्रबंध करके देश के युवकों को एक अच्छे मार्ग पर प्रेरित करे।

[संपादकीय। 'हस', सितबर, 1934 मे प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में सकलित]

हिन्दी लेखक संघ

हिन्दी लेखक संघ के संगठन के विषय में श्री सत्यजीवन जी वर्मा जो आंदोलन कर रहे हैं, उसके विषय में अपने संगठन के लिए एक अपील प्रकाशित की है और अभी तक प्रस्तावित विचारों के आधार पर एक विवरण पत्र भी बना डाला है। जब सभी क्षेत्रों में इस समय संगठन होता जा रहा है, तब कोई कारण नहीं कि लेखकों का भी एक संगठन न हों। आशा है, लेखक वर्ग इसे आवश्यक समझेगा और श्री सत्यजीवन जी वर्मा के पास से आवेदन-पत्र तथा विवरण-पत्र मंगाकर, प्रस्तावित विवरण को देखकर

संघ का सदस्य बना जायेगा और अपने समुदाय की हित-रक्षा में भाग लेगा। श्री सत्यजीवन वर्मा ने लेखक समुदाय से जो अपील की है, वह इस प्रकार है–

मान्यवर महोदय,

'लेखक संघ' के संगठन के प्रस्ताव पर पत्रों में काफी चर्चा हो रही है जिसे आपने देखा होगा। प्राय: सभी लोग इस प्रस्ताव से किसी न किसी रूप में सहमत हैं। यह प्रस्ताव नया नहीं। आपने स्वयं भी किसी न किसी समय इस प्रकार की एक संस्था की आवश्यकता का अनुभव किया होगा। प्रस्तुत प्रस्ताव इसी चिरवांछित अभिलाषा की पूर्ति के लिए किया गया है।

संगठन का यह युग है। सारा संसार संगठन की ओर दौड़ रहा है। समाज में प्रत्येक श्रेणी के लोग अपना-अपना संगठन कर रहे हैं। यह अत्यंत वांछनीय हैं। अब युग बदल गया है। प्रत्येक वर्ग अपने स्वत्वों और आदर्शों की रक्षा के लिए किसी न किसी रूप में बहुमत की आकांक्षा करता है। व्यक्तिगत प्रयत्नों से आजकल कुछ भी नहीं हो सकता। जब तक हमारा एक लक्ष्य न होगा, हम एक मत न होंगे, हममें अपने ध्येय की प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा न होगी। हम उसके निमित्त प्रयत्नशील न होंगे–हम कुछ नहीं कर सकते। इसी हेतु हमें संगठन की आवश्यकता होती है।

जब सभी क्षेत्रों में संगठन की आवश्यकता प्रतीत होती है, तो हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र इस नियम से परे कैसे रह सकता है? हिन्दी-सेवियों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। सभी अपनी शक्ति, पहुंच, कल्पना और आदर्श के अनुसार उसकी सेवा और चिंतन में लगे हैं। यह उत्साह आशाजनक है, परंतु संगठित रूप से अपनी शक्तियों का उपयोग न कर हम किसी निश्चित ध्येय की ओर नहीं बढ़ रहे हैं। हमारे सामने कोई निश्चित कार्यक्रम भी नहीं है। इसलिए हमारे लेखकों को अंधेरे में टटोलना पड़ता है, प्रत्येक व्यक्ति के बूते की यह बात भी नहीं है कि वह अकेला सामूहिक कल्याण से उपयुक्त कोई कार्यक्रम बना सके। सार्वजनिक हित की रक्षा सामूहिक रूप ही से हो सकती है, अत: यह अत्यंत आवश्यक है कि लेखकगण हिन्दी साहित्य की सेवा के निमित्त संगठित होकर उसका भावी कार्यक्रम बनावें, जिसमें वे सुगमता से भाषा, समाज, देश और जाति के योग्य कल्याणकर साहित्य की सृष्टिकर अपना परिश्रम सफल कर सकें।

लेखन-कार्य भी एक प्रकार की कला है। इसमें भी विशेष प्रकार की सफलता प्राप्त करने के निमित्त उपयोगी शिक्षा और सहयोग की आवश्यकता होती है। अभी तक हिन्दी में कोई ऐसी संस्था नहीं है, जिसके द्वारा लेखकों को उनकी कला की वृद्धि में सहायता दी जा सके, अथवा जिसके द्वारा उनकी साहित्य-वृत्ति को प्रोत्साहन मिल सके। लेखक अपनी शक्ति के अनुसार अकेला ही अपने कार्यक्षेत्र में आगे बढ़ता है, फलत: उसका बहुत-सा समय और शक्ति मार्ग ढूंढ़ने में नष्ट हो जाती है। उसे आवश्यकता है, एक केन्द्रीय संस्था थी, जो उसे अपने व्यवसाय में कुशल सफल बनाने में सहायता पहुंचा सकें, उसकी सेवाओं का आदर कर सके और जो उसके सुख-दु:ख में सहायक बन सके। धीरे-धीरे वह समय भी आ रहा है, जब लेखन-कला एक प्रकार का व्यवसाय समझा जाएगा। सभी संपन्न नहीं हैं, रोटी का प्रश्न सभी के साथ-साथ लगा रहता है। अपनी आवश्यकताओं के निमित्त सबको कुछ न कुछ 'अर्थ' की आवश्यकता पड़ती

है, अतएव लेखकों के आर्थिक हित की रक्षा के निमित्त उनके लिए समय-कुसमय में आर्थिक सहायता का आयोजन करने के लिए भी एक संस्था की आवश्यकता होगी, 'लेखक संघ' की उपयोगिता इस विषय में भी प्रतीत होती है।

नवीन हिन्दी-साहित्य की अभी शैशवावस्था है। अभी उसे पड़े यत्न से देखना-भालना और पालन करना है। वर्तमान साहित्य की सृष्टि में यदि समय और दूरदर्शिता से काम न लिया गया, तो आगे चलकर हमें एक दिन पछताना पड़ेगा कि हमारी सारी मेहनत व्यर्थ गयी। आधुनिक युग में जहां प्रत्येक कार्य में जीवन के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, वहां यह मानना पड़ेगा कि अभी ये सारी चेष्टाएं आदर्शहीन ही हैं। भविष्य में क्या होगा, हम यह नहीं कह सकते, परंतु भविष्य में हमें क्या करना है, यह हम निश्चिय कर सकते हैं। वर्तमान और विगत के अनुभव हमें अपना भावी कार्यक्रम निश्चय करने में सहायक हो सकते हैं। साहित्य की वर्तमान प्रगति और उसके विगत अनुभवों को सामने रखकर अपने देश-जाति के कल्याण की कामना कर हमें अपना भावी कार्यक्रम बनाना पड़ेगा, जिसमें हमारे लेखक-गण उसके अनुसार चल सकें। हमें अपने सहयोगियों की, कठिन मार्गों से सावधानीपूर्वक रक्षा करनी पड़ेगी।

हमारे सामयिक साहित्य की दशा पर भी यदि ध्यान दिया जाये तो उसकी प्रगति भी कुछ विशृंखल-सी प्रतीत होगी। पत्रकार और पत्रों ने निश्चित ध्येय और आदर्श अभी तक निर्दिष्ट नहीं किया है, जिसके कारण पत्रों के प्रचार तथा उनकी उपयोगिता में बाधा पड़ रही है। अतः सामयिक साहित्य की देख-रेख भी हमारा कर्तव्य होना चाहिए, लेखकों के ही भरोसे सामयिक साहित्य का संचालन है, अतः 'लेखक संघ' विशेष रूप से सामयिक साहित्य का परिचालन कर सकेगा।

उपर्युक्त सारी बातों को देखकर आप हमसे पूर्णतः सहमत होंगे कि अब 'लेखक संघ' का संगठन शीघ्र ही हो जाना श्रेयस्कर होगा। इसकी उपयोगिता के विषय में आप हमसे अधिक संतुष्ट होंगे। हमें आशा है कि अब आप अपना पूरा सहयोग देकर इस 'संघ' की स्थापना में हाथ बंटाकर हिन्दी-साहित्य के एक अत्यंत आवश्यक कार्य के संपादन का श्रेय लेंगे।

[संपादकीय। 'हंस', सितम्बर, 1934 में प्रकाशित 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

जड़वाद और आत्मवाद

विद्वानों की दुनिया में आजकल आस्तिक और नास्तिक का पुराना झगड़ा फिर उठ खड़ा हुआ है। यह झगड़ा कभी शान्त होने वाला तो है नहीं, हां, उसके रूप बदलते रहते हैं। आज के पचास साल पहले, जब विज्ञान ने इतनी उन्नति न की थी, और संसार में बिजली और भाप और भांति-भांति के यन्त्रों की सृष्टि होने लगी, तो स्वभावतः मनुष्य को अपने बल और बुद्धि पर गर्व होने लगा, और अनंत से जो अनीश्वरवाद या जड़वाद चला आ रहा है, उसे बहुत कुछ पुष्टि मिली। विद्वानों ने हमेशा ईश्वर के अस्तित्व में संदेह किया है। जब प्रकृति का कोई रहस्य उनकी छोटी-सी अक्ल के सुलझाए नहीं सुलझता तो उन्हें ईश्वर की याद आती है और ज्यों ही विज्ञान ने

एक कदम और आगे बढ़ाया और उस रहस्य को सुलझा दिया, तो विद्वानों का अभिमानी मन तुरंत ईश्वर से बगावत कर बैठता है, या उनकी वह पुरानी बगावत फिर ताज़ी हो जाती है। जब भाप और बिजली जैसी चीजें आदमी ने बना डालीं, तो वह यह क्यों न समझ ले कि यह छोटी-सी पृथ्वी और सूर्य आदि भी इतने महान् विषय नहीं हैं, जिनके लिए ईश्वर की ज़रूरत माननी पड़े? जड़वाद ने तुरंत दिमाग लड़ाया और सृष्टि की समस्या हल कर डाली। परमाणुवाद का झण्डा लहराने लगा। प्राय: सभी विद्वानों ने उस झण्डे के सामने सिर झुका दिया।

लेकिन इधर विज्ञान ने जो अक्ल को चौंधिया देने वाली उन्नति की है, और मनुष्य को मालूम हुआ है कि यह नए ईश्वर के करिश्मे सृष्टि की महानता के सामने कोई चीज़ नहीं है, और इस गहराई में जितना ही उतरते हैं, उतनी ही उसकी अनंतता और विशालता भी गहरी हो जाती है, तब से विद्वानों का अभिमान कुछ ठण्डा पड़ने लगा है। उन्हें स्पष्ट नज़र आने लगा है कि जड़वाद से सृष्टि की सारी गुत्थियां नहीं सुलझतीं, बल्कि जितनी सुलझाना चाहो, उतनी ही और उलझती जाती हैं। तो कम से कम दिनों के लिए तो जड़वाद का झण्डा नीचा हो ही गया। जब आइंस्टीन से कोई बड़ा विद्वान् आकर आइंस्टीन के सिद्धांत को मिथ्या सिद्ध कर देगा, तो संभव है, जड़वाद फिर ताल ठोंकने लगे। और यह झगड़ा हमेशा चलता रहेगा। जिनकी इन झगड़ों में पड़े रहने से सारी दैहिक और पारिवारिक ज़रूरतें पूरी हो जाती हैं, उनके लिए बड़ा अच्छा मशगला है। हमारे लिए ईश्वर का अस्तित्व मनवाने को अकेली यह पृथ्वी काफी थी। आजकल का खगोल जब तीन करोड़ ऐसे ही विशाल सौर परिवारों का पता लगा चुका और बीस लाख सूर्य तो दूरबीनों से नज़र आने लगे हैं और यह अनंत पहले से कई लाख या करोड़ गुना अनंत हो गया है, और इलेक्ट्रॉन और तरह-तरह की अद्‌भुत किरणें हमारे सामने आ गई हैं, तो हमारी अक्ल का घनचक्कर हो जाना बिल्कुल स्वाभाविक है। जो लोग इस पुरानी सृष्टि को समीप समझकर ईश्वर को ज़रा अपने से बड़ा मस्तिष्क समझ रहे थे, उनके लिए नए-नए पिण्ड-समूहों का निकलना और नए-नए रहस्यों का प्रगट होना ज़रूर खतरे की बात है, और दस-पांच साल तक उन्हें खामोशी से महान् आत्मा से स्वीकार कर लेना चाहिए।

हमारे-जैसे साधारण कोटि के मनुष्यों के लिए तो ईश्वर का अस्तित्व कभी विवाद का विषय हो ही नहीं सकता। विवाद का विषय केवल यह है कि वह दुनियावी मामलों में कुछ दिलचस्पी लेता है या नहीं। एक दल तो कहता है—और इस दल में बड़े-बड़े लोग—शामिल हैं—कि बिना उसकी मर्ज़ी के पत्ती भी नहीं हिलती और वह सुख-दु:ख, जीवन-मरण, स्वर्ग-नरक की व्यवस्था करता रहता है, और एक अनुत्तरदायी राजा की भांति संसार पर शासन करता है। क्या मजाल कि कोई किसी भाई को या जीव को कष्ट देकर बच जाए, उसे दण्ड मिलेगा और अवश्य मिलेगा। इस जन्म में न मिला न सही, अगले जन्म में पाई-पाई चुका ली जाएगी। दूसरा दल कहता है कि नहीं, ईश्वर ने संसार को बना कर उसे पूर्ण स्वराज्य दे दिया है। डोमिनियन स्टेट्स का वह कायल नहीं। उसने तो पूर्ण से भी कहीं पूर्ण स्वराज्य दे दिया है। मनुष्य जो चाहे करे, उसे मतलब नहीं। उसने जो नियम बना दिया है, उनकी पकड़ में आ आएगा तो तत्काल

मज़ा चखना पड़ेगा और कायदे के अंदर चले जाओ, तो उसकी फौज और उसके मंत्री और कर्मचारी सांस भी न लेंगे। एक दल दूसरे दल पर अमानुषिक अत्याचार करे, ईश्वर से कोई मतलब नहीं। उसने कानून बना दिया है कि जो शक्ति संग्रह करेगा, वह बलवान् होगा, और बलवान् हमेशा निर्बलों पर शासन करता है। शक्ति कैसे संग्रह की जाती है, इसके साधन मनुष्य ने अनुभव से प्राप्त किये हैं, कुछ शास्त्र और विज्ञान से सीखा है। जो पुरुषार्थी और कर्मण्य हैं, उनकी विजय है, और जो दुर्बल हैं, उनकी हार है। ईश्वर को इसमें कोई दखल नहीं। मनुष्य लाख प्रार्थना करे, लाख स्तुति गाए, लाख जप-तप करे, कोई फायदा नहीं। यहां एक राष्ट्र और एक समाज दूसरे राष्ट्र या समाज को पीसकर पी जाए, ईश्वर की बला से। और यह नृसिंह और 'प्रभु, अब काहे नाहीं सुनत हमारी टेर' वाली बातें केवल अपनी नपुंसकता की दलीलें हैं। हमने तो मोटी-सी बात समझ ली है कि ईश्वर रोम-रोम में, अणु-अणु में व्याप्त है। मगर उसी तरह जैसे हमारी देह में प्राण है। उसका काम केवल शक्ति और जीवन दे देना है। उस शक्ति से हम जो काम चाहें, लें, यह हमारी इच्छा पर है। यह मनुष्य की हिमाकत या अभिमान है कि वह अपने को अन्य जीवों से ऊंचा समझता है। वृक्ष और खटमल भी जीव हैं। वृक्ष को हम लगाते हैं, लग जाता है, काटते हैं, कट जाता है। खटमल हमें काटता है, हम उसे मारते हैं, हमें न काटे, तो हमें उससे कोई मतलब नहीं, अपने पड़ा रहे। ईश्वर को जिस तरह पौधों और खटमलों के मरने-जीने से कोई मतलब नहीं, उसी तरह मनुष्य-रूपी कीटों से भी उसे कोई प्रयोजन नहीं। आपस में कटो-मरो, समष्टि की उपासना करो चाहे व्यष्टि की, गौ की पूजा करो या गौ की हत्या करो—ईश्वर को इससे कोई प्रयोजन नहीं। मनुष्य की भलाई या बुराई की परख उसकी सामाजिक या असामाजिक कृतियों में है। जिस काम से मनुष्य-समाज को क्षति पहुंचती है, वह पाप है। जिससे उसका उपकार होता है, वह पुण्य है। सामाजिक उपकार या अपकार से परे हमारे किसी कार्य का कोई महत्त्व नहीं है और मानव-जीवन का इतिहास आदि से इसी सामाजिक उपकार की मर्यादा बांधता चला आया है। भिन्न-भिन्न समाजों और श्रेणियों में यह मर्यादा भी भिन्न है। एक समाज पाई चीज की तरफ आंख उठाना भी बुरा समझता है, दूसरा समाज कोई चीज दाम देकर खरीदना पाप खयाल करता है। एक समाज खटमल के पीछे मनुष्य को कत्ल करने पर तैयार है, दूसरा समाज पशुओं के शिकार को मनोरंजन की वस्तु समझता है। अभी बहुत दिन नहीं गुजरे और आज भी संसार के बाज हिस्सों में धर्म केवल गुटबंदी का नाम है जिससे मनुष्यों का एक समूह लोक और परलोक की सारी अच्छी चीजें अपने ही लिए रिजर्व कर लेता है और किसी दूसरे समूह को उसमें उस वक्त तक हिस्सा नहीं देता जब तक वह अपना दल छोड़कर उसके दल में न आ मिले। धर्म के पीछे क्या-क्या अत्याचार हुए हैं, कौन नहीं जानता। आजकल धर्म का वह महत्त्व नहीं है। वह पद अब व्यापार को मिल गया है। और इस व्यापार के लिए आज राष्ट्रों और जातियों में कैसा संघर्ष हो रहा है, वह हम देख ही रहे हैं। ईश्वर को इन सारे टंटों से कोई मतलब नहीं है। चाहे कोई राम को बीसों कला का अवतार माने या गांधी को, ईश्वर को परवाह नहीं। उपासना और भक्ति यह सब अपनी मनोवृत्तियों की चीजें हैं, ईश्वर को हमारी भक्ति या उपासना से कोई मतलब नहीं।

हम व्रत रखते हैं तो इससे हमारी पाचन-शक्ति ठीक हो सकती है, और हम समाज के लिए ज्यादा उपयोगी हो सकते हैं, इस अर्थ में तो जरूर व्रत पुण्य है, लेकिन भगवान् जी उससे प्रसन्न होकर, या लाख बार राम की रट लगाने से, हमारा संकट हर लेंगे, यह बिल्कुल गलत बात है। हम संसार की एक प्रधान जाति हैं, लेकिन अकर्मण्य और इसलिए पराधीन। अगर ईश्वर अपने भक्तों की हिमायत करता, तो आज मन्दिरों, देवालयों और मस्जिदों की यह तपोभूमि क्यों इस दशा में होती?

लेकिन नहीं, हम शायद भूल कर रहे हैं। भगवान् अपने भक्तों को दुखी देखकर ही प्रसन्न होता है क्योंकि उसका स्वार्थ हमारे दुःखी रहने में है। सुखी होकर कौन भगवान् की याद करता है—दुख में सुमिरन सब करै, सुख में करै न कोय।

[संपादकीय। 'हंस' अक्टूबर, 1934 में प्रकाशित। साहित्य का उददेश्य (प्रथम संस्करण) में संकलित। परंतु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

दन्त-कथाओं का महत्व

गत 7 अगस्त को मास्को में सोवियत के सभा साहित्यिकों की एक विराट् सभा हुई थी जिसके सभापति संसार-प्रसिद्ध मैक्सिम गोर्की थे। इस अवसर पर मैक्सिम गोर्की ने जो भाषण दिया, वह विषय और उसके निरूपण और मौलिक विचारों के लिहाज़ से बड़े महत्व का था। आपने दंतकथाओं और ग्राम्य गीतों को बिल्कुल एक नए दृष्टिकोण से देखा जिसने इन कथाओं और गीतों का महत्त्व सैकड़ों गुना बढ़ दिया है। ग्राम्य साहित्य और पौराणिक कथाओं में बहुधा मानव-जीवन के आदि-काल की कठिनाइयों, घटनाओं और प्राकृतिक रहस्यों का वर्णन है। कम से कम हमने अब तक ग्राम्य साहित्य को इसी दृष्टि से देखा है। मैक्सिम गोर्की साहब और गहराई में जाते हैं और यह नतीजा निकालते हैं कि 'यह उस उद्योग का प्रमाण है, जो पुराने ज़माने के मज़दूरों को अपनी मेहनत की थकावट का बोझा हल्का करने, थोड़े समय में ज्यादा काम करने, अपने को दो या चार टांगों वाले शत्रुओं से बचाने और मंत्रों द्वारा दैवी बाधाओं को दूर करने के लिए करना पड़ा।'

पुराणों और दंतकथाओं में जो देवी-देवता आते हैं, वे सभी स्वभाव में मनुष्यों के से ही होते हैं। उसमें भी ईर्ष्या, द्वेष और क्रोध, प्रेम और अनुराग आदि मनोभाव पाए जाते हैं जो सामान्य मनुष्यों में हैं। इस दलील से यह बात गलत हो जाती है कि ये देवी-देवता केवल ईश्वर के भिन्न रूप हैं, अथवा मनुष्यों ने जल, अग्नि, मेघ आदि से बचने के लिए उन्हें देवता का रूप देकर पूजना शुरू किया। मैक्सिम गोर्की साहब की राय में इसकी उत्पत्ति सामाजिक व्यवस्था से हुई। समाज में जो विशिष्ट लोग थे, वही देवताओं के नमूने बन गए। आदिम मनुष्यों की कल्पना में देवता कोई निराकार वस्तु या कोई अजूबा चीज़ न था, बल्कि वह मज़दूर था, जिसके अस्त्रों में हँसिया या बसूला या कोई दूसरा औज़ार होता था। वह किसी न किसी उद्योग का जानकार होता था और मज़दूरों की ही भाँति मेहनत करता था। आप आगे कहते हैं:

'ईश्वर केवल उनकी कलात्मक रचना था, जिसके द्वारा उन्होंने अपने उद्योग

की सफलताओं और विजयों का प्रदर्शन किया। दंतकथाओं में मानन-शक्तियों और उसके भावी विकास को देवत्व तक पहुंचा दिया गया है, पर असल में वास्तविक जीवन ही उनका स्रोत है और उनकी शक्तियों से यह पता लगाना कठिन नहीं है कि उनकी प्रेरणा परिश्रम की व्यथा को कम करने के लिए हुई है।'

तो, मैक्सिम गोर्की के कथनानुसार, मज़दूरों ने ईश्वर को एक साधारण, सहृदय मज़दूरों के रूप में देखा, लेकिन धीरे-धीरे जब शक्तिवान् व्यक्तियों ने खुद ही मज़दूरी छोड़कर मज़दूरों से मालिक का दर्जा पा लिया तो यही ईश्वर मज़दूरों से कठिन से कठिन काम लेने के लिए उपयुक्त होने लगा।

इसके बाद जब ईश्वर और देवताओं की सृष्टि का गौरव मज़दूर सेवकों के हाथ से निकलकर धनी स्वामियों के हाथ में आ गया, तो ईश्वर और देवता भी मज़दूरों की श्रेणी से निकलकर महाजनों और राजाओं की श्रेणी में जा पहुंचे, जिनका काम अप्सराओं के साथ विहार करना, स्वर्ग के सुख, लूटना, और दुखियों पर दया करना था। भारत में तो मज़दूर देवताओं का कहीं पता नहीं है। यहां के देवता तो शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण करते हैं। कोई फरसा लिए पापियों का कत्लेआम करता-फिरता है, कोई बैल पर चढ़ा भंग चढ़ाए, भभूत रमाये, ऊल-जलूल बकता नज़र आता है। ज़ाहिर है कि ऐसे ऐशपसंद या सैलानी देवताओं की सृष्टि करने वाले मज़दूर नहीं हो सकते। ये देवता तो उस वक्त बने हैं, जब मज़दूरों पर धन का प्रभुत्व हो चुका था और ज़मीन पर कुछ लोग अधिकार जमाकर राजा बन बैठे थे। यहां तो सभी पुराण आत्मवाद और आदर्शवाद से भरे हुए हैं। लेकिन, मैक्सिम गोर्की ने दिखाया है कि ईसा के पूर्व जो प्रतिमावादी थे, उनमें आत्मवाद का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता। आत्मवाद, जिसका सबसे पहले योरप में प्लेटो ने प्रचार किया, वास्तव में मज़दूर समाज की देव-कथाओं का ही एक परिवर्तित रूप था और जब ईसा ने अपने धर्म का प्रचार किया, तो उनके अनुयायियों ने प्राचीन यथार्थवाद के बचे-खुचे चिह्नों को भी मिटा डाला और उसकी जगह भक्ति और प्रार्थना और रहस्यवाद की स्थापना की, जिसने आज तक जनता को सम्मोहित कर रखा है, और मानव जाति की विचार शक्ति का बहुत बड़ा भाग मुक्ति और पुनर्जन्म और विधि के मामलों में पड़ा हुआ है, जिससे न व्यक्ति का कोई उपकार होता है, न समाज का।

[संपादकीय। 'हंस', अक्टूबर, 1934 मे प्रकाशित। साहित्य का उद्देश्य (प्रथम संस्करण) में संकलित। परतु बाद के सस्करणों में से इसे हटा दिया। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

भारत में गुरु-प्रथा

यों तो संसार-भर में गुरु-प्रथा भिन्न-भिन्न नामों से प्रचलित है, मगर भारत को तो उसने अपना अड्डा ही बना लिया है। इस विषय पर हाल में लखनऊ विश्वविद्यालय के वाइस चान्सलर डॉ० परांजपे ने एक अत्यंत ज्ञानवर्द्धक भाषण दिया। आपने अंधभक्ति और बुद्धि की तुलना करते हुए बतलाया कि प्राचीन हिन्दू ग्रंथों में गुरु की महिमा

इतने मुबालगे के साथ बयान की गई है कि गुरु को ईश्वर से भी दो हाथ ऊंचा उठा दिया गया है। गुरु जो कुछ कहे, उसे आंख बंद करके शिरोधार्य करना होगा। कहीं-कहीं तो यह पंथ इतना जोर पकड़ गया है कि जब कोई नव-विवाहित बहू आती है, तो सबसे पहले गुरु जी के चरणों में अर्पित की जाती है। गुरु जी एकांत में उसे क्या आशीर्वाद देते हैं, वह स्त्री के सिवा कोई नहीं जानता या जानता भी है, तो वह गुरु जी की लंपटता नहीं, उनकी कृपादृष्टि समझी जाती है। गुरु बनने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह त्यागी हो, बहुत-से गुरु तो राजसी ठाट-बाट से रहते हैं, लेकिन यदि गुरु त्यागी हो, समाज और शिष्टता के बंधनों को तोड़कर फेंक चुका हो और केवल एक-दो अंगुल की लंगोटी लगाए घूमता हो, तो उसका जादू लोगों पर बहुत जल्द असर कर जाता है। यह गुरु जी माया को अपने पास नहीं फटकने देते, पैसे को हाथ से नहीं छूते, पैरों से ठुकरा देते हैं। और उनके ऊपर माया की वर्षा होने लगती है। फिर वह चाहे दोनों हाथों से समेंटें, लेकिन हां, त्याग का ढोंग बनाये रखते हैं, मानो वह केवल अपने शिष्यों की खातिर से उनकी भेंट स्वीकार कर रहे हैं, उन्हें तो माया से बैर है। यह गुरु जी चटपट एक नये पंथ की रचना कर डालते हैं, जिसके द्वारा भक्त लोग सीधे स्वर्ग पहुंचकर आवागमन से मुक्त हो जाते हैं, जो भारतीय के जीवन का मुख्य उद्देश्य है। उस पंथ के लिए एक नये किस्म का तिलक, एक नये तर्ज की उपासना सोच निकाली जाती है, जिसका आदर्श इतना ऊंचा होता है कि केवल ढोंग बनकर रह जाता है। इस पंथ में वह सब-कुछ स्तुत्य बन जाता है, जिस पर साधारण दशा में आदमी को घृणा आती है। गुरुओं के अधिकार कभी-कभी इतने बढ़ जाते हैं कि शिष्यों को अपनी आमदनी का एक भाग नियमित रूप से गुरु जी को चढ़ाना पड़ता है। गुरु जी के किसी काम की आलोचना नहीं की जा सकती। और मजा यह है कि इन पंथों में केवल मूर्ख ही नहीं आते, बड़े-बड़े विद्वान अक्ल को ताक पर रखकर, विचार को दरिया में डालकर, पंथ की गुप्त क्रियाओं को संपूर्ण अंध-श्रद्धा से करते हैं और उनका विश्वास होता है कि उन्हें आत्मा का जो सुख मिल रहा है, उससे अन्य सभी अभागे प्राणी वंचित हैं। सैकड़ों ही बार इन गुरुओं का भंडाफोड़ हो चुका है, रोज ही किसी न किसी गुरु की कलई खुलती है, पर जनता पर कोई असर नहीं होता और वह नये गुरु जी का उसी अंध-श्रद्धा से स्वागत करने को तैयार रहती है। गुरुजी पहेलियों में बातें करते हैं, जिसके मनमाने अर्थ लगाए जा सकते हैं। अगर उनकी बात सच निकल गई, तो पूछना ही क्या। उनकी चमत्कार शक्ति की धूम मच जाती है। मिथ्या हो गई, तो वह भी उतनी ही आसीन से सत्य मानी ली जाती है। गुरु जी में कुछ-न-कुछ अनोखापन होना परमावश्यक है। अगर वह केवल दूध पीकर या केले खाकर या राख फांककर रह सकें तो समझ लो कि वह देवता हो गए। कहीं-कहीं पर पोहारी गुरु भी पाए जाते हैं, जो केवल हवा पीकर रहते हैं। और अगर गुरु जी अंग्रेजी बोल सकते हैं और कुछ मनचले भी हैं, तो वह योरोप और अमेरिका जाकर और भी धन और यश कमा सकते हैं। मालूम नहीं ऐसे गुरुओं का कभी अंत भी होगा या नहीं।

[संपादकीय। 'हंस', अक्टूबर, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

अमर कवि गेटे का अपमान

गेटे जर्मनी का ही अमर कवि नहीं, संसार के युग-प्रवर्तक कवियों में है और अभी तक जर्मनी ने उसे जन्म देने का गर्व किया है, पर अब नात्सी नीति में गेटे इसलिए सम्मान के योग्य नहीं रहा कि उसके विचार अंतर्राष्ट्रीय थे और अब जर्मनी की संकुचित जातीयता में ऐसे महान स्रष्टाओं के लिए भी स्थान नहीं। जो जर्मनी अपनी संस्कृति और अपने ऊंचे दार्शनिक आदेशों के लिए विख्यात था, उसका आज यह पतन।

[संपादकीय। 'हंस', नवंबर, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

हिन्दी गल्प-कला का विकास

अगर आज से पच्चीस-तीस साल पहले की किसी पत्रिका को उठाकर आज की किसी पत्रिका से मिलाइए, तो आपको मालूम होगा कि हिन्दी-गल्प-कला ने कितनी उन्नति की है। उस वक्त शायद ही कोई कहानी छपती थी, या छपती भी थी तो किसी अन्य भाषा से अनूदित। मौलिक कहानी तो खोजने से भी न मिलती थी। अगर कभी कोई मौलिक चीज़ जाती थी, तो हमको तुरंत संदेह होने लगता था, कि यह अनुवादित तो नहीं है। अनुवादित न हुई तो छाया तो अवश्य ही होगी। हमें अपनी रचना-शक्ति पर इतना अविश्वास हो गया था। मगर आज किसी पत्रिका को उठा लीजिए, उसमें अगर ज़्यादा नहीं, तो एक-तिहाई अंश कहानियों से अलंकृत रहता ही है। और कहानियां भी अनुदित नहीं, मौलिक। इस तेज़ चाल से दौड़ने वाले युग में किसी को किसी से बात रकने की मुहलत नहीं है। मनुष्य को अपनी आत्मा की प्यास बुझाने के लिए कहानी ही एक ऐसा साधन है, जिससे वह ज़रा-सी देर में—जितनी देर में वह चाय का का प्याला पीता या फोन पर किसी से बातें करता है—प्रकृति के समीप जा पहुंचता है। साहित्य उस उद्योग का नाम है, जो आदमी ने आपस में भेद मिटाने और उस मौलिक एकता को व्यक्त करने के लिए किया है, जो इस ज़ाहिरा भेद की तह में, पृथ्वी के उदर में व्याकुल ज्वाला की भांति, छिपा हुआ है। जब हम मिथ्या विचारों और भावनाओं में पड़कर असलियत से दूर जा पड़ते हैं, तो साहित्य हमें उस सोते तक पहुंचाता है, जहां 'रीअलिटी' अपने सच्चे रूप में प्रवाहित हो रही है। और यह काम अब गल्प के सिर आ पड़ा है। कवि का रहस्यमय संकेत समझने के लिए अवकाश और शांति चाहिए। निबंधों के गूढ़ तत्व तक पहुंचने के लिए मनोयोग चाहिए। उपन्यास आकार ही हमें भयभीत कर देता है, और ड्रामे तो पढ़ने की नहां बल्कि देखने की वस्तु हैं। इसलिए, गल्प ही आज साहित्य की प्रतिनिधि है, और कला उसे सजाने और सेवा करने के और अपनी इस भारी ज़िम्मेदारी को पूरा करने के योग्य बनाने में दिलोजान से लगी हुई है। कहानी का आदर्श ऊंचा होता जा रहा है, और जैसी कहानियां लिखकर बीस-पच्चीस साल पहले लोग ख्याति पा जाते थे, आज उनसे सुंदर कहानियां भी मामूली समझी जाती हैं। हमें हर्ष है कि

हिन्दी ने भी इस विकास में अपनी मर्यादा की रक्षा की है और आज हिन्दी में ऐसे-ऐसे गल्पकार आ गए हैं, जो किसी भी भाषा के लिए गौरव की वस्तु हैं। सदियों की ग़ुलामी ने हमारे आत्म-विश्वास को लुप्त कर दिया है, विचारों की आज़ादी नाम को भी नहीं रही। अपनी कोई चीज़ उस वक्त तक हमें नहीं जंचती, जब तक योरप के आलोचक उसकी प्रशंसा न करें। इसलिए हिन्दी के आने वाले गल्पकारों को चाहे कभी वह स्थान न मिले, जिसके वे अधिकारी हैं, और इस कसम्पुरसी के कारण उनका हतोत्साह हो जाना भी स्वाभाविक है, लेकिन हमें तो उनकी रचनाओं में जो आनंद मिला है, वह परिश्रम से आई कहानियों में बहुतों में नहीं मिला। संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियों का एक पोथा अभी हाल ही में ही हमने पढ़ा है, जिसमें योरप की हरेक जाति, अमेरिका, ब्राज़ील, मिस्र आदि सभी की चुनी हुई कहानियां दी गई हैं, मगर उसमें आधा दर्जन से ज़्यादा ऐसी कहानियां नहीं मिलीं, जिनका हमारे ऊपर रोब जारी हो जाता। इस संग्रह में भारत के किसी गल्पकार की कोई रचना नहीं है, यहां तक कि डॉ॰ रवीन्द्रनाथ की रचना को भी स्थान नहीं दिया गया। इससे संग्रहकर्ता की नीयत साफ जाहिर हो जाती है। जब तक हम पराधीन हैं, हमारा साहित्य भी पराधीन है, और अगर किसी भारतीय साहित्यकार को कुछ आदर मिला है तो उसमें भी पश्चिम वालों की श्रेष्ठता का भाव छिपा हुआ है, मानो उन्होंने हमारे ऊपर कोई एहसान किया है। हमारे यहां ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जिन्हें योरप की अच्छी बातें भी बुरी लगती हैं और अपनी बुरी बातें भी अच्छी। अगर हममें आत्म-विश्वास की कमी अपना आदर नहीं करने देती। कम से कम साहित्य के विषय में तो हमें निष्पक्ष होकर खोटे-खरे को परखना चाहिए। योरप और अमेरिका में ऐसे-ऐसे साहित्यकार और कवि हो गुज़रे हैं और आज भी हैं, जिनके सामने हमारा मस्तक आप-से-आप झुक जाता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि वहां सब-कुछ सोना-ही-सोना है, पीतल है ही नहीं। कहानियों में तो हिन्दी उनसे बहुत पीछे हरगिज़ नहीं है, चाहे वे इसे मानें या न मानें। प्रसाद, कौशिक या जैनेन्द्र की रचनाओं के विषय में तो हमें कुछ कहना नहीं है। उनकी चुनी हुई चीज़ें किसी भी विदेशी साहित्यकार की रचनाओं से टक्कर ले सकती हैं। हम आज उन गल्पकारों का कुछ ज़िक्र करना चाहते हैं, जो हिन्दी गल्प-कला के विकास में श्रेय के साथ अपना पार्ट अदा कर रहे हैं, यद्यपि साहित्य-समाज में उनका उतना आदर नहीं है, जितना होना चाहिए।

इन गल्पकारों में पहला नाम जो हमारे सामने आता है वह है—भारतीय एम॰ ए॰। इनकी अभी तक पांच-छः कहानियां पढ़ने का ही हमें अवसर मिला है और इनमें भावों की वह प्रौढ़ता, निगाह की वह गहराई, मनोविज्ञान की वह बारीकी और भाषा की वह सरलता पाई है कि हम मुग्ध हो गए हैं। 'हंस' की पिछली संख्या में 'मुनमुन' नाम की उनकी कहानी अद्‌भुत है और हम उसे 'मास्टरपीस' कह सकते हैं। वह नवीनता और ताज़ेपन के पीछे नहीं दौड़ते, कहीं चमकने की चेष्टा नहीं करते, ऊंचे उड़ जाने की हवस उन्हें नहीं है। वह उसी दायरे में रहते हैं, जिनका उन्होंने कलाकार की आंखों से अनुभव किया है, और उनके हृदय की सरसता उन साधारण दृश्यों में कुछ ऐसी सजीवता, कुछ ऐसा रस भर देती है कि पाठक पढ़ने के वक्त

आंखें बंद करके उसका आनंद उठाता है, और उसका मन कहता है कि इन दस मिनिटों का इससे अच्छा इस्तेमाल वह न कर सकता था। भारतीय महोदय विद्वान् हैं, हिन्दी के एम० ए०। पुराने कवियों को उन्होंने खूब पढ़ा है और उनकी रचनाओं की टीकाएं भी लिखी हैं। मौलिक सृष्टि की ओर उनका ध्यान हाल में आया है, और हमारे खयाल से यह अच्छा ही हुआ। कच्ची लेखनी इस क्षेत्र में जो ठोकरें खाया करती है, वह उन्हें नहीं खानी पड़ीं।

भारतीय जी की कहानियों को अगर और किसी पुराने स्कूल की कुलवधू की उपमा दें, जिसकी जीवन-धारा सेवा और त्याग के बीच में शांति के साथ बहती है, तो श्री वीरेश्वरसिंह की कहानियों में नए स्कूल की युवती का लोच और सिंगार है, जिसके लिए संसार केवल मर्यादाओं का क्षेत्र नहीं, आनंद और विनोद का क्षेत्र भी है। इनकी कहानियों में कुछ ऐसी शोखी, कुछ ऐसी सजावट, कुछ ऐसा बांकपन होता है कि युवक फड़क जाते हैं, और युवतियां आंखें झुका लेती हैं। मगर, इनका दायरा फैलने नहीं पाया है। हमने इनकी जितनी कहानियां पढ़ी हैं, अतीत जीवन के दो-एक रसीले अनुभवों की झलक मिली है, मगर उसमें यह कुछ ऐसा जादू-सा भर देते हैं कि एक-एक वाक्य को बार-बार पढ़ने को जी चाहता है। बात से बात पैदा करने में इन्हें कमाल है और मामूली-सी बात को यह ऐसे सुंदर, चुलबुले शब्दों में कह जाते हैं कि सामने फूल-सा खिल जाता है। जैसे-जैसे अनुभवों की सीमा फैलेगी, इनकी रचनाओं में प्रौढ़ता और गहराई आएगी, मगर हमें आशा है, इनका चुलबुलापना बना रहेगा और इस अनोखे रंग की रक्षा करता रहेगा।

उसी उपमा की रक्षा करते हुए, हम श्री भुवनेश्वर प्रसाद 'भुवन' की रचनाओं में उस विधवा का तेज और कसक और विद्रोह पाते हैं, जिसे समाज और संसार कुचल डालना चाहता हो। पर वह अकेली सारी दुनिया को चुनौती देने पड़ी हो। भुवनजी से हमारा परिचय विचित्र परिस्थित में हुआ और हमने उनके रोम-रोम में वह असंतोष, वह गहरी सूझ, और मनोभावों को व्यक्त करने की वह शक्ति पाई है, जो अगर संयम से काम लिया गया, और परिस्थितियों ने प्रतिभा को कुचल न दिया, तो एक दिन हिन्दी को उन पर गर्व होगा। उनके मिज़ाज में एक सैलानीपन है और उन्हें अपने-आप में डूबे रहने और अपनी कटुताओं से सरल जीवन को कटु बनाने का वह मर्ज़ है, जो अगर एक ओर साहित्य की जान है, तो दूसरी ओर उसकी मौत भी है। यह ड्रामे भी लिखते हैं और इनके कई एकांकी ड्रामे 'हंस' में निकल चुके हैं। जिन्होंने वे ड्रामे पढ़े हैं, उनको मालूम हुआ होगा कि उसमें कितनी चोट, कितना दर्द और कितना विद्रोह है। भुवनजी उर्दू भी अच्छी जानते हैं, उर्दू और हिन्दी दोनों ही भाषाओं में शायरी करते हैं, और साहित्य के मर्मज्ञ हैं। उन पर आस्कर वाइल्ड का गहरा रंग चढ़ा हुआ है, जो अद्‌भुत प्रतिभाशाली होने पर भी कला की पवित्रता को निभा न सका।

इन तीनों स्रष्टाओं से कुछ अलग श्री 'अज्ञेय' का रंग है। उनकी रचनाओं में यद्यपि 'आमद' नहीं 'आबुर्द' है, पर उसके साथ ही गद्य-काव्य का रस है। वह भावना-प्रधान होती हैं, गरिमा से भरी हुई, अंतस्तल की अनुभूतियों से रंजित एक

नये वातावरण में ले जाने वाली, जिन्हें पढ़कर कुछ ऐसा आभास होता है कि कुछ ऊंचे उठ रहे हैं। लेकिन उनका आनंद उठाने के लिए उन्हें ध्यान से पढ़ने की ज़रूरत है क्योंकि वे जितना कहती हैं, उससे कहीं ज्यादा बे-कहे छोड़ देती हैं। काश, अज्ञेयजी जी कल्पना-लोक से उतरकर यथार्थ के संसार में आते !

इन्हीं होनहार युवकों में श्री जनार्दन राय नागर हैं। हमारे युवकों में ऐसे सरल, ऐसे शीलवान्, ऐसे सयंमशील युवक कम होंगे। उनके साथ बैठना और उनकी आत्मा से निकले हुए निष्कपट उद्‌गारों को सुनना अनुपम आनंद है। कहीं बनावट नहीं, ज़रा भी तकल्लुफ नहीं। पक्का ब्रह्मचारी, जिसे आजकल का फैशन छू तक नहीं गया। मिज़ाज में इंतहा की सादगी, इंतहा की ख़ाकसारी, जो दुनिया के बंदों को भी मानो अपने प्रकाश से प्रकाशमान कर देती है। वह युनिवर्सिटी का छात्र होकर भी गुरुकुल के ब्रह्मचारियों का-सा आचरण रखता है। और उसे खुद ही खबर नहीं कि वह अपने कितनी साधना रखता है। इनकी कई रचनाएं हमने पढ़ी हैं और प्रकाशित की हैं। इनके यहां ओज नहीं है, चुलबुलापन नहीं है, पर जीवन की सच्ची झलक हैं, सच्चा दर्द है और कलाकार की सच्ची अनुभूति है। इन्होंने एक बड़ा उपन्यास भी लिखा है, जिसमें इनकी कला पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुई है, और उसे पढ़कर यह अनुमान भी नहीं किया जा सकता कि इसका लेखक एक बाईस-तेईस वर्ष का युवक है।

इन्हीं रत्नों में हम प्रयाग के श्री त्रिलोकीनाथ मिच्चू का ज़िक्र करना आवश्यक समझते हैं। इन्होंने दो साल पहले 'दो मित्र' नाम की एक मनोहर पशु-जीवन की कहानी लिखी थी। वह हमें इतनी भायी कि हमने उसे तुरंत 'जागरण' में प्रकाशित किया। उसके बाद आपकी एक कहानी 'पहाड़ी' नाम से 'माया' में निकली। वह है तो छोटी-सी मगर बड़ी मर्मस्पर्शी। इस अंक में आपकी जो 'आशा' नामक कहानी छपी है, वह उनकी कला का अच्छा नमूना है। आपकी रचनाओं में स्वस्थ यथार्थता और सहानुभूतिपूर्णता की अनुपम छटा होती है और यद्यपि आप बहुत कम लिखते हैं, अच्छा लिखते हैं। आपकी इस कहानी में संयत प्रणय का इनना सुंदर चित्र है कि विषय में कोई नवीनता न होने पर भी कहानी यथार्थ बन गई है। हमारे पास 90 फीसदी कहानियां प्रणय-विषयक ही आती हैं, पर प्रलय का इतना वीभत्स रूप दिखाया जाता है, या इतना अस्वाभाविक—और बिहार के युवक लेखकों ने मानो इस ढंग की कहानियां लिखने का ठेका-सा ले लिया है कि हमें उनको छापते संकोच होता है और इस बात का खेद होता है कि इन भले आदमियों के हृदय में प्रेम की कितनी गलत धारणा जमी हुई है। यह विषय जितना ही व्यापक है, उतना ही उसे निभाना मुश्किल है। छिछोरी लालसा का प्रेम-जैसी पवित्र साधना से वही संबंध है, जो दूध का शराब से है। प्रेम का आदर्श रूप कुछ वही है, जो मिच्चू ने अपनी कहानी में चित्रित किया है।

यह सूची गैरमुकम्मल रह जाएगी अगर हम रांची के श्री राधाकृष्णजी का उल्लेख न करें। आपकी कई रचनाएं 'हंस' और 'जागरण' में निकल चुकी हैं और रुचि के साथ पढ़ी गई हैं। आपकी शैली हास्य-प्रधान है और बड़ी ही सजीव। प्रतिकूल दशाओं में रहकर भी आपकी तबीयत में मज़ाक का रंग फीका नहीं होने पाया।

हमारी गल्प-कला के विकास में युवकों ने ही कदम आगे नहीं बढ़ाया है, युवतियां भी उनके साथ धंधा मिलाए चल रही हैं। साहित्य और समाज में बड़ा नज़दीकी संबंध होने के कारण अगर पुरुषों के हाथ में कलम रहे, तो साहित्य के एकतरफा हो जाने का भय है। ऐसे पुरुष किसी साहित्य में भी ज़्यादा नहीं हो सकते, जो रमणी-हृदय की समस्याओं और भावों का सफल रूप दिखा सकें। एक ही स्थिति को स्त्री और पुरुष दोनों अलग-अलग आंखों से देख सकते हैं और देखते हैं। पुरुष का क्षेत्र अब तक अधिकतर घर के बाहर रहा है, और आगे भी रहेगा। स्त्री का क्षेत्र घर के अंदर है, और इसलिए उसे मनोरहस्यों की तह तक पहुंचने के लिए जितने अवसर मिलते हैं, उतने पुरुषों को नहीं मिलते। उनकी निगाहों में ज़्यादा बारीकी, ज़्यादा कोमलता, ज़्यादा दर्द होता है। साहित्य को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिए महिलाओं का सहयोग लाज़िमी है, और मिल रहा है। इधर कई बहनों ने इस मैदान में कदम रखा है, जिनमें उषा, कमला और सुशीला, ये तीन नाम खासतौर पर सामने आते हैं। श्रीमती ऊषा मित्रा बंगाली देवी हैं, और शायद उनकी पहली रचना डेढ़-दो साल पहले 'हंस' में प्रकाशित हुई थी। तब से वह बराबर सभी पत्रिकाओं में लिख रही हैं। उनकी रचनाओं में प्राकृतिक दृश्यों के साथ मानव-जीवन का ऐसा मनोहर सामंजस्य होता है कि एक-एक रचना में संगीत की माधुरी का आनंद आता है। साधारण प्रसंगों में रोमांस का रंग भर देने में उन्हें कमाल है। इधर उन्होंने एक उपन्यास भी लिखा है, जिसमें उन्होंने वर्तमान समाज की एक बहुत ही जटिल समस्या को हल करने का सफल उद्योग किया है और जीवन का ऐसा आदर्श हमारे सामने पेश किया है, जिसमें भारतीय मर्यादा अपने कल्याणमय रूप की छाया दिखाती है। हमें आशा है, हम जल्द ही आपका उपन्यास प्रकाशित कर सकेंगे।

श्रीमती कमला चौधरी ने भी लगभग दो साल से इस क्षेत्र में पदार्पण किया है, और उनकी रचनाएं नियमित रूप से 'विशाल-भारत' में निकल रही हैं। नारी हृदय का ऐसा सुंदर चित्रण हिन्दी में शायद ही और कहीं मिल सके। आपकी हरेक रचना में अनुभूति की-सी यथार्थता होती है। 'साधना का उन्माद', मधुरिमा' और 'भिखमंगे की बेटी' आदि उनकी वह कहानियां हैं, जो नारी-हृदय की साधना, स्नेह और त्याग रूप दिखाकर हमें मुग्ध कर देती हैं। आप कभी-कभी ग्रामीण बोली का प्रयोग करके अपने चरित्रों में जान-सी डाल देती हैं। आपकी गल्पों का एक संग्रह 'साधना का उन्माद' नाम से हाल में ही प्रकाशित हुआ है।

कुमारी सुशीला आगा की केवल दो कहानियां हमने पढ़ी हैं, लेकिन वह दोनों कहानियां पढ़कर हमने दिल थाम लिया। 'अतीत के चित्र' में उन्होंने नादिरा की सृष्टि करके सिद्ध कर दिया है कि उनकी रचना-भूमि ज़रखेज़ है और उसमें मनोहर गुल-बूटे खिलाने का दैवी शक्ति है। कह नहीं सकते, वह इस शक्ति से काम लेकर साहित्य के उद्यान की शोभा बढ़ाएंगी, या उसे शिथिल हो जाने देंगी। अगर ऐसा हुआ, तो सहित्य-प्रेमियों को दुःख होगा।

[संपादकीय। 'हंस', नवंबर, 1934 में प्रकाशित। साहित्य का उद्देश्य (प्रथम संस्करण) में संकलित। परंतु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

लेखक-संघ

लेखक-संघ के विषय में 'हंस' में विज्ञप्ति निकल चुकी है और साहित्य-सेवियों तथा पाठकों को यह जानकर हर्ष होगा कि लेखकों ने संघ का खुले दिल से स्वागत किया और लगभग साठ सज्जन उसके सदस्य बन चुके हैं। चारों तरफ से आशाजनक पत्र आ रहे हैं मगर अभी तक यह निश्चित नहीं किया जा सका कि संघ का मुख्य काम क्या होगा। संयोजक महोदय ने अपने प्रारंभिक पत्र में संघ के उद्देश्यों का कुछ जिक्र किया है, और जो लोग संघ में शामिल हुए हैं, वे उन उद्देश्यों से सहमत हैं, इसमें संदेह नहीं, लेकिन वे उसूल कार्य बनकर क्या रूप धारण करेंगे, इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। संघ लेखकों के स्वत्वों की रक्षा करेगा। लेकिन कैसे? कुछ सज्जनों का विचार है कि लेखक-संघ उसी तरह लेखकों के हितों और अधिकारों की रक्षा करे, जैसे कि मज़दूर संघ अपने सदस्यों की रक्षा करते हैं, क्योंकि लेखक भी मज़दूर ही है, यद्यपि वे हथौड़े और बसूले से काम न करके कलम से काम करते हैं। और लेखक मज़दूर हुए तो प्रकाशक पूंजीपति हुए। इस तरह यह संघ लेखकों को प्रकाशकों की लूट से बचाए, और यही उसका मुख्य काम हो। कुछ अन्य सज्जनों का मत है कि लेखक-संघ की पूंजी खड़ी करके एक विशाल सहकारी, प्रकाशन सस्था बनाना चाहिए जिससे वह लेखक को उसकी मज़दूरी की ज़्यादा से ज़्यादा उजरत दे सके। खुद केवल नाम मात्र का नफा ले ले, वह भी केवल कार्यालय के कर्मचारियों के वेतन और कार्यालय के दूसरे कामों के लिए। संभव है इसी तरह के और प्रस्ताव भी लोगों के मन में हों। ऐसी दशा में यही उचित जान पड़ता है कि संघ के कार्यक्रम को निश्चय करने के लिए सभी सदस्यों को किसी केंद्र में निमंत्रित किया जाए और वहां सब पक्षों की तजवीजें सुनने और उन पर विचार करने के बाद कोई राय कायम की जाए। और तब इस निश्चय को कार्य रूप लाने के लिए एक कार्यकारिणी समिति बनाई जाए। उस सम्मेलन में प्रत्येक सदस्य को अपने प्रस्ताव पेश करने और उसका समर्थन कराने का अधिकार होगा और जो कुछ होगा ब्रहुमत से होगा, इसलिए किसी को शिकायत का मौका न होगा। हम इतना अवश्य निवेदन कर देना चाहते हैं कि मौजूदा हालत ऐसी नहीं है कि प्रकाशकों को लेखकों के साथ ज्यादा न्यायगत व्यवहार करने पर मजबूर किया जा सके। साहित्य का प्रकाशन करने वाले प्रकाशकों की वास्तविक दशा का जिन्हें अनुभव है, वह यह स्वीकार करेंगे कि इस समय एक भी ऐसा साहित्य ग्रंथ-प्रकाशक नहीं है जो नफे से काम कर रहा हो। जो प्रकाशक धर्मग्रंथों या पाठ्य-पुस्तकों का व्यापार करते हैं उनकी दशा इतनी बुरी है, कुछ तो खासा लाभ उठा रहे हैं, लेकिन जो लोग मुख्यत: साहित्य-ग्रंथ ही निकाल रहे हैं, वे प्राय: बड़ी मुश्किल से अपनी लागत निकाल पाते हैं। कारण है साधारण जनता की साहित्यिक अरुचि। जब प्रकाशत को यही विश्वास नहीं कि किसी पुस्तक के कागज़ और छपाई की लागत भी निकलेगी या नहीं, तो वह लेखकों को पुरस्कार या रॉयल्टी कहां से दे सकता है? नतीजा यह होगा कि प्रकाशकों को अपना कारोबार चलाने के लिए सड़ियल पुस्तकें निकालनी पड़ेंगी और अच्छे लेखकों की

पुस्तकें कोई प्रकाशक न मिलने के कारण पड़ी रह जाएंगी। साहित्यिक रचनाओं का प्रकाशन प्राय: बंद-सा है। प्रकाशक नई पुस्तकें छापते डरते हैं, और ये लेखकों के लिए तो द्वार ही बंद हैं। इसलिए पहले ऐसी परिस्थिति तो पैदा हो कि प्रकाशक को प्रकाशन से नफे की आशा हो। हिन्दी बीस करोड़ व्यक्तियों की भाषा होकर भी गुजराती, मराठी या बंगला के बराबर पुस्तकों का प्रचार नहीं कर सकती। अगर नफे की आशा की तो प्रकाशक बड़ी खुशी से रुपये लगाएगा और तभी लेखकों के लिए कुछ किया जा सकता है। इसलिए अभी तो संघ को यही सोचना पड़ेगा कि जनता में साहित्य की रुचि कैसे बढ़ाई जाए और किस ढंग की पुस्तकें तैयार की जाएं जो जनता को अपनी ओर खींच सकें। अतएव संघ को साहित्यिक प्रगति पर नियंत्रण रखने की चेष्टा करनी पड़ेगी। इस समय जो संस्थाएं हैं जैसे नागरी-प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन या हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उनके काम में संघ को हस्तक्षेप करने की जरूरत नहीं। नागरी-प्रचारिणी सभा अब विशेषकर पुराने कवियों की और उनकी रचनाओं की खोज कर रही है। वह साहित्यिक पुरातत्त्व से मिलती-जुलती चीज़ है। सम्मेलन को परीक्षाओं से विशेष दिलचस्पी है और हिन्दुस्तानी एकेडेमी एक सरकारी संस्था है जहां प्रोफेसरों का राज है, और जहां साधारण साहित्य-सेवियों के लिए स्थान नहीं। संघ का कार्य-क्षेत्र इनसे अलग और ऐसा होना चाहिए जिससे साहित्य और उसके पुजारी दोनों की सेवा हो सके।

[संपादकीय। 'हंस', दिसंबर, 1934 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रथम संस्करण) में सकलित। परंतु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

क्षमा-याचना

इस मास में प्रेस के अनेक कर्मचारी बीमार हो गए। मशीनमैन, ट्रेडिलमैन और अन्य सहायक कर्मचारी, जो खास काम करने वाले थे, काम पर नहीं आ सके। कई दिनों कार्य बंद-सा रहा। हम मजबूर हैं। इसी कारण इस मास के अंक में अत्यंत विलंब हो गया, जिसका हमें खेद है और हम अपने ग्राहकों से इसके लिए क्षमा-याचना करते हैं। आगामी फरवरी का अंक हमने अभी से छपवाना आरंभ कर दिया है और आशा है, 15 फरवरी से पूर्व ही ग्राहकों की सेवा में भेज दिया जाएगा। आगे के अंक यथासंभव पहुंचते रहेंगे।

[संपादकीय। 'हंस', जनवरी, 1935 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

दो महत्त्वपूर्ण कान्फ्रेस

बड़े हर्ष की बात है कि एशिया की जातियां भी जीवन के प्रश्नों का हल करने के लिए अब सार्वभौमिक रीति से प्रयत्न कर रही हैं। काशी में 'आल एशिया शिक्षा सम्मेलन' और लाहौर में 'आल एशिया महिला सम्मेलन'-दोनों ही इस नई जागृति

के मंगलमय लक्षण हैं। ईश्वर से हमारी प्रार्थना है कि यह प्रभात एक नए युग का प्रवर्तक हो, जो यूरोपीय संघर्ष की नीति पर न चलकर सहयोग, शांति और मातृभाव की सृष्टि करे।

[संपादकीय। 'हंस' जनवरी, 1935 में प्रकाशित। 'प्रेमचन्द का अप्राप्य साहित्य' भाग-2 में संकलित।]

स्वर्गीय सूर्यनाथ तकरू

गत 31 दिसंबर को 10 बजे दिन में सूर्यनाथ तकरू का स्वर्गवास हो गया। किसे मालूम था कि डबल निमोनिया के प्रहार से वह दिव्य देह वाला प्रतिभाशाली युवक केवल पच्चीस वर्षों की अल्प आयु में ही यों अकस्मात् कुचल दिया जाएगा। वैसे तो दुनिया में नित्य ही जीव जन्म लेते और लय हो जाते हैं, पर जिसके द्वारा भविष्यत् में हिन्दी की अद्‌भुत सेवा होने की आशा थी, उस युवक के निधन पर भला किस हिन्दी-प्रेमी को दु:ख न होगा। जिसने उसे घने लच्छेदार बालों से युक्त शेर की तरह गर्दन उठाए दहाड़ते हुए देखा हो, वह भला जीवन भर उसे कैसे भूल सकता है। वह मस्ताना जीवट वाला युवक जब दरवाजे पर पहुंचकर दहाड़ता था, तब अठखेलियां करती हुई कल्पनाएं उसके मुख की ओर केंद्रित हो जाती थीं। वह बड़ा ही हंसोड़ युवक था। जब तक वह बैठता, समां बंधा रहता था। वह दिल खोलकर निर्द्वन्द्व होकर वार्तालाप करता था। उसके व्यक्तित्व में जादू था। उसे पढ़ने-लिखने का बड़ा शौक था। कोई भी अच्छी नई किताब निकलती, तो सबसे पहले खरीदकर वही पढ़ता। वह अच्छा लेखक था और कवि भी।

अंग्रेजी पत्रों में भी वह लेख लिखा करता था। एम॰ ए॰ करके एल॰ एल॰ बी॰ की तैयारी कर चुका था। हास्यरसात्मक लिखने की उसमें खास प्रवृत्ति थी। सामयिक प्रसंगों पर वह बड़े अच्छे व्यंग्य लिखा करता था, बड़ी अच्छी चुटकियां लिया करता था। अध्ययन करते हुए, ज्ञानवर्द्धिनी बातों का संग्रह करने में उसे बड़ी दिलचस्पी थी। बड़ा अच्छा संग्रह उसने कर रखा था। हमने जब 'हंस' का 'स्वदेशांक' निकाला तो उसने 'स्वदेश के संबंध में' शीर्षक वाली 'सरात' के नाम से सात पृष्ठों की ऐसी सामग्री दी, जो अमित समय तक परिश्रम करने और अनेक ग्रंथों के हजारों पृष्ठों का अध्ययन करने से ही प्राप्त हो सकती है। बातचीत करने में, हंसी-मजाक में बड़ा कुशल, बड़ा हाजिर-जवाब। उसके संसर्ग से वातावरण मस्त हो जाता था। ऐसे दिलकश युवक के निधन से सचमुच दिल को गहरा दु:ख हुआ, आंखें नम हो गईं। जीवन में उसकी याद हमेशा ताजी बनी रहेगी। ऐसे समय उसके परिवार वालों के दु:ख का कैसे अंदाज लगाया जा सकता है। ईश्वर उन्हें यह दु:ख सह लेने की शक्ति दे। हम उस स्वर्गीय के परिवार के निकट आत्मिक समवेदना प्रकट करते हैं।

[संपादकीय। 'हंस', जनवरी, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

श्रद्धांजलि-2

काशी के उस अवतारी महापुरुष 'भारतेन्दु' ने विक्रम संवत् 1907 में जन्म लिया और संवत् 1941 के माघ मास की कृष्णा षष्ठी को पुण्य-लोक का प्रयाण किया था। चौंतीस वर्ष और कुछ महीनों के अल्प जीवन में उसने हिन्दी को जन्म देकर उसकी जो सेवा-सुश्रूषा की, उसकी जो शरीर-संवर्द्धना की, उसे तो नहीं देख सका, पर आज पचास वर्षों के बाद, हिन्दी के भक्त और सेवक उसे देख-देखकर निहाल हो रहे हैं। वास्तव में हिन्दी के विधि-विधान से 'भारतेन्दु' ने अवतार लिया था और अवतारी महापुरुषों की तरह ही अल्पकाल में वह बहुत कुछ करके विलीन हो गये। आज कौन है उनका समकक्ष? कोई होगा, इसकी किसे खबर। कुछ मित्रों ने अन्य भाषा-जगत् में उनके समकालीन समक्ष साहित्य विधाताओं को खोज निकाला है, ठीक है, पर भली-भांति देखने और विचार करने पर 'भारतेन्दु' का प्रखर प्रकाश तो अलग ही एक विशिष्ट चकाचौंध फैलाता नजर आता है। अन्य भाषा-साहित्य के विधाताओं ने अपने जीवन के पचास-साठ या सत्तर वर्षों के काल में जो कार्य किया, उससे कहीं अधिक और विविध-विध, हमारे 'भारतेन्दु' ने सत्रह अठारह वर्षों में कर दिखाया। उसकी चतुर्मुख प्रतिभा अध्ययनशील व्यक्तियों के हृदय आनंद विभोर कर देती है।

'भारतेन्दु' वास्तव में एक महान् पुरुष था। उसके सच्चे हृदय में जहां राजा के प्रति प्रेम था, वहां दुर्दशा ग्रस्त अपने देशवासियों के प्रति भी सच्ची सहानुभूति और सच्चा दर्द था। महान् कवि होते हुए भी उसने गुणी कवियों को एक एक शब्द के लिए एक एक अशर्फी तक भेंट की। वह सच्चा गुणग्राही था। रस रंग में परिप्लावित रहते हुए, इत्र का दिया जलाते हुए भी उसने गरीब भूखों को शरीर के वस्त्र तक उतारकर दान कर दिए। वह सच्चा दानी था। आज से साठ वर्षों पूर्व ही उसने देश का धन विदेश जाते देखकर हृदय के आंसू बहाए थे और कहा था-"पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी।" वह सच्चा देश भक्त था। समाज हित साधन में जाति बिरादरी वालों का और शासकों की पोल खोलकर गवर्नमेंट का कोप भाजन होने की उसने जरा भी परवाह न की और कष्टों का बड़े साहस से सामना किया। ऐसा था वह भारतेन्दु।

परम प्रसन्नता की बात है कि आज पचास वर्षों के बाद हिन्दी के सेवकों ने उस महान विभूति का अर्द्ध शताब्दी उत्सव मनाने का आयोजन किया है और सभी अपने अपने हृदय की श्रद्धांजलि अर्पण कर रहे हैं। हम भी सबके साथ, सादर श्रद्धांजलि अर्पण करते हुए ईश्वर से प्रार्थी हैं कि एक बार, फिर एक बार, उसे इस लोक में भेजकर अपनी आत्मजा हिन्दी को तनिक देख लेने का अवसर दें कि पचास वर्षों में वह कैसी फली फूली और राष्ट्रभाषा का रूप धारण कर चुकी है।

[सम्पादकीय। 'हंस' जनवरी 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

जापान में पुस्तकों का प्रचार

मि० ग्लिन शा ने जापानी साहित्य के अनेक ग्रंथ अंग्रेज़ी भाषा में अनुवाद किए हैं। आपने हिसाब लगाया है कि जापान इस समय संसार में सबसे अधिक पुस्तकें प्रकाशित करने वाला देश है। जापान के बाद सोवियत रूस, जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड, पोलैंड और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का क्रम से नंबर आता है। जापान की आबादी अमेरिका की आधी से ज्यादा नहीं, पर हर साल वह अमेरिका से दुगुनी किताबें छापता है।

इस समय जापानी साहित्य की रुचि राष्ट्रीयता की ओर विशेष रूप से हो रही है। इतिहास, साहित्य, धर्म, युद्धनीति आदि सभी अंगों में यही प्रवृत्ति दिखाई देती है। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि बौद्ध धर्म विषय की ओर यकायक लोगों में बड़ी दिलचस्पी हो गई है। हालांकि यह किसी धार्मिक अनुराग का नतीजा नहीं, केवल राष्ट्र-आंदोलन का ही एक भाग है।

गत वर्ष जापान में दस हज़ार से ज़्यादा पुस्तकें निकलीं। इनमें 2700 शिक्षा-विषयक, 2500 साहित्य, 1900 अर्थनीति, 200 पाठ्य और 1000 गृह-प्रबंध विषय की थीं। शिक्षा-विषयक पुस्तकों की संख्या ही सबसे ज़्यादा थी। इससे मालूम होता है जापान अपने राष्ट्र के निर्माण में कितना उद्योगशील है, क्योंकि शिक्षा ही राष्ट्र की जड़ है। गृह-प्रबंध की ओर भी उनका ध्यान कितना ज़्यादा है। भारत में तो इस विषय की पुस्तकें निकलती ही नहीं, और निकलती भी हैं, तो बिकती नहीं। इस विषय में भी कुछ नई बात कही जा सकती है, कुछ नई अनुभूतियां संग्रह की जा सकती हैं—यह शायद हम संभव नहीं समझते। जो घर संपन्न कहलाते हैं, उसमें भी पहुंच जाइए तो आपको मालूम होगा कि एक हज़ार माहवार खर्च करके भी यह लोग रहना नहीं जानते। न कोई बजट है, न कोई व्यवस्था, अललटप्पू खर्च हो रहा है। जरूरी चीज़ों की ओर किसी का ध्यान नहीं है, बिना जरूरत की चीज़ें ढेरों पड़ी हुई हैं। कपड़े कीड़े खा रहे हैं, फर्नीचर में दीमक लग रही है, किताबों में नमी के कारण फफूंदी लग गई है। किसी की निगाह इन बातों की तरफ़ नहीं जाती। नौकरों को वेतन नहीं दिया जाता। मगर कपड़े बेज़रूरत भी खरीद लिए जाते हैं। यह कुव्यवस्था इसीलिए है कि इस विषय में हम उदासीन हैं।

जापान के अधिकांश साहित्यकार टोकियो में रहते हैं। उसमें छः सौ से अधिक ऐसे हैं जिनके नाम जापान-भर में प्रसिद्ध हैं। मगर जापान में लेखकों को ज़्यादा पुरस्कार नहीं मिलता।

जापान में साहित्य-रचना के भिन्न-भिन्न आदर्श हैं। कोई स्कूल जनसाधारण की रुचि की पूर्ति करना ही अपना ध्येय मानता है। नीशू बंगी स्कूल सबस प्रसिद्ध है। ये लोग पुरानी कथाओं को नई शैली में लिख रहे हैं, यहां तक कि विश्वविद्यालयों में भी इसी रंग के अनुयायी अधिक हैं।

एक दूसरा स्कूल है जो कहता है, हम जन-साधारण के लिए पुस्तकें नहीं लिखते, हमारा ध्येय साहित्य की सेवा है। इनका आदर्श है—कला कला के लिए।

एक तीसरा दल है जो केवल दार्शनिक विषयों का ही भवन है। यह लोग अपनी गल्पों के प्लाट भी दर्शन और विज्ञान के तत्त्वों से बनाते हैं। उनके चरित्र भी प्राय: वास्तविक जीवन से लिए जाते हैं।

[संपादकीय। 'हंस', फरवरी, 1935 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रथम संस्करण) में संकलित। परंतु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

लेखकों को बर्नार्ड शॉ का उपदेश

बर्नार्ड शॉ ने हाल ही में एक मौके पर लेखकों को बड़े मार्के की बात बतलाई। आपने फरमाया- लेखक अगर जनता में अपनी इज्जत और ख्याति चाहते हैं, तो उन्हें यथाशक्ति जनता के सम्मुख आने से बचना चाहिए, क्योंकि अक्सर लेखकों की बुद्धि उनकी देह से प्रतिभावान होती है और उनके विषय में, उनकी रचनाएं पढ़कर, जनता जो कल्पना करती है, वह लेखक को प्रत्यक्ष देखने से गायब हो जाती है। यह सौभाग्य तो बहुत ही कम लेखकों को होता है कि उनके विचार जितने गंभीर, मौलिक और ऊंचे हों, वैसे ही उनकी देह भी सुगठित और तेजवान हो। रचना की चिंता में पड़े-पड़े बेचारे सूखकर छुहारे हो जाते हैं। और जनता समझती है कि इस पुस्तक का लेखक कोई महान् व्यक्ति होगा—बड़ी ऊंची पेशानी वाला, बड़े मोटे पेट वाला, बड़ा रूपवान, बड़ा विचारशील, बड़ा मृदुभाषी, बड़ा ही बुद्धिमान, मगर जब लेखक सामने आता है तो उनका वह कल्पित चित्र किसी अंश में भी मूल से नहीं मिलता और लेखक तुरंत ही जनता की नजरों से गिर जाता है।

हम 'शॉ' महाशय के इस प्रस्ताव में थोड़ी तरमीम करना चाहते हैं। जिन लेखकों को दैव ने अच्छा-खासा डील-डौल और खूबसूरत चेहरा और मीठी आवाज और आकर्षक रंग-ढंग दिया है, उनके लिए ऐसी कैद न होनी चाहिए, क्योंकि उनके दर्शन से उनकी रचनाओं का महत्व कुछ बढ़ ही जाएगा, मगर यहां भी एक शंका होती है। किसी की रचना पढ़कर जनता रचयिता के विषय में क्या कल्पना-चित्र बना लेती है, इसकी किसी को क्या खबर, संभव है जिन लेखक महोदय की देह पहलवानों की-सी हो, जनता ने उनका कल्पित चित्र महात्माओं का-सा बनाया हो और, जिनका चेहरा खूबसूरत है, उनका चित्र डढ़ियल आदमी का बनाया हो। शायद इसीलिए शॉ महोदय कभी अपनी तस्वीर नहीं खिंचवाते, मगर फिर भी आपसे प्लेटफार्म पर बोले बगैर क्यों नहीं रहा जाता।

[संपादकीय। 'हंस', फरवरी, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

वशीकरण का नया रूप

हमारे रतिशास्त्र में वशीकरण का एक विशेष महत्व है। ऐसी हरेक पुस्तक में आपको वशीकरण की विधि और मंत्र और उसकी क्रियाएं सब बड़ी तफसील के साथ मिलेंगी।

जनता का उन पर विश्वास भी है और हजारों प्रेमी-जन एकांत में बैठकर इन क्रियाओं को सिद्ध किया करते हैं। योरोप में भी अब वशीकरण का प्रचार होने लगा है, लेकिन नई पद्धति के अनुसार हरेक काम वहां व्यवस्थित, संगठित और व्यापारिक रीति से किया जाता है। वशीकरण भी इसका अपवाद न था। एक महाशय ने इसका एक स्कूल भी खोल लिया और अच्छी फीस लेकर शिष्यों को उसके सबक भी देने लगे। हां, सबक पत्रों द्वारा दिए जाते थे। प्रचार इतना बढ़ा कि बहुत जल्द शिष्यों की संख्या बारह हजार से ऊपर पहुंच गई। शिक्षक महोदय केवल बावन पाठों में शिष्य में ऐसी योग्यता पैदा कर देने का जिम्मा लेते थे कि उसके प्रेमी या प्रेमिका उससे मिलने के लिए आतुर हो उठें। जिधर वह ताक दे, उस पर उसका जादू चल जाय। इस विज्ञप्ति का यह नतीजा हुआ कि सारी दुनिया से पत्र-व्यवहार होने लगा और एक हजार से अधिक छात्र यह कला सीखने लगे। जब यह फन आ गया, तो उसकी आजमाइश भी होनी ही चाहिए। युवक और युवतियां शिकार की खोज में घूमने लगीं। आखिर भेद खुल गया और शिक्षक महोदय गिरफ्तार हुए और उनके ऊपर मुकदमा चलाया गया। अभियोग यह था कि यह लोग युवकों को दुश्चरित्रता का पाठ पढ़ाते हैं, जिससे घरों की बर्बादी के सिवा और कोई नतीजा नहीं। यह विद्यालय पेरिस में था।, मगर इसका प्रचार बीस भिन्न-भिन्न भाषाओं में होता था। मज़ा यह है कि बहुधा यह वशीकरण-विधि केवल मनोरंजन के लिए सीखी जाती थी।

अतीत भारत के उपासकों को योरोप की इस नक्काली पर शायद इस पुरानी कला को फिर जगाने की धुन सवार हो, क्योंकि योरोप भला-बुरा जो कुछ करे, हम उसके पीछे चलने को तैयार हैं।

[संपादकीय। 'हंस', फरवरी, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

साहित्य में ऊंचे विचार की आवश्यकता

रूस में हाल में साहित्यकारों में एक बड़े मज़े की बहस छिड़ी थी। विषय था—साहित्य का उद्देश्य क्या है? लोग अपनी-अपनी गा रहे थे। कोई कहता था—साहित्य सत्य की खोज का नाम है। कोई साहित्य को सुंदर की खोज कहता था। कोई कहता था—वह जीवन की आलोचना है। कोई उसे जीवन का चित्रण मात्र बतलाता था। आखिर जब यह झगड़ा तय न हुआ तो सलाह हुई कि किसी गंवार से पूछा जाए कि वह साहित्य को क्या समझता है। आख़िर यह जत्था मज़दूर की खोज में निकला। दूर न जाना पड़ा। चंद ही कदमों पर एक मजदूर कंधे पर फावड़ा रखे पसीने में तर आता हुआ दिखाई दिया। एक साहित्य-महारथी ने उससे पूछा—क्यों भाई, तुम साहित्य किसलिए पढ़ते हो? मज़दूर ने उन विद्वज्जनों की ओर विस्मय की दृष्टि से देखा। ऐसी मोटी-सी बात भी इन लोगों को नहीं मालूम। देखने में तो सभी पढ़े-लिखे से लगते हैं। समझा, शायद ये लोग उसका मज़ाक उड़ा रहे हैं। बिना कुछ जवाब दिए आगे बढ़ा। तुरंत फिर वही प्रश्न हुआ—क्यों भाई, तुम साहित्य किसलिए पढ़ते हो?

मज़दूर ने अबकी कुछ जवाब देना आवश्यक समझा। कहीं ये लोग उसकी परीक्षा न ले रहे हों। तैयार छात्र की भाँति तत्परता से बोला—जीवन की सच्ची विधि जानने के लिए। इस उत्तर ने विवाद को समाप्त कर दिया। साहित्य का उद्देश्य जीवन के आदर्श को उपस्थित करना है, जिसे पढ़कर हम जीवन में कदम-कदम पर आने वाली कठिनाइयों का सामना कर सकें। अगर साहित्य से जीवन का सही रास्ता न मिले, तो ऐसे साहित्य से लाभ ही क्या? जीवन की आलोचना कीजिए—चाहे चित्र खींचिए, आर्ट के लिए लिखिए चाहे ईश्वर के लिए, मनोरहस्य दिखाइए, चाहे विश्वव्यापी सत्य की तलाश कीजिए—अगर उससे हमें जीवन का सच्चा मार्ग नही मिलता, तो उस रचना से हमारा कोई फायदा नहीं। साहित्य न चित्रण का नाम है, न अच्छे शब्दों को चुनकर सजा देने का, न अलंकारों से वाणी को शोभायमान बना देने का। ऊंचे और पवित्र विचार ही साहित्य की जान हैं।

[संपादकीय। 'हंस' फरवरी, 1935 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रथम संस्करण) में संकलित। परंतु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

जुए का युग-2

लोभ को जब पर लग जाते हैं, तब वह जुआ हो जाता है। यों कभी भी उसका जोर कम नहीं रहा। धर्म अपनी सारी दैविक और आध्यात्मिक शक्ति लगाकर भी उसका जोर नहीं घटा पाया। नीति के विचारकों ने सदैव इसके विरुद्ध जिहाद किया, लेकिन उसका जोर समय के साथ बढ़ता ही चला जाता है। और अब तो वह हवाई जहाज पर उड़ रहा है। जिधर देखिए उधर उसी का दौर-दौरा है। व्यापार में जुआ, व्यवहार में जुआ, ऋतुओं में जुआ, मनोरंजन में जुआ, गरज आज का संसार जुआमय में हो गया है। धर्म में उसका प्रवेश बहुत पहले हो चुका था। अब साहित्य पर भी उसने कदम बढ़ाया है। पहेलियों और शब्द-जालों की धूम है। पत्रों और पुस्तकों पर नंबर डाले जाते हैं और दो-चार चुने हुए नंबरों पर इनाम रख दिया जाता है। जिसके पास उस नंबर का पत्र पहुंच जाए, वह एक निश्चित रकम पा जाता है। इस बेकारी और सर्द-बाजारी के जमाने में बस यही रोजगार धड़ल्ले से चल रहा है। दरिद्रता के हाथों सताए हुए लाखों आदमी इस तिनके के सहारे की आशा में अपने अशर्फियों के समान पैसों का खून करते हैं और अपनी किस्मत ठोंककर रह जाते हैं। इन पत्रों और पुस्तकों के प्रकाशकों को अपनी बिक्री के लिए ऐसा प्रलोभन देते हुए जरा भी शर्म नहीं आती, क्योंकि व्यापार, व्यापार है और उसका काम है- जैसे भी हो जनता की जेब से रुपये निकाल लेना। इन प्रकाशकों को मालूम है कि वे जो चीजें जनता को दे रहे हैं वे लचर हैं, और उनका साहित्यिक महत्त्व कुछ नहीं है। इसलिए वह जनता की लोभ-भावना को उत्तेजित करके अपना मतलब गांठते हैं। वाह रे योरोप ! तेरी गुलामी हमें न जाने पतन की किस गहराई तक ले जाएगी और मजा यह है कि ये सज्जन अपने हथकंडों की सफाई भी देते हैं और बड़े जोरों के साथ।

[संपादकीय। 'हंस', मार्च, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

सिनेमा और जीवन

सिनेमा का प्रचार दिन-दिन बढ़ रहा है। केवल इंग्लैंड में दो करोड़ दर्शक प्रति-सप्ताह सिनेमा देखने जाते हैं। इसलिए प्रत्येक राष्ट्र का फर्ज़ हो गया है कि वह सिनेमा की प्रगति पर कड़ी निगाह रखे और इसे केवल धन-लुटेरों के ही हाथ में न छोड़ दे। व्यवसाय का नियम है कि जनता में जो माल ज़्यादा खपे, उसकी तैयारी में लगे। अगर जनता को ताड़ी-शराब से रुचि है, तो वह ताड़ी-शराब की दुकानें खोलेगा और खूब धन कमाएगा। उसे इससे प्रयोजन नहीं कि ताड़ी-शराब से जनता को कितनी दैहिक, आत्मिक, चारित्रिक, आर्थिक और पारिवारिक हानि पहुंचती है। उसके जीवन का उद्देश्य तो धन है और धन कमाने का कोई भी साधन वह नहीं छोड़ सकता। यह काम उपदेशकों और संतों का है कि वे जनता में संयम और निषेध का प्रचार करें। व्यवसाय तो व्यवसाय है। 'बिज़नेस इज़ बिज़नेस' यह वाक्य भी सभी की ज़बान पर रहता है। इसका अर्थ यही है कि कारोबार में धर्म और अधर्म, उचित और अनुचित का विचार नहीं किया जा सकता। बल्कि उसका विचार करना बेवकूफी है।

इसमें विद्वानों को मतभेद हो सकता है कि आदमी का पूर्व पुरुष बंदर है या भालू, लेकिन इसमें तो सभी सहमत होंगे कि आदमी में दैविकता भी है और पाशविकता भी। अगर आदमी एक वक्त में किसी की हत्या कर सकता है, तो दूसरे अवसर पर किसी की रक्षा में अपने प्राणों को होम भी कर सकता है। आदि-काल से साहित्य काव्य और कलाओं का यही ध्येय रहा है कि आदमी में जो पशुत्व है उसका दमन करके, उसमें जो देवत्व है, उसको जगाया जाए। उसमें जो निम्न भावनाएं हैं उनको दबाकर या मिटाकर कोमल और सुंदर वृत्तियों को सचेत किया जाए। साहित्य और काव्य में भी ऐसे समय आए हैं, और आते रहते हैं, जब सुंदर का पक्ष निर्बल हो जाता है और असुंदर, वीभत्स और दुर्वासना का राग अलापने लगता है। लेकिन जब ऐसा समय आता है तो हम उसे पतन का युग कहते हैं। इसी उद्देश्य से साहित्य और कला में केवल मानव-जीवन की नकल करने को बहुत ऊंचा स्थान नहीं दिया जाता और आदर्शों की रचना करनी पड़ती है। आदर्शवाद का ध्येय यही है कि वह सुंदर और पवित्र की रचना करके मनुष्य में जो कोमल और ऊंची भावनाएं हैं, उन्हें पुष्ट करें और जीवन के संस्कारों से मन और हृदय में जो गर्द और मैल जम रहा हो, उसे साफ कर दे। किसी साहित्य की महत्ता की जांच यही है कि उसमें आदर्श चरित्रों की सृष्टि हो। हम सब निर्बल जीव हैं, छोटे-छोटे प्रलोभनों में पड़कर हम विचलित हो जाते हैं, छोटे-छोटे संकटों के सामने हम सिर झुका देते हैं। और जब हमें अपने साहित्य में ऐसे चरित्र मिल जाते हैं, जो प्रलोभनों को पैरों-तले रौंदते और कठिनाइयों को धकियाते हुए निकल जाते हैं, तो हमें उनसे प्रेम हो जाता है, हममें साहस का जागरण होता है और हमें अपने जीवन का मार्ग मिल जाता है।

अगर सिनेमा इसी आदर्श को सामने रखकर अपने चित्रों की सृष्टि करता, तो

वह आज संसार की सबसे बलवान् संचालक शक्ति होता, मगर खेद है कि इसे कोरा व्यवसाय बनाकर हमने उसे कला के ऊंचे आसन से खींचकर ताड़ी या शराब की दूकान की सतह तक पहुंचा दिया है, और यही कारण है कि अब सर्वत्र यह आंदोलन होने लगा है कि सिनेमा पर नियंत्रण रखा जाए कि उसे मनुष्य की पशुताओं को उत्तेजन देने की कुप्रवृत्ति से रोका जाए।

जिस ज़माने में बंबई में कांग्रेस का जलसा था, सिनेमा-हाल अधिकांश में ख़ाली रहते थे, और उन दिनों जो चित्र दिखाए गए, उसमें घाटा ही रहा। इसका कारण इसके सिवा और क्या हो सकता है कि जनता के विषय में जो खयाल है कि वह मारकाट और सनसनी पैदा करने वाली और शोर-गुल से भरी हुई तस्वीरों को ही पंसद करती है, वह भम्र है। जनता प्रेम और त्याग अथवा मित्रता और करुणा से भरी हुई तस्वीरों को और भी रुचि से देखना चाहती है, मगर हमारे सिनेमा वालों ने पुलिस वालों की मनोवृत्ति से काम लेकर यह समझ लिया है कि केवल भद्दे मसखरेपन और भंड़ैती और बलात्कार और सौ फीट की ऊंचाई से कूदने, झूठमूठ टीन की तलवार चलाने में ही जनता को आनंद आता है और कुछ थोड़ा-सा आलिंगन और चुंबन तो मानो सिनेमा के लिए उतना ही ज़रूरी है जितना देह के लिए आंखें। बेशक जनता वीरता देखना चाहती है। प्रेम के दृश्यों से भी जनता को रुचि है, लेकिन यह खयाल करना कि आलिंगन और चुंबन के बिना प्रेम का प्रदर्शन हो ही नहीं सकता, और केवल नकली तलवार चलाना ही जवांमर्दी है, और बिना ज़रूरत गीतों का लाना सुरुचि है, और मन और कर्म की हिंसा में ही जनता को आनन्द आता है, मनोविज्ञान का बिल्कुल गलत अनुमान है। कहा जाता है कि, शेक्सपियर के शब्दों में, जनता अबोध बालक है। और वह जिन बातों पर एकांत में बैठकर घृणा करती है, या जिन घटनाओं को अनहोनी समझती है, उन्हीं पर सिनेमा-हाल में बैठकर उल्लास से तालियां बजाती है। इस कथन में सत्य है। सामूहिक मनोविज्ञान की यह विशेषता अवश्य है। लेकिन अबोध बालक को क्या मां की गोद पसंद नहीं? जनता नग्नता और फक्कड़ता और भंड़ैती ही पसंद करती है, उसे चूमा-चाटी और बलात्कार में ही मजा आता है, तो क्या उसकी इन्हीं आवश्यकताओं को मजबूत बनाना हमारा काम है? व्यवसाय को भी देश और समाज के कल्याण के सामने झुकना पड़ता है। स्वदेशी आंदोलन के समय में किसकी हिम्मत थी जो 'बिज़नेस इज़ बिज़नेस' की दुहाई देता? बिज़नेस से अगर समाज का हित होता है, तो ठीक है, वर्ना ऐसे बिज़नेस में आग लगा देनी चाहिए। सिनेमा अगर हमारे जीवन को स्वस्थ आनंद दे सके, तो उसे ज़िंदा रहने का हक है। अगर वह हमारे क्षुद्र मनोवेगों को उकसाता है, हममें निर्लज्जता और धूर्तता और कुरुचि को बढ़ाता है, और हमें पशुता की ओर ले जाता है, तो जितनी जल्द उसका निशान मिट जाए, उतना ही अच्छा।

और अब यह बात धीरे-धीरे समझ में आने लगी है कि अर्धनग्न तस्वीरें दिखाकर और नंगे नाचों का प्रदर्शन करके जनता को लूटना इतना आसान नहीं रहा। ऐसी तस्वीरें अब आम तौर पर नापसंद की जाती हैं, और यद्यपि अभी कुछ दिनों जनता की बिगड़ी हुई रुचि आदर्श चित्रों को सफल न होने देगी लेकिन प्रतिक्रिया बहुत जल्द होने

वाली है और जनमत अब सिनेमा में सच्चे और संस्कृत जीवन का प्रतिबिंब देखना चाहता है, राजाओं के विलासमय जीवन और उनकी ऐयाशियों और लड़ाइयों से किसी को प्रेम नहीं रहा।

[संपादकीय। 'हंस', मार्च 1935 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रथम संस्करण) में संकलित। परंतु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया। 'प्रेमचन्द का अप्राप्य' साहित्य भाग-2 में संकलित।]

स्वास्थ्य और शिक्षा

यों तो हमारा शिक्षा-क्रम दोषों से भरा हुआ है, लेकिन हमारे विचार में इसमें सबसे बड़ा दोष जो है, वह इसकी स्वास्थ्य की ओर से उदासीनता है। आदमी के लिए दुनिया में जिंदा रहने और काम करने के लिए ज्यॉमेट्री और इतिहास और सैकड़ों फालतू विषयों की इतनी जरूरत नहीं, जितनी इस बात की कि हम कैसे स्वस्थ रह सकें। नतीजा यह हो रहा है कि हम अपने मस्तिष्क का कोष भर लेते हैं, लेकिन स्वास्थ्य की ओर से दीवालिए हो जाते हैं। हमारे अधिकतर शिक्षित लोग चलते-फिरते रोग हैं। किसी को अजीर्ण का रोग, किसी को धड़कन का। और डाएबिटीज तो इतना व्यापक हो गया है कि कुछ न पूछिए। इसका कारण यही है कि बचपन में हमको स्वास्थ्य का महत्व नहीं समझाया गया और हममें ऐसी आदतें डालने की चेष्टा नहीं की गयीं कि हम अपनी सेहत की रक्षा कर सकते। और जवान या अधेड़ होने पर जब सेहत और तंदुरुस्ती का महत्व समझ में आया, तो सूखे धान में पानी डालने से क्या हो सकता है।

अब लाख ओकासा खाइए या पीजिए, लाख विटामिनों के पीछे दौड़िए, सेहत हाथ नहीं आती। हमारे बचपन में मिडिल स्कूलों में 'तरीके तंदुरुस्ती' नाम की एक किताब पढ़ाई जाती थी, जिसमें हवा, पानी, रोशनी आदि पर छोटे-छोटे पाठ दिए गए थे और आज भी हमारी प्राइमरी रीडरों में सेहत संबंधी पाठ दिये जाते हैं, लेकिन बच्चों को वह सबक उसी तरह पढ़ाए जाते हैं जैसे व्याकरण या इतिहास। बल्कि व्याकरण और इतिहास पर ज्यादा जोर दिया जाता है, क्योंकि इन विषयों में फेल हो जाने से लड़के फेल हो जाते हैं। सेहत के पाठ केवल भाषा की दृष्टि से पढ़ाए जाते हैं और उनका जो मुख्य उद्देश्य है उसकी परवाह नहीं की जाती। कुछ तो परीक्षाओं का सिलसिला इतना घातक है कि छात्रों को दम मारने की फुरसत नहीं मिलती। और कुछ हमारी उदासीनता है, जिसके कारण जनता में इस आंदोलन को जोरों से उठाने की सूझती ही नहीं। हमारा लड़का एम० ए० की डिग्री लाए, फिर चाहे वह आंखों की ज्योति क्यों न खो बैठे और मंदाग्नि का रोग क्यों न पाल ले। यह हमारी मनोवृत्ति है।

यह विचार आम तौर पर फैला हुआ है कि शरीर और सेहत को बलवान बनाने के लिए घी, दूध, मक्खन और मेवे का होना लाजिमी है। हमारे कितने ही युवक अपनी आर्थिक कठिनाइयों से इतने निराश और उत्साहहीन हो जाते हैं कि किसी प्रकार के व्यायाम से उन्हें रुचि नहीं रहती। कसरत से क्या फायदा, जब पुष्टिकारक

भोजन नहीं मिलता? कसरत तो तब करें, जब प्रातःकाल बादाम का हलुआ और दूध मिले और मेवे मिलें, खाने में घी, मलाई और मांस भरपूर मिले। लेकिन, उन्हें खबर नहीं अब दिन-दिन विज्ञान द्वारा यह साबित होता जा रहा है कि मामूली सादे खाने में और मामूली साग-भाजी में शरीर के पोषण करने की शक्ति किसी तरह भी घी, दूध या मेवों से कम नहीं है। हां, अगर हम उनका ठीक तौर से व्यवहार करना जानें। अगर हम अज्ञानवश इन पदार्थों का मुफीद हिस्सा फेंक दें, तो यह हमारा दोष है, उन चीजों का दोष नहीं। खुशी तो देखकर होती है कि विज्ञान भी हमें उसी तरफ ले जा रहा है, जिधर हम पहले से चल रहे हैं।

हमने नई शिक्षा पाकर गोरी जातियों की नकल में उन चीजों का व्यवहार करना छोड़ दिया, जो हमारी भोजन सामग्री को पुष्टिकर बनाती थीं और नई-नई सामग्रियों के फेर में पड़ गये थे, जिन्हें योरप के व्यापारी लंबे-चौड़े विज्ञापन दे-देकर हमारे सामने लाते थे, यह ओवल्टीन है, यह क्वेकर ओट, यह माल्टेड मिल्क है। बस, सारी दुनिया की पौष्टिक शक्ति इनमें भरी हुई है। जिस युवक को देखिए इन्हीं इश्तिहारी चीजों के फेर में पड़ा हुआ है, लेकिन अब सिद्ध हो रहा है, कि हमारे मूली-गाजर और पालक-बथुए में जो पौष्टिक पदार्थ मौजूद हैं वह इन बहु-प्रशंसित सामग्रियों में हो नहीं सकते। कुछ अमीरी का अभिमान और अपनी रुचि की नफासत भी हमें पथभ्रष्ट करती है। हम गुड़ नहीं खा सकते, जिसमें पुष्टिकर तत्व भरे पड़े हैं। हमें तो शक्कर चाहिए जितनी साफ हो उतनी ही अच्छी। यह भ्रम फैला दिया गया है कि गुड़ या खांड खाने से फोड़े निकलते हैं। नया चावल भी हम नहीं खाते। हम उसे जितना ही पुराना करके खाएं, उतना ही हमारी कल्पना प्रसन्न होती है। वह ऐसा बिखरा हुआ होना चाहिए जैसे बेले का फूल।

यह हम भूल जाते हैं कि वह जितना ही पुराना होता जाता है और जितना ही उसका पालिश किया जाता है, उतना ही निस्सत्व होता जाता है। गेहूं के विषय में भी हमें कुछ ऐसे ही भ्रम हैं। हम महीन-से-महीन मैदा खाना अमीरी की शान समझते हैं, मोटा आटा खाना गंवारूपन है और उसका चोकर तो कोई पचा ही नहीं सकता। भला चोकर भी खाने की चीज है। लेकिन अब विज्ञान से सिद्ध हो रहा है कि गेहूं का सबसे बहुमूल्य भाग उसका चोकर है, जो हम फेंक देते हैं। दातून की, ब्रश और टूथपेस्ट पर बहुत पहले जीत हो चुकी है, मगर हम अभी तक इस भ्रम में पड़े हुए हैं कि इससे हमारे दांत मजबूत होते हैं।

मगर सबसे बड़ा अनर्थ तो उस अज्ञान से होता है, जो हमें अपनी इंद्रियों के स्वाभाविक व्यवहार के विषय में है। किशोरावस्था में जब यौवन का विकास होने लगता है, हमारे कितने ही बालक अज्ञान के कारण अपनी इंद्रियों का दुरुपयोग करके अपनी सेहत और देह दोनों ही का सर्वनाश कर बैठते हैं। उन्हें बिल्कुल खबर नहीं होती कि वह दुर्व्यसनों में पड़कर अपने जीवन की किस निर्दयता से जड़ खोद रहे हैं। हमारी सभी कर्मेन्द्रियां अपने-अपने विशेष काम के लिए बनी हैं। यदि मुंह का काम हाथ से लिया जाय और हाथ का काम पांव से, तो जिंदा रहना कठिन हो जाए। मगर यही अंधकार है जिस पर प्रकाश डालने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता। अगर

हमारे हाई स्कूलों और यूनिवर्सिटियों में योग्य विशेषज्ञों से इस विषय पर भाषण कराये जाएं, तो निश्चय हमारे विद्यालयों में जो गुप्त रूप से दुराचरण होता है वह बहुत कुछ कम हो जाए। जरूरत है कि कोई शरीर-शास्त्र का विद्वान इस विषय पर युवकों के लिए सच्ची शिक्षा से भरी हुई पुस्तक लिखकर शुद्धता का महत्व समझाए। उन्हें बतलाए कि तुम अज्ञान के कारण अपने साथ कितना अत्याचार कर रहे हो। अगर माता-पिता स्वयं अपने बालकों को यह ज्ञान दे सकते तो और भी अच्छा होता, लेकिन समाज जिन रूढ़ियों में बंधा हुआ है उनको तोड़ डालना आसान नहीं है और बहुत-से लोग इच्छा होने पर इस झूठे संकोच को नहीं तोड़ सकते। हमारे यहां काम-शास्त्र संबंधी जो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, वह इस दृष्टि से नहीं लिखी गयी हैं, उनके प्रकाशकों ने समाज हित के लिए नहीं, धन कमाने के लिए उन्हें प्रकाशित किया है, और ऐसी प्राय: सभी पुस्तकों में सीधी राह दिखाने की उतनी चेष्टा नहीं की गई है, जितनी युवकों को गुप्त भावनाओं में गुदगुदी पैदा कर देने की। यह काम कवियों और साहित्यिकों का नहीं, डॉक्टरों और ब्रह्मचारियों का है। इधर कुछ योरोप के विद्वानों ने इस महान् गंभीर विषय के साथ खिलवाड़ करना शुरू किया है और तरह तरह की लचर, भ्रष्ट और गुमराह करने वाली धारणाओं का प्रचार करने लग हैं। इसलिए और भी जरूरत है कि इस विषय पर प्रमाणित पवित्र साहित्य छापा जाए। इसके साथ ही विद्यालयों का भी यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे अपने बालकों के मस्तिष्क को पाटना ही कर्त्तव्य की इतिश्री न समझें, उनकी आत्मा, उनके स्वास्थ्य और उनके जीवन का कल्याण भी अपना कर्त्तव्य समझें।

[संपादकीय। 'हंस', मार्च, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

ग्राम्य-गीतों में समाज का चित्र

प्रत्येक समाज में धर्म और आचरण की रक्षा जितनी ग्राम्य साहित्य और ग्राम्य गीतों द्वारा होती है, उतनी कदाचित् और किसी साधन से नहीं होती।

हमारी पुरानी कहावतें और लोकोक्तियां आज भी हममें से 99 फीसदी मनुष्यों के लिए जीवन-मार्ग के दीपक के समान हैं। अपने व्यवहारों में हम उन्हीं आदर्शों से प्रकाश लेते हैं। अगर हमारे ग्राम्य-गीतों, ग्राम्य-कथाएं और लोकोक्तियां हमें स्वार्थ, अनुदारता और निर्ममता का उपदेश देती हैं तो उनका हमारे जीवन-व्यवहारों पर वैसा ही असर पड़ना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से जब हम अपने ग्राम्य-गीतों की परीक्षा करते हैं, तो हमें यह देखकर खेद होता है कि उनमें प्राय: वैमनस्य, ईर्ष्या-द्वेष और प्रपंच ही की शिक्षा दी गई है। सास जहां आती है, वहां उसे पिशाचिनी के रूप में ही देखते हैं, जो बातचीत में बहू को ताने देती है, गालियां सुनाती है, यहां तक कि बहू को निस्संतान रहने पर उसे बाँझिन कहकर उसका तिरस्कार करती है। ननद का रूप तो और भी कठोर है। शायद ही कोई ऐसा ग्राम्य-गीत हो, जिससे ननद और भावज में प्रेम और सौहार्द का पता चलता हो। ननद को भावज से न जाने क्यों

जानी दुश्मनी रहती है। वह भावज का खाना-पहनना, हंसना-बोलना कुछ नहीं देख सकती और हमेशा ओठड़े खोज-खोजकर उसे जलाती रहती है। देवरानियों, जेठानियों और गोतिनों ने तो मानो उसका अनिष्ट करने के लिए कसम खा रखी है। वे उसके पुत्रवती होने पर जलती हैं, और उसे भी पुत्र-जन्म का या अपनी सुदशा का केवल इसीलिए आंनद होता है कि इससे देवरानियों, जेठानियों और गोतिनों का घमंड टूटेगा। उसका पति भी उससे प्रेम तो करता है, मगर जब संतान होने में देर होती है तो कोसने लगता है। जो गीत जन्म, मुंडन, विवाह सभी उत्सवों में गाए जाते हैं, और प्रत्येक छोटे-बड़े घर में गाए जाते हैं, उनमें अक्सर समाज और घर के यही चित्र दिखाए जाते हैं, और इसका हमारे घर और जीवन पर अप्रत्यक्ष रूप से असर पड़ना स्वाभाविक है। जब लड़की में बात समझने की शक्ति आ जाती है, तभी से उसे ननद के नाम से घृणा होने लगती है। ननद से उसे किसी तरह की सहानुभूति, सहायता या सहयोग की आशा नहीं होती। वह मन में ईश्वर से मनाती है कि उसका साबिका किसी ननद से न पड़े। ससुराल जाते समय उसे सबसे बड़ी चिंता यही होती है कि वहां दुष्टा ननद के दर्शन होंगे, जो उसके लिए छुरी तेज किए बैठी है। जब मन में ऐसी भावनाएं भरी हुई हैं, तो ननद की ओर से कोई छोटी-सी शिकायत हो जाने पर भी भावज उसे अपनी बैरिन समझ लेती है और दोनों में वह जलन शुरू हो जाती है, जो कभी शांत नहीं होतो। आज हमारे घरों में ऐसी बहुत कम मिसालें मिलेंगी, जहां ननद-भावज में प्रेम हो। सास और बहू में जो मन-मुटाव प्राय: देखने में आता है, उसका सूत्र भी इन्हीं गीतों में मिलता है, और ये भाव उस वक्त दिल में जम जाते हैं जब हृदय कोमल और ग्रहणशील होता है और इन पत्थर की लकीरों को मिटाना कठिन होता है। इस तरह के गीत एक तरह से दिलों में कटुता और जलन की बारूद जमा कर देते हैं, जो केवल एक चिंगारी के पड़ जाने से भड़क उठती है। युवती वधू को ससुराल में चारों तरफ दुश्मन ही दुश्मन नज़र आते हैं, जो मानो अपने-अपने हथियार तेज़ किये उस पर घात लगाये बैठे हैं। फिर क्यों न हमारे घरों में अशांति और कलह हो? बहू, सुख-नींद सोई हुई है। सास और ननद दोनों तड़प-तड़प कर बोलती हैं—बहू, तुझे क्या गुमान हो गया है जो सुख-नींद सो रही है? भौजी हमेशा 'बोलइ विष बोल करेजवा में साल' यानी ऐसे तीखे वचन बोलती है जो हृदय में शूल पैदा कर देते हैं। 'ननदिया' हमेशा 'विष बोलै'। एक गीत में सीता और उसकी ननद पानी भरने के लिए जाती हैं। ननद भावज से कहती है—रावण की तस्वीर खींचकर दिखा दे। भावज कहती है—राम सुन पाएंगे, तो मेरे प्राण ही ले लेंगे। ननद कसम खाती है कि वह भैया से यह बात नहीं कहेगी। भावज चकमे में आ जाती है और रावण की तस्वीर खींचती है। चित्र आधा ही बन पाया है कि राम आ जाते हैं। सीता चित्र को आंचल में छिपा लेती है। इस पर ननद अपने वचन का जरा भी लिहाज़ नहीं करती और भाई से कह देती है कि यह तो 'रवना उरेहैं।' जो रावन तुम्हारा बैरी है, उसी की यहां तस्वीर बनाई जाती है। ऐसी औरत क्या घर में रखने योग्य है? राम तरह-तरह के हीले करते हैं, पर ननद राम के पीछे पड़ जाती है। आखिर हारकर राम सीता को घर से निकाल देते हैं। ननद का ऐसा

अभिनय देखकर किस भावज को उससे घृणा न हो जाएगी?

मगर इसके साथ ही ग्राम्य-गीतों में स्त्री-पुरुषों के प्रेम, सास-ससुर के आदर, पति-पत्नी के व्रत और त्याग के भी ऐसे मनोहर चित्रण मिलते हैं कि चित्त मुग्ध हो जाता है। अगर कोई ऐसी युक्ति होती, जिससे विष और सुधा को अलग-अलग किया जा सकता और हम विष को अग्नि की भेंट करके सुधा का पान करते तो समाज का कितना कल्याण होता।

[संपादकीय। 'हंस', अप्रैल, 1935 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रथम संस्करण) में संकलित। परंतु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य', खण्ड-2 में संकलित।]

प्रेम-विषयक गल्पों से अरुचि

जनता की साहित्यिक रुचि के विषय में बुकसेलरों से अच्छी जानकारी शायद ही किसी को होती हो। और लोग अकली गद्दा लगाते हैं, बुकसेलर को इसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। अभी थोड़े दिन हुए, एक समाचार-पत्र ने कई बड़े-बड़े बुकसेलरों से पूछा था कि आजकल आप लोगों के यहां किस विषय की पुस्तकों की ज्यादा मांग है? इसका बुकसेलरों ने जो उत्तर दिया, उसका सारांश यों है :

"जहां तक पुस्तकों की बिक्री का संबंध है, कल्पना-साहित्य बड़ी आसानी से प्रथम स्थान ले लेता है। कहानियों के संग्रह, उपन्यास, नाटक और कई विख्यात लेखकों के निबंध--ये सब इसी श्रेणी में आ जाते हैं। लेकिन प्रेम-विषयक और शृंगारपूर्णक रचनाओं की अब उतनी खपत नहीं रही, जितनी कई साल पहले थी। क्या इसका मतलब यह है कि प्रेम-कथाओं और कामोत्तेजक विषयों में लोगों की दिलचस्पी कम होती जा रही है? नहीं। प्रेम और काम-संबंधी साहित्य में लोगों की रुचि बढ़ रही है। हां, अब जनता को केवल भावुकता और विकलता से संतोष नहीं होता, प्रेम और विवाह आदि का वह वास्तविक और तात्त्विक ज्ञान प्राप्त करना चाहती है, और इस तरह के साहित्य की मांग बढ़ रही है। उपन्यासों में भी 'सेक्स'-संबंधी समस्याओं की चर्चा केवल विरह और मिलन तक नहीं रहती, गृहस्थी और विवाह पर एक नवीन और विचारपूर्ण ढंग से विचार किया जाने लगा है। प्रेम की मधुर कल्पनाओं से हटकर विवाह और घर और नर-नारी के असली जीवन की ओर जन-रुचि का अधिक झुकाव हुआ है। जनता केवल कविता नहीं चाहती, गंभीर विचार और वैज्ञानिक प्रकाश चाहती है। विनोदपूर्ण साहित्य और रोमांचकारी जासूसी कहानियों की ओर जनता का प्रेम ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। पी० जी० वुडहाउस और थार्न स्मिथ की हास्य-कथाओं का बहुत अच्छा प्रचार है। आमतौर पर जो यह ख़याल है कि ऊंची श्रेणी के लोगों में घासलेटी साहित्य और रक्त और हत्या से भरी हुई कथाओं का विशेष प्रचार है--कम-से-कम हिन्दुस्तान में उसकी पुष्टि नहीं होती।"

[संपादकीय। 'हंस', अप्रैल, 1935 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रथम संस्करण) में संकलित। परंतु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया । 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

रुचि की विभिन्नता

इस विषय में पुस्तक-विक्रेताओं ने बड़ी महत्त्व की जो बातें कही हैं, उनसे भिन्न-भिन्न श्रेणियों और जातियों की साहित्यिक प्रवृत्ति का ठीक पता चल जाता है। उनका कहना है कि स्त्रियों को सरस साहित्य से विशेष प्रेम है, और मर्दों को गंभीर साहित्य से। नये पुस्तकालयों में नए-नए उपन्यासों ही की प्रधानता होती है और ये पुस्तकालय स्त्रियों की ही कृपा-दृष्टि पर चलते हैं। पुराने ढंग के पुस्तकालयों के ग्राहक अधिकतर पुरुष होते हैं, और उसमें भिन्न-भिन्न विषयों की पुस्तकें संग्रह की जाती हैं। हिन्दुस्तानी और यूरोपियन महिलाओं की रुचि में भी बड़ा अंतर है। यहां की देवियां उपयोगी विषयों की पुस्तकें पढ़ती हैं, जैसे पाकशास्त्र या गृह-विज्ञान या शिशु-पालन आदि। इसके खिलाफ यूरोपियन स्त्रियां कथा-कहानी, शृंगार और फैशन की पुस्तकों से ज़्यादा प्रेम रखती हैं। दोनों जातियों के मनुष्यों की रुचि में भी अंतर है। यूरोपियन को मामूली तौर से कथा अधिक प्रिय है, हिन्दुस्तानियों को अर्थ-शास्त्र, जीवन-चरित्र, नीति, विज्ञान आदि विषयों से ज़्यादा प्रेम है। कुछ नवीनता के परम भक्त युवकों को छोड़कर हिन्दुस्तानियों में शायद ही कोई उपन्यास मोल लेता हो।

यूरोपियन स्त्री-पुरुषों का किस्सा-कहानी से प्रेम होना इसका प्रमाण है कि वे संपन्न हैं और उन्हें अब उपयोगी विषयों की आवश्यकता नहीं रही। जिसके सामने जीवन का प्रश्न इतना चिंताजनक नहीं है, वह क्यों न प्रेम और विलास की कथाएं पढ़कर मन बहलाए। यह देखकर कि हिन्दुस्तानियों को गंभीर विषयों में अधिक रुचि है, यह कहा जा सकता है कि हमारा रुचि अब प्रौढ़ हो रही है। लेकिन हिन्दी के प्रकाशकों से पूछा जाए, तो शायद वे कुछ और ही कहें। हिन्दी में गंभीर साहित्य की पुस्तकें बहुत कम बिकती हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि जिन्हें गंभीर साहित्य से प्रेम है, वह अंग्रेजी पुस्तकें खरीदते हैं। कथा कहानियां कुछ ज्यादा बिक जाती हैं शायद इसलिए कि भारतीय जीवन का चित्रण हमें अंग्रेज़ी पुस्तकों में नहीं मिलता, अन्यथा कोई हमारे हिन्दी उपन्यासों और कहानियां को भी नहीं पूछता। एक कारण यह भी हो सकता है कि उपन्यास और कहानियों के लिए किसी विशेष योग्यता की जरूरत नहीं समझी जाती। जिसके हाथ में कलम है वही उपन्यास लिख सकता है। लेकिन दर्शन या अर्थशास्त्र या ऐतिहासिक विवेचन पर कलम उठाने के लिए विद्वत्ता चाहिए। और जो लोग विद्वान् हैं, वे अंग्रेज़ी में लिखना ज्यादा पसंद करते हैं, क्योंकि अंग्रेजी का क्षेत्र विस्तृत है -वहां यश भी अधिक मिलता है और धन भी।

[संपादकीय। 'हंस' अप्रैल, 1935 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रथम संस्करण) में संकलित। परंतु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 में संकलित।]

साहित्य की नई प्रवृत्ति

जिस तरह संस्कृति के और सभी अंगों में यूरोप हमारा पथ-प्रदर्शक है, उसी तरह साहित्य में भी हम उसी के पद-चिह्नों पर चलने के आदी हो गए हैं। यूरोप आजकल

नग्नता की ओर जा रहा है। वही नग्नता जो उसके पहनावे में, उसके मनोरंजनों में, उसके रूप-प्रदर्शन में नज़र आती है, उसके साहित्य में भी व्याप्त हो रही है। वह भूला जा रहा है कि कला संयम और संकेत में है। वही बात जो संकेतों और रहस्यों में आकर कविता बन जाती है, अपने स्पष्ट या नग्न रूप में वीभत्स हो जाती है। वह नंगे चित्र और मूर्तियां बनाना कला का चमत्कार समझता है। वह भूल जाता है कि वही काजल जो आंखों को शोभा प्रदान करता है, अगर मुंह पर पोत दिया जाए तो रूप को विकृत कर देता है। मिठाई उसी वक्त तक अच्छी लगती है, जब तक मुंह मीठा करने के लिए खाई जाए। अगर वह मुंह में ठूंस दी जाए, तो हमें उससे अरुचि हो जाएगी। ऊषा की लाली में जो सुहानापन है, वह सूरज के संपूर्ण प्रकाश में हरगिज़ नहीं। मगर वर्तमान साहित्य उसी खुलेपन की ओर चला जा रहा है। जिन प्रसंगों में जीवन का माधुर्य है, उन्हें स्पष्ट और नग्न रूप में दिखाकर वह उस माधुर्य को नष्ट कर रहा है। वही प्रवृत्ति, जो आज युवतियों को रेल और ट्राम में बार-बार आईना देखकर ओठों और गालों के धूमिल होते हुए रंग को फिर से चमका देने पर प्रेरित करती है, हमारे साहित्य में भी उन विषयों और भावों को खोलकर रख देने की गुदगुदी पैदा करती है, जिनके गुप्त और अस्पष्ट रहने में ही कला का आनंद है।

और यह प्रवृत्ति और कुछ नहीं, केवल समाज की वर्तमान व्यवस्था का रूप मात्र है। जब नारी को इसका निराशाजनक आभास होता है कि उसके पास रूप के आकर्षण के सिवा और कुछ नहीं रहा, तो वह नाना प्रकार से उसी रूप को संवार कर नेत्रों को आकर्षित करना चाहती है। उसमें वह सौंदर्य नहीं रहा, जो काजल और पाउडर की परवाह न करके, केवल आंखों को खुश करने में ही अपना सार न समझकर अंतस्तल की गहराइयों से अपना प्रकाश फैलाता है। वही व्यापार-बुद्धि जो आज गली-गली, कोने कोने में अपना जौहर दिखा रही है, साहित्य और कला के क्षेत्र में भी अपना आधिपत्य जमा रही है। आप जिधर जाइए आपको दीवारों पर, तख्तियों पर व्यापारियों के बड़े बड़े भड़कीले पोस्टर नजर आएंगे। समाचार-पत्रों में तीन चौथाई स्थान केवल विज्ञापनों से भरा रहता है। स्वामी को अच्छी सामग्री देने की उतनी चिंता नहीं रहती है जितनी नफा देने वाले विज्ञापन हासिल करने की। उसके कंवेसर लेखकों के पास लेख के लिए नहीं जाते इसके लिए तो एक कार्ड काफी है, मगर विज्ञापनदाताओं की सेवा में वह बराबर अपने कंवेसर भेजता है, उसकी खुशामद करता है, और उसी देवता को प्रसन्न करने में अपना उद्धार पाता है। कितनी ही अच्छे-अच्छे पत्र तो केवल विज्ञापन के लिए ही निकलते हैं, लेख तो केवल गौण रूप से इसलिए दे दिए जाते हैं कि साहित्य के रसिकों को उन विज्ञापनों को पढ़ने के लिए प्रलोभन दे सकें। व्यापार ने कला को एक तरह से खरीद लिया है। व्यापार के युग में जिस चीज़ का सबसे ज़्यादा महत्त्व होता है, वह धन है जिसके अंदर जो शक्ति है, चाहे वह देह की हो या मन की, या रूप की या बुद्धि की, वह उसे धन-देवता के चरणों पर ही चढ़ा देता है। हमारा साहित्य भी, जो कला का ही एक अंग है, उसी व्यापार बुद्धि का शिकार हो गया है। हम किसी चीज़ की

रचना इसलिए नहीं करते कि हमें कुछ कहना है, कोई संदेश देना है, जीवन के किसी नए दृष्टिकोण को दिखाना है, समाज और व्यक्ति में ऊंचे भावों को जगाना है अथवा हमने अपने जीवन में कुछ अनुभव किया है, उसे जनता को देना है, बल्कि केवल इसलिए कि हमें धन कमाना है और हम बाज़ार में ऐसी चीज़ रखना चाहते हैं जो ज़्यादा-से-ज़्यादा बिक सके। जब एक बार यह खयाल दिल में जम गया, तो फिर हम विचार-स्वांतत्र्य और भाव-स्वातंत्र्य के नाम से ऐसी चीज़ें लिखते हैं, जिनके विषय में जनता को सदैव कौतूहल रहा है और सदैव रहेगा। ड्रामेटिस्ट और उपन्यासकार और कवि सभी नग्न लालसा और चूमाचाटी से भरी हुई रचनाएं करने के लिए मैदान में उतर आते हैं, और आपस में होड़-सी होने लगती है कि कौन नई-से-नई चौंकाने वाली बातें कह सुनाएं, ऐसे-ऐसे प्रसंग उपस्थित करें कि कामुकता के छिपे हुए अड्डों में जो व्यापार होते हैं वह प्रत्येक स्त्री-पुरुष के सामने आ जाय। कोई आजाद प्रेम के नाम से, कोई पतितों के उद्धार के नाम से कामोद्दीपन की चेष्टा करता है, और संयम और निग्रह को दक़ियानूसी कहकर मुक्त विलास का उपदेश देता है। सत्य और असत्य की उसे परवाह नहीं होती। वह तो चौंकाने वाली और कान खड़े करने वाली बातें कहना चाहता है, ताकि जनता उसकी कृतियों पर टूट पड़े और उसकी पुस्तकें हाथों-हाथ बिक जाएं। उसे गुप्त-से-गुप्त प्रसंगों के चित्रण में ज़रा भी संकोच या झिझक नहीं होती। इन्हीं रहस्यों को खोलने में ही शायद उसके विचार में समाज का बेड़ा पार होगा। व्रत और त्याग जैसी चीज की उसकी निगाह में कुछ भी महिमा नहीं है। नहीं, बल्कि वह व्रत, त्याग और सतीत्व को संसार के लिए घातक समझता है। उसने इन वासनाओं को बेलगाम छोड़ देने में ही मानव-जीवन का सार समझा है। हक्सले और डी० एच० लारेंस और डिकोबरा आदि, आज अंग्रेजी-साहित्य के चमकते हुए रत्न समझे जाते हैं, लेकिन इनकी रचानाएं क्या हैं? केवल उपन्यास-रूपी कामशास्त्र। जब एक लेखक देखता है कि अमुक की रचना नग्नता और निर्लज्जता के कारण धड़ाधड़ बिक रही है, तो वह कलम हाथ में लेकर बैठता है और उससे भी दस कदम आगे जा पहुंचता है। और इन पुस्तकों की समाज में खूब आलोचनाएं होती हैं, उनकी निर्भीक सत्यवादिता के खूब ढोल पीटे जाते हैं। इस प्रवृत्ति को यथार्थवाद का नाम दे दिया जाता है, और यथार्थवाद की आड़ में आप व्यभिचार की निर्लज्जता की, चाहे जितनी मीमांसा कीजिए, कोई नहीं बोल सकता। एक महिला कलम लेकर बैठती है और अपने कुत्सित प्रेम-रहस्यों का कच्चा चिट्ठा लिख जाती है। समाज में उसकी रचना की धूम मच जाती है। दूसरे महोदय अपनी ऐयाशियों की झूठी सच्ची कहानी लिखकर समाज में हलचल पैदा कर देते हैं। पुस्तकों को अधिक से-अधिक लाभप्रद बनाने के लिए संभव है, अपनी आत्म-चर्चा को खूब बढ़ा-बढ़ा कर बयान किया जाता हो। कामुकता का ऐसा नंगा नाच शायद किसी युग में न हुआ हो। दुकानों पर रूपवती युवतियां बैठाई जाती हैं। इसलिए कि ग्राहकों की कामुकता को उत्तेजित करके एक पैसे की चीज़ के दो पैसे वसूल कर लिए जाएं। ये युवतिया मानो वह चारा हैं, जिसे कांटे में लगाकर मछलियों को फंसाया जाता है। जब सारे कुएं में ही भंग पड़ गई है तो कला और साहित्य क्यों अछूते बच जाते? मगर यह

सब उस सामाजिक व्यवस्था का प्रसाद है जो इस वक्त संसार में फैली हुई है। और वह व्यवस्था है–'धन का कहीं ज़रूरत से ज़्यादा और कहीं ज़रूरत से कम होना। जिनके पास ज़रूरत से ज्यादा है, वे मानो समाज के देवता हैं और जिनके पास ज़रूरत से कम है, वे हर मुमकिन तरीकों से धनवानों को खुश करना चाहते हैं। और धन की वृद्धि सदैव विषय-विलास की ओर जाती है। इसीलिए रूप के बाज़ार सजाए जाते हैं, इसीलिए नग्न चित्र बनाए जाते हैं, इसीलिए साहित्य कामुकता-प्रधान हो जाता है। साहित्य के इस नए फ़ैशन की गुलामी और भोग-लालसा के कारण कितने ही लोग विवाह से कांपते हैं, और उनकी रसिकता और कोई मार्ग न पाकर कामोद्दीपक साहित्य पढ़कर ही अपने दिल को तसल्ली दे लेती है। रूसी समाज को जिन लोगों ने देखा है, वे कहते हैं कि वहां की स्त्रियां रंग और पाउडर पर जान नहीं देतीं और न रेशम और लेस के लिए मरती हैं। उनके सिनेमाघरों के दरवाज़ों पर अर्ध-नग्न पोस्टरों का वह प्रदर्शन नहीं होता, जो अन्य देशों में नज़र आता है। इसका कारण यह है कि वहां धन की प्रभुता किसी हद तक ज़रूर नष्ट हो गई है। और उसकी कला अब धन की गुलामी न करके समाज के परिष्कार में लगी हुई है। हम ऊपर कह आए हैं कि आज यथार्थवाद के पर्दे के बेशर्मी का नंगा नाच हो रहा है। यथार्थवाद के माने ही ग्रह हो गए हैं कि वह समाज और व्यक्ति के नीच-से-नीच, अधम-से-अधम और पतित-से-पतित व्यवहारों का पर्दा खोले, मगर क्या यथार्थता अपने क्षेत्र में समाज और व्यक्ति की पवित्र साधनाओं को नहीं ले सकती? एक विधवा के पतित जीवन की अपेक्षा क्या उसके सेवामय, तपोमय जीवन का चित्रण ज्यादा मंगलकारी नहीं है? क्या साधु-प्रकृति मनुष्यों का यथार्थ जीवन हमारे दिलों पर कोई असर नहीं करता? साहित्य में असुंदर का प्रवेश केवल इसलिए होना चाहिए कि सुंदर को और भी सुंदर बनाया जा सके। अंधकार की अपेक्षा प्रकाश ही संसार के लिए ज़्यादा कल्याणकारी सिद्ध हुआ है।

[संपादकीय। 'हंस', अप्रैल, 1935 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रथम संस्करण) में संकलित। परंतु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

श्रद्धांजलि-1

आज हम हिन्दी-साहित्य के अमर तपस्वी, पूज्य आचार्य, पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी की सत्तरवीं वर्षगांठ के पुनीत अवसर पर अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करते हैं। नवीन हिन्दी-साहित्य के निर्माताओं में उनकी कीर्ति हमेशा चमकती रहेगी और इस मार्ग के पथिकों को जीवन और आशा प्रदान करती रहेगी।

द्विवेदी जी का जीवन साहित्य और साधना और तप का जीवन है। साहित्य ही उनका सर्वस्व था। उनकी चिंता और कल्पना और आकांक्षा और विनोद सब का स्रोत एक था और वह साहित्य है। साहित्य उनके लिए कीर्ति का साधन न था और धन का तो हो ही क्या सकता था। पांडित्य-प्रदर्शन भी उनकी मनोवृत्ति न थी। उनके

हृदय में इसकी जड़ें उतनी ही गहरी थीं, जितनी हमारे जीवन में स्वार्थ और ममत्व की होती हैं। उनका स्वार्थ भी यही था और परमार्थ भी यही था।

और जहां व्यक्तित्व है, वहां शैली भी है। शैली भीतर की आत्मा का बाह्य रूप है। उस शैली में कितना संभव है, कितना प्रसाद है, कितना ओज है, कितना सुलझाव है। उसमें रसिकों का बांकापन नहीं, पंडितों का गांभीर्य नहीं, ज्ञानियों की शुष्कता नहीं, एक सीधे-सादे उदार व्यक्ति की सजीवता है।

साहित्य की लगन का कितना ऊंचा आदर्श है। कहां से क्या लें और उसे किस तरह अच्छे-से-अच्छे रूप में संसार को दें, यही धुन है। जनहित का कोई अंग उनसे नहीं छूटा। जहां कोई उपयोगी चीज देखी, चाहे वह पुरातत्व से संबंध रखती हो, या दर्शन से, या भाषा विज्ञान से, या प्राकृतिक दृश्यों से, उसे पाठकों के लिए संकलन करना उनका कर्त्तव्य था। वह जिस चीज को पढ़कर स्वयं आनंदित होते थे, उसका रस पाठकों को चखाना एक लाजिमी बात थी। 'सरस्वती' की फाइल उठाकर द्विवेदी जी की संपादकीय टिप्पणियां देखिए, विविध ज्ञान का भंडार है। ऐसा कोई विषय नहीं, जिस पर द्विवेदी जी ने न लिखा हो, गहरे-से-गहरे तात्त्विक विवेचना और साधारण-से-साधारण दंत-कथाएं तक आपको उसमें मिलेंगी, और आप उस व्यक्ति के ज्ञान-विस्तार पर चकित हो जाएंगे।

और यह काम किसी विद्या और ज्ञान के केंद्र में बैठकर नहीं, एक गांव की एकांत कुटिया में होता था। साहित्य की वह छटा उसी कुटिया से निकलकर हिन्दी संसार को आलोकित कर देती थी।

आज हिन्दी में ऐसा कौन विद्वान् संपादक है, जो अपने काम को यज्ञार्थ बुद्धि से करता हो, जो हरेक लेख का आद्योपांत पढ़ता हो, उसकी भाषा का परिष्कार करता हो, एक चतुर कलाकार की भांति पत्थर के एक टुकड़े को बोलती हुई मूर्ति बना देता हो। हमारी कई कहानियां 'सरस्वती' में द्विवेदी जी के संपादन काल में निकलीं। जब वह छप जाती थीं और मैं असल से मिलाता था, तो मालूम होता था, उसका कितना रूपांतर हुआ है। मेरी एक कहानी 'पंच-परमेश्वर' है। मैंने जिस समय उसे द्विवेदी जी की सेवा में भेजा, उसका नाम 'पंचों में ईश्वर' था। छपने पर देखा तो 'पंच-परमेश्वर' हो गया था। जरा से परिवर्तन से वह नाम कैसा चमक उठा।

द्विवेदी जी साहित्य के सच्चे पारखी हैं। जहां गुण देखते थे, बड़ी उदारता से उसका आदर करते थे। उनके प्रोत्साहन ने ही हिन्दी को कई ऐसे कवि और लेखक दिए, जिन्होंने हिन्दी का नाम रोशन किया। अन्य भाषाओं में भी कोई अच्छी चीज देखकर वह मुग्ध हो जाते हैं। उर्दू में सैयद सज्जाद हैदर अच्छे लेखक हैं। उन्होंने एक भावात्मक चीज 'हजरते दिल की कहानी' लिखी थी। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में उस लेखक की मुक्तकंठ से प्रशंसा की और उसे उद्धृत किया।

द्विवेदी जी ब्राह्मण हैं, लेकिन दान लेने वाले ब्राह्मण नहीं, दान देने वाले ब्राह्मण। साहित्य की सेवा में जो कुछ लता-पता, पोथी-पुस्तक, संग्रह किया था, वह सबका सब लोक-सेवा की भेंट कर दिया। साहित्य के पुजारियों में यह भाव कहां ? अन्य पुजारियों की भांति यह पुजारी भी दिल का तंग होता है। यह सच है कि साहित्य

का पुजारी अन्य पुजारियों की भांति भाग्यशाली नहीं होता। अर्थ-चिंता में जिसे नींद न आती हो उससे उदारता की आशा रखना, वायुगोले से छटपटाते हुए आदमी से गाना सुनने की आशा रखना है। कभी माया के दर्शन भी हुए तो वह उससे इतने जोर से चिपटता है, कि प्राण निकल जाने पर ही उसके हाथ ढीले हो सकते हैं। वह एक पैसा भी दे तो उसे लाख रुपये समझो। द्विवेदी जी ने तो सब कुछ दे दिया। और उनके शिष्टाचार का क्या कहना। वह प्रकृति के नियमों की भांति अटल हैं। आज पत्र लिखो, तीसरे दिन किसी-न-किसी डाक से जवाब आएगा, हां, लेटर-बक्स में कोई तेजाब डाल दे, तो दूसरी बात है। वह बेदिली से, आधे मन से, कोई काम नहीं करते। उनकी काया स्वस्थ न हो, पर मन स्वस्थ है।

उन्होंने मौलिक रचनाएं न की हों, लेकिन मौलिक रचयिता पैदा कर दिए। उनका गौरव इसमें है कि उन्होंने अपनी लेखनी से हिन्दी की नींव डाली और उसमें ज्ञान का विस्तार किया और आज हिन्दी-संसार आपके उपकारों को याद करके आपके चरणों पर श्रद्धांजलि चढ़ा रहा है और ईश्वर से प्रार्थना करता है कि अभी बहुत दिनों तक आपकी देख-रेख उस पर रहे, कि आपने उसका मन में जो नक्शा बनाया था, हिन्दी-भवन उस नक्शे के ठीक-ठीक अनुकूल बन रहा है, या नहीं।

[संपादकीय। 'जागरण', मई, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

समकालीन अंग्रेज़ी ड्रामा

बीसवीं सदी के अंग्रेजी ड्रामा के विषय में अगर यह कहा जाए कि वह मौजूदा साहित्य का सबसे प्रभावशाली अंग है, तो बेजा न होगा। एलिज़ाबीथन युग का ड्रामा अधिकतर अमीरों और रईसों के मनोरंजन के लिए ही लिखा जाता था। शेक्सपियर, बेन जानसन और कई अन्य गुमनाम नाटककार उस युग को अमर कर गए हैं। यद्यपि उनके ड्रामे में भी गौण रूप से समाज का चित्र खींचा गया है, और भाव, भाषा तथा विचार की दृष्टि से वे बहुत ही बड़ा महत्त्व रखते हैं, लेकिन यह निर्विवाद है कि उनका लक्ष्य-समाज का परिष्कार नहीं, वरन् ऊंची सोसाइटी का दिल-बहलाव था। उनके कथानक अधिकतर प्राचीन काल के महान् पुरुषों का जीवन या प्राचीन इतिहास की घटनाओं अथवा रोम और यूनान की पौराणिक गाथाओं से लिए जाते थे। शेक्सपियर आदि के नाटकों में भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों के पात्रों का अत्यंत सजीव चित्रण और बड़ा ही मार्मिक विश्लेषण अवश्य है। और उनके कितने ही चरित्र तो साहित्य में ही नहीं, साधारण जीवन में भी अपना अमर प्रभाव डाल रहे हैं, लेकिन यथार्थ जीवन की आलोचना उनमें नहीं की गई है। उस समय ड्रामा का यह उद्देश्य नहीं समझा जाता था। तीन सदियों तक अंग्रेज़ी ड्रामा इसी लीक पर चलता रहा। बीच में शेरिडन ही एक ऐसा नाटककार पैदा हुआ, जिसके ड्रामे अधिकतर व्यंग्यात्मक हैं, अन्यथा साहित्य का यह विभाग कुछ आगे न बढ़ सका। यकायक उन्नीसवीं सदी की पिछली शताब्दी में रंग बदला और विज्ञान तथा व्यवसाय ने समाज में क्रांति पैदा कर दी,

उसका प्रतिबिंब एक मौलिक प्रकाश के साथ साहित्य में उदय हो गया और नवीन निर्णयात्मक विचारों से भरे हुए नाटककारों का एक नक्षत्र-समूह साहित्य के आकाश में चमक उठा जिसकी दीप्ति आज भी अंग्रेज़ी साहित्य को प्रकाशमान कर रही है। नये ड्रामा का ध्येय अब बिल्कुल बदल गया है। वह केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं है, वह केवल घड़ी दो घड़ी हंसाना नहीं चाहता, वह समाज का परिष्कार करना चाहता है, उसकी रूढ़ियों के बंधनों को ढीला करना चाहता है और उसके प्रमाद-या भ्रांति को दूर करने का इच्छुक है। समाज की किसी-न-किसी समस्या पर निष्पक्ष रूप से प्रकाश डालना ही उसका मुख्य काम है और वह इस दुस्तर कार्य को इस खूबी से पूरा कर रहा है कि नाटक की मनोरंजकता में कोई बाधा न पड़े, फिर भी वह जीवन की सच्ची आलोचना पेश कर सके।

लेकिन विचित्र बात यह है कि नवीन ड्रामा के प्रवर्त्तकों में एक भी अंग्रेज़ नहीं है। इबसेन, माटरलिंक और स्ट्रिंडबर्ग, स्वीडन, बेलजियम और जर्मनी के निवासी हैं, पर अंग्रेज़ी ड्रामा ने इन्हें इतना अपनाया है कि आज ये तीनों महान पुरुष अंग्रेज़ी साहित्य के उपास्य बने हुए हैं। इबसेन को तो नए ड्रामा का जन्मदाता ही कहना चाहिए। वह पहला व्यक्ति था जिसने ड्रामा को समाज की आलोचना का साधन बनाया। नए समाज में स्त्रियों का स्थान ऊंचा करने में उसने जो कीर्ति प्राप्त की है, वह अन्य किसी साहित्यकार को नहीं मिल सकी। और माटरलिंक अपने ड्रामों में उन सत्यों का पर्दा खोलने की चेष्टा करता है। जो वर्तमान जड़वाद की व्यापकता के कारण विस्मृत से हो गए हैं। उसके पात्र हाड़-मांस के मनुष्य नहीं, मनोभावों या आध्यात्मिक अनुभूतियों ही के नाम होते हैं। अंग्रेज़ नाटककारों में बर्नार्ड शॉ का नाम सबसे मशहूर है, यहां तक कि अंग्रेजी-साहित्य में उसी का डंका बज रहा है। वह आयरलैंड का निवासी है, और व्यंग-परिहास और चुटकियां लेने की जो प्रतिभा आयरिश बुद्धि की विशेषता है, वह उसमें कूट-कूटकर भरी हुई है। अंग्रेजी समाज की कमजोरियों और कृत्रिमताओं का उसने ऐसा पर्दाफाश किया है कि अंग्रेजों जैसा स्वार्थान्ध राष्ट्र भी कुनमुना उठा है। सदियों की प्रभुता ने अंग्रेज़ जाति में जो अहंमन्यता, जो बनावटी शिष्टता, जो मक्कारी और ऐयारी, जो नीच स्वार्थपरता ठूंस दी है, वही शॉ के ड्रामों के विषय हैं। उसकी अमीरज़ादियों को देखिए, या धर्माचार्यों को, या राष्ट्र के उच्च पदाधिकारियों को, सब नकली जीवन का स्वांग भरे नजर आएंगे। उनका बहुरूप उतारकर उनको नग्न रूप में खड़ा कर देना शॉ का काम है। समाज का कोई अंग उसके कलम-कुठार से नहीं बचा। वह आत्मा की तह में प्रतिष्ठित रूढ़ियों की भी परवाह नहीं करता। वह सत्य का उपासक है और असत्य को किसी भी रूप में नहीं देख सकता।

गॉल्सवर्दी भी उपन्यासकार और कवि होते हुए भी नाटककार के रूप में अधिक सफल हुआ है। उसके ड्रामों में समाजवाद के सिद्धांतों का ऐसा कलापूर्ण उपयोग किया गया है कि सामाजिक विषमता का चित्र आंखों के सामने आ जाता है, और पाठक उनसे बिना असर लिए नहीं रह सकता। उसके तीन नाटकों के अनुवाद हिन्दी में हो चुके हैं, जिन्हें प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकाडेमी ने प्रकाशित किया है। 'चांदी की डिबिया' में दिखाया गया है कि धन के बल पर न्याय की कितनी हत्या हो

सकती है। 'न्याय' में उसने एक ऐसे चरित्र की रचना की है, जो सहानुभूति और उदारता के भावों से प्रेरित होकर गबन करता है और अपना कर्मफल भोगने के बाद जब वह जेल से निकलता है, तब समाज उसे ठोकरें मारता है और अंत में वह विवश होकर आत्म-हत्या कर लेता है। 'हड़ताल' में उसने मालिकों और मज़दूरों की मनोवृत्तियों का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्र खींचा है। यों उसने और भी कई ड्रामे लिखे हैं, पर ये तीनों रचानाएं उसकी कीर्ति को अमर बनाने के लिए काफी हैं। मेसफील्ड, वार्फर, सिंज, सर जेम्स बेरी, पेटर आदि भी सफल नाटककार हैं। और सबके रंग अपनी विशेषताएं लिए हुए हैं। मेसफील्ड ने मानव-जीवन के काले दागों पर प्रकाश डालने में खूब ख्याति पाई है। वह घोर वास्वविकतावादी है और मानव-जीवन में जो क्षुद्रता, धूर्तता और लंपटता व्याप्त हो रही है, उसकी ओर से वह आंखें नहीं बंद कर सकता। मनुष्य में स्वभावतः कितनी पशुता है, इसका उसने बड़ी बारीकी से निरीक्षण किया है। पेटर के ड्रामों में धर्म और नीति की प्रधानता है। वह नए युग की अश्रद्धा से दुःखी है और संसार का कल्याण, धर्म और विश्वास के पुनर्जीवन में ही समझता है। उसका अपना एक स्कूल है, जो ड्रामा में काव्यमय प्रसंगों को लाना आवश्यक समझता है, जिससे मनुष्य कुछ देर के लिए तो इस छल-कपट से भरे हुए संसार के जलवायु से निकलकर कविता के स्वच्छंद लोक में विचर सके। ड्रिंकवाटर, सिंज आदि ड्रामेटिस्टों का भी यही रंग है।

सबसे बड़ी नवीनता जो वर्तमान ड्रामा में नज़र आती है, वह उसका प्रेम चित्रण है। नवीन ड्रामा में प्रेम का वह रूप बिल्कुल बदल गया है, जब कि वह भीषण मानसिक रोग से कम न था और नाटककार की सारी चतुराई प्रेमी और प्रेमिका के संयोग में ही खर्च हो जाती थी। प्रेमिका किसी-न-किसी कारण से प्रेमी के हाथ नहीं आ रही है, और प्रेमी है कि प्रेमिका से मिलने के लिए ज़मीन और आसमान के कुलाबे मिलाए डालता है। प्रेमिका की सहेलियां नाना विधि से उसकी विरहाग्नि को शांत करने का प्रयत्न कर रही हैं और प्रेमी के मित्र-वृंद इस दुर्गम समस्या को हल करने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगा रहे हैं। सारे ड्रामे में मिलन-चेष्टा और उसके मार्ग में आने वाली बाधाओं के सिवा और कुछ न होता था। नवीन ड्रामे ने प्रेम को व्यावहारिकता के पिंजरे में बंद कर दिया है। रोमांस के लिए जीवन में गुंजाइश नहीं रही और न साहित्य में ही है। प्राचीन ड्रामा जीवन-अनुभूतियों के अभाव को रोमांस से पूरा किया करता था, नया ड्रामा अनुभूतियों से मालामाल है, फिर वह क्यों रोमांस का आश्रय ले? मनुष्य को जिस वस्तु में सबसे ज़्यादा अनुराग है, वह मनुष्य है, और खयाली यानी आकाशगामी मनुष्य नहीं, बल्कि अपने ही जैसा, साधारण बल और बुद्धि वाला मनुष्य। नवीन ड्रामा ने इस सत्य को समझा है और सफल हुआ है। आज के नायक और नायिकाओं में बहुत-कुछ परिवर्तन हो गया है। नवीन ड्रामा का नायक वीरता और शिष्टता और पुतला नहीं होता और न नायिका लज्जा और नम्रता और पवित्रता की देवी हे। ड्रामेटिस्ट उसी चरित्र के नायक और नायिका की सृष्टि करता है, जिससे वह अपने विषय को स्वाभाविक और सजीव बनाने में कामयाब हो सके। नवीन ड्रामा के पात्र केवल व्यक्ति नहीं होते, वरन् अपने समुदाय

के प्रतिनिधि होते हैं और उस समुदाय की सारी भलाइयां और बुराइयां उसमें कुछ उग्र रूप में प्रकट होती हैं। शॉ की नायिकाएं आमतौर पर स्वच्छंद और तेजस्वी होती हैं। वे कठिन-से-कठिन परिस्थितियों में भी हिम्मत नहीं छोड़तीं। प्रेम अपने व्यावहारिक रूप में बहुधा कामुकता का रूप धारण कर लेता है। नए ड्रामे में प्रेम का यही रूप दर्शाया गया है। सारांश यह कि आज का नायक कोई आदर्श चरित्र नहीं है और न नायिका ही। नायक केवल वह चरित्र है जिस पर ड्रामा का आधार हो।

नई ट्रेजेडी का रूप भी बहुत-कुछ बदल गया है। अब वही ड्रामा ट्रेजेडी नहीं समझा जाता, जो दु:खांत हो। सुखांत ड्रामा भी ट्रेजेडी हो सकता है, अगर उसमें ट्रेजेडी का भाव मौजूद हो अर्थात्-समाज के विभिन्न अंगों का संघर्ष दिखाया गया हो। कितनी ही बातें जो दु:खजनक समझी जाती थी, इस समय साधारण समझी जाती हैं, यहां तक कि कभी-कभी तो स्वभाविक तक समझी जाने लगी हैं। फिर नाटककार ट्रेजेडी कहां से उत्पन्न करे? पुरुष का पत्नी-त्याग ट्रेजेडी का एक अच्छा विषय था, लेकिन आज की हीरोइन, जाते समय पति के मुंह पर थूककर हंसती हुई चली जाएगी और पतिदेव भी मुंह पोंछ-पांछकर अपनी नई प्रेमिका के तलवे सहलाते नज़र आएंगे। काम-प्रसंगों का ऐसा वीभत्स चित्रण भी किसी के कान नहीं खड़े करता, जिस पर पहले लोग आंखें बंद कर लेते थे। तीन अंक के ड्रामों का भी धीरे-धीरे बहिष्कार हो रहा है। आज ड्रामे तो एक ही अंक के होते हैं। उपन्यास की मूरत उसके लघु रूप कहानी से कुछ मिलती है। ड्रामे भी अब एक ऐक्ट के होने लगे हैं, जो दो-ढाई घंटों में समाप्त हो जाते हैं।

[संपादकीय। 'हंस', मई, 1935 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रथम संस्करण) में संकलित। परंतु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

साहित्य में बुद्धिवाद

साहित्य-सम्मेलन की साहित्य-परिषद् में श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने इस विषय पर एक सारगर्भित भाषण दिया, जिसमें विचार करने की बहुत-कुछ सामग्री है। उसमें अधिकांश जो कुछ कहा गया है, उससे तो किसी को इंकार न होगा। जब हमें कदम-कदम पर बुद्धि की ज़रूरत पड़ती है, और बुद्धि को ताक पर रखकर हम एक कदम भी आगे नहीं रख सकते, तो साहित्य क्योंकर इसकी उपेक्षा कर सकता है? लेकिन जीवन के हर एक व्यापार को अगर बुद्धिवाद की ऐनक लगाकर ही देखें, तो शायद जीवन दूभर हो जाए। भावुकता को सीधे रास्ते पर रखने के लिए बुद्धि की नितांत आवश्यकता है, नहीं तो आदमी संकटों में पड़ जाए। इसी तरह बुद्धि पर भी मनोभावों का नियंत्रण रहना ज़रूरी है, नहीं तो आदमी जानवर हो जाए, बल्कि राक्षस हो जाए। बुद्धिवाद हरएक चीज़ को उपयोगिता की कसौटी पर कसता है। बहुत ठीक । अगर साहित्य का जीवन में कोई उपयोग न हो तो वह व्यर्थ की चीज़ है। वह उपयोग इसके सिवा क्या हो सकता है कि वह जीवन को ज़्यादा सुखी, ज़्यादा सफल बनाए,

जीवन की समस्याओं को सुलझाने में मदद दे या जैनेन्द्र जी के शब्दों में, प्रकृति और जीवन में सामंजस्य उत्पन्न करे। कोरी भावुकता यदि यह सामंजस्य नहीं पैदा हो सकती, तो शायद कोरा बुद्धिवाद भी नहीं कर सकता। दोनों का समन्वय होने से ही वह एकता पैदा हो सकती है। सच पूछिए, तो कला और साहित्य बुद्धिवाद के लिए उपयुक्त ही नहीं। साहित्य तो भावुकता की वस्तु है, बुद्धिवाद की यहां इतनी ही ज़रूरत है कि भावुकता बेलगाम हो कर दौड़ने न पाए। वैराग्यवाद में दुःखवाद और निराशावाद, ये सब जीवन-बल को कम करने वाली चीज़ें हैं और साहित्य पर इनका आधिपत्य हो जाना जीवन को दुर्बल कर देगा। लेकिन उसी तरह बुद्धिवाद और तर्कवाद और उपयोगितावाद भी जीवन को दुर्बल कर देगा, अगर उसे बेलगाम दौड़ने दिया गया। बिजली की हमें इतनी ही ज़रूरत है कि मशीन चलती रहे, अगर करेंट ज्यादा तेज़ हो गया तो घातक हो जाएगा। दाल में घी ज़रूरी चीज है। एक चम्मच और पड़ जाए तो और भी अच्छा, लेकिन घी पीकर तो हम नहीं रह सकते। मथुरा में कुछ ऐसे जंतु पाए जाते हैं जो घी के लोदे-के-लोदे खा जाते हैं, लेकिन उसमें भी वे खूब शक्कर मिला लेते हैं वर्ना उनकी भस्मक जठराग्नि भी जवाब दे जाए। बुद्धिवाद का आचार्य बर्नार्ड शॉ भी तो अपने नाटकों में हास्य और व्यंग्य और चुटकियों की चाशनी मिलाता है। वह ज़बान से चाहे कितनी ही बुद्धिवाद की हांक लगाए, मगर भावुकता उसके पोर-पोर में भरी हुई है। वर्ना वह क्यों रोल्स राइस कार पर सवार होता? क्या मामूली बेबी ऑस्टिन से उसका काम नहीं चल सकता था? उसके बुद्धिवाद पर मिसेज़ शॉ की भावुकता का नियंत्रण न होता तो शायद आज वह पागलखाने की हवा खाता होता। मनुष्य में न केवल बुद्धि है, न केवल भावुकता--वह इन दोनों का सम्मिश्रण है--इसलिए आपके साहित्य में भी इन दोनों का सम्मिश्रण होना चाहिए। बुद्धिवाद तो कहेगा कि रस एक व्यर्थ की चीज़ है। प्रेम और वियोग, क्रोध और मोह, दया और शील, ये सब उसकी नज़र में हेय हैं। वह तो केवल न्याय और विचार को ही जीवन का सर्वस्व समझता है। उसका मंत्र लेकर हमारी मानवता इतनी क्षीण हो जाएगी कि हवा में उड़ जाए। एक उदाहरण लीजिए।

एक मुसाफिर को डाकुओं ने घेर लिया है। अगर संसार में समष्टिवाद का राज हो गया है, तो निश्चय रूप से डाकू न होंगे। तो एक दूसरा उदाहरण लीजिए। एक स्त्री को कुछ लंपटों ने घेर लिया है--समष्टिवाद भी लंपटता का अंत नहीं कर सकता--उसी वक्त एक मुसाफिर उधर से आ निकलता है। भावुकता कहती है--भगा दो इन बदमाशों को और इस देवी का उद्धार करो। बुद्धिवाद कहेगा--मैं अकेला इन पांच आदमियों का क्या सामना करूंगा। व्यर्थ में मेरी जान भी जाएगी। लंपट लोग स्त्री की हत्या न करेंगे लेकिन मेरा तो खून ही पी जाएंगे। यहां भावुकता ही मानवता है। बुद्धिवाद कायरता है, दुर्बलता है। प्रेम के आडंबरों को निकाल दीजिए, तो वह केवल संतानोत्पत्ति की इच्छा है। मगर शायद बाबा आदम ने बीबी हव्वा से सीधे-सीधे यह न कहा होगा--मैं तुमसे संतानोत्पत्ति करना चाहता हूं, इसलिए तुम मेरे पास आओ! उन्हें भी कुछ-न-कुछ नाज़बरदारी करनी पड़ी होगी। अगर ब्रजभाषा वालों का रति-वर्णन घृणास्पद है, तो बुद्धिवाद का यह लक्कड़तोड़ अनुरोध भी नंगी बर्बरता

है। फिर उस बुद्धिवाद को लिखकर ही क्या कीजिए जब कोई उसे पढ़े ही नहीं। अभी किसी बुद्धिवादी साहित्यिक डिक्टेटर का राज तो है नहीं, कि वह छायावाद को दफा 124 के अंदर ले ले। आप जनता तक तभी पहुंच सकते हैं, जब आप उसके मनोभावों को स्पर्श कर सकें। आपके नाटक या कहानी में अगर भावुकता के लिए रस नहीं है, केवल मस्तिष्क के लिए सूखा बुद्धिवाद है, तो नाटककार और नटों के सिवा हॉल में कोई दर्शक न होगा। हंसना और रोना भी तो भावुकता ही है। बुद्धि क्यों रोए? रोने से मुर्दा जी न उठेगा। और हंसे भी क्यों? जो चीज़ हाथ आ गई कि वह हंसने से ज़्यादा कीमती न हो जाएगी। ऐसा भूखा साहित्य अगर अमृत भी हो तो पड़ा-पड़ा भाप बनकर उड़ जाएगा। साहित्य में जीवन-बल की क्षमता होनी चाहिए। यहां तक तो हम आपके साथ हैं, लेकिन बुद्धिवाद ही यह जीवन-बल दे सकता है, मनोभावों द्वारा यह शक्ति मिल ही नहीं सकती, यह हम नहीं मानते। आदर्श साहित्य वही है जिसमें बुद्धि और मनोभाव दोनों का कलात्मक सम्मिश्रण हो। बुद्धि के लिए दर्शन है, शास्त्र है, विज्ञान है, और अनंत ज्ञान-क्षेत्र है। क्या वह साहित्य और कला में भी मनोभावों-मनोवगों को नहीं रहने देना चाहता?

[संपादकीय। 'हंस', मई, 1935 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रथम संस्करण) में संकलित। परंतु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

साहित्य-सम्मेलन का एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव

साहित्य- सम्मेलन ने अबकी अखिल भारतीय साहित्यिक सभा या मंडल की आयोजना का प्रस्ताव स्वीकार करके बड़ा प्रशंसनीय काम किया है। ऐसे एक मंडल की इस समय बड़ी जरूरत है। जब विज्ञान की, अर्थशास्त्र की, इतिहास की और अन्य प्रकार की भारतीय संस्थाएं मौजूद हैं तो भारतीय साहित्य का कोई मंडल न होना एक बड़ी कमी थी। हमें आशा है, यह प्रस्ताव केवल सम्मेलन की रिपोर्ट का आभूषण न बनकर कार्यरूप में आएगा। साहित्यिक जागृति किसी राष्ट्र की सजीवता का एक प्रधान लक्षण है और राष्ट्रीय भाषा तथा साहित्य का विकास तभी हो सकता है, जब भिन्न-भिन्न प्रांतीय भाषाओं के विद्वान महारथी एकत्र होकर आपस में विचार-विनिमय करें और साहित्य की प्रगति पर आदेश दें। जीवन के साथ सहित्य की समस्याएं दिन-दिन जटिल होती जा रही हैं और उन पर संपूर्ण राष्ट्र की दृष्टि से विचार करना एक-एक प्रांत के लिए कठिन हो गया है। संसार की साहित्यिक प्रगति का हमें अंग्रेजी या अन्य पश्चिमी भाषाओं द्वारा कुछ-कुछ पता चलता रहता है, पर उसका कितना अंश हमारे राष्ट्र के लिए हितकर है और कितना त्याज्य, इसका निर्णय करने के लिए एक जिम्मेदार संस्था होना जरूरी है।

यह कितना हास्यास्पद है कि हम अपने-अपने प्रांत में कूपमंडूक बने रहें और एक-एक व्यक्ति अपनी खिचड़ी अलग पकाता रहे। पेन-क्लब ने प्रांतीय लेखकों का एक बोर्ड बनाकर इस कमी को किसी हद तक पूरा करने का प्रयत्न किया है, पर

वह एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था है और हमारी 'राष्ट्रीय जरूरतों को नहीं पूरा कर सकती। इस मंडल का यह उद्देश्य भी होना चाहिए, कि वह राष्ट्रभाषा में ही अपनी सारी कार्रवाई करे। अगर विद्वानों ने अपने-अपने विचार अंग्रेजी में लिखे और विचार भी अंग्रेजी में हुआ, तो मंडल की उपयोगिता बहुत कुछ नष्ट हो जाएगी। हमारे राष्ट्र की साहित्यिक संपत्ति हो राष्ट्र की भाषा में संसार के सामने आना चाहिए और उसे संसार के साहित्य में उचित स्थान मिलना चाहिए। इसकी जरूरत क्यों हो कि हम संसार के सामने जब आने का साहस करें तो अंग्रेजी वेश में आएं। शुरू में राष्ट्रभाषा का व्यवहार कठिन होगा, लेकिन प्रांतीय विद्वानों से यही आशा की जा सकती है कि वह राष्ट्र-हित की दृष्टि से राष्ट्रभाषा को अपनाएं, तभी वह समय आएगा कि वे राष्ट्रभाषा में भी रचना कर सकेंगे और तभी राष्ट्रभाषा का यथार्थ राष्ट्रीय रूप बनेगा।

[संपादकीय। **'हंस'**, मई, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

इंदौर हिन्दी साहित्य-सम्मेलन

श्री जैनेंद्रकुमार ने इंदौर साहित्य-सम्मेलन की चर्चा करते हुए अपने पत्र में लिखा है–

'मेरे खयाल में सम्मेलन ठीक-ठीक रूप में पहली बार अपने राष्ट्रभाषा सम्मेलन के रूप को अनुभव कर सका है। जैसे और प्रांतीय भाषाएं हैं, हिन्दी को अब वैसा ही रहना है, हिन्दी अखिल राष्ट्र की होगी। इस तरह सम्मेलन को भी उसके अनुरूप होना होगा।

यह काम गांधी जी के सभापतित्व के तले न हो तो और कैसे हो? हिन्दी के साथ हिन्दुस्तानी शब्द जोड़कर उसके रूप के संबंध में सम्मेलन ने अपना मंतव्य स्पष्ट किया है। लिपि के लिए विद्वानों की अलहदा कमेटी बैठाई गई है। लिपि के प्रश्न के संबंध में सम्मेलन अंतिम निर्णय देने से बचा है। यह ठीक भी है। विद्वानों की समिति धैर्य से इस प्रश्न के सब पहलुओं पर विचार करके कुछ स्थिर करेगी। अन्य प्रांतीय भाषाओं के लिए सुगम और निकट होने की दृष्टि से हिन्दी में जो सुधार व फेरफार आवश्यक होंगे, उस प्रश्न को भी सम्मेलन ने छोड़ा नहीं है। एक और भी महत्वपूर्ण बात इस सम्मेलन में हुई है। भिन्न-भिन्न भाषाओं के माध्यम से जो साहित्यकार अंतरप्रांतीय और भारतवर्षीय होने योग्य साहित्य प्रस्तुत कर रहे हैं, उन सब में परस्पर परिचय, विचार-विनिमय भी जरूरी है। अन्यथा राष्ट्र के जीवन में और साहित्य में ऐक्य कैसे आवे।

प्रांत की भाषाओं की विविधता और विशिष्टता सुरक्षित रहे, फिर भी वे सब क्यों न मिलकर एक संयुक्त, बलिष्ठ राष्ट्र-भारत के विकास में सहायक हों। यह काम अंग्रेजी के माध्यम से तो नहीं हो सकता। होगा, तो अधूरा हो सकता है। हिन्दी के माध्यम और केंद्र के द्वारा सब भाषाएं एक-दूसरे के स्पर्श और परिचय में आवें–इस जरूरत को भी सम्मेलन ने पहचाना और इस आशय का प्रस्ताव स्वीकृत किया।

बंबई के श्री मुंशी के संयोजकत्व में एक समिति बनी है। श्री मुंशी से इस

संबंध में मेरी काफी बातचीत हो गई। वह इस बारे में तत्पर और उद्यमशील हैं और मुझे विश्वास है, निकट भविष्य में ही कुछ, निश्चित फल सामने आएगा। एक प्रस्ताव द्वारा साहित्य की अंतर्राष्ट्रीय संस्था पी॰ इ॰ एन॰ में सम्मिलित होने का अनुरोध हिन्दी-साहित्यकारों से किया गया है। यह सब सम्मेलन के पक्ष में दृष्टिकोण के विस्तार के प्रमाण हैं और उनका स्वागत करता हूं।

रहा यह प्रश्न हिन्दी का वर्तमान साहित्य राष्ट्रभाषा होने के योग्य है या नहीं, इस विषय में तो मैं यह कह सकता हूं कि हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने का आधार उसके एत्‌कालीन साहित्य की श्रेष्ठता है ही नहीं। बेशक रवीन्द्रनाथ ठाकुर हिन्दी में नहीं हैं, लेकिन हिन्दी को उस पर लज्जाधिक्य में पस्त हो जाना चाहिए। हिन्दी में समर्थ व्यक्ति यदि कम हैं, तो और होंगे यदि नहीं हैं तो अब उठेंगे। हिन्दी के पक्ष में इसे चाहे कोई लोग हीनता ही समझें, मैं तो इसे सौभाग्य समझता हूं, कि वह उतनी संपन्न की भाषा नहीं, जितनी कृषक और मजदूर की है। उतनी तहजीब की भाषा नहीं जितनी नित्य जीवन की है। यदि हिन्दी की मर्यादा है, तो यही हिन्दी का बल भी है। आज हिन्दी का लेखक इस बात को देखने से बच नहीं सकता कि उसको जांचने और पढ़ने वाला पाठक उसके आस-पास का ही नहीं है, वह तो दूर कोने-कोने तक फैला है। ऐसी हालत में हिन्दी-लेखक के लिए यह सुभीता नहीं रहेगा, कि वह अपनी भाषा अथवा भाव में अतिशय प्रांतीय, अतिशय सांप्रदायिक अथवा संकीर्ण रह सके। राष्ट्रभाषा की कसौटी अब जब रोज-ब-रोज गढ़ कर साफ होती जाती है, तब हिन्दी के लेखक को बरबस ऊंचा होना पड़ेगा ही, नहीं तो वह नही पूछा जाएगा। सहित्य में उन्नतिशील धारा को प्रोत्साहन देने और अल्प प्राण स्थूलता को व्यर्थ करने का अमोघ साधन अनायास ही हिन्दी को मिल गया है। मैं दूसरी भाषा के जाग्रत पाठक से निवेदन करूंगा कि वह हिन्दी के वर्तमान साहित्य में तृप्ति न पाकर एकदम विमुख न हों, तनिक धीरज धरें और यदि उन जैसे प्रबुद्ध पाठकों की संख्या काफी हो जाए, तो वे देखेंगे कि हिन्दी में उनकी रुचि के योग्य सामग्री प्रस्तुत करने वाले लेखकों के भी होने में देर नहीं लगती। आज तो मैं स्वीकार करता हूं कि हिन्दी में स्थायी कम है, चलता चीज ही ज्यादा है। श्रेष्ठ थोड़ा है, अतिरेक साधारण का ही है, पर क्या अन्य भाषा-भाषी मौका नहीं देंगे, कि किसान और मजदूर के बल पर जो भाषा परिपालित है, वह नफासत सीख ले?

यह निर्विवाद है कि इन्दौर सम्मेलन ने लिपि, भाषा और साहित्य को कौमी रूप देने के लिए तारीफ के लायक उद्योग किया है। अन्तरप्रान्तीय साहित्य-संघ का आयोजन करके उसने उस कमी को पूरा कर दिया है, जो बरसों से लोगों को खटक रही थी और यदि हमारा यह उद्योग सफल हुआ, तो एक दिन हमारा साहित्य सच्चे मानों में राष्ट्र की संपत्ति होगा। इस कमेटी की ओर से भी कन्हैयालाल मुंशी ने प्रांतीय साहित्य महारथियों से पत्र-व्यवहार शुरू कर दिया है और हाल में एक गश्ती चिट्‌ठी भेजी है। जिसमें संघ के कार्यक्रम का रूप स्थिर करने की चेष्टा की गई है। सम्मेलन के इस प्रस्ताव का हवाला देने के बाद कहा गया है–

'इसके पहले कि कमेटी भिन्न-भिन्न प्रांतीय भाषाओं के प्रतिनिधियों का चुनाव

करके काम शुरू करे, यह जरूरी है कि मूल विचार पर प्रांतीय भाषाओं में अच्छी तरह विचार किया जाय। इसलिए मेरा आपसे यह निवेदन है कि आप अपनी प्रांतीय भाषा में, किसी ऐसे पत्र द्वारा, जिसे इस आयोजन में सहानुभूति हो, इसकी जरूरत पर विचार करें। मुझे पूरी आशा है कि हमारी प्रांतीय भाषाओं के प्राय: सभी राष्ट्रवादी पत्र इस आयोजन का स्वागत करेंगे। तजबीज यह है कि इस काम के लिए या तो मौजूदा मासिक पत्रों में किसी का उपयोग किया जाए, या कोई नया पत्र निकाला जाए और उसमें हर एक भाषा के लिए एक-एक खंड नियत कर दिया जाए और प्रांतीय भाषाओं के साहित्यकार प्रतिमास उसके लिए लेख लिखें, जो हिन्दी में तरजुमा होकर उसमें छपें। लेख यथासाध्य छोटे हों और उस विषय के सर्वश्रेष्ठ विद्वानों द्वारा लिखे जाएं। उनके विषय यह हों–

1. उस भाषा के नवीन साहित्य के किसी एक अंग पर एक लेख जैसे उपन्यास, ड्रामा, इतिहास या निबंध।

2. उस प्रांतीय भाषा की मासिक प्रगति पर एक लेख।

3. (क) किसी उपन्यास या ड्रामा का छोटा-सा खुलासा (ख) उस मास के पत्रों में छपी हुई एक या दो कविताएं।

4. उस महीने में छपी हुई किसी सुंदर रचना की आलोचना।

अगर आप इन लेखों को हिन्दी में अनूदित कराने का प्रबंध न कर सकें तो बंबई में इसका कोई इंतजाम किया जाएगा, जहां यह सुअवसर है कि प्राय: सभी भाषाओं के जानकार मौजूद हैं। इस तरह हमारे हाथ में अंतरप्रांतीय साहित्य का एक पत्र हो जाएगा।

अतएव मैं आपसे अनुरोध करूंगा कि आप ऐसे साहित्यकारों का सहयोग प्राप्त करें जो आपकी भाषा में इस आयोजन को कार्यरूप में लाने के इच्छुक हों और मुझे सूचना दें कि (1) आप इस विचार को अमल में लाएंगे और (2) हर महीने मेरे पास लेख भेजेंगे।

उत्तर यथासाध्य जल्द दें जिसमें मैं महात्माजी को शीघ्र ही इसकी रिपोर्ट दे सकूं।

इस पत्र में जो कार्यक्रम रखा गया है, अगर वह व्यवहार में लाया गया, तो यह राष्ट्र की एक बड़ी सेवा होगी। भारत के प्रांतों में प्राचीन सांस्कृतिक एकता तो किसी-न-किसी रूप में मौजूद है, लेकिन आश्चर्य है कि इस युग में जब कि एकीकरण के अनेक साधन मौजूद हैं, हम संस्कृति के एक मुख्य विभाग में एक-दूसरे से परिचित भी नहीं हैं। रूस और फ्रांस का, स्वीडन और पोलैंड का, जापान और स्पेन का, साहित्य हमें अंग्रेजी द्वारा सुलभ है। हम उसकी रचनाएं पढ़ते हैं, उन पर बहस करते हैं और उनसे अपनी साहित्य क्षुधा को तृप्त करते हैं। स्वभावत: हम अपने साहित्य में भी वही उत्कर्ष, वही ओज, वही प्रतिभा देखने की कामना करने लगते हैं, और तुलना में जब हम अपने प्रांतीय साहित्य को हलका पाते हैं, तो उसकी ओर से हमारे मन में ग्लानि और अपनी हीनता का भाव पैदा हो जाता है, मगर वास्तव में हम अपने राष्ट्र के साहित्य से परिचित भी नहीं हैं। प्रांत तो राष्ट्र नहीं है, राष्ट्र तो प्रांतों का समूह है। जब तक हम इस प्रांतीय भाषा-भेद को तोड़ न सकेंगे, राष्ट्र-साहित्य

अपने संपूर्ण रूप में हमारे सामने कैसा आएगा। अभी जो रंग अलग-अलग लाल, हरे, नीले, पीले नजर आ रहे हैं, जब ये सब मिल जाएंगे, तभी उनमें उज्ज्वल प्रकाश आएगा। वक्ता जब श्रोताओं का उमड़ता हुआ समूह अपने सामने देखता है, तो उसकी जिह्वा पर जैसे सरस्वती बैठ जाती है। श्रोताओं की संख्या कम हुई, तो उसी अनुपात से उसका उत्साह क्षीण हो जाता है। उसी तरह लेखक की प्रतिभा भी जब एक विशाल राष्ट्र की भावना से लिखती है, तो उसमें कुछ और बात पैदा हो जाती है, उस कवि से पूछिए, जो किसी आल इंडिया कवि सम्मेलन के लिए एक कविता लिख रहा है। उसकी इच्छा यही होगी कि अपनी आत्मा का सारा वैभव इस कविता पर लुटा दे। अपने सामने धुरंधर कवियों को बैठे देखने की कल्पना ही मानो उसकी प्रतिभा को कोड़े लगाकर बढ़ाती रहेगी। जिम्मेदारियों के अनुपात से ही हमारी शक्तियों का विकास होता है। जब हमारे साहित्यकारों के सामने केवल अपना प्रांत नहीं, वरन् संपूर्ण राष्ट्र होगा, तब वह पूर्ण मनोयोग और पूरी तैयारी और उत्कट साधना के साथ साहित्य की रचना करेगा। यह बात नहीं कि वह इस वक्त कुछ उठा रखता है, बल्कि क्षेत्र का विस्तार अदृश्य रूप से उसकी बुद्धि को चमका देगा। वह विद्वान् भी, जो प्रांतीय भाषाओं से काफी प्रोत्साहन न पाकर या तो कुछ लिखने की चेष्टा ही नहीं करते, या अंग्रेजी में लिखते हैं, संभव है तब राष्ट्रभाषा में लिखना अपनी शान के खिलाफ न समझें। हमें विश्वास है हिन्दी का साहित्य-संसार इस नई प्रगति का अभिवादन करेगा और हमारे मान्य संपादकगण इस आयोजन को अपनी आलोचना और परामर्श और शुभकामना से जीवन प्रदान करेंगे।

[संपादकीय। 'हंस', जून, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

सौंदर्य-शास्त्र

इस विषय पर अप्रैल के तिमाही 'हिन्दुस्तानी' में एक आलिमाना और विशद लेख निकला है, जो इस विषय का उर्दू में सबसे सुंदर विवेचन है। लेख क्या है, लगभग हिन्दी के 100 पृष्ठों की एक अच्छी पुस्तक है। लेखक ने इस विषय का खूब अध्ययन किया है, और उन रचनाओं के आधार पर यह लेख लिखा है, जो इस विषय पर सनद मानी जाती हैं। अध्ययन करना तो इतना कठिन नहीं, पर अधिकार प्राप्त कर लेना, उसे अपना लेना और भारतीय साहित्य और कला को उस तराजू पर तौलना आसान नहीं है। सौन्दर्य का कल्पना से क्या संबंध है, उसकी कोई हस्ती है या केवल मनोरुचि किसी वस्तु को सुंदर बना देती है, इस तत्त्व का विवेचन करते हुए लेखक महोदय कहते हैं–

'ज्ञानेन्द्रियों पर जो चीज असर करती है, हमको उसके फायदे या नुकसान से गरज नहीं होती, बल्कि सिर्फ उसकी जाहिरा सूरत से मतलब होता है। हम गुलाब को इस नीयत से नहीं देखते कि उसकी जड़ में कौन-सी खाद पड़ी है, या अगर फलां किस्म की मिट्टी डाली जाय, तो फूल और बड़ा होगा।.... बादल को लीजिए, हम तो सिर्फ बादलों की रंगीनी

और उनके भिन्न-भिन्न रूपों का जलवा देखते हैं और खुश होते हैं। हमको इससे क्या बहस कि उनमें पानी के कतरे छिपे हुए हैं.... हमको तो उनकी ज़ाहिरा सूरत में लुत्फ मिलता है और इसी का नाम सौंदर्य-बोध है।'

हमारा खयाल है कि किसी वस्तु की उपयोगिता उसके सौंदर्य को और बढ़ा देती है, बल्कि उसकी रूपहीनता को सौंदर्य बना देती है। बादलों की रंगीनी आंखों को लुभाती है; मगर असाढ़ के मटियाले, जल-बूंदों से लदे हुए मंथर गति बादल क्यों सुंदर लगते हैं? इसीलिए कि उनमें भूमि को तृप्त करने की शक्ति है और उनकी उपयोगिता उनकी बदरंगी को शुष्क लालिमा से भी सुंदर बना देती है। या यों कहिए कि समय के हेर-फेर से चीजों का सौंदर्य भी घटता-बढ़ता रहता है; मगर यह भी उपयोगिता का ही बोधक है। वैशाख और जेठ में आकाश की लालिमा सुंदर है; लेकिन असाढ़ और सावन में वह सूखी, निर्जल लालिमा किसको भायेगी? एक समय में खेतों की हरियाली सुंदर लगती है, पर दूसरे समय वह हरियाली आंखों को चुभेगी और हम उसकी जगह पके हुए अनाज की बालियों का सुनहरापन देखकर सुंदरता अनुभव करेंगे। हरियाली की सुंदरता केवल उस सुनहरेपन की तैयारी में है। उसी तरह फागुन में बौर से लदे हुए आम के वृक्ष ही सुंदर लगते हैं। जिस वृक्ष में केवल लाल और गुलाबी पत्तियां हों और बौर का नाम न हो, वह चाहे बालकों को सुंदर लगे, और किसी को तो शायद ही सुंदर मालूम हो और जब वृक्ष फलों से लद जाता है तब मानो वह अपने सौंदर्य की चरम सीमा पर पहुंच जाता है। इस तरह हर एक वस्तु की उपयोगिता की मात्रा से ही उसके सौंदर्य का बोध होता है। भारत में गाय सबसे उपयोगी जानवर है, इसलिए सबसे सुंदर भी है; अरब में घोड़ा सबसे उपयोगी है और वही सबसे सुंदर है, हिम-प्रधान देशों में हिरन शायद सबसे सुंदर पशु हो।

लेखक ने दूसरे खण्ड में सौंदर्य और कला की विवेचना करते हुए उन उपादानों का जिक्र किया है, जो कला की सृष्टि करते हैं और उस नवीन मत पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है, जिसके अनुसार कला की प्रेरक मनुष्य की काम-लालसा है। डाक्टर फ्रूड ('फ्रायड'–गोयनका) इस मत का प्रचारक है और उसका कथन है कि जीव-मात्र पर जिस मनोवेग का साम्राज्य है, वह यही काम-लालसा है। कविता, चित्र-रचना, मूति या वस्तु की सृष्टि, संगीत, दर्शन, साहित्य सभी का मूल यही लालसा है। मगर आपने केवल यह कहकर कि कला की सृष्टि में संभव है आरंभ में काम-लालसा का कुछ असर हो, लेकिन जब आर्ट अपने कमाल की तरफ बढ़ता है, तो काम-लालसा का उससे दूर का संबंध भी नहीं रह जाता–इस मसले को जहां-का-तहां छोड़ दिया है। डाक्टर फ्रूड ('फ्रायड'–गोयनका) तो यहां तक कहते हैं कि माता का प्रेम भी वास्तव में काम-लालसा के सिवा और कुछ नहीं। उसका जवाब भरत ने कला को नौ रसों में विभाजित करके हजारों बरस पहले दे दिया हैं। शृंगार इन नौ रसों में केवल एक है। पुरुषों की राधा-भक्ति या स्त्रियों की कृष्ण-भक्ति में संभव है काम-लालसा छिपी हो, मगर स्त्रियां भी तो राधा की भक्त होती हैं और पुरुष भी तो कृष्ण की उपासना करते हैं। फ्रूड साहब ('फ्रायड'–गोयनका) की यह धारणा तो वैसी ही है, जैसे यह कि संसार का मूल केवल स्वार्थ है या केवल

पेट। कला के पतन-काल में वह विषय-प्रधान हो जाती है; लेकिन यह कहना कि कला का मूल विषय काम-लालसा है—सत्य का खून करना है।

[संपादकीय। 'हंस', जून, 1935 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

कोढ़ पर खाज

बंबई और अहमदाबाद के मिल-मालिकों को संरक्षण मिल गया। जापानी कपड़े पर पचहत्तर फीसदी महसूल बढ़ गया। अब उनकी चांदी है। कपड़े खूब महंगे दामों बेचें और खूब नफा उठाएं, खूब मोटरें खरीदें, खूब बिहार करें। व्यापारियों का राज है। खरीददार तो किसी गिनती में नहीं हैं। उसका जन्म तो इसलिए हुआ है कि व्यापारियों को मुंह मांगे दाम दे और भूखों मरे। अगर प्रकृति उसकी सहायता करती है, तो व्यापारी मंडल संरक्षण की शरण लेता है। जनता की कौन सुनेगा? समाचार-पत्र व्यापारियों के, शासन व्यवस्था व्यापारियों की, जनमत व्यापारियों के हाथ में, प्रोपेगंडा करने की कला में कौन उनकी बराबरी कर सकता है। विद्या और प्रतिभा सब कुछ तो उनके सामने घुटने टेकने को तैयार हैं। इस बेकारी और मंदी में कम-से-कम इतना था, कि कपड़े सस्ते मिल जाते थे, पर हमारा करोड़पति मिल-मालिक जनता का इतना आराम भी नहीं देख सकता।

जापान के कपड़े भारत में इतने सस्ते बिकते हैं कि यहां के मिल उनका मुकाबला नहीं कर सकते। हम पूछते हैं—आप क्यों उनका मुकाबला नहीं कर सकते? अगर आप में अक्ल नहीं है, अगर आपको माल किफायत से बनाना नहीं आता, तो जापानियों के चरणों में बैठकर उनसे सीखिए, उनकी शागिर्दी कीजिए। आपकी हिमाकत, बेवकूफी और फिजूल-खर्ची का तावान जनता क्यों दे? इंग्लैंड वाले तो यह कह सकते हैं, कि उनके यहां मजूरी की दर बढ़ी हुई है और वे अपने मजूरों के जीवन का आदर्श नीचा करना नहीं चाहते, लेकिन क्या भारत में मजूरों की मजूरी की दर बढ़ी हुई है? क्या व्यापारी लोग यह कह सकते हैं, कि भारत का मजूर जापान के मजूरों से सुखी है? कहने को तो शायद वे यह भी कह दें। धन के मुंह से जो कुछ निकले वह सत्य है, लेकिन इस पर विश्वास भी धन वाले ही करेंगे। हम तो इतना जानते हैं कि जापानी मजूर कितनी ही बुरी दशा में क्यों न हो, भारत के मजूरों से अच्छी दशा में है। फिर भी जापान भारत के बाजार में आकर भारत के कपड़े का बाजार बंद कर देता है और हमारे अक्लमंद मिल-मालिक संरक्षण का रोना रोने लगते हैं। यह तो खेल में दांत काटना ह, और कुछ नहीं। निस्सहाय जनता को लूटना है। इसको और कोई नाम ही नहीं दिया जा सकता।

अब कहा जाता है कि जापानियों ने भारतीय रुई के बहिष्कार करने की जो धमकी दी है, यह केवल बंदर-घुड़की है। अर्थशास्त्र के बड़े-बड़े व्यापरी पंडित गला फाड़-फाड़कर चीख रहे हैं, अखबारों में बयान प्रकाशित करा रहे हैं, कि जापान भारत की रुई के बगैर निबाह नहीं कर सकता, लेकिन हम पूछते हैं कि जब भारत जापान

का कपड़ा न लेगा, तो जापान उसकी रुई लेकर क्या ईंधन बनाएगा, या होली जलाएगा। जापान का कपड़ा भारत में खपता था, इसलिए वह यहां की सस्ती रुई लेकर उससे माल तैयार करता था और कम-से-कम नफा लेकर वही माल, उन्हीं गरीब किसानों के हाथ बेच देता था।

जब कपड़े का सबसे बड़ा बाजार उसके हाथ से निकल गया, तो हम नहीं समझते कि वह भारत की रुई लेकर क्या करेगा। अपने देश की खपत के लिए वह मंचूरिया में काफी रुई पैदा कर सकता है। क्या भारत के मिल-मालिक इस बात का जिम्मा लेते हैं, छाती ठोंककर यह कहने का साहस रखते हैं कि अगर जापान की घुड़की बंदर-घुड़की न सिद्ध हुई, तो वे भारत की सारी रुई खरीद लेंगे? और उसी दामों, जिन दामों जापान खरीदता था? हमने तो मिल-कुबेरों के बयानात बड़े गौर से पढ़े हैं, पर किसी ने भी ऐसा कहने का साहस नहीं दिखाया। उन्हें भारत के किसानों से क्या प्रयोजन? भारत का किसान मरे या जिए, उनके कपड़े खरीदे जाएं और उनकी जेब गर्म किए जाएं। उनके हाथ में शासन है ही, वे कोई ऐसा कानून भी पास करा सकते हैं कि प्रत्येक भारतवासी को प्रतिवर्ष इतने मूल्य का कपड़ा खरीदना होगा। और हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि अंग्रेजी सरकार उनके इस प्रस्ताव को बड़े हर्ष से स्वीकार करेगी। उसका इसमें सरासर फायदा है। लकाशायर का माल कुछ-न-कुछ ज्यादा खपने लगेगा। प्रस्ताव होने की देर है।

अगर मिल-मालिकों ने यह भी सोचा है कि उनके मंहगे कपड़े लेगा कौन? कृषक ही तो उनके सबसे बड़े खरीददार हैं। कृषक के पास आमदनी का क्या साधन रह गया। गेहूं जाता नहीं, तिलहन कोई पूछता नहीं। पाट मारा-मारा फिर रहा है, शक्कर का व्यवसाय भी उसके हाथ से निकल गया, वह तो अब खड़ी ऊख बेचकर, रुपये की जगह चवन्नी पाकर अपने भाग्य को ठोंकता हुआ घर चला जाता है। थोड़ा बहुत धन उसे इसी कपास से मिल जाता था, वह साधन भी उसके हाथ से निकल गया, तो वह कहां से रुपया लाएगा, महंगे कपड़े खरीदने के लिए? उपज तो लगान और पेट को काफी नहीं होती, उस पर आप यह उपज भी उसके हाथ से छीने लेते हैं। वह संगठित नहीं है, कहीं उसकी आवाज नहीं है। उस पर चाहे जो आघात कीजिए, पर हमें विश्वास है, इस संरक्षण से भारतीय कपड़े की निकासी में जरा भी वृद्धि न होगी। जो चीज एक रुपये में मिल रही हो, उसे डेढ़ रुपये में खरीदने के लिए इस मंदी और बेकारी के समय भारत की जनता तैयार नहीं है।

कहा जाता है जापान ने अपने येन का दर गिरा दिया है। हम पूछते हैं—उसी येन से तो जापानी व्यापारी, भारत में रुई खरीदते हैं, या खरीदते वक्त वह कोई दूसरा येन बना लेते हैं? इसके जापानी दृष्टिकोण से यह अर्थ है कि रुई मंहगी है। यह महंगी रुई लेकर अगर वह सस्ता कपड़े बेचता है, तो यहां के मिल वालों का कर्तव्य है कि वे जापान जाकर देखें कि वह किस जादू-मंत्र से इतना सस्ता माल बनाता है। और वे खुद इस विषय में उसकी नकल क्यों न करे। यह नहीं कि मजे से भारत की दरिद्र जनता पर टैक्स लगाकर अपनी अयोग्यता की कमी पूरी कर ली। सस्ती चीज को महंगे दामों बेचना और सस्ती चीज को बाजार से निकाल डालना,

टैक्स लगाना नहीं तो और क्या है।

अच्छा, तो अगर जापान ने येन की दर गिराकर ही यह सफलता प्राप्त की है और करेंसी की दर गिरा देने से ही सारी समस्याएं हल हो जाती हैं, तो आप भी क्यों भारतीय करेंसी की दर गिराने के लिए जोर नहीं लगाते? क्या यहां आपकी दाल नहीं गलती? क्यों नहीं गलती? क्यों आप सरकार पर ऐसा दबाव नहीं डालते, कि जो व्यवस्था जापान के लिए रामबाण बन गई है, वह आपको भी मिले? उसके लिए आंदोलन कीजिए। या सबसे आसान लटका आपको यही मिला है कि जापानी कपड़े को भारत से निकालकर जनता को अपना महंगा कपड़ा खरीदने के लिए मजबूर किया जाए? उस व्यवसाय से क्या फायदा, जिसके लिए राष्ट्र को मजबूरन अधिक दाम देना पड़े।

इन संरक्षणों से संसार तंग आ गया है। सब यही चाहते हैं कि उसका माल सारी दुनिया खरीदे और वह किसी का माल न खरीदे। सारी दुनिया की दौलत उसकी थैली में आ जाए और उसकी थैली से एक पाई भी बाहर न निकले। और यह असंभव है। संरक्षण जितने ही बढ़ रहे हैं उतना ही व्यापार घट रहा है और अब संसार का व्यापार आज के पांच साल पहले के व्यापार का केवल एक-तिहाई रह गया है। फिर भी 'संरक्षण' का शोर मचा हुआ है। अगर जापान ने भारत की रुई बंद कर दी (और वह इस धमकी को व्यवहार में लाने के लिए मजबूर है), तो कपड़े की खपत और भी कम हो जाएगी। और कपड़े की ही खपत नहीं, इसका असर और सभी चीजों पर होगा। अभी बगलें बजा लीजिए, मगर बहुत जल्द हाथ मलना पड़ेगा।

जनता में संगठन नहीं है, लेकिन सौ संगठन का एक संगठन तो उनकी दिन दूनी रात-चौगुनी बढ़ती हुई दरिद्रता है। हम जापानी कपड़े के वकील नहीं हैं, पर जनता के वकील अवश्य हैं और हम चाहते हैं कि कृत्रिम साधनों से उसका गला न घोंटा जाए। संरक्षण में सबसे बड़ी बुराई यह है कि व्यापारी को प्रतियोगिता से निश्चिंत होकर अपने घर की सुव्यवस्था करने के लिए कोई अंकुश नहीं रह जाता। यह वह शीशे की कोठरी है, जिसमें बैठकर आप बहुत दिन शांत नहीं रह सकते। किसी व्यवसाय की बाल्यावस्था में तो संरक्षण का कोई अर्थ हो सकता है, लेकिन जो जापान अपने पैरों खड़ा नहीं हो सकता, उससे हमें कोई आशा नहीं हो सकती।

[संपादकीय: 'जागरण', 19 जून, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

भारतीय साहित्य का संगठन

हाल में श्री कन्हैयालाल जी मुंशी ने इस प्रश्न पर अंग्रेजी पत्रों में एक विचारपूर्ण लेख लिखा है जिसमें आपने यह दिखाने की चेष्टा की है कि अंतर्प्रान्तीय साहित्यों का राष्ट्रीय संगठन किस प्रकार और किस रूप में किया जाना चाहिए। हम उसका स्वतंत्र अनुवाद देते हैं—

'इधर कुछ समय से उन सभी प्रांतों में साहित्यिक जागृति उत्पन्न हो रही है जिनके पास अपनी-अपनी विशेष भाषाएं हैं। इसका नतीजा यह हुआ है कि हर एक प्रांत में छोटी-छोटी साहित्यिक संस्थाएं पैदा हो गई हैं, और वे सब प्रांतीय साहित्य परिषदों का अंग बन गई हैं। किंतु साधारणत: ये संस्थाएं अपने अलग-अलग रास्ते पर चल रही हैं। उनमें कोई पारस्परिक आदान-प्रदान नहीं होता। यहां तक कि इंग्लैंड की साहित्यिक और सांस्कृतिक कृतियों के विषय में हमारा जितना ज्ञान है, उतना अपने पड़ोसी प्रांतों के साहित्य के विषय में नहीं है। उस प्रांत के बाहर ऐसे कम लोग हैं, जिन्हें उदीयमान लेखकों की शैली और कला या उसकी साहित्यिक धाराओं का कुछ ज्ञान हो। जिन प्रांतों में हिन्दी नहीं बोली जाती, वहां कुछ लोग तुलसी या सूरदास के नाम से भले ही परिचित हों, लेकिन वे साहित्यिक उद्योग से अपरिचित हैं, जो आज हिन्दी में हो रहा है। बंगला साहित्य का हमें जो कुछ परिचय है, वह केवल डाक्टर रवीन्द्रनाथ टैगोर की रचनाओं का है। गुजराती साहित्य के विषय में हम जो कुछ जानते हैं, वह महात्माजी की आत्मकथा के अंग्रेजी अनुवाद द्वारा है। नवीन गुजरात ने जिस रोमांटिसिज्म (आनंद लक्ष्मी) साहित्य का विकास किया है, वह अन्य प्रांत वालों के लिए मुहरबंद किताब है। कर्नाटक, तमिलनाडु, आंध्र, केरल आदि प्रांतों में जिस नए साहित्य का निर्माण हो रहा है, उसका गोदावरी के उत्तर के निवासियों को कुछ भी ज्ञान नहीं है।

'लेकिन वर्तमान साहित्य पर राष्ट्र-भावना का आधिपत्य है और आगे भी रहेगा। सभी प्रांतीय कृतियां एक विशाल राष्ट्रीय एकता की ओर उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही हैं और अगर भारत को अपनी राष्ट्रीयता संपूर्ण रीति से प्राप्त करना है, तो एक राष्ट्रीय साहित्यिक संघ भारत के लिए आवश्यक है, जिसमें हर एक प्रांत अपना सहयोग प्रदान करे, लेकिन ऐसा संघ केवल हिन्दी के माध्यम द्वारा ही संभव है, जिसमें सभी सूबों के साहित्यकार संगठित रूप से हार्दिक सहयोग दें। ऐसा होने पर ही हम प्रांतीय साहित्य परिषदों के संघ की स्थापना कर सकेंगे, जो वास्तव में अखिल भारतीय साहित्य परिषद् होगी। सन् 1935 में जबकि मैं गुजराती साहित्य परिषद् में सक्रिय भाग लेने गया था, यह विचार मेरे मन में पुष्ट होता गया है।

'गत अप्रैल में महात्मा गांधी की अध्यक्षता में जो हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन हुआ, उसमें यह योजना स्वीकार कर ली गई। अन्य साहित्यिक व्यक्तियों के साथ इस विषय पर मेरी जो बातचीत हुई, उससे मुझे मालूम हुआ कि बहुतों के मन में इसी तरह के विचार उठ रहे हैं और अब इस दिशा में प्रयत्न करने का समय आ पहुंचा है। स्वयं महात्मा जी ने भी हिन्दी माध्यम द्वारा भिन्न-भिन्न प्रांतीय भाषाओं के प्रतिनिधियों को एकत्र करने की आयोजना को कार्यरूप में लाने में पथ-प्रदर्शक बनना स्वीकार किया। साधारणरूप से यह प्रतीत हुआ कि यदि इस तरह का कोई आयोजना सफल हो जाए, तो फिर किसी-न-किसी रूप में एक अंतर्प्रान्तीय साहित्यिक संस्था आ ही जाएगी। इस सम्मेलन में यह प्रस्ताव स्वीकार किया–

'देश के भिन्न-भिन्न प्रांतों के साहित्य-सेवियों में पारस्परिक संबंध स्थापित करने और हिन्दी भाषा के उत्क्रांति के कार्य में उन लोगों का सहयोग प्राप्त करने

के विचार से यह सम्मेलन निम्नलिखित सज्जनों की एक समिति कायम करता और आवश्यकता होने पर उन्हें अधिक सदस्य बना लेने का अधिकार भी देता है-

1 श्रीयुत कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी।

2 श्री हरिहर शर्मा।

3 पं० गिरधर शर्मा।

'उक्त समिति नए सदस्यों का चुनाव करेगी और आरंभिक कार्य हो जाने के बाद अपना काम शुरू कर देगी।

'सबसे पहले प्रांतीय साहित्यों में समीपता लाने के लिए यह सोचा गया कि या तो हिन्दी के किसी वर्तमान मासिक पत्र का उपयोग किया जाए, या एक नया पत्र निकाला जाए, जिसमें प्रत्येक प्रांतीय साहित्य के लिए कुछ स्थान सुरक्षित रहे। प्रांतीय विद्वान् उसके लिए लेख लिखें, जो हिन्दी में रूपांतरित होकर प्रकाशित किए जावें। इस प्रकार इस पत्र में प्रतिमास ये विषय रहेंगे-

1 भिन्न-भिन्न प्रांत की साहित्यिक तथा सांस्कृतिक घटनाओं पर संक्षिप्त टिप्पणियां।

2 प्रांतीय साहित्यों के विकास का संक्षिप्त इतिहास, जिसमें आधुनिक साहित्य की उन्नति तथा उनमें पैदा होने वाले राष्ट्रीय भावों की ओर विशेष ध्यान।

3 विभिन्न प्रांतीय भाषाओं में निर्माण होने वाले भावगीत।

4 प्रांतीय साहित्य में लिखी जाने वाली उच्ची श्रेणी की लघुकथाएं (कहानिया ।

5 उपन्यास (क्रमशः)

6 प्रांतीय लोक-साहित्य का परिचय।

7 एकांकी नाटक।

8 प्रांतीय लोक-साहित्य के प्रमुख कवियों एवं सुलेखकों के विस्तृत शब्द चित्र तथा उनकी कलाकृतियों की साहित्यिक आलोचनाएं।

9 विभिन्न भाषाओं के प्रमुख साहित्यिकों के विहंगम शब्द-चित्र।

10 विभिन्न प्रांतों की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक तुलना।

11 भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रकाशित होने वाली पुस्तकों की साहित्यिक समालोचना।

12 विभिन्न प्रांतीय भाषाओं के पत्रों में प्रकाशित होने वाले सामयिक साहित्य के अवतरण तथा उनके हिन्दी अनुवाद।

13 विदेशी साहित्य संबंधी संक्षिप्त टिप्पणियां।

14 प्रांतीय भाषाओं में प्रकाशित आदर्श उपन्यासों का मर्मानुवाद।

15 राष्ट्र-लिपि संबंधी चर्चा।

संक्षेपतः यह मासिक पत्र आजकल महसूस होने वाली एक अखिल भारतीय साहित्यिक मुखपत्र की आवश्यकता की पूर्ति करेगा। इस कार्य को सफल बनाने के लिए विभिन्न प्रांतों के मुख्य साहित्य-सेवियों, साहित्य परिषदों तथा अन्य साहित्यिक समितिया और खासकर राष्ट्रवादी समाचार-पत्रों के सहयोग की नितांत आवश्यकता है। इस आयोजन को सफल बनाने के लिए सबसे पहले खूब जमीन तैयार करने की जरूरत

है और हर एक प्रांत में कुछ ऐसे साहित्य-सेवियों की जरूरत है, जिन्हें इस उद्देश्य में दृढ़ उत्साह हो अत: इस पत्र के द्वारा मैं देश की उन साहित्य परिषदों, साहित्यिक संस्थाओं तथा जनसाहित्य-सेवियों के सहयोग के लिए आग्रह और अनुनय करता हूं, जो इस कार्य से प्रेम रखते हों।

'भूतकाल में आर्य संस्कृति की लगी हुई लगन ने प्रांतीय सीमाओं को मिटाकर भाषा और लिपि का भेद होते हुए भी साहित्यिक और सांस्कृतिक एकता प्रस्थापित करने की भरसक कोशिश की थी। वर्तमान संस्कृति से साधनों की जो सरलताएं मिलती हैं, और राष्ट्रीय भावना राजनैतिक जीवन में जो प्राण-संचार कर रही है, उसका परिणाम शीघ्र ही सांस्कृतिक एकता प्रस्थापित करने में अवश्य होगा और दस-बीस वर्ष की अल्प अवधि में ही हम लोग देखेंगे कि वृद्धिशालिनी राष्ट्रभाषा का उदय और प्रांतीय साहित्यों का पारस्परिक संगठन हो चुका है, जिसमें हर एक प्रांत ने अपने सर्वोत्कृष्ट सृजन की भेंट दी है।

[सपादकीय। 'हंस', जुलाई, 1935 मे प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग 3 मे सकलित।]

'हंस' नए रूप में

राष्ट्रभाषा की वर्तमान जागृति के बाद अगर राष्ट्र-साहित्य के समन्वय के महत्त्व पर कुछ लिखें तो यह उस जागृति का अपमान होगा। जिन उपकरणों से राष्ट्र बनता है, उनमें भाषा और साहित्य का स्थान कितना ऊंचा है, यह हम सभी जानते है। हिन्दी को उसकी व्यापकता और सरलता के कारण राष्ट्र ने अपनी भाषा स्वीकार कर लिया और अट्ठारह वर्षों से सपूर्ण देश में उसके प्रचार का आयोजन सफलता के साथ हो रहा है और अब समय आ गया है कि हम अपना कदम आगे बढ़ाएं और राष्ट्रभाषा के प्रचार ने जो भूमि तैयार कर दी है, उसमें भारतीय राष्ट्र-साहित्य का बाग लगाएं। यह भावना कितने ही सज्जनों के मन में कई साल से उठ रही थी, पर उसे कार्य-रूप मे लाने के लिए जिस पथ-प्रदर्शक की जरूरत थी वह न मिला। इस वर्ष इदौर हिन्दी-साहित्य सम्मेलन में—जिसके सभापति महात्मा गांधी थे—इस आशय का प्रस्ताव मजूर हुआ और जिन पवित्र हाथों से अट्ठारह वर्ष पहले राष्ट्रभाषा प्रचार का आयोजन हुआ था, उन्हीं हाथों से भारत के प्रांतीय साहित्यों के समन्वय का आयोजन भी हुआ। जीवन और संस्कृति के अन्य सभी विभागो मे अखिल भारतीय संस्थाएं मौजूद हैं, लेकिन भषाओं के भेद के कारण अभी तक अखिल भारत की कोई साहित्यिक संस्था नही है। भाषा-भेद की दुर्गम खाई को पार करने के बाद हमारा रास्ता साफ हो गया है और वह अवसर आ गया है कि हम साहित्यिक समन्वय का काम शुरू कर दें।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पहली आवश्यकता एक ऐसे मासिक पत्र की है, जिसमें सभी प्रांतीय महारथियों के लेख प्रकाशित हों और भाषाओं में वह आदान-प्रदान होने लगे, जिससे राष्ट्र-साहित्य को प्रोत्साहन और प्रगति मिले। इसी तरह साहित्य में वह राष्ट्रीय मनोवृत्ति उत्पन्न होगी, जिससे आगे चलकर राष्ट्रीय साहित्य परिषद् का विकास होगा।

अतएव हमने निश्चय किया है कि आगामी अक्टूबर से हिन्दी के सुप्रसिद्ध मासिक पत्र *'हंस'* को इस नए रूप में प्रकाशित किया जाए। *'हंस' अब एक लिमिटेड* कंपनी द्वारा प्रबंधित रूप में निकलेगा, जो इसी उद्देश्य से बनाई गई है। उसमें प्रति मास सौ पृष्ठ होंगे और उसका वार्षिक मूल्य पांच रुपये होगा। प्रांतीय विद्वानों और सुलेखकों से लेख प्राप्त करना, उन्हें हिन्दी रूप में लाना, साहित्य के प्रत्येक अंग की पूर्ति का प्रयत्न करना, मेहनत का काम भी है और खर्च का भी। दस-बारह प्रांतीय साहित्यों के लेखों का अनुवाद करने के लिए हमें योग्य अनुवादकों का प्रबंध करना पड़ा है और कई सज्जनों ने तो त्याग भाव से हमारी सहायता करने का वचन दिया है। प्रत्येक प्रांत में राष्ट्र-साहित्य के प्रेमियों ने इस उद्योग का जिस उत्साह से स्वागत किया है, वह हमारे लिए बहुत आशाजनक है। हमें विश्वास है कि राष्ट्र के सुलेखक और पाठक दोनों ही अपने सहयोग से हमें प्रोत्साहन देंगे। तभी वह उदासीनता और अरुचि दूर होगी जो एक प्रांत को दूसरे प्रांत के साहित्य से है। हमें हर्ष है कि हमें संपादन-कार्य में गुजरात के प्रमुख साहित्यकार श्रीयुत् कन्हैयालाल मुंशी का सहयोग प्राप्त हो गया है, जो इस विचार के जन्मदाता कहे जा सकते हैं।

कार्य कितना महत्त्वपूर्ण है, यह लिखने की जरूरत नहीं। हम तो उस भविष्य की कल्पना करते हैं, जब भारत के सुविख्यात लेखकों की रचनाएं भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक चाव से पढ़ी जाएंगी और संपूर्ण देश उन पर गर्व करेगा। तभी हमारे साहित्य को संसार के साहित्य-समाज में और आदर का स्थान मिलेगा और संसार के सांस्कृतिक विकास में उसका भी भाग होगा। जिस पत्रिका के निर्माण में संपूर्ण भारत की साहित्यिक प्रतिभा योग देगी, वह किस कोटि की होगी, इसका अनुमान किया जा सकता है।

हम यहां उस शंका निवारण कर देना उचित समझते हैं, जो दुर्भाग्य से कुछ सज्जनों के मन में उत्पन्न हुई है। यों तो चारों तरफ हमारी योजना का स्वागत ही हुआ है और कुछ ऐसे महानुभाव भी हैं, जिनका कथन है कि जब हम अंग्रेजी भाषा के माध्यम से अपना काम चला सकते हैं, तो हमें राष्ट्रभाषा सीखने की क्या जरूरत है। उनका खयाल है कि राष्ट्र-साहित्य का स्वांग केवल हिन्दी को अन्य प्रांतीय भाषाओं पर अपना आधिपत्य जमाने के लिए खड़ा किया गया है। हम बड़ी नम्रता से निवेदन करना चाहते हैं कि हमारा अभिप्राय प्रांतीय भाषाओं को क्षति पहुंचाना नहीं, बल्कि उनके सहयोग से राष्ट्र-साहित्य का निर्माण करना है। जिस डाल पर बैठे हों उसी की जड़ में कुल्हाड़ी मारकर हम अपनी मूर्खता ही का परिचय दे सकते हैं। हां, यह हम अवश्य स्वीकार करते हैं कि हम राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के लिए राष्ट्रभाषा का ज्ञान आवश्यक समझते हैं, अन्यथा वह राष्ट्रभाषा ही कैसी होगी, किंतु इससे तो भाषाओं को क्षति पहुंचने की कोई संभावना नहीं। उनका जो क्षेत्र है, वह तो बना ही रहेगा, हां, उनके प्रतिभाशाली लेखकों के लिए यश-प्राप्ति का क्षेत्र और विस्तृत हो जाएगा। अगर इससे उस भाषा को क्षति पहुंचती है तो उसे लाभ कैसे पहुंचेगा, इसका अनुमान हम नहीं कर सकते। रही अंग्रेजी के पक्षपतियों की बात, उनसे हम इसके सिवा और क्या कह सकते हैं कि अब तक राष्ट्र के अरबों रुपये खर्च करके हम सौ में से एक आदमी को भी अंग्रेजी पढ़ने और समझने के योग्य नहीं बना

सके और संपूर्ण राष्ट्र को अंग्रेजी पढ़ाने के लिए जितने धन की जरूरत है, वह इस कंगाल देश के सामर्थ्य के बाहर है।

[सपादकीय। 'हंस', जुलाई, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

भारतीय साहित्य के संगठन की एक आलोचना

'हंस' के पाठकों को ज्ञात होगा कि गत मास श्रीयुत कन्हैयालाल मुंशी ने 'भारतीय साहित्य का संगठन' नामक एक पैम्फ्लेट प्रकाशित किया था, जिसमें उन्होंने हिन्दी में एक ऐसे पत्र की आवश्यकता बतलाई थी और उसके लिए एक स्कीम भी पेश की थी, जिसमें प्रांतीय साहित्यों के विषय में हिन्दी में प्रांतीय विद्वानों के लेख प्रकाशित किए जाएं और हिन्दी के माध्यम से एक ऐसा क्षेत्र तैयार किया जाए, जिसके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रांत तथा हिन्दी के पाठकों को अन्य प्रांतों के साहित्य से परिचय हो जाये और राष्ट्र के भिन्न साहित्यों में जो श्रेष्ठ कृतियां निकलें, वह केवल उस प्रांत के अंदर न रहकर संपूर्ण राष्ट्र तक पहुंच सकें। हमारे मित्र श्रीयुत चन्द्रगुप्त जी विद्यालंकार ने अगस्त के 'विशाल भारत' में एक विचारपूर्ण लेख लिखकर यह शकाएं प्रकट की हैं-

1 जिन साहित्यिकों की रचनाएं उस पत्र में छपेंगी, उन्हें भी ठीक तौर से ज्ञात नही होगा, कि उनकी रचना का हिन्दी में अनूदित होकर क्या रूप बन गया है, अतएव परोपकार की भावना से, किसी के लिहाज में आकर अथवा और किसी प्रेरणा से अन्य प्रांतों के साहित्यिक उस पत्र के लिए लेख चाहे भले भेज दें, तथापि उन्हें उस पत्र से कोई जिंदा दिलचस्पी नहीं रह सकती। परिणाम यह होगा कि यह पत्र बहुत शीघ्र दूसरे दर्जे का और कुछ समय के बाद तीसरे दर्जे का बन जाएगा।

2 हिन्दी जगत् को उस पत्र से अन्य प्रांतीय भाषाओं की रचनाओं का सेकेंड हैंड आस्वादन अवश्य मिल जाएगा, परंतु उसके द्वारा अन्य प्रांतों की जनता को संपूर्ण राष्ट्र के साहित्यिकों का परिचय किस प्रकार मिल सकेगा?

3 इस विषय का अकेला एक पत्र क्या कर लेगा, यह तो प्रचार का-सा कार्य है और इस दृष्टि से तो यह अच्छा रहेगा कि हिन्दी के संपूर्ण पत्रों तथा पत्रिकाओं में, हिन्दी ही क्यों, संपूर्ण भारतवर्ष की सभी पत्र-पत्रिकाओं में यह भावना भरने का प्रयत्न किया जाए कि वे अन्य प्रांतों को रचनाओं से भी अपने पाठकों को परिचित कराने का अधिकतम प्रयत्न करें।

4 अंत में आपने राष्ट्रीय साहित्य परिषद् की जरूरत बतलाई है और इस पर जोर दिया है कि पहले वह परिषद् बनाया जाए और ऐसा पत्र उसी परिषद् की ओर से पूर्ण साहित्यिक बनकर निकले।

हमें चन्द्रगुप्त जी की यह आलोचना पढ़कर खुशी हुई। इससे मालूम होता है कि विचारवान् लोग इस प्रश्न पर विचार कर रहे हैं, जो आंखें बंद करके किसी बात को स्वीकार कर लेने से, या साफ उदासीन हो जाने से कहीं अच्छा है। हम भाई चन्द्रगुप्तजी की शंकाओं का महत्त्व समझते हुए भी यह निवेदन करते हैं–

1 हम जिन साहित्यिकों के लेख प्रकाशित करेंगे वह सीधे उन्हीं से 'हंस' के लिए प्राप्त किए जाएंगे और यह प्रयत्न करेंगे कि वे खुद अपने लेखों के अनुवाद कराके या स्वयं हिन्दी में लिखकर (अगर उन्होंने हिन्दी का ज्ञान प्राप्त कर लिया है) भेजें। अगर यह दोनों बातें न हुईं तब हम उनके लेखों के अनुवाद कराएंगे। हम यह प्रयत्न करेंगे कि उनके ताजे लेख ही हमें मिलें और हमारे लिए खास तौर पर लिखे गए हों। कोई वजह नहीं है कि जब वे अपनी भाषा के पत्रों को लेख देते हैं, तो 'हंस' को न दें, जो उनके लेख को संपूर्ण भारत में पहुंचाने का इरादा रखता है। हमारा तो खयाल है कि बंगला, मराठी आदि सम्पन्न भाषाओं के सुलेखक भी इसे कभी नापसंद न करेंगे कि उनके लेख ऐसे पत्र में छपें जो सभी भाषाओं की जनता के पास पहुंचने का आदर्श अपने सामने रखता है और उसको पूरा करने के लिए प्रयत्नशील है। हिन्दी लेखकों ही को लीजिए। भाई चन्द्रगुप्त जी को अगर यह विश्वास हो जाए कि अमुक पत्रिका मे अपना लेख भेजने से वह संपूर्ण भारत के राष्ट्रभाषा-प्रेमियों के हाथों में पहुंच जाएगा, तो हमें विश्वास है, वह उसी पत्र में लिखेंगे। ऐसी दशा में हमें तो कोई कारण नहीं मालूम होता कि 'हंस' को श्रेष्ठ सामग्री न मिले और वह तीसरे दरजे का पत्र होकर रह जाए।

2 हिन्दी जगत् को अब अंग्रेजी, फ्रेंच या योरोप की अन्य भाषाओं की सेकेंड हैंड नहीं, थर्ड, फोर्थ और फिफ्थ-हैंड सामग्री ग्राह्य हो सकती है, लेकिन जब हम वह सामग्री स्वयं लेखक से लेंगे और यह आग्रह कर लेंगे कि वह 'हंस' के लिए ही लिखी गई हो, तो वह सामग्री सेकेंड हैंड न होकर फर्स्ट हैंड ही होगी। और एक प्रांत के निवासियो के लिए दूसरे प्रांत के साहित्य का परिचय पाने की अगर इच्छा होगी तो 'हंस' उनकी सेवा के लिए तैयार ही है। अभी अगर एक गुजराती पाठक तेलगू साहित्य के विषय म कुछ जानना चाहे, तो इसका उसके पास कोई साधन नहीं है। 'हंस' के प्रकाशित हो जान पर उसकी यह इच्छा बड़ी आसानी से पूरी हो जाएगी। इस तरह 'हंस' के द्वारा सभी प्रान्तों के साहित्य-प्रेमियों को अन्य प्रांतीय साहित्यों से परिचय मिलना बहुत आसान हा जाएगा।

3 हमारे भाई संपूर्ण भारत के पत्र-पत्रिकाओं में जिस प्रकार की भावना भरने का प्रयत्न करना चाहते हैं, 'हंस' वही प्रयत्न है। सभी पत्र गल्प छापते हैं इसलिए कोई पत्र शुद्ध गल्पों ही का न हो, यह तो उनका अभिप्राय नहीं हो सकता। राजनीतिक लेख सभी पत्रिकाओं में अन्य विषयों के साथ दिए जाते हैं, लेकिन ऐसे पत्र भी तो हैं, जो राजनीतिक और केवल राजनीतिक लेख ही छापते हैं। इस उद्देश्य का एक पत्र जारी करके हम सभी प्रांतीय साहित्यों को एक-दूसरे के समीप कर देना चाहते हैं और हमारे तुच्छ विचार मे राष्ट्र-साहित्य की यही बुनियाद हो सकती है।

अंत में हम यही निवेदन करना चाहते हैं कि राष्ट्र-साहित्य-परिषद् स्थापित करने का विचार भी हमारे मन में है और यह पत्र उसी परिषद् के लिए जमीन तैयार करेगा। पहले हमारी साहित्यिक अभिरुचि में राष्ट्रीयता का विकास तो हो, फिर परिषद् बनते कितनी देर लगती है। 'हंस' की सलाहकार समिति में सभी प्रांतीय भाषाओं के प्रतिनिधि रखे गए हैं और हमें आशा है शीघ्र ही वह बोर्ड बन जाएगा। हम चन्द्रगुप्त जी को और समस्त साहित्य प्रेमियों को विश्वास दिलाते हैं, कि 'हंस' शुद्ध साहित्यिक पत्र होगा, जैसा

उसमें रहने वाले स्तंभों की सूची से साफ जाहिर है। उसका प्रधान कार्य है—साहित्य-सेवा। और प्रचार भी साहित्य-सेवा का एक अंग है, इससे कौन इंकार करेगा। हम भाई चन्द्रगुप्त से प्रार्थना करेंगे कि इस शुभकार्य में सहयोग दें। उद्देश्य हमारा और उनका एक है, केवल साधनों में अंतर है और सभी बड़े काम पहले सुख-स्वप्न से शुरू होते हैं। अगर सुख-स्वप्न देखने वाले न होते, तो संसार मरुभूमि होकर रह जाता।

[संपादकीय। 'हंस', अगस्त-सितम्बर, 1935 मे प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

श्री मुंशी गुलाबराय एम० ए० का पत्र

'हंस' का यह कार्य कितना महत्त्वपूर्ण है, इस संबंध में हमारे पास कई पत्र आए हैं, पर श्रीयुत मुंशी गुलाबराय का पत्र विशेष महत्त्व रखता है। इसलिए कि उसमें केवल उस आयोजन की प्रशंसा ही नहीं है, बल्कि भावी कार्यक्रम के विषय में कुछ सम्मति भी प्रदान की है जो हर प्रकार से अनुमोदनीय है और हमें आगे चलकर विशेष रूप से सहायता देगी। आप लिखते हैं–

'यह कार्य बडे महत्त्व का है और विचार रूप से तो बहुत दिनों से चला आता है, किंतु अभी तक इस संबंध में कोई कार्य नहीं हुआ था। अब बड़े हर्ष की बात है, कि उसके कार्य रूप में परिणत होने में पहला कदम रखा गया है। इसका श्रेय विशेषकर श्री कन्हैयालाल जी मुंशी ही को है। वैसे जिन लोगों ने इस योजना में सहयोग दिया है, वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

यदि हम इस बात का गौरव लेना चाहते हैं कि हम भी कुछ मौलिक कार्य करें और संसार के ज्ञान-भंडार में कुछ वृद्धि कर दूसरे देशों का ऋण चुकाएं, तो परस्पर सहकारिता के बिना काम नहीं चल सकता। योरोप भर में पारिभाषिक शब्द प्राय: एक-से हैं, किंतु भारतवर्ष में एक प्रांत में भी पारिभाषिक शब्द एक नहीं हैं। प्रत्येक लेखक अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग पकाता है। इतिहास की पूर्ति के लिए यह जानना परमावश्यक है कि दूसरे प्रांत के इतिहासज्ञों ने अपने-अपने प्रांत के इतिहास के विषय में क्या खोज की है, क्योंकि इतिहास की बहुत कुछ सामग्री साहित्य और जनश्रुतियों में रहा करती है। इस कार्य को सुचारू रूप से चलाने के लिए कुछ प्रारंभिक कार्य करने की आवश्यकता है। उस कार्य के संबंध में प्राय: लोगों ने भी बहुत कुछ सोचा होगा, मैंने जो दो-एक बातें सोची हैं, वे आपसे निवेदन करता हूं–

1 प्रांतीय साहित्यों की एक विषयवार अनुक्रमणिका तैयार कराना। उसमें यह बतलाया जाए कि एक-एक विषय पर किस-किस प्रांत में कौन-कौन सी किताबें लिखी गई हैं।

2 भिन्न प्रांतों के लेखकों की सूची। उसमें यह रहे कि कौन-कौन लेखक किस-किस विषय में रुचि रखते हैं।

3 प्रत्येक प्रांत में परिषद् की ओर से एक-एक पत्रिका रहे, जिसमें हिन्दी लिपि का व्यवहार हो, भाषा चाहे प्रांतीय ही रहे। यदि उस प्रांत की किसी पत्र या पत्रिका में कोई महत्त्वपूर्ण लेख हो, तो उसकी सूचना और उसका थोड़ा सार रहा करे। भिन्न-भिन्न

प्रांत के पत्र-पत्रिकाओं के परस्पर परिवर्तन का भी प्रबंध रहे।

4. हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साथ ही अथवा अन्य किसी अवसर पर अंतर-प्रांतीय-साहित्य-परिषद् हुआ करे।

5. अंतर-प्रांतीय लेखकों के परस्पर पत्र-व्यवहार का सुभीता कराया जाए।

6. पारिभाषिक शब्दों के एकीकरण के लिए एक कमेटी बने, जिसमें भिन्न-भिन्न प्रांतों के और भिन्न-भिन्न विषयों के विशेषज्ञ रहें।

7. भिन्न-भिन्न साहित्य सम्मेलनों में, अन्य प्रांत के लोग भी आमंत्रित किए जाया करें और उनके लाभार्थ उन सम्मेलनों में भी एक या दो व्याख्यान हिन्दी में हुआ करें। आशा है कि अपनी योजना बनाते समय आप लोग इन बातों का भी ध्यान रखेंगे।

[संपादकीय। 'हंस', अगस्त-सितम्बर, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

'हंस' का नया रूप

आज के छः साल पहले, जब 'हंस' का जन्म हुआ तभी से, उसने भारत की अन्य भाषाओं की मासिक प्रगति से अपने पाठकों को परिचित कराने का प्रयत्न किया है। यद्यपि साधनों के अभाव से उसे इस उद्देश्य में इच्छित सफलता नहीं मिल सकी, पर यह उद्देश्य हमेशा उसके सामने रहा। कोई राष्ट्र केवल इसलिए राष्ट्र नहीं होता, कि वह एक राज्य के अंतर्गत है, बल्कि इसलिए भी कि उसमें सांस्कृतिक एकता और दृढ़ता है। लिपि, भाषा और साहित्य, संस्कृति का मुख्य अंग है। लिपि का प्रश्न तो राष्ट्र ने तय कर दिया और नागरी लिपि राष्ट्र की लिपि स्थिर हो गई है। भाषा के विषय में भी अब कोई मतभेद नहीं रहा। हिन्दुस्तानी हमारी राष्ट्रभाषा स्थिर हो गई है। अब साहित्य को भी हम प्रांतीयता के संकुचित क्षेत्र से निकालकर राष्ट्रीयता के वृहद् क्षेत्र में लाकर सांस्कृतिक एकता में जो कसर थी, उसे पूरा कर देना चाहते हैं। वह आध्यात्मिक और बौद्धिक धारा, जो इस समय संपूर्ण राष्ट्र में समान रूप से प्रवाहित हो रही है, भाषा-भेद के कारण अवरुद्ध होकर रह जाती है और संपूर्ण राष्ट्र को उसके जल-सुधा से लाभान्वित होने का अवसर नहीं मिलता। अगर भारत को अपनी राष्ट्रीयता संपूर्ण रीति से प्राप्त करना है, तो उसे भारतीय साहित्य का संगठन और प्रचार करना होगा। इस महत्त्वपूर्ण कार्य का भार 'हंस' ने अपने ऊपर लिया है। एक अक्टूबर से 'हंस' भारतीय साहित्य के मुखपत्र के रूप में निकलेगा। उसमें एक सौ बारह पृष्ठ होंगे और उसका वार्षिक मूल्य छः रुपये और अर्द्ध-वार्षिक तीन रुपये आठ आने होगा। उसका संपादन श्रीयुत कन्हैयालाल मुंशी और मेरे हाथों होगा। हम प्रयत्न कर रहे हैं कि भारत के सभी सुविख्यात साहित्यकारों का सहयोग प्राप्त करें। महात्मा गांधी ने हमें आशीर्वाद दिया है। सच तो यह है कि यह काम उन्हीं की प्रेरणा से उठाया गया है। 'हंस' के प्रकाशन के लिए बंबई में एक लिमिटेड कंपनी बनाई गई है और अब वही उसका प्रकाशन करेगी।

'हंस' पूर्ववत् 'हंस' कार्यालय, बनारस से निकलेगा। उसका एक कार्यालय एक सौ ग्यारह एस्प्लेनेड रोड, बंबई में भी है। हमने यह आयोजन केवल राष्ट्र-भाषा और

राष्ट्र-साहित्य की सेवा के उद्देश्य से किया है। हमारा कोई व्यापारिक स्वार्थ इसमें नहीं है, अतएव हम अपने प्रेमी पाठकों से यह आशा रखते हैं कि जैसे अब तक उन्होंने 'हंस' को अपनाया है, उसी भांति उसको अपनाए रहेंगे और केवल ढाई रुपये की मूल्य वृद्धि के करण उससे विमुख न होंगे। उस वृहद् कार्य के देखते हुए, यह मूल्य-वृद्धि कुछ भी नहीं है। अनुमान कीजिए कि कन्नाड़ी, तामिल, तेलुगू, बंगला, मराठी, गुजराती, उर्दू आदि भाषाओं की सामग्री हिन्दी में उपस्थित करने के लिए हमें कितना व्यय और कितना उद्योग करना पड़ा है और आगे करना पड़ेगा। आप 'हंस' के द्वारा संपूर्ण भारत के साहित्य से परिचित हो जाएंगे। प्रांतीय साहित्यों में जो कुछ श्रेष्ठ और सुंदर है, वह आपको 'हंस' द्वारा प्राप्त हो जाएगा। उसके साथ ही यह पूर्ववत् हिन्दी-साहित्य की अनूठी रचनाएं भी आपकी भेंट करता रहेगा। क्या यह खेद की बात नहीं है कि अभी तक हम प्रांतीय साहित्यों की प्रगति और उनकी मूल धाराओं से बेखबर हैं? पुराने बंगाली साहित्य से हम बहुत कुछ परिचित हैं। लेकिन उसकी सांप्रतिक गति हमें कुछ पता नहीं है। दक्षिण भारत के साहित्य से तो हम सर्वथा अनभिज्ञ हैं। जब भारत एक राष्ट्र है, हिन्दी राष्ट्र-लिपि है, तो भारतीय साहित्य में जो कुछ भी निकले, वह राष्ट्र-साहित्य है। तभी हमारे साहित्यिक दृष्टिकोण का विकास होगा, तभी हम साहित्य को राष्ट्रीय मापदंड से नापेंगे, तभी हमारे साहित्यिक आदर्श ऊंचे होंगे। आप 'हंस' के ग्राहक बने रहकर राष्ट्र-साहित्य के प्रति अपने कर्त्तव्य की इतिश्री न समझें। यथासाध्य 'हंस' के प्रचार का उद्योग भी करें और इस सांस्कृतिक यज्ञ में सहयोग देने का यश लें। जब अन्य भाषा-भाषी सज्जन राष्ट्रभाषा के प्रति इतना उत्साह दिखा रहे हैं और 'हंस' के प्रकाशन के लिए धन का आयोजन कर रहे हैं, और अन्य भाषाओं के यशस्वी लेखक 'हंस' के साथ उदारतापूर्ण सहयोग कर रहे हैं, तो क्या हमारे पाठक, जो इतने दिनों 'हंस' के ग्राहक रहकर अपने साहित्य-प्रेम का परिचय देते रहे हैं, अब अपने राष्ट्र-साहित्य-प्रेम से हमें प्रोत्साहन न देंगे? हमारे जिन माननीय सहयोगियों ने इस विचार के प्रचार में हमारी सहायता की है, उनके हम हृदय से अनुग्रहीत हैं।

[संपादकीय। 'हंस', अगस्त-सितम्बर, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

क्या यह लेखिकाओं के साथ पक्षपात है?

एक युवक लेखक ने अपनी एक कृति किसी पत्र-संपादक के पास छपने को भेजी, संपादक ने उसे लौटा दिया। लेखक ने दूसरे संपादक के पास भेजी। उसने भी उसे लौटा दिया। तब लेखक को एक चाल सूझी। उसने लेख पर एक युवती का नाम डाल दिया और पहले संपादक के पास चलता किया। अबकी संपादक जी ने तुरंत पहुंच स्वीकार की और अगली ही संख्या में लेख छप गया। लेखक ने अब संपादक जी की गर्दन नापी। उनके इस पक्षपातपूर्ण व्यवहार का किस्सा एक दूसरे यशस्वी संपादक को सुना डाला और यशस्वी संपादक ने उस पक्षपाती संपादक को बड़े जोर से डांट बतायी और कहा—यह

व्यवहार निन्द्य है और आपत्तिजनक है, इस लायक है कि सभी संपादक लज्जा ने सिर झुका लें। मगर हम इसमें लज्जा की कोई बात नहीं.समझते। लज्जा का काम उस युवक ने किया, जिसने एक युवती के आंचल में अपना मुंह छिपाया। इससे बड़ी लज्जा की बात और क्या हो सकती है, कि एक साहित्यिक युवक अपने अहंकार को संतुष्ट करने के लिए चोली और साड़ी पहनकर निकले। माताओं और बहनों के साथ प्रत्येक पुरुष का व्यवहार सदय होता है और होना चाहिए। उस जाति के प्रति उनके रोम-रोम में जो श्रद्धा व्याप्त हो रही है, वह इस रूप में प्रकट होती है, तो क्या बुराई है। वही काम एक जवान करे, कोई उसकी तारीफ न करेगा। वही काम एक बालक करे और सारे देश में वाह-वाह मच जाएगी। वही परीक्षा युवक पास करे, तो साधारण बात होगी। वही परीक्षा युवती पास करे, तो असाधारण बात होगी। कुछ दिन पहले तो परीक्षाओं के स्टैंडर्ड भी अलग-अलग थे। अब भी शायद बाजे विषयों में अंतर हैं। जहां संस्कृति की प्रधानता है, वहां तो नारियों के साथ कुछ रियायत होती ही है। हां, ठोस व्यापार के क्षेत्र में Chivaly के लिए स्थान नहीं और औरतों की मजदूरी मर्दों से कम है मगर यह परिस्थिति बड़ी तेजी से बदल रही है और हमारा व्यापार और व्यवसाय, चाहे संरक्षण के पालने में ही झूलता रहे और कभी अपने पांव पर खड़े होने का साहस न करे, मगर देवियां इस संरक्षण को बहुत जल्द ठुकराने जा रही हैं और ऐसे युवकों को दो-चार सालों ही में मालूम हो जाएगा कि यह चाल अब काम नहीं देती।

[संपादकीय। 'हंस', अक्टूबर, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

पटना का हिन्दी-साहित्य परिषद्

21-22 सितम्बर को पटना ने अपने साहित्य परिषद् का कई बरसों के बाद आने वाला वार्षिकोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया। हिन्दी के शब्द-जादूगर श्री माखनलाल जी चतुर्वेदी सभापति थे और साहित्यकारों का अच्छा जमघट था। हम तो अपने दुर्भाग्य से उसमें सम्मिलित होने का गौरव न पा सके। शुक्रवार की संध्या समय से ही हमें ज्वर हो आया और वह सोमवार को उतरा। हम छटपटाकर रह गए। रविवार को भी हम यही आशा करते रहे कि आज ज्वर उतर जाएगा और हम चले जाएंगे, लेकिन ज्वर ने उस वक्त गला छोड़ा जब परिषद् का उत्सव समाप्त हो चुका था। पटने जाकर खाट पर सोने से काशी में खाट पर पड़े रहना ज्यादा सुखद था। और यों भी बीमारी के समय, चाहे वह हलकी ही क्यों न हो, बुजुर्गों के मतानुसार और धर्मशास्त्रियों के आदेशानुसार काशी के समीप ही रहना ज्यादा कल्याणकारी होता है—लौकिक और पारलौकिक दोनों दृष्टियों से। अतएव हमें आशा है कि हमारे साहित्यिक बंधुओं ने हमारी गैरहाजिरी मुआफ कर दी होगी। इस ज्वर ने ऐसा अच्छा अवसर हमसे छीन लिया, इसका बदला हम उससे अवश्य लेंगे, चाहे हमें अहिंसा नीति तोड़नी क्यों न पड़े। सभापति का जो भाषण छपकर बासी भात के रूप में मिला है, वह गर्म-गर्म कितना स्वादिष्ट होगा—यह सोचता हूं तो यही जी चाहता है कि ज्वर महोदय कहीं फिर दिखें, लेकिन उनका कहीं पता भी नहीं। इस

भाषण में जीवन है, आदेश है, मार्ग व निदर्शन है और साहित्यसेवियों के लिए आदर्श है, मगर आपने पूर्वजों का बोझा मस्तक पर लादने की जो बात कही, वह हमारी समझ में नहीं आई। हमारा ख्याल है कि हम पूर्वजों का बोझा जरूरत से ज्यादा लादे हुए हैं और उसके बोझ के नीचे दबे जा रहे हैं। हम अतीत में रहने के इतने आदी हो गए हैं कि वर्तमान और भविष्य की जैसे हमें चिंता ही नहीं रही। योरोप और पश्चिमी जग इसलिए हमारी उपेक्षा करता है कि वह हमें पांच हजार साल पहले का जंतु समझता है, जिसके लिए अजायबघरों और पिंजराओं में ही स्थान है।

वह हमारे भोजपत्रों और ताम्रलेखों को लाद-लादकर इसलिए नहीं ले जाता कि उनसे ज्ञान का अर्जन करे, बल्कि इसलिए कि उन्हें अपने संग्रहालयों में सुरक्षित रखकर अपने विजय-गर्व को तुष्टि दे। उसी तरह जैसे पुराने जमाने में विजय की लूट के साथ नर-नारियों की भी लूट होती थी और जुलूसों में उनका प्रदर्शन किया जाता था। प्राचीन अगर हमें आदर्श और मार्ग देता है तो उसके साथ ही रूढ़ियां और अंधविश्वास भी देता है। चुनांचे आज राम और कृष्ण रामलीला और रासलीला की वस्तु बनकर रह गए हैं और बुद्ध और महावीर ईश्वर बना दिए गए हैं। यह प्राचीन का भार नहीं तो और क्या है कि आज भी असंख्य प्राणी, जिसमें अच्छे-खासे पढ़े-लिखे आदमियों की संख्या है, नदियो में नहाकर अपना मन शुद्ध कर लिया करते हैं? प्राचीन उन राष्ट्रों और जातियों के लिए गर्व की वस्तु होगी और होनी चाहिए जो अपने पूर्वजों के पुरुषार्थ और उनकी साधनाओं से आज मालामाल हो रहे हैं। जिस जाति को पूर्वजों से पराजय का अपमान और रूढ़ियों का तौंक ही विरासत में मिला, वे प्राचीन के नाम को क्यों रोएं। ऐसे दर्शन को क्या हम लेकर चाटें, जिसने हमारे पूर्वजों को इतना अकर्मण्य बना दिया कि जब बख्तियार खिलजी ने बिहार विजय किया तो पता चला कि सारा नगर और किला एक विशाल वाचनालय था।

विद्वान् लोग मजे से राज्य का आश्रय पाते थे और अपनी कुटिया में बैठे हुए प्राचीन शास्त्रों में डूबे रहते थे। उनके इर्द-गिर्द क्या हो रहा है, दुनिया किस गति से बढ़ी जा रही है, उन्हें इसकी खबर न थी। और शायद बख्तियार उन विद्वानों से मुजाहिम न होता और उनकी वृत्ति ज्यों-की-त्यों बनी रहती, तो वे उसी तन्मयता से अपने शास्त्र पढ़ते जाते और आध्यात्मिक विचारों के आनंद लूटते रहते और अमर जीवन की मंजिल नापते चलते। उधर पश्चिम के नाविक समुद्र के तूफान का मुकाबला करके संसार विजय कर रहे थे और हमारे बाबा-दादा बैठे मुक्ति का मार्ग ढूंढ़ रहे थे। पश्चिम ने जिस वस्तु के लिए तपस्या की, उसे वह वस्तु मिली। हमारे पूर्वजों ने जिस वस्तु की तपस्या की वह उन्हें मिली, या मिलेगी। जिसके लिए संसार मिथ्या हो और दु:ख का घर हो, उसकी यदि संसार उपेक्षा करे तो उन्हें शिकायत का क्या मौका है। हमें स्वर्ग की ओर से निश्चिंत रहना चाहिए। वह हमें मिलेगा और जरूर मिलेगा।

चतुर्वेदी जी के शब्दों में 'ग्रंथों में बंधनों के आदी हम, स्वामी राम के कथन में भी मुक्ति का गीत ढूंढ़ने के बजाय वेदांत का बंधन ढूंढ़ने लगे।' और क्यों न ढूंढ़ते? बंधनों के सिवा और ग्रंथों के सिवा हमारे पास और क्या था। पंडित लोग पढ़ते थे और योद्धा लोग लड़ते थे और एक-दूसरे की बेइज्जती करते थे और लड़ाई से फुरसत मिलती थी

तो व्यभिचार करते थे। यह हमारी व्यावहारिक संस्कृति थी। पुस्तकों में वह जितनी ही ऊंची और पवित्र थी, व्यवहार में उतनी ही निन्द्य और निकृष्ट।

आगे चलकर सभापति जी ने हमारी वर्तमान साहित्यिक मनोवृत्ति का जो चित्र खींचा है, उसका एक-एक शब्द यथार्थ है–

''हम अपनी इस आदत को क्या करें? यदि किसी के दोष सुनता हूं तो तुरंत मान लेता हूं और उस अद्रव्य को पेट में लेकर फिर बाहर आता हूं और अपनी साहित्यिक पीढ़ी को उस निन्द्य निधि की खैरात बांटता हूं। संसार के दोषों का मैं बिना प्रमाण सरल विश्वासी होता हूं और यह चाहता हूं कि मेरी ही तरह मेरा पाठक भी मेरी लोक-निंदा पर विश्वास करे, किंतु यदि किसी के गुण, किसी की मौलिकता, किसी की उच्चता की चर्चा सुनता हूं, तब मैं उसके लिए प्रमाण वसूल करने के इजहार लेना चाहता हूं।''

और भाषण के अंतिम शब्द तो बड़े ही मर्मस्पर्शी हैं–

''हम बड़े हों या छोटे, हमने घर-घर और व्यक्ति-व्यक्ति में मरने का डर बोया है। हमारे लिए मार डालना ही गुनाह नहीं, मर जाना गुनाह हो गया है....आज के साहित्यिक चिंतक पर जिम्मेवारी है कि वह पुरुषार्थ को दोनों हाथों में लेकर जीने का खतरा और मरने का स्वाद अपनी पीढ़ी में बोए। यह पुरुषार्थ शस्त्रधारों से नहीं हो सकता, यह तो कलम के धनियों ही के करने का काम है।''

[संपादकीय। 'हंस', अक्टूबर, 1935 में 'अतीत का मुर्दा बोझ' शीर्षक से प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रथम संस्करण) में संकलित। परंतु बाद के संस्करण में इसे हटा दिया गया। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

प्रान्तीय साहित्य की एकता

आज 'हंस' भारत के समस्त साहित्यों का मुखपत्र बनने की इच्छा से एक नई विशाल भावना को लेकर अवतीर्ण हो रहा है। इसका मुख्य उद्देश्य है भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों की साहित्य समृद्धि को राष्ट्रवाणी हिन्दी के द्वारा सारे भारत के आगे उपस्थित करना।

राष्ट्र, वस्तु नहीं....वह एक भावना है। करोड़ों स्त्री-पुरुषों की संकल्पयुक्त इच्छा पर इस भावना की रचना हुई है। आज अगणित भारतवासी अपने आचार और विचार में इसी भावना को व्यक्त कर रहे हैं। सारा हिन्द एक और अविभाज्य है।

यह भावना, कई तरह से, कई रूपों में प्रकट है। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग अंग्रेजी भाषा के द्वारा इस भावना को जाहिर करते हैं, दूसरे अनेक अपनी-अपनी मातृभाषा में। प्रयत्न एक ही दिशा में अनेकों हो रहे हैं। वे राष्ट्रभाषा और साहित्य के बिना एकरूप नहीं हो सकते।

अब हिन्दी, राष्ट्रभाषा बनाने का व्रत ले चुके हैं। परंतु यह भाषा सिर्फ व्यवहार की, आपस के बोलचाल की ही नहीं, साहित्य कभी होनी चाहिए। सांस्कारिक विनमय तथा सौन्दर्य दर्शन में भी उसका उपयोग होना चाहिए। यदि भारत एक और अविभाज्य

हो, तो इसका संस्कार-विनिमय और सौन्दर्य-दर्शन एक ही भाषा में और परस्परावलंबी साहित्य-प्रवाह द्वारा करना चाहिए।

भारतीय राष्ट्रभाषा कोई भी हो, उसमें हमें प्रत्येक देश भाषा के तत्त्वों का बल पहुंचाना होगा। भारतीय साहित्य वही है, जिसमें प्रान्त-प्रांत की साहित्य-समृद्धि का सर्वांफा सुंदर सार-तत्त्व हो। अपने राष्ट्र की आत्मा का साहित्य द्वारा सबको दर्शन होना चाहिए। ये ही विचार हमारे इस प्रयत्न के प्रेरणा रूप हैं।

देश के सभी प्रान्तों के साहित्य में आंतरिक एकता भरी हुइ है। साहित्यिक रचनाएं चाहे जिस भाषा में लिखी गई हों, वे एक सूत्र में पिरोई हुई हैं। यह सूत्र कोई नया नहीं, परंपरा से चला आ रहा है। हर एक साहित्य में भगवान व्याम कृष्ण द्वैपायन की प्रेरणा है। रामायण के अप्रतिम सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब उसमें झलकता है। पुराणों की प्रतिध्वनियां युग-युग के साहित्य में गूंजती हैं। संस्कृत साहित्य के निर्माताओं की ज्योति ने प्रत्येक प्रान्त के साहित्यकारों को प्रात्साहन दिया है। अपने कथा साहित्य ने भी एकसूत्र-रूप हो हरेक प्रांत के साहित्य की एक श्रृंखला में बांध लिया है। जातक की कथाएं किसी न किसी रूप में प्रत्येक प्रांतीय साहित्य में मिलती हैं। गुणाढ्य की बृहत्कथा और पंचतंत्र के अनुवाद सभी प्रांतों में प्रेम से अपनाए गए हैं। यह अपनी लोक कथयें इस देश की स्वयंभू और जीवन साहित्य हैं और इसका मूल तत्त्व इस देश की, यहां की प्रजा की समान संस्कारी कल्पना में है।

पिछले काल में भगवत् धर्म और भगवद्भक्ति ने हर एक प्रान्त के साहित्य को पुनर्जन्म यिा है। विद्यापति और चंडीदास, सूर और तुलसी, नरसी, मीरा और कबीर, ज्ञानदेव और साधु तुकाराम, आलवार और आचार्यों के पद-शंकर, रामानुज, मध्व वल्लभ और चैतन्य के प्रभावशाली सिद्धांत एक ओर से भारत की सांस्कारिक एकता का ख्याल कराते हैं और दूसरी तरफ समस्त भारत के संस्कारों को एक रूप बनाते हैं।

और मुस्लिम राज्य काल में हिन्दू मुस्लिम संस्कारों के विनिमय का असर किस प्रांत पर नहीं पड़ा? अगर संगीत में मुसलमानों ने हिन्दुओं की शब्दावली और रस को अपनाया, तो नीति और राजकीय विषयों में मुसलमानों की शब्दावली का यहां प्रचार हुआ। दानों ने मिलकर हिन्दुस्तानी भाषा की सृष्टि की, जो आत हमारी राष्ट्भाषा है और हिन्दुस्तानी का आदि कवि खुसरो था, जो बलबन का समकालीन था। उसकी पहेलियां और मुकरियां और पद आज तक हिन्दी भाषा की सम्पत्ति हैं और इस क्षेत्र में अब तक कोई उसका जोक पैदा नहीं हुआ। सदियों तक सांस्कृतिक आदान-प्रदान होता रहा। हिन्दू कवि फारसी और उसके बाद उर्दू में कविता करते थे और मुसलमान कवि हिन्दी में। जिन मुसलमान कवियों ने हिन्दी में पद्य रचे, और हिन्दी पद्य ग्रंथों की टीकाएं कीं, उन पर आज भी हिन्दी को गर्व है। जायसी की पद्मावत तो हिन्दी भाषा का आज भी गौरव है और सूफी कवियों ने तो मतों और पंथों के बंधन को तोड़कर प्रेम और एकता की जो धारा चलाई उससे कौन सी भाषा प्रभावित नहीं हुई? कई सदियों के संसर्ग से हमारी संस्कृति ने जो रूप धारण कर लिया है, उसमें किन जन समूहों का क्या अंश है, उसका निर्णय करना आज असंभव है।

अंग्रेजों के आने के बाद साहित्य के आदर्श अंग्रेजी साहित्य के आधार पर नये

सांचे में ढले। निबंध, उपन्यास, गल्प, नाटक और कविता की समृद्धि संस्कृत साहित्य के बाण, माघ और कालिदास से आई है, पर उनका स्वरूप, सूक्ष्मता और सरसता, इंग्लैंड में प्रचलित रोमांटिस्ज्मि द्वारा निर्मित लेखक के हृदय से निकली है। और यह सब शैली, वर्डस्वर्थ, स्काट और लिटन की प्रेरण से मिली हैं।

1904 ई० में बंग भंग के बाद जो ज्वलंत राष्ट्रीयता का संचार हमारे जीवन में हुआ, उसका प्रतिबिम्ब प्रत्येक साहित्य में मिलता है। आज महात्मा गांधी के लेखों और भाषणों की और उसी तरह कवीन्द्र रवीन्द्र की कृतियों की प्रेरणा हरएक साहित्य की प्रगति के पथ पर अग्रसर कर रही है।

भारतीय साहित्य में मौलिक एकता पहले भी थी और अब भी है, सिर्फ भाषा का परिधान हर प्रांत में पृथक्-पृथक् रहा। सारा साहित्य एक ही स्थल पर एक ही भाषा द्वारा भारतीयों को मिलने लगे, तो जरूर यह एकता स्वरूप पाकर दृढ़ बनेगी। एक ही जगह में और एक ही भाषा में समस्त प्रांतों का साहित्य संग्रहीत होने से प्रत्येक साहित्य को स्फूर्ति और वेग मिले बिना न रहेंगे। कुछ लोगों को यह खौफ है कि इससे प्रांतीय गौरव के भंग होने के लक्षण दीखते हैं, पर गहराई के साथ सोचें, तो यह भय बिना आधार का लगता है। प्रांतीय साहित्य एक दूसरे के साथ बराबर की कतार में खड़े हुए एक दूसरे का माप करते रहें, और एक दूसरे के संपर्क से नये आदेश, नई प्रेरणा, नई स्फूर्ति पाते रहें, क्या इससे किसी भी साहित्य को कोई आघात पहुंच सकता है? आज जो कई जगह हमारा साहित्य संकुचित होता हुआ दीख रहा है, वह प्रवाहित हो उठेगा। कालिदास, होमर, गेटे या शेली, ये मनुष्य मात्र को सरसता का पाठ सिखाते हैं। और जब तक हमारा प्रांतीय साहित्य विशाल क्षेत्र में न विचरण करे, जब तक विश्व साहित्य में स्थान प्राप्त करने के लायक नहीं होगा। अत: इसमें संदेह नहीं, इन प्रयत्नों के परिणामस्वरूप साहित्य संकुचित होने के बदले और भी अधिक रमणीयता तथा विशालता प्राप्त करेगा।

कुछ साहित्यकार कहते हैं, कि ये प्रयत्न हिन्दी में किसलिए? अंग्रेजी में क्यों नहीं?

यह पूर्वोक्त प्रश्न, यह बेढंगा सवाल, आज ई० स० 1935 में भी पूछा जा सकता है, इससे हमें आश्चर्य और दुख होता है। इस देश में क्या इतनी शक्ति नहीं रही, और राष्ट्रभक्ति इतनी निस्सत्व हो गई है कि भारत को विदेशियों की भाषा द्वारा अपने प्राण व्यक्त करने के लिए मजबूर होना पड़े। ओर अगर यह बात ठीक है, तो हमें लज्जा के मारे डूब मरना चाहिए। अंग्रेजी सुंदर भाषा है, उसके साहित्य में अमर सरसता समाई हुई है, उसकी प्रेरणा के सहारे हमारा बहुत सा आधुनिक साहित्य निर्मित हुआ है, परंतु यह भाषा कितने लोगों को समझ में आती है? इस भाषा में हम अपने भारतीय संस्कारों को किस रीति से दिखला सकते हैं? अपनी देश भाषा से बंधे हुए अपने संस्कारों को पर-भाषा के बेढंगे स्वरूप में किस प्रकार व्यक्त करें?

हिन्दी कई प्रांतीय भाषाओं की बड़ी बहन है। उर्दू के साथ इसका बहुत निकट का संबंध है। कई करोड़ प्रजा हिन्दी में बोलती है, और उससे भी अधिक संख्या इसे समझ सकती है। आज इसे राष्ट्र सिंहासन पर राष्ट्र विधाताओं ने बिठाया है। इसे छोड़ हम क्या परभाषा में साहित्य का विनिमय करें।

हिन्दी को छोड़कर दूसरी भाषा इस देश की हो नहीं सकती है। हमें इस वस्तजु का मान, इस बात का विश्वास, जितनी जल्दी हो जाय, उतनी ही इस देश का भाग्योदय जल्दी नजदीक आ पहुंचेगा।

हिन्दी में हर एक प्रांत का साहित्य अवतीर्ण हो तो यह प्रयाग या काशी की हिन्दी न होगी, इस हिन्दी में हर एक प्रांत की विशेषताएं, अवश्य होगी। इसकी वाक्य रचना में विविधता आयेगी। इसके कोष में अन्य अपरिचित भाषाओं के शब्द भी आकर जमा होंगे। ऐसी अनेक सामग्रियों में से नई राष्ट्रभाषा प्रकट होगी।

ऐसी एक सर्वसामान्य भाषा के लिए मौलिक हिन्दी का ही उपयोग करना जरूरी है। थोड़े सरल शब्दों की यह एक भाषा बने, यह सर्वथा पांछनीय है, परंतु यह काम साहित्यिक दृष्टि से उतना महल नहीं, यह हम अच्छी तरह समझते हैं। आज हिन्दी में, बंग्ला में, मराठी और गुजराती में, तेलुगू और मलयालम मे, संस्कृत के अंश प्रतिदिन बढते जा रहे हैं। संस्कृत की समृद्धि और उसके माधुर्य की सहायता न होती, तो इन भाषाओं का विकास संभव नहीं था, अर्थात....उसकी समृद्धि और माधुर्य रखने और सरलता को सुरक्षित रखने के लिए ये प्रश्न बहुत से साहित्यकारों के सामने उपस्थित है। वे इन कठिनाइयों को खूब जानते हैं, कि ये आसानी से हल होने वाली नहीं है। इससे भी बढ़ा और मह॒‍त्व ‍का एक प्रश्न है। हिन्दू और मुसलमान....दोनों को समझ में आये, ऐसी साहित्य की कौन सी भाषा है? बाजार में, लश्कर में, सामान्य व्यवहार में सरल हिन्दी, सरल उर्दू के नजदीक आ सकती है, परंतु जहां साहित्यिक वाकपटुता, कविता, अर्थ सूचकता या अर्थ गम्भीरता का सवाल आयेगा, वहां यह भाषा निकम्मी हो जाती है। वहां प्रत्येक लेखक अपनी प्यारी में से आवश्यक और अपेक्षित समृद्धि ले लेता है। इसमें निराशा के लिए जगह नहीं। हिन्दू मुसलमानों की एक साहित्य की भाषा पैदा कर छुटकारा पाना होगा। प्रत्येक पक्ष अपनी विशेषता खोकर या छोड़कर आगे न बढ़े, दोनों पक्ष एक दूसरे की खूबियां अपनाकर नई भाषा की मृष्टि कर सकेंगे।

इसके लिए जितना धीरज चाहिए, उतनी ही उदारता भी। संसार की बड़ी-बड़ी वस्तुएं लंबी मुद्दत और भगीरथ प्रयत्नों के बाद ही बनती है।

[संपादकीय। 'हंस', अक्टूबर, 1935 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य', (प्रथम संस्करण) में संकलित। परंतु बाद के संस्करणों मे इसे हटा दिया गया। अब यह अप्राप्य है।]

महात्मा जी की जयंती

यहां हमारे लिए परम सौभाग्य की बात है, कि हम राष्ट्र-साहित्य के क्षेत्र में उस शुभ अवसर पर आ रहे हैं, जब संपूर्ण देश में राष्ट्रात्मा महात्मा गांधी की पुण्य जयंती मनाई जा रही है। हम भी उसके अभिनंदन में अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करते हैं। राष्ट्र के विचारों में महात्मा जी के व्यक्तित्व ने जो जागृति पैदा कर दी है, उसे हम क्रांति कह सकते हैं, और जीवन का सच्चा आदर्श जैसा आपने राष्ट्र के सामने रखा, उसने तो मानवता को देवत्व से भी ऊंचा उठा दिया, जो हमारी आदर्श मानवता की सर्वोच्च कल्पना है।

और साहित्य हमारी जागृति के स्पंदन के सिवा और क्या है। अगर हम गौर से देखें, तो हमें गांधी-युग के पहले और उसके बाद के साहित्य में स्वष्ट अंतर दिखाई देगा। गांधी-युग गांधी-युग के जिस साहित्य की सृष्टि की है, उसमें कर्मण्यता है, विचारों की स्वतंत्रता है, जीवन की सरलता है, निर्भीकता है और सिद्धांतों और आदर्शों के लिए बलिदान का उत्साह है। 'कला कला के लिए' की जो अनर्गल चर्चा चल रही थी, और आज भी चल रही है, और आज जो कला की उपयोगिता को हास्यास्पद समझती है, उसकी जबान पर संयम की मुहर लग गई।

महात्मा जी ने साहित्य और कला में उपयोगिता के आदर्श पर जोर देकर उसे भावुकता के गर्त से निकाल लिया। हमारा तो खयाल है कि किसी वस्तु का सुंदर होना ही उसकी उपयोगिता की दलील है, अगर वह उपयोगी न होती, तो सुंदर न होती और इसीलिए सत्य भी न होती। हिन्दी भाषा को राष्ट्र-भाषा के स्थान पर पहुंचाकर आपने जिस राजनीतिक दूरदर्शिता का परिचय दिया है, वह आप ही के योग्य है। आज हम भारतीय साहित्य के एकीकरण का जो स्वप्न देख रहे हैं, वह भी आप ही के पुण्य आदेश की बरकत है। इसमें दो रायें नहीं हो सकतीं, कि हिन्दुस्तानी भाषा को आपके शुभ उद्योग से जो जीवन, जो प्रगति, जो गौरव प्राप्त हुआ है वह अभूतपूर्व है। आपने राष्ट्र को भाषा देकर गूंगे को जबान दे दी है और यदि हमने आपके इस महादान का सदुपयोग किया, तो वह दिन दूर नहीं, जब भारत की राष्ट्रीयता, साहित्यिक और सांस्कृतिक सामंजस्य द्वारा एक प्राण हो जायेगी।

[संपादकीय। 'हंस', अक्टूबर, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

शिरोरेखा क्यों हटानी चाहिए?

नागरी लिपि समिति ने जितने उत्साह और योग्यता से अपनी कठिन जिम्मेदारियों को पूरा करना शुरू किया है, उससे आशा होती है कि निकट-भविष्य में ही शायद हम अपना लक्ष्य प्राप्त कर लें। और हर्ष की बात है कि समिति के प्रस्तावों और आदेशों का उतना विरोध नहीं हुआ, जितनी कि शंका थी। राष्ट्रीय एकीकरण हमें इतना प्रिय हो गया है कि उसके लिए हमसे जो कोई भी माकूल बात कही जाय, उसे मानने के लिए हम तैयार हैं। शिरोरेखा के प्रश्न को भी समिति ने जिस खूबसूरती से हल किया है, उसे प्राय: स्वीकार कर लिया गया है। शिरोरेखा नागरी अक्षरों का कोई आवश्यक अंग नहीं। जिन ब्राह्मी अक्षरों से नागरी का विकास हुआ है, उन्हीं से बंगला, तमिल, गुजराती आदि का भी विकास हुआ है; मगर शिरोरेखा नागरी के सिवा और किसी लिपि में नहीं। हम बचपन से शिरोरेखा के आदी हो गए हैं और हमारी कलम ज़बर्दस्ती, अनिवार्य रूप से ऊपर की लकीर खींच देती है; लेकिन अभ्यास से यह कलम काबू में की जा सकती है। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि शिरोरेखा का परित्याग करके हम अपने लेखन की चाल बहुत तेज़ कर सकेंगे और उसकी मंद गति की शिकायत बहुत-कुछ मिट जाएगी और छपाई में तो कहीं ज़्यादा सहूलियत हो जाएगी। रही यह बात कि बिना शिरोरेखा के अक्षर मुंडे और सिरे-कटे से लगेंगे, तो यह केवल भावुकता

है। जब आंखें बेरेखा के अक्षरों की आदी हो जाएंगी, तो वही अक्षर सुंदर लगेंगे और हमें आश्चर्य होगा कि हमने इतनी सदियों तक क्यों अपनी लिपि के सिर पर इतना बड़ा व्यर्थ का बोझ लादे रखा।

[संपादकीय। 'हंस', अक्टूबर, 1935 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रथम संस्करण) में संकलित। परंतु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

'त्रिवेणी' से हमारा नम्र निवेदन

मद्रास से निकलने वाली अंग्रेजी सहयोगिनी 'त्रिवेणी' ने भारतीय साहित्य-संगठन की हमारी आयोजना और 'हंस' का स्वागत करते हुए एक छोटा-सा नोट लिखा है, जिसे हम नीचे[1] दे रहे हैं। हमारी सहयोगिनी ने भी आदि से ही भारत की सांस्कृतिक एकता का आदर्श

---

1 A COMMONWEALTH OF LITERATURES

We welcome the efforts that are being made by Mr K M Munshi to give an all-India status to our provincial literatures 'Hansa', the Hindi magazine till now conducted by Sri Premchandji will hereafter be edited conjointly by Sjts, Munshi and Premchandji It will publish articles about the different literatures, with personal sketches of writers and poets, and translations into Hindi of the more valuable literary pieces Triveni has similar aims, and since 1928, it has bestowed a great deal of attention on the literary and cultural movements in Andhra, Maharashtra, Karnataka, and other linguistic units of India In fact, this has been a prominent feature of Triveni, and it is not quite accurate today to say that 'we know the latest literary and cultural activity in England, but not that of our neightbouring province

While we readily recognise that it is useful to conduct a magazine in Hindi for the benefit of all Indian province We believe that it is not less important that Indian literature should keep in touch with the literature of the world by the publication of articles on the Indian literatures and translations of poems, plays and stories, in an international language like English There are many ways in which Treveni and Hansa can co-operate with advantage There is however, a wide spread feeling in South India that, in their zeal for the propagation of Hindi, the pracharaks are making exggerated claims on its behalf, and referring to the literatures in Kannada, Tamil or Telgu with condescension It is one thing to say that, as Hindi is spoken by the largest number of Indians, it might eventually serve as a medium of communication between province and province It is altogether different to exalt it to the position of a national language and impose it on all provinces to the deteriment of the local language We draw a distinction between a common language and a national language There are several subnationalities in India, and to them their mother-tongue is the national language and also the prime vehicle of creative self-expression Hindi is not inherently superior to Telugu or Bengali, nor is its literature as rich and varied as theirs We respectfully warn Mr Munshi against the subtle danger that lurks behind the Hindi movement The 'Hansa' must steer clear of it

अपने सामने रखा है और बड़ी योग्यता के साथ उसका पालन किया है। 'हंस' का उद्देश्य भी यही है। अंतर केवल इतना ही है कि जहां 'त्रिवेणी' भारतीय संस्कृति और साहित्य को अंग्रेजी के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ले जाना चाहती है, वहां 'हंस' भारत के भिन्न-भिन्न साहित्यों में घनिष्ठता पैदा करके और सांस्कृतिक भेदों को मिटाकर राष्ट्रीय संस्कृति और साहित्य का रूप स्थिर करने के पक्ष में है। हमारा विचार है, जब तक हमारा एक साहित्य न हो जाए और हमारी संस्कृति में एकरूपता न आ जाए, हम अपनी वर्तमान दशा में अपने भेदों को लेकर अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कोई सम्मान का स्थान नहीं पा सकते। जब तक हम साहित्य और संस्कृति में राष्ट्रीयता की मंजिल तय न कर लें, अंतर्राष्ट्रीयता के लक्ष्य तक पहुंच ही नहीं सकते।

राष्ट्रीयता ही अंतर्राष्ट्रीयता की सीढ़ी है। हम अपने इच्छित स्थान तक इस दरमियानी सीढ़ी द्वारा ही पहुंच सकते हैं। जब तक भारतीय साहित्यों में परस्पर परिचय न हो, उनके अंतर्राष्ट्रीय साहित्य में स्थान पाने की बात तो ऐसी ही है कि भारत राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त किए बिना ही अंतर्राष्ट्रीय समाज में मिलने का दावा करे। राष्ट्र के जितने अंग हैं, उन सबको पूरा किए बगैर राष्ट्रीयता दुर्लभ है और जिस देश में राष्ट्रीयता की भावना इतनी विश्रृंखल हो, वह अंतर्राष्ट्रीय ऊंचाइयों तक चढ़ने के प्रयत्न में मुंह के बल नीचे आ गिरे तो आश्चर्य नहीं। अगर भारत में भिन्न-भिन्न उपराष्ट्र बने रहेंगे और सभी अपने साहित्य और संस्कृति की पृथकता की रक्षा करते रहेंगे और एक-दूसरे से मिलने की कोशिश न करेंगे, तो राष्ट्रीयता का विकास कयामत तक न होगा। हमें अपनी प्रांतीय भक्ति को कुछ न कुछ त्यागना पड़ेगा।

सांस्कृतिक एकता के बिना राजनीतिक एकता हो भी जाए, तो स्थायी नहीं हो सकती। अगर हिन्दी के प्रचारक तमिल या अन्य भाषाओं पर हिन्दी की श्रेष्ठता सिद्ध करने की गलती कर रहे हैं, तो इसको क्षम्य समझना चाहिए। जब तक उन्हें अपने उद्देश्य की श्रेष्ठता में विश्वास न आएगा, वे उनके लिए अपने समय और बुद्धि का बलिदान क्यों करेंगे। किसी नए मत की दीक्षा लेने के बाद हममें कुछ उद्दंडता आ ही जाती है। यह स्वाभाविक है। विद्वानों को इसे बालकों का उत्साह समझ लेना चाहिए।

हिन्दी राष्ट्रभाषा बनने के लिए अधीर नहीं है। अगर कोई Common language और National langauage में भेद की कल्पना करके अपने मन को संतोष दे सकता है, तो हमें कोई आपत्ति नहीं। हम हिन्दुस्तानी को Common language ही बनाने के इच्छुक हैं और हमारा उद्देश्य केवल यही है कि It might eventually serve as a Medium of Communication between province and province। हिन्दी इसलिए सामान्य भाषा नहीं स्वीकार की गई है कि उसका साहित्य तेलुगु या बंगला या किन्हीं अन्य दरजनों साहित्यों से श्रेष्ठ है, बल्कि केवल इसलिए कि उसे ज्यादा-से-ज्यादा समझते और बोलते हैं और इसीलिए साहित्यिक एकता प्राप्त करने के लिए हमें हिन्दी माध्यम की जरूरत है। हमारी समझ में अब तक यह नहीं आया कि इस आयोजन से प्रांतीय भाषाओं या साहित्यों को हानि कैसे पहुंच सकती है। क्या यह किसी साहित्य के लिए हानि की बात है कि उसके पाठकों का क्षेत्र बढ़े और उसे अन्य साहित्यों से परिचित होने का अवसर मिले?

क्या यह तेलुगु या तमिल के कवियों और सुलेखकों के लिए हानि की बात है कि उनकी रचनाओं से एक प्रांत के बजाय संपूर्ण राष्ट्र फायदा उठाए, या उनके पाठकों के लिए यह अनिष्ट की बात है कि अन्य साहित्यों की विमल कृतियों से आंनद उठाने का उन्हें अवसर मिले? अंग्रेजी और अंग्रेजी साहित्य द्वारा हमें संसार के सभी साहित्यों से परिचय मिलता है– क्या यह हमारे लिए हानि की बात है? अगर यह हानि की बात नहीं, तो क्या भारत के अन्य साहित्यों से परिचित होना ही हानिप्रद है, या केवल इसलिए हानिप्रद है कि अंग्रेजी द्वारा न होकर हिन्दी जैसी गरीब भाषा द्वारा होता है? अगर यही उद्योग अंग्रेजी द्वारा होता, तो क्या हमारी सहयोगिनी के लिए अधिक संतोष की बात होती? क्या और किसी भाषा के जरिए यह साहित्यिक एकता लाई जा सकती है। अगर नहीं, तो हिन्दी यह उद्योग करके कोई बहुत बड़ा अपराध कर रही है? अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिए हमे अंग्रेजी अवश्य पढ़ना चाहिए, प्रांतीय व्यवहार के लिए मातृ-भाषा है ही, मगर राष्ट्रीय व्यवहार के लिए अब हमारे लिए हिन्दी सीखना लाजिम हो गया है। अभी हम हिन्दी की अवहेलना कर सकते है, मगर शायद एक समय वह आएगा जब उसकी अवहेलना न की जा सकेगी।

[सपादकीय। 'हंस', नवंबर, 1935 मे प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-3 में सकलित।]

भारतीय साहित्य और पं० जवाहरलाल नेहरू

जिन दिनो 'हंस' के पृष्ठों में भारतीय साहित्य के संगठन और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतीय साहित्य-संघ स्थापित करने की जरूरत पर विचार किया जा रहा था, उन्हीं दिनो पंडित जवाहरलाल जी अल्मोड़ा जेल में बैठे हुए स्वतंत्र रूप से इसी विषय पर और इसी दिशा में चिंतन कर रहे थे। उन्हें हमारे आयोजन की बिल्कुल खबर न थी, फिर भी आपके उस लेख मे, जो हाल में सहयोगी 'प्रताप' में प्रकाशित हुआ है, उनके और हमारे आयोजनों में अद्भुत सादृश्य है। इससे यह सिद्ध होता है कि राष्ट्र की विचारधारा सांस्कृतिक एकता की ओर कितने वेग और कितनी एकरसता के साथ दौड़ रही है। नेहरू जी राष्ट्र के प्राण हैं और उनका हृदय राष्ट्र का हृदय है, जिसमें राष्ट्र की संपूर्ण आकांक्षाएं और भावनाएं प्रतिबिंबित होती हैं। साहित्यिक और सांस्कृतिक एकता राष्ट्र के विकास का मुख्य अंग है और यह भविष्य का शुभ लक्षण है कि वह भावना राष्ट्र के मन में प्रबल हो उठी है।

नेहरू जी ने लेख के प्रारंभ में हिन्दी के नवीन साहित्य की दरिद्रता के विषय में यथार्थ ही कहा है कि ऐतिहासिक और भौगोलिक कारणों से, पहले बंगाल और इसके बाद महाराष्ट्र और गुजरात ने पश्चिम से आई हुई जागृति को ग्रहण किया और कुछ आगे निकल गए। हिन्दी-प्रांतों में राजनीतिक जागृति देर में हुई और भाषा-भेद के कारण हम दूसरे प्रांतों की जागृति से जल्द फायदा नहीं उठा सके, लेकिन अगर हम गलती नहीं कर रहे है, तो भारत की जो भाषाएं उन्नत समझी जाती हैं, वह भी संसार की उन्नत भाषाओं की तुलना में नगण्य हैं। इसका मुख्य कारण अगर यह है कि देश की सारी

प्रतिभा अंग्रेजी का अभ्यास करने में खर्च होती रही और जिनके कंधों पर राष्ट्र को आगे बढ़ाने का भार था, वे अपनी भाषाओं को हेय समझकर उसकी ओर से उदासीन हो गए और आज भी अंग्रेजी के प्रति हमारा मोह अणुमात्र भी कम नहीं है, तो दूसरा कारण यह भी था कि प्रांतीय भाषाओं में आदान-प्रदान का क्रम बंद-सा हो गया और राष्ट्र का साहित्य मानो अलग-अलग कोठरियों में बंद होकर, मुक्त वायु और प्रकाश न पाने के कारण दुर्बल और निर्जीव और निस्तेज होता चला गया। अतएव–

'हमें इस अनुभव से लाभ उठाना चाहिए और देश की सब भाषाओं में किसी तरह का संबंध पैदा करना चाहिए। उनके साहित्यकारों की एक संस्था बने, जिसकी बैठक कभी-कभी हुआ करे। इससे बजाय मुकाबले और द्वेष के आपस का मेल बढ़ेगा और हमारा साहित्य एक-दूसरे की तरक्की में मदद कर सकेगा। विचार-धाराएं देश भर में तेजी से फैलेंगी और हमारी एकता बढ़ेगी। मैंने सुना है कि इसके आरंभ करने का कुछ प्रयत्न हो रहा है, लेकिन उसके बारे में मुझे कुछ ज्यादा मालूम नहीं है। मैं आशा करता हूं, ऐसा भारतीय साहित्य संघ भारत की सब भाषाओं की दावत करेगा। हिन्दी और उर्दू तो बहनें नहीं हैं, एक ही शरीर पर दो चेहरे हैं। उनका तो हमें करीब-से-करीब संबंध करना है। बंगला, मराठी और गुजराती, हिन्दी की छोटी बहनें हैं, दक्षिण की भाषाएं हमारे देश में सबसे पुरानी हैं। इनके अलावा और भी भारत की छोटी और बड़ी भाषाओं को उस संस्था में लेना चाहिए। मैं तो यह भी सिफारिश करूंगा कि अंग्रेजी को भी उसमें जगह हो। हमारी भाषा वह नहीं है, लेकिन फिर भी देश के जीवन में उसका बड़ा हिस्सा है। वह एक तरह की सौतेली भाषा हो गई है।'

हमारा खयाल है कि अंग्रेजी भाषा वर्तमान परिस्थिति में इतनी लाजिमी हो गई है कि उसे किसी संघ या संस्था की मदद की जरूरत नहीं रही। वह सौतेली भाषा नहीं, बल्कि पटरानी भाषा है, और भारत की अन्य सभी भाषाएं उसकी दया की भिखारिणी बनी हुई हैं। हमारे शिक्षित वर्ग की यह हालत हो गई है कि उनमें से अधिकांश अपनी मातृ-भाषा में एक लाइन भी शुद्ध नहीं लिख सकते। दु:ख तो यह है कि जो हमारे नेता कहलाते हैं, उनमें से अधिकांश अपनी मातृ-भाषा से अनभिज्ञ हैं और जिस समाज के नेता जनता से इतनी दूर हट गए हों कि उनमें भाषा का संबंध भी न हो, उस समाज की दशा जो हो रही है, वह हम अपनी आंखों देख रहे हैं। और तो और, हम अपनी इस अयोग्यता और अनभिज्ञता पर लज्जित भी नहीं होते कि आगे के लिए कुछ आशा बंधे। हम स्पष्टवादिता के अभिमान में बेखटके कहते हैं–हमें तो अंग्रेजी लिखने और बोलने में ज्यादा सुविधा होती है।

आगे चलकर नेहरू जी ने हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने और मराठी, बंगला, गुजराती, गुरुमुखी आदि के हिन्दी-लिपि में लिखे जाने के विषय में वही विचार प्रकट किए हैं, जिन पर हिन्दी-प्रचार आंदोलन चल रहा है। उसके बाद आप कहते हैं–

'दूसरा सवाल यह है कि हमारे साहित्यकारों को दुनिया के साहित्यकारों से संबंध पैदा करना चाहिए और अंतर्राष्ट्रीय साहित्य संघों में शरीक होना चाहिए। इसके बगैर हम दुनिया के अगुआ देशों में नहीं हो सकते। हमको यह मानना होगा कि इस नवयुग में नए विचार योरोप और अमेरिका से आ रहे हैं। उनके बगैर समझे हम आज-कल की

दुनिया का सामना नहीं कर सकते। पहली बात जो यह नवयुग सिखाता है वह यह है संसार एक है, उसके अलग-अलग टुकड़े हम नहीं कर सकते, और जो अलग होना चाहते हैं, वे पीछे पड़ जाते हैं।'

यह कथन अक्षरशः सत्य है, लेकिन अंतर्राष्ट्रीय संघों में शामिल होने के लिए भी हमें एक राष्ट्रभाषा की शरण लेनी होगी। हम प्रांतीय भाषाओं के बल पर अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नहीं आ सकते। यह स्वप्न देखना कि भारत की सभी प्रांतीय भाषाएं संसार की समुन्नत भाषाओं के बराबर हो सकती हैं, भूल है। एक राष्ट्र एक ही भाषा को लेकर अंतर्राष्ट्रीय संघों के सामने खड़ा हो सकता है। हां, प्रांतीय साहित्य के कुछ अंग्रेजी अनुवाद संसार के सामने रखे जा सकते हैं, पर यह तो वैसा ही होगा, जैसे कोई आदमी मंगनी के वस्त्र पहनकर किसी सभा में बैठने का साहस करे। उस अनुवाद से जो सम्मान मिलेगा, वह व्यक्ति का सम्मान होगा। और पुस्तक की मूल भाषा का संसार की दृष्टि में कोई गौरव न होगा। आज रूसी और स्वीडिश और फ्रेंच ग्रंथों का जो अंतर्राष्ट्रीय सम्मान है, वह इसलिए नहीं कि उनके अंग्रेजी अनुवाद छप गए, बल्कि इसलिए कि वे अपनी मूल भाषा में पढ़ी गईऔर पसंद की गई। जब उनकी ख्याति हुई, तो अंग्रेजी और जर्मन और फ्रेंच अनुवाद होने लगे। अगर हम संसार-साहित्य में वह स्थान प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमें अपनी राष्ट्रभाषा बनानी होगी और उसी के आधार पर संसार साहित्य-समाज में भाग लेना पड़ेगा। यह आशा तो की जा सकती है कि किसी समय संसार में पैंतीस करोड़ भारतीयों की एक भाषा का संसार में प्रचार हो जाएगा, लेकिन यह असंभव है कि भारत की मुख्य बारह भाषाएं भी किसी समय संसार की प्रौढ़ भाषाओं से बराबरी का स्थान प्राप्त कर लें।

लेख के अंतिम भाग में नेहरू जी ने हमें संसार की अन्य उन्नत भाषाएं सीखने का आदेश देते हुए कहा है–

'हममें से काफी लोगों को विदेशी भाषाएं भी सीखनी चाहिए। वही हमारे लिए दुनिया को देखने की खिड़कियां होंगी, जिनके जरिए धूप और ताजी हवा आएगी। अंग्रेजी तो हममें बहुत लोग जानते हैं। इससे हम फायदा उठाएंगे, क्योंकि इस भाषा का फैलाव बढ़ता जाता है, लेकिन अंग्रेजी काफी नहीं है, और सिर्फ अंग्रेजी जानने की वजह से हम अक्सर धोखा खा चुके हैं। हम सारी दुनिया को अंग्रेजी ऐनकों से देखने लगे हैं और यह नहीं महसूस करते कि वह एकतरफी है। अंग्रेजी हुकूमत से राजनीतिक मुकाबला करते हुए भी हम विचारों में बहुत कुछ उनके गुलाम हो गए....अगर हम फ्रेंच या जर्मन या रूसी किताबें या अखबार पढ़ें, तो मालूम होता है कि दुनिया में कोई और चीज भी है, और अंग्रेजी का उसमें इतना बड़ा हिस्सा नहीं है, जितना हम समझते थे।'

मगर आप स्वीकार करते हैं कि हमारे लिए बड़ी तादाद में योरोप की अन्य भाषाएं सीखना मुश्किल है, इसलिए आप कहते हैं–

'यह उचित होगा कि विदेशी भाषाओं में जो प्रसिद्ध पुस्तकें हैं, उनका अनुवाद हिन्दी में हो। यह मुझे बहुत आवश्यक मालूम होता है, अगर हम दुनिया की विचारधाराओं को समझना चाहते हैं।'

अभी हम अंग्रेजी से जिन पुस्तकों का अनुवाद करते हैं, उनका प्रचार बहुत कम होता है, क्योंकि ऐसी पुस्तकों को समझनेवाले अधिकतर अंग्रेजी पढ़े लोग ही हैं, और

वह हिन्दी अनुवाद न पढ़कर मूल अंग्रेजी पुस्तक पढ़ना ज्यादा पसंद करते हैं; पर योरोप की दूसरी भाषाओं के अनुवादों के विषय में यह बात न रहेगी, क्योंकि उन्हें मूल में पढ़ना गिने-गिनाए आदमियों के लिए ही सुलभ होगा।

हम आशा करते हैं कि हमारे पाठक इस प्रश्न पर विचार करेंगे, और वह सज्जन भी, जिनको भ्रम है कि हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने से प्रांतीय भाषाओं को हानि पहुंचेगी, प्रांतीय भाषाओं और हिन्दी के संबंध का वास्तविक रूप समझेंगे। यह काम भारतीय साहित्य संघ का होगा कि वह निश्चय करे कि प्रांतीय भाषाओं की कौन-कौन-सी पुस्तकें हिन्दी में लायी जाएं और उन्हें किस तरह संसार-साहित्य के सामने रखा जाए। हिन्दी को कोई अलग भाषा समझकर उससे उदासीन हो जाना प्रांतीय भाषा और साहित्य के लिए लाभप्रद तो न होगा, हां, राष्ट्र-साहित्य के लिए हानिकर अलबत्ता हो जाएगा।

[संपादकीय। 'हंस', नवंबर, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

राष्ट्रभाषा कैसे समृद्ध हो

हमें यह देखकर हर्ष होता है कि राष्ट्रभाषा से हमारे नेताओं की दिलचस्पी बढ़ती जा रही है। मद्रास में हिन्दी प्रचार सप्ताह के संबंध में जनाब मौलवी जमाल अहमद, श्री सी० वाई० चिंतामणि और अन्य महानुभावों ने जो भाषण दिए, उनमें राष्ट्रभाषा की उन्नति और प्रचार से पैदा होने वाली सांस्कृतिक एकता का महत्त्व सभी ने स्वीकार किया, मगर राष्ट्रपति श्री राजेन्द्र प्रसाद ने इस प्रश्न को दूसरी ही दृष्टि से देखा। आपने दक्षिण की एक सभा में भाषण देते हुए कहा कि राष्ट्रभाषा प्रचार से ही समृद्ध होगी। जब वह भिन्न-भिन्न प्रांतों में व्यवहार में आने लगेगी, तब उसमें नए-नए शब्द और मुहावरे दाखिल होंगे और उसका भंडार दिन-दिन बढ़ता जाएगा। हम उस भाषण का एक अंश यहां नकल करते हैं—

'My point of view is that Hindi authors and readers should be requested to give up their horror of un-Hindi idioms and uses The desire must be to absorb as many varieties of expression as are available to them Some of the articles appearing in this magazines, by their very nature, are untranslatable in Hindi except by a use of the local idioms In such articles such idioms have been retained with a view to make the language more effective. Hindi readers must develop catholicity of taste and an anxiety to secure enrichment of expression by an absorption of expressive idioms of other provinces

(मेरे विचार में हिन्दी लेखकों और पाठकों से यह निवेदन करना चाहिए कि वे हिन्दी मुहावरों और उनके व्यवहारों पर छाती पीटना छोड़ दें। उनकी इच्छा यह होनी चाहिए कि अभिव्यक्ति के जितने विभिन्न रूप मिल सकें उन्हें ग्रहण करें। इस मैगजीन के कई लेख कुछ इस ढंग के हैं कि उनका हिन्दी अनुवाद होना कठिन है, इसके सिवा कि स्थानीय मुहावरों का व्यवहार किया जाए। ऐसे लेखों में वह मुहावरे ज्यों-के-त्यों रहने दिए गए हैं जिससे भाषा ज्यादा सजीव हो जाए। हिन्दी पाठकों को अपनी रुचि में उदारता लानी चाहिए, और उन्हें यह आकांक्षा होनी चाहिए कि अन्य प्रांतों के अर्थपूर्ण मुहावरों से अपनी

भाषा को समृद्ध बनाए।)

सजीव भाषाएं हमेशा दूसरी भाषाओं से अपना कोष बढ़ाती रहती हैं। हमारे देखते-देखते हिन्दी में हजारों अंग्रेजी शब्द और मुहावरे आ मिले और मिलते जा रहे हैं। खुद अंग्रेजी भाषा संसारव्यापी होने के कारण विद्युत्गति से बढ़ रही है। संसार की ऐसी कोई भाषा नहीं, जिससे अंग्रेजी ने अपना भंडार न भरा हो। आज कोई अंग्रेजी लेखक अरब जीवन के दृश्य दिखाना चाहे, तो उसे उपयुक्त शब्दों की कमी न होगी। मंगोलिया और ब्राजील, अरब और अफ्रीका, सभी से अंग्रेजी का संपर्क है और उन देशों का वृत्तांत लिखते समय अंग्रेज लेखकों को वहां के शब्दों और मुहावरों से काम लेना पड़ता है। इससे प्रचार द्वारा अंग्रेजी भाषा दिन-दिन धनवान् होती जाती है। हिन्दी का क्षेत्र भारत की अन्य भाषाओं से बड़ा है। लेकिन जब वह राष्ट्रभाषा बन रही है तो उसे सभी प्रांतीय भाषाओं से मदद लेनी पड़ेगी। हां, इसका ध्यान रखना पड़ेगा कि अपना कोष बढ़ाने की धुन में वह अपना रूप ही न खो बैठे। हैदराबाद में जिस हिन्दुस्तानी भाषा का व्यवहार होता है, वह हिन्दुस्तानी का बिगडा हुआ रूप है, और हम उसे हिन्दुस्तानी न कहकर दक्खिनी कहने के लिए मजबूर हैं। अगर हिन्दी की भी वही गति हुई, तो वह दक्खिनी हिन्दी हो जाएगी। हिन्दी के मौलिक रूप को कायम रखते हुए हम उसे जितना समृद्ध बना सकें, उतना ही अच्छा। जिस हिन्दी का बंबई और पूना और मैसूर और मद्रास, ढाका या उड़ीसा में अहिन्दी भाषी जनता द्वारा व्यवहार होता है, अगर कहीं वही हिन्दी लिखने में भी आने लगी, तो हिन्दी का अंत ही हो जाएगा। जिस तरह भिन्न-भिन्न देशों में व्यवहृत होने पर भी अंग्रेजी की एक मर्यादा है, जिससे कोई बाहर जाने का साहस नहीं कर सकता, उसी तरह हिन्दी की भी एक मर्यादा है, और उसका चाहे कितना ही विस्तार हो, उसकी इस मर्यादा की रक्षा होनी आवश्यक है।

[संपादकीय। 'हंस', नवम्बर, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

स्वर्गीय मौलाना हाली की शताब्दी-जयंती

स्वर्गीय मौलाना हाली (ख्वाजा अलताफ हुसेन) उर्दू साहित्य के युग-प्रवर्तकों में हैं और गत सप्ताह उनके जन्म स्थान पानीपत में उनकी जयंती जिस समारोह से मनाई गई, वह उनकी शान के सर्वथा योग्य थी। सभापति के आसन को हिज हाइनेस नवाब साहब भोपाल ने सुशोभित किया था और भारत के प्रत्येक प्रांत से भक्तों ने आकर अपनी श्रद्धांजलि उनकी स्मृति में भेंट की। उनमें नवाब भी थे, रईस भी थे, साहित्य के उपासक भी थे। अलीगढ़ और उसमानिया विश्वविद्यालयों ने भी अपने प्रतिनिधि भेजे थे। निजाम हैदराबाद का प्रतिनिधि भी आया था। पानीपत में एक हाली मुसलिम हाईस्कूल है। एक कन्या पाठशाला खोलने का निश्चय भी किया और नवाब साहब भोपाल ने बीस हजार रुपये प्रदान किए। अन्य सज्जनों ने भी दस हजार चंदा दिया।

मौलाना हाली उर्दू साहित्य में नवयुग के प्रवर्तक हैं। उर्दू शायरी को अलंकारों और कृत्रिम भावों और विरह के पचड़ों से मुक्त करके उसमें जागृति पैदा करने वाली भावनाएं

भरीं। आपका 'मुसद्दस' उर्दू साहित्य का सबसे प्रसिद्ध काव्य-ग्रंथ है, जिसमें मौलाना हाली ने मुसलिम राष्ट्र के उत्थान और पतन का वृत्तांत ओज और प्रसाद से भरी हुई शैली में बयान किया है। पहले आप गजलें कहते थे, पर उसे व्यर्थ समझकर छोड़ दिया। गद्य साहित्य में भी आपका स्थान उतना ही ऊंचा है। आपने सर सैयद अहमद का जीवन-चरित्र 'हयाते जावेद' (अमर जीवन) के नाम से लिखकर उर्दू में विचारात्मक जीवन-चरित्रों की बुनियाद डाली। उर्दू-साहित्य में आलोचना के जन्मदाता भी मौलाना हाली ही हैं। आपकी शैली गंभीर, विचारपूर्ण होती है और कठिन-से-कठिन विषय की भी आप ऐसी व्याख्या करते हैं कि वह सुगम हो जाता है। साहित्यिक, नैतिक और दार्शनिक विषयों पर आपने कितने ही निबंध लिखे, जो उर्दू साहित्य का गौरव बढ़ाते हैं। मौलाना हाली सर सैयद अहमद के घनिष्ठ मित्रों में थे और अलीगढ़ यूनिवर्सिटी की स्थापना में उनका पूर्ण सहयोग था। हम भी आपकी स्मृति में अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करते हैं। कौम ऐसे ही कवियों और विचारकों से बनती है और हमें यह देखकर गर्व होता है कि उर्दू के भक्त अपने महारथियों का सम्मान करने में किसी से पीछे नहीं हैं। खुशी की बात है, कि इस समारोह में हिन्दू साहित्यकार भी शरीक हुए थे। साहित्य एक ऐसा क्षेत्र है, जहां पंथिक भेद-भाव के लिए स्थान नहीं।

[संपादकीय। 'हंस', नवम्बर, 1935 में प्रकशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

हिन्दुस्तान एसोसिएशन (अमेरिका)

यह संस्था अमेरिका में लगभग 20 साल से कायम है, और वहां के भारतीय निवासियों की हर तरह सेवा करती है। उसके सदस्यों में अमेरिका और भारत के कितने ही विशिष्ट व्यक्ति शामिल हैं। उसके जलसे माहवार होते हैं, जिनमें हिन्दुस्तानी ढंग की दावत होती है और हिन्दुस्तान के विषय में विद्वानों द्वारा भाषण दिलाए जाते हैं। भारत से जो छात्र विद्योपार्जन के लिए अमेरिका जाते हैं, उन्हें यह संस्था यथासाध्य सहायता देती है, और जो लोग जाने के इच्छुक हैं, उन्हें उचित सलाह और प्रोत्साहन प्रदान करती है। उसकी उपयोगिता का अंदाज़ इसी से किया जा सकता है कि गत जुलाई और अगस्त में उसके द्वारा महत्त्वपूर्ण विषयों पर चार विद्वानों के भाषण हुए। उस पर तारीफ की बात यह है कि यह संस्था स्वावलंबी है और कभी-कभी भारत को आर्थिक सहायता भी देती है। इसी साल क्वेटा के भूकंप-पीड़ितों के लिए उसने रिलीफ-फण्ड में कुछ धन भेजा था। ऐसी उपयोगी संस्था के निःस्वार्थ देश-प्रेम की जितनी सराहना की जाए, कम है। जो सज्जन अमेरिका जाना चाहते हों, वे इस संस्था के मंत्री से नीचे के पते पर पत्र-व्यवहार कर सकते हैं—

International House,
500, River side Drive
New York city
U S A

[संपादकीय। 'हंस', नवम्बर, 1935 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

बंबई का दूसरा मराठी साहित्य-सम्मेलन

बंबई से 'हंस' के संपादकीय विभाग के प्रधान श्री हृषीकेश शर्मा ने मराठी साहित्य-सम्मेलन का वृत्तांत लिखा है। उसे हम प्रकाशित करते हैं–

''इसी नवम्बर महीने में बंबई-नगर-निवासी मराठी साहित्य-प्रेमियों और सेवकों का एक सुंदर सम्मेलन दादर हाईस्कूल के विशाल प्रांगण में एक भव्य मंडप में बड़े समारोह के साथ हो गया। उस दिन, उस समारोह में, कोई हजार प्रतिनिधियों का जोश, साहित्यिक अनुशासन और प्रबल प्रेरणा देखने में आई। उसका भारत की राष्ट्र-भाषा हिन्दी के साहित्य-सम्मेलन के पिछले अधिवेशनों में अभाव देखकर हृदय को दुख होता था। मराठी के तरुण-तरुणी, किशोर-किशोरी और वृद्ध नर-नारी अपनी प्यारी मातृभाषा के प्रांगण में समभाव से, ऊंच-नीच का भेदभाव भूलकर एकत्रित हुए थे। इस सम्मेलन में किसी तरह की दलबंदी न थी और न स्वार्थ का संगठन। न 'तू-तू मैं-मैं' थी और न कोई कानाफूसी। प्रतिनिधियों और प्रेक्षकों में ऐसा उत्साह और अनुराग उमड़ पड़ा था, जैसे वे किसी गरम-से-गरम राजनैतिक कान्फ्रेंस में शरीक होने आए हैं। सभी के दिल साहित्यिक स्फूर्ति, साहित्यिक सौजन्य और साहित्यिक सेवा-भाव से उमड़े हुए थे। साहित्यिक बुजुर्ग तरुणों की साहित्यिक तरुणाई पर फूले न समाते थे, और तरुण अपने साहित्यिक बुजुर्गों के प्रति श्रद्धा-भाव में उच्छृंखलता न आने देते थे। वयोवृद्ध श्री भास्कर राव जी जाधव स्वागताध्यक्ष थे और महाराष्ट्र के तरुण साहित्यकार श्री खाण्डेकर ने सम्मेलन के अध्यक्ष का आसन सुशोभित किया था। स्वागताध्यक्ष ने अपने संक्षिप्त भाषण में सीधी-सादी भाषा और चुभने वाली शैली में सबका स्वागत करते हुए कहा था–

''साहित्य को जीवन के विविध प्रवाहों से बल मिले, इसके लिए वास्तविकता का ध्यान रखकर लेखकों और कवियों को साहित्य का सृजन करना चाहिए। सिर्फ़ रोमाण्टिक स्वप्नों के देखने से साहित्य की समृद्धि नहीं होती, और न उनका निर्मित साहित्य लोकप्रिय होता है।''

सम्मेलन के अध्यक्ष खाण्डेकर नवयुवक हैं। एक कस्बे के हाईस्कूल के साधारण शिक्षक होते हुए भी महाराष्ट्र में उनकी एक असाधारण प्रतिभाशाली श्रेष्ठ साहित्यकार के रूप में पूजा होती है। आरंभ में वह कवि होकर मराठी कविता के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए और अच्छी तरह चमक कर उसे छोड़, शीघ्र ही सफल समालोचक, नाटककार, उपन्यास और कहानी-लेखक के रूप में अपने साहित्य-सभागण में सबके सामने तेजस्विता और स्वतंत्रतापूर्वक आए। इस समय खाण्डेकर मराठी के श्रेष्ठ उपन्यासकार और गल्प-शिल्पी माने जाते हैं। उनकी कलम ने समाज के दलित और पीड़ित मानव-जीवन को हूबहू चित्रित करने में कमाल हासिल किया है। जिस समीक्षक पाठक को खाण्डेकर जी के 'उल्का', 'हृदयाची हाक', 'कांचन मृग', दोन ध्रुव'–इन उपन्यासों के पढ़ने का सौभाग्य मिल चुका है, वह उनकी कलामय कृति का 'नीर-क्षीर विवेक' कर उन्हें 'सर्वश्रेष्ठ' कहने में कभी न हिचकेगा। अपने 'अध्यक्षीय भाषण' में मराठी-साहित्य को उन्नति के उच्च शिखर पर बैठा हुआ देखने की अभिलाषा से असंतोषी खाण्डेकर कहते हैं–''मराठी साहित्य अब तक समृद्धि के शिखर पर नहीं पहुंच पाया है। साहित्य-क्षेत्र में आज अनेक साहित्यिक

सैनिक जमा हो रहे हैं, फिर भी क्यों उसकी समृद्धि सर्वतोमुखी नहीं हो रही है?" इस प्रश्न का उत्तर भी हिन्दी-लेखक, खाण्डेकर जी के अनुभूत शब्दों में हृदयंगम कर लें—"इन उदीयमान सैनिकों को अपने पापी पेट के गहरे गढ़े को भरने के लिए भूख की चिंता जला रही है। अकेले साहित्य-सेवा पर जीवन-निर्वाह असंभव हो रहा है, इसलिए पेट भरने के लिए लेखकों को जीविका का कोई दूसरा ही सहारा पकड़ना पड़ता है। सत्यं-शिवं-सुंदरम् जैसे साहित्य के सृजन के लिए स्वास्थ्य और मानसिक निश्चिन्तता न होने से कोई उत्तम कृति मुरझाई हुई उंगलियों और कुम्हलाए हुए होंठों से बाहर नहीं निकलती, अगर यह चाहते हो कि ओजस्वी पराक्रमी साहित्य का निर्माण हो, तो सबसे पहले साहित्यकार के उर की धधकती चिंता-चिता को शांत करो।" वे अपने भाषण में एक जगह कहते हैं—"साहित्य की सृष्टि आदर्श और समस्याओं से होती है।"

इस सम्मेलन की दो दिन की सारी कार्रवाई में साहित्य, संगीत और कला का सुंदर सम्मिलन था। कई महत्त्व के और मतलब के प्रस्ताव भी स्वीकृत हुए थे, जिनमें से महाराष्ट्र-विश्वविद्यालय की स्थापना-संबंधी, बंबई-सरकार के ओरियंटल अनुवाद-विभाग में पड़ी हुई हज़ारों मराठी पुस्तकों को बंबई के मराठी सार्वजनिक पुस्तकालय को सौंप देने की सरकार शीघ्र व्यवस्था करे, इत्यादि प्रस्ताव भी थे। एक अत्यंत आवश्यक प्रस्ताव इस आशय का भी था—यदि महाराष्ट्रीय हरिजन भाई डॉ॰ अम्बेडकर साहब के कहने में आकर अपना धर्म तजना चाहें, तो भले ही उनकी इच्छा, परंतु वे अपनी प्यारी मातृभाषा मराठी को कभी न तजें।

[संपादकीय। 'हंस', दिसंबर, 1935 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य', खण्ड-2 में संकलित।]

सरहदी सूबे में हिन्दी और गुरुमुखी का बहिष्कार

नए शासन विधान में किस तरह का स्वराज्य और प्राविंसल अटानोमी मिलने वाली है, उसका नमूना हमारी सरहदी सरकार ने दिखा दिया। उसे इसकी बिल्कुल परवाह नहीं, कि सभ्य संसार में अल्प-मत वालों के कुछ हक मान लिए गए हैं और उसमें भाषा, धर्म और संस्कृति की रक्षा का मुख्य स्थान है, मगर सभ्य संसार से उसे क्या मतलब? उसे तो स्वराज्य मिला है और वह एक नई नीति, नए विधान का आविष्कार करेगी और दुनिया को दिखा देगी कि बहुमत अपने अल्प-मत वालों के साथ कितनी उदारता का बर्ताव करता है और इसलिए उसे क्यों न डोमिनियन स्टेट्स मिले। हमारा ख्याल है, अगर अल्पमत और बहुमत में इस तरह के व्यहार का सरकार को विश्वास दिला दिया जाए, तो वह डोमिनियन स्टेट् नहीं, पूर्ण स्वराज्य भी बड़ी खुशी दे देगी।

सरहदी सूबे के शिक्षा मंत्री एक मुसलमान सज्जन हैं, जिनकी नीतिज्ञता और दक्षता की हम बहुत प्रशंसा सुन चुके हैं, सरकार के शुभचिंतको में उनका ऊंचा स्थान है। मिनिस्ट्री के लिए अभी तक तो जिस लियाकत की सबसे ज्यादा जरूरत समझी गई है, वह यही है, अगर शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर कोई योरोपियन साहब होते, तब तो मिनिस्टर साहब के सर से सारी जिम्मेदारी उठ जाती। कौन नहीं जानता कि बेचारा

मिनिस्टर महज काठ की पुतली है और उसकी रस्सी दूसरों के हाथ में होती है, अगर वह जरा भी अपनी सजीवता का परिचय दे, तो उसे मिनिस्ट्री की गद्दी छोड़ना पड़े और ऐसे साहसी तो बिरले ही होते हैं, जो सिद्धांत के लिए स्वार्थ का त्याग कर सकें, इसलिए अगर डाइरेक्टर कोई अंग्रेज सज्जन होते, तो हम मिनिस्टर साहब को दया का पात्र समझकर चुप हो जाते, लेकिन जब हम देखते हैं कि आजकल शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर एक मुसलमान सज्जन हैं, और हिन्दी तथा गुरुमुखी के बहिष्कार का सरकुलर उनकी शुभ कीर्ति है, तो यही नहीं कि मिनिस्टर इस जिम्मेदारी से नहीं बचते, बल्कि सारी जिम्मेदारी उन्हीं पर आ जाती है। यह तो हमारी समझ में खूब आता है कि हिन्दुस्तानी मिनिस्टर एक योरोपियन डाइरेक्टर के सामने चूं नहीं कर सकता, और चूं करे तो उसकी खैरियत नहीं, लेकिन यह हमारी समझ में नहीं आता कि हिन्दुस्तानी मिनिस्टर हिन्दुस्तानी डाइरेक्टर के सामने भी चूं नहीं कर सकता? अपनी इच्छा के विरुद्ध हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि यह बहिष्कार दोनों सज्जनों के संयुक्त विचार का फल है, मगर जिम्मेदारी मिनिस्टर साहब के सिर है, क्योंकि वह इस पद पर इसलिए हैं कि प्रजा के हकों की रक्षा करें, विशेषकर अल्पमत के। बहुमत अपनी रक्षा आप कर सकता है, मगर यहां हम यह देखते हैं कि जो अल्पमत का रक्षक समझा जाता था, वही उसका भक्षक हो रहा है, और इससे भी ज्यादा शोक और लज्जा की बात यह है कि वह लोग भी मौन हैं, जिन्हें इस विषय में अल्पमत की ओर से लड़ना चाहिए था। हमारे मुसलिम लीडरों में- जहां तक हम मालूम है—अभी तक किसी ने भी इस अन्यायपूर्ण, अपमानजनक, अराष्ट्रीय, संकीर्ण नीति के खिलाफ आवाज नहीं उठाई। इसका अर्थ इसके सिवा और क्या हो सकता है कि मिनिस्टर साहब ने जो नीति प्रचलित की है, उसे पसंद किया जा रहा है, या कम-से-कम उसे इतना महत्त्व नहीं दिया जाता कि उस पर न्याय-पक्ष से कुछ कहा या लिखा जाए। मुसलमानों ने अन्य जातियों पर सदियों तक जिस निष्पक्षता और न्याय के साथ शासन किया, उसका इतिहास में कोई जवाब नहीं मिलता। और आज उसी जाति का एक व्यक्ति प्रजा के माने हुए अधिकार छीने लेता है, और उसी जाति के नेता शांति से बैठे हैं।

और यह चिनगारी उस वक्त फेंकी गई है, जब द्वेष, विश्वास और विरोध की बारूद चारों तरफ फैली हुई है और देशव्यापी विस्फोट का भय है। एक तरफ तो यह प्रयत्न किया जा रहा है कि हिन्दी और उर्दू में एकरूपता पैदा कर उनमें जो भेद है उनको मिटा दिया जाय और उनमें ऐसा समन्वय कर दिया जाय कि वे यथार्थ में देश की राष्ट्रभाषा बन जाएं। दूसरी ओर इस खाई को और चौड़ा करने का प्रयत्न किया जा रहा है। क्या हम दूसरे प्रांतों के मुसलमान मित्रों से यह याचना नहीं कर सकते कि 'दूसरों के साथ वही व्यवहार करो, जो तुम चाहते हो कि वे तुम्हारे साथ करें,' के सुनहले सिद्धांत के अनुसार वे इस अवसर पर सरहदी सूबे के अल्पमतों के हकों की हिमायत करें? गोलमेज सभा में मुसलिम अल्पमत ने यह बिलकुल जायज मांग पेश की थी और वह एक स्वर से स्वीकार कर ली गई थी कि उनके धर्म, भाषा और संस्कृति की रक्षा, विधान की मौलिक धाराओं द्वारा कर दी जाए, जिसमें बहुमत की ओर से उन्हें किसी प्रकार का भय न रहे। ऐसे प्रतिबंध हरएक जनसत्तात्मक विधान

के मुख्य स्तंभ हैं, जो सभ्य संसार में सर्वमान्य समझे जाते हैं, मगर सरहदी सूबे में वही मुसलिम बहुमत हिन्दू और सिक्ख अल्पमत के सांस्कृतिक स्वत्वों पर धावा कर रहा है, कितने आश्चर्य की बात है। मनोवृत्तियां बदलती रहती हैं, यह हम मानते हैं, लेकिन इतनी नहीं कि अल्पमत में कुछ और हो और बहुमत में बिल्कुल उसके विरुद्ध। क्या सरहदी सूबे के मुसलिम बहुमत ने इस पक्षपातपूर्ण नीति से यह साबित नहीं कर दिया कि हिन्दू-सभा को वहां आईनी शासन की स्थापना से जो विरोध था, वह सर्वथा साधार था। और जब इस दशा में कि अधिकार बहुत ही थोड़े मिले हैं, बहुमत इतनी दस्तंदाजी कर रहा है तो उस वक्त अल्पमत की क्या गति होगी, जब अधिकारों का क्षेत्र बढ़ जायगा? दो साल पहले हिन्दी के हिमायतियों ने पंजाब सरकार से यह बिलकुल जायज मुतालबा किया था कि पत्रों पर हिन्दी में पते लिखे जाने का जो निषेध है, वह उठा लिया जाय और हिन्दी पत्र नष्ट न किए जाया करें, क्योंकि वहां हिन्दुओं की एक बड़ी संख्या हिन्दी में ही पत्र-व्यवहार करती है, तो इस पर चारों तरफ बावेला मच गया था, कि उर्दू को मिटाया जा रहा है, उसकी जड़ खोदी जा रही है। हालांकि मुतालबा सर्वथा निरापद और निरीह था। कुछ हिन्दी सिरनामों से उर्दू के प्रचार या विकास में कोई बाधा न पड़ सकती थी। आज सारे देश में उर्दू सिरनामे लिखे जाने लगें, तो उससे उर्दू को कोई बडा फैज न पहुंच जाएगा और न हिन्दी पते लिख जाने से हिन्दी ही मालामाल हुई जाती है। केवल उन हिन्दी-प्रेमियों के मनोभावों के आदर का प्रश्न था जो दुर्भाग्यवश उर्दू नहीं पढ़ सके। वह मांग ठुकरा दी गई, हालांकि हिन्दी-प्रेमियों की संख्या पंजाब में बीस फीसदी से कम न होगी, लेकिन वही लोग, जिन्होंने हिन्दी का यहां विरोध किया, यह हर्गिज न बर्दाश्त करेंगे, कि दक्षिण-भारत में जहां मुसलमानों की तादाद शायद दस फीसदी से ज्यादा न होगी, उर्दू सिरनामे वाले पत्र फाड़कर फेंक दिए जाएं और बर्दाश्त करना भी नहीं चाहिए। उर्दू केवल प्रांतीय-भाषा नहीं है, मगर उसी तरह हिन्दी केवल प्रांतीय भाषा नहीं है, और उनमें से किसी एक को भी मिटाया नहीं जा सकता। उनकी उन्नति पृथक् रहकर भी सहयोग में है। दोनों को अपने-अपने विकास और फैलाव और संपन्नता का समान अवसर मिलना चाहिए। क्या उर्दू-प्रेमियों में कल्पना का इतना अभाव है, कि वह खुद जिस हक पर जान देते हैं, वही दूसरों से छीन लेना चाहते हैं और दु:ख और निराशा और मनस्ताप की कल्पना नहीं कर सकते, जो ऐसी दशा में उन्हें खुद होता? यह तो बिल्कुल अंग्रेजी रीति है, कि जो चीज इंग्लैंड के लिए सुधा समझी जाए, वह हिन्दुस्तान के लिए विष।

जरा उस उद्देश्य पर विचार करना चाहिए, जिसे पूरा करने के लिए नीति का आविष्कार किया गया है। सरहदी सूबा अपने बालकों और बालिकाओं को प्रांत की व्यापक भाषा में शिक्षा देना चाहता है, जिससे वह हिन्दुस्तान में अपना उचित स्थान प्राप्त कर सकें और इसके लिए भिन्न-भिन्न भाषाओं में शिक्षा देना अहितकर है। सरहदी सूबे में आम जबान उर्दू है, इसलिए सबको उर्दू में ही शिक्षा मिलनी चाहिए और अंग्रेजी का तो प्रभुत्व है ही, अगर हरेक प्रांत इसी नीति का अनुसरण करने लगे, तो देश में हाहाकार मच जाए। हिन्दुस्तान के अक्सर सूबों में उर्दू जानने वालों की संख्या नगण्य है, फिर भी उर्दू पढ़ाने का सभी जगह काफी इंतजाम है और होना चाहिए। बिहार में तो जहां कहीं छ: लड़के भी उर्दू के पढ़ने

के इच्छुक हों, तो वहां उनके लिए शिक्षा का प्रबंध हो सकता है। हम यह मानते हैं कि बाज हालतों में अल्पमत को बहुमत में मिला देने के लिए और इस प्रकार आपस में भेदभाव की जड़ काट डालने से विचार के जबरन ऐसी नीति का आश्रय लेना पड़ता है, लेकिन यह उसी हालत में मुमकिन है, जब अल्पमत के पास अपनी कोई भाषा, कोई साहित्य या संस्कृति न हो। सरहदी प्रांत के हिन्दू इस श्रेणी में नहीं आ सकते। उनके पास वह सब-कुछ काफी मौजूद है, जिससे उनकी पृथक् सामाजिक सत्ता मानी जानी चाहिए। कई बातों में तो वे बहुमत से बढ़े हुए हैं। शिक्षा ही को ले लीजिए। सूबे-भर के इकत्तीस मिडिल स्कूलों में उन्नीस हिन्दुओं और सिक्खों के प्रबंध में हैं। हिन्दू लड़कियों की संख्या मुसलिम बालिकाओं से कहीं ज्यादा है। मिडिल की परीक्षा में छः-सात उर्दू लड़कियों के मुकाबले में हिन्दू और सिक्ख कन्याओं की संख्या एक सौ उनसठ थी। हिन्दू सरकार को इनकमटैक्स भी अपनी संख्या के अनुपात से कहीं ज्यादा अदा करते हैं। ऐसी हालत में उन्हें बहुमत में मिला लेने की कोई कोशिश बेकार है, उसी तरह जैसे हिन्दू बहुमत मुसलमानों को अपने में पचा लेना चाहे, तो यह उसकी हिमाकत होगी, यद्यपि हम विशेषाधिकारों के पक्ष में नहीं हैं, लेकिन जिस नीति पर आजकल भारत चल रहा है, उसके लिहाज से तो सदहदी सूबे के हिन्दुओं और सिक्खों को विशेषाधिकार मिलने चाहिए।

इन सारी परिस्थितियों पर विचार करके हम इसी नतीजे पर पहुंचते हैं कि इस नई नीति की प्रेरणा चाहे और जिन कारणों से हुई हो, राष्ट्रहित की सद्भावना उसमें नहीं है। आर्थिक दृष्टि से बेशक इस नीति के लिए एक उज्र पेश किया जा सकता है, मगर जबकि सरहद की हिन्दी जनता सूबे का विशिष्ट अंग है तो उसके स्वत्वों को किसी आर्थिक नीति पर होम नहीं किया जाना चाहिए। यह कहना कि यह कदम नेकनीयत से उठाया गया है, किसी को धोख में नहीं डाल सकता।

हमारी दशा कितने उपहास, कितनी लज्जा और कितनी दया के योग्य है। हम थोड़ा-सा अधिकार पाकर भी उसका सदुपयोग नहीं कर सकते। वही हम जो दूसरों के पैरों के नीचे पड़े सिसक रहे हैं, अपनी तंगदिली, और अपनी अदूरदर्शिता से उन लोगों को कुचलने से बाज नहीं आते, जिन पर हमारा काबू है। जब तक हम इस मनोवृत्ति से अपने को मुक्त न कर लेंगे और हममें एक-दूसरे के प्रति सद्भावना न जागेगी, हमें चाहे स्वराज मिले, चाहे स्वर्ग, हमें गुलामी से निजात न मिलेगी। हमारे भाग्य के विधाता हमारी इस नोच-खसोट पर जितने खुश हों और उछलें और कूदें और शादियाने बजाएं वह कम है। काश, हम उनका वह संभाषण सुन सकते, जो प्यालों के दौर के साथ क्लब में हमारी इन कृतियों पर होते हैं। क्या हम आशा करें कि सरहद का शिक्षा-विभाग अपनी गलती तसलीम करेगी, जो महानता का सबसे बड़ा प्रमाण है और इस पालसी को जमीन के अंदर दफन कर देगा? मुसलिम नेताओं से भी हमारी यही प्रार्थना है कि वे अपने प्रभाव और अपनी उदारता और राष्ट्र-हित-कामना से काम लेकर कौम को इस अनर्थ से बचाएं।

[संपादकीय। 'हंस', दिसंबर, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

हिन्दी लेखक संघ का एक वर्ष

हिन्दी लेखक संघ के जीवन का एक वर्ष पूरा हो गया। उसके मुखपत्र 'लेखक' के जीवन के भी छ: महीने समाप्त हुए और अब समय आ गया है कि हम उसके कार्य की आलोचना करें। लेखक संघ की हिन्दी में जरूरत है, इसमें तो शायद अब किसी को संदेह न हो। उसके उद्देश्य ऊंचे हैं, कार्य-क्षेत्र विस्तृत है और इतने थोड़े समय में उसने जो कुछ किया, उस पर उसके इने-गिने कार्यकर्ताओं को हम बधाई दे सकते हैं। अभी तक उसकी शक्ति केवल संगठन और 'लेखक' के प्रकाशन की ओर ही रही है। उसके साहित्यिक और सांस्कृतिक अंग की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया। सदस्यों की हमें जरूरत है, मगर यदि हरेक पाठक 'लेखक' का ग्राहक बनकर लेखक संघ में प्रविष्ट हो जाए तो संघ में और साधारण पत्रों में अंतर ही क्या रहता है। संघ तो केवल लेखकों की संस्था होनी चाहिए और उसके पास ऐसे साधन होने चाहिए, जिनसे वह लेखकों में आदान-प्रदान का, साहित्य और संस्कृति की समस्याओं पर प्रकाश डालने का, लेखकों में परस्पर मैत्री और सद्भाव पैदा करने का उद्योग कर सके। इन कामों के लिए धन और व्यक्तियों के सहयोग, दोनों ही की जरूरत है।

संघ के पास कानी कौड़ी भी नहीं। मेंबरों से जो चंदा मिलता है, वह 'लेखक' के प्रकाशन के लिए भी काफी नहीं होता। यही कारण है कि संघ के कार्यकर्ताओं की सारी शक्ति अपनी हस्ती बनाए रखने में ही खर्च हो रही है। 'लेखक' के गत छ: अंकों को देखकर हम यह कह सकते हैं कि उसने भाव लेखकों को बहुत उपयोगी सामग्री दी है। प्रत्येक संख्या में ऐसी अनेक बातें रहती हैं, जो लेखकों के लिए जरूरी हैं और संपादकों ने उसे उपयोगी बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। जो कमी खटकती है, वह यह है कि उसका आलोचनात्मक अंग बहुत कमजोर है, हालांकि इस पत्र में उस पर खास जोर दिया जाना चाहिए। संघ के सदस्यों में आलोचकों की कमी नहीं है। ऐसा प्रयत्न होना चाहिए कि संघ आलोचकों की एक गोष्ठी बनाकर छपनेवाली पुस्तकों पर उनकी निष्पक्ष सम्मति प्रकाशित किया करे। इससे लेखकों का हित भी होगा और साहित्य का भी। हम 'हंस' के पाठकों से अनुराध करते हैं कि वे 'लेखक' के ग्राहक बनें। जो युवक हैं वह सीखने के लिए बनें, जो वयोवृद्ध हैं वे सिखाने के लिए बनें। उनकी जिम्मेदारी अपनी कृतियां रचकर ही नहीं समाप्त हो जाती बल्कि आनेवालों का मार्ग-प्रदर्शन का भार भी उन्हीं पर है।

[संपादकीय। 'हस', दिसंबर, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

हिन्दुस्तान की कौमी जबान

कानपुर के सहयोगी 'ज़माना',, में मि० सलीम जाफर ने उक्त विषय पर एक साहसपूर्ण लेख लिखते हुए अंत में कहा है–

''अगर एक जबान का पैदा करना जरूरी है तो और नहीं तो हिंदू और मुसलमान

इसी पर रजामंद हो जाएं कि दोनों अपने-अपने बच्चों को हिन्दी और उर्दू दोनों जबानें मदरसों में पढ़ाएंगे और जो महत्त्व आज अंग्रेजी को हासिल है, उसकी जड़ काट देंगे, दफ्तरों की जबान बदलवा देंगे, अदालतों में फैसले मुल्की जबानों में लिखे जाएंगे और वकील मुल्की जबानों में बहस करेंगे, क्योंकि इन बातों के बगैर अंग्रेजी के प्रभुत्व पर आंच नहीं आ सकती।"

हिन्दू तो आज भी लाखों की संख्या में उर्दू पढ़ते हैं, लिखते हैं और उसको अपनी मातृभाषा समझते हैं। मुसलमानों ने शुरू में हिन्दी को अपनाया था, मगर अब वे हिन्दी का अक्षर देखना भी गुनाह समझते हैं। क्या हमारे मुसलमान दोस्त इस बात पर राजी होंगे कि हिन्दी हाई स्कूल तक लाजिमी करार दे दी जाए। हमारा यकीन है हिन्दुओं को हाई स्कूल तक उर्दू के लाजिमी बनाये जाने में एतराज न होगा। अगर दोनों जबानें हाईस्कूल तक लाजिमी हो जाएं तो दोनों जबानों का विकास इस ढंग से होगा कि वे दिन-दिन एक दूसरे के समीप आती जाएंगी और एक दिन दोनों भाषाएं एक हो जाएंगी। अगर मुसलमान इसे मंजूर कर लें, तो मुल्की जबान भी यही हो जाएगी, फैसले भी इसी जबान में लिखे जाएंगे और वकील भी इसी जबान में बहस करेंगे। जब तक दोनों भाषाओं को समीप न लाया जाएगा, अंग्रेजी का प्रभुत्व बना रहेगा।

[संपादकीय। 'हंस', दिसंबर, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

हिन्दुस्तानी एकाडमी का सालाना जलसा

हिन्दुस्तानी एकाडमी प्रयाग का सालाना जलसा जनवरी के पहले सप्ताह में होना निश्चित हुआ है। इस अवसर पर प्रांत के सुलेखक और विद्वान् एकत्र होकर साहित्य और संस्कृति के अनेक विषयों पर भाषण करेंगे और लेख पढ़ेंगे। एकाडमी ने अबकी उर्दू विभाग की सदारत के लिए दक्षिण के वयोवृद्ध, अनुभवी और कर्मयोगी मौलाना अब्दुलहक को निमंत्रित किया है। हिन्दी विभाग के सभापति माननीय डॉ॰ गंगानाथ झा होंगे। बिहार के यशस्वी लेखक, राजनीति-विशारद और वक्ता श्री सच्चिदानन्दसिंह जलसे के सभापति चुने गए हैं। इस तरह एकाडमी ने अपनी अंतर-प्रांतीयता का परिचय दे दिया है। हमारे देश में साहित्य की प्रांतीय संस्थाएं तो अनेक हैं, पर अभी तक ऐसी कोई संस्था नहीं है, जो अंतर-प्रांतीय साहित्य-स्रष्टाओं को निमंत्रित करके आदान-प्रदान का संबंध पैदा करे। हिन्दुस्तानी भाषा भारतवर्ष की आम भाषा है, और हम एकाडमी से सविनय अनुरोध करते हैं कि वह इस अवसर पर अन्य प्रांतों के साहित्य-सेवियों को भी निमंत्रित किया करे। इससे यही नहीं कि एकाडमी का यह उत्सव ज्यादा आकर्षक हो जायगा, बल्कि हिन्दुस्तानी भाषा और साहित्य को प्रगति मिलेगी, हिन्दुस्तानी भाषा का प्रभाव बढ़ेगा, हमारा साहित्यिक दृष्टिकोण फैलेगा और हमारी अनुभूतियों का भंडार सम्पन्न होगा। साहित्य के ऐसे कितने ही प्रश्न हैं, जिन पर अभी तक हमने केवल व्यक्तिगत रूप से विचार किया

है। उन पर परस्पर के संभाषणों से प्रकाश पड़ेगा और हम अपनी भ्रांतियों का सुधार और अपनी धारणाओं की पुष्टि कर सकेंगे।

[संपादकीय। 'हंस', दिसंबर, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

पं० जवाहरलाल जी की निराशा

श्री पं० जवाहरलाल ने नवम्बर के 'विशाल भारत' में 'हमारा साहित्य' शीर्षक देकर एक बड़े मजे का साहित्य संबंधी नोट लिखा है। आपने 'विशाल भारत' के किसी लेख में कहीं पढ़ा था कि हिन्दी-साहित्य ने इन दिनों बहुत उन्नति कर ली है और उसमें शेक्सपियर और बर्नार्ड शॉ उत्पन्न हो गए हैं। आपने उस कथन पर विश्वास भी कर लिया और मित्रों से कुछ पुस्तकें मंगवाकर पढ़ भी डालीं, मगर जैसा कि होना चाहिए था, आपको निराशा हुई। आपको शायद यह संदेह हुआ कि आपके पास ऊंचे दर्जे की पुस्तकें नहीं भेजी गईं और आपने हिन्दी-संसार से अनुरोध किया कि वह गत तीस-पैंतीस वर्षों में लिखी गई प्रत्येक विषय की पुस्तकों की एक सूची बनाकर प्रकाशित करें, ताकि हिन्दी साहित्य के पारखियों को हिन्दी की प्रगति जांचने का अवसर मिले।

यह सूची तो शायद 'विशाल भारत' में छपे, या कोई दूसरे महानुभाव छपवाएं, उससे हमें यहां बहस नहीं, हमें तो यही आश्चर्य है कि पंडित जी ने कैसे यह विश्वास कर लिया कि हिन्दी में साहित्य ने इतनी उन्नति कर ली है। जब नवीन हिन्दी-साहित्य की उम्र ही अभी पच्चीस-तीस वर्ष से ज्यादा नहीं है और अभी तक वह केवल महिलाओं के पत्र-व्यवहार की ही भाषा बनी हुई है, जब पढ़े-लिखे लोग हिन्दी लिखना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं, जब हमारे नेता हिन्दी-साहित्य से प्राय: बेखबर-से हैं, जब हम लोग थोड़ी-सी अंग्रेजी लिखने की सामर्थ्य होते ही हिन्दी को तुच्छ और ग्रामीणों की भाषा समझने लगते हैं, तब यह कैसे आशा की जा सकती है कि हिन्दी में ऊंचे दर्जे के साहित्य का निर्माण हो।

एक तो पराधीनता यों ही हमारी प्रतिभा और विकास में चारों ओर से बाधक हो रही है, दूसरे हमारा शिक्षित समुदाय हिन्दी-साहित्य से कोई सरोकार नहीं रखना चाहता, तो साहित्य में प्रगति और स्फूर्ति कहां से आए? और जब जीवन के किसी क्षेत्र में हम योरोप में मुकाबला करने का दाव नहीं कर सकते—हमारे लेनिन और ट्राट्स्की और नीत्शे और हिटलर अभी अवतरित नहीं हुए—तो साहित्य में वह तेजस्विता कहां से आ जाएगी? योरोप या अमरीका में ऐसा शायद ही कोई शिक्षित व्यक्ति होगा, जो अपने राष्ट्र के साहित्य और संस्कृति से भली-भांति परिचित न हो। ट्राट्स्की ने तो क्रांतिकारी साहित्य के हर एक अंग की विशद आलोचना की है, खोटे-खरे की परख की है और कमोबेश सभी शिक्षितों के विषय में यह बात कही जा सकती है, मगर हिन्दी-भाषी शिक्षित समाज अपने साहित्य का तिरस्कार करने में ही अपना गौरव समझता है। जिस चीज का कोई पुछंतर नहीं, वह अगर नेहरू जी को निराश करती है तो कोई आश्चर्य नहीं। ऊंचा साहित्य तभी आएगा, जब प्रतिभा संपन्न लोग तपस्या की भावना लेकर साहित्य-क्षेत्र में आएंगे, जब

किसी अच्छी पुस्तक की रचना राष्ट्र के लिए गौरव की बात समझी जाएगी जब उसकी चाय की मेजों पर चर्चा होगी, जब उसके पात्रों के गुण-दोष पर शिक्षित मित्र-मंडलियों में आलोचनाएं होंगी, जब विद्वान लोग साहित्य में रस लेंगे। जिस साहित्य की उपेक्षा की जाती हो, जिस समाज में साहित्य की रुचि नहीं के बराबर हो, वहां जो कुछ हो रहा है वही गनीमत है। हमारे यहां वही साहित्य की सेवा करते हैं, जिन्हें कोई काम नहीं मिलता, या जो लोग केवल मनोविनोद के लिए कभी-कभी कुछ लिख-पढ़ लिया करते हैं। ऐसे अरसिक समाज में उच्चकोटि का साहित्य कयामत तक न आएगा।

[संपादकीय। 'हंस', जनवरी, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

प्रो० सिलवन लेवी का स्वर्गवास

फ्रांस के सुविख्यात आचार्य प्रो० सिलवन लेवी के स्वर्गवास से आर्य संस्कृति और दर्शन के ऐसे मर्मज्ञ का स्थान सूना हो गया, जो जल्द पूरा न हो सकेगा। आप पुरातत्व के प्रकांड पंडित थे और संस्कृत के भी पूरे विद्वान् थे। इसके साथ ही आप बड़े ही उदार, दयालु और सरल प्रकृति के मनुष्य थे, जो विद्वानों में बहुत कम पाई जाती है। पेरिस में भारतीय विद्यार्थियों को आप हर तरह की सहायता देते रहते थे। आप कुछ दिनों के लिए बोलपुर के शांति निकेतन में भी आकर रहे थे। आपने फ्रेंच भाषा में भारतीय संस्कृति, दर्शन और पुरातत्व पर कई प्रमाणिक ग्रंथ लिखे हैं। आपके बहुभाषाविद् होने का यह हाल था कि संसार की शायद ही ऐसी सुसंस्कृत भाषा हो, जिसका आपको ज्ञान न हो। आपका मृदु स्वभाव और युवकों के प्रति सरल स्नेह देखकर प्राचीन काल के आचार्यों की याद ताजी हो जाती थी। कितने ही छात्रों की वह धन से भी सहायता करते थे। मुसीबत और जुल्म के सताए हुए प्राणियों के लिए आपकी सहानुभूति सदैव कृपाशील रहती थी।

[संपादकीय। 'हंस', जनवरी, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

राष्ट्र-लिपि

राष्ट्र-लिपि समिति की सूचनाएं समय-समय पर पत्रों में छपती रहती हैं और उनसे पाठकों को उसकी प्रगति की जानकारी होती रहती है। 'हंस' के पिछले अंक में हमने श्री काका कालेलकर का इस विषय पर एक रचनात्मक लेख भी प्रकाशित किया था। दिसंबर की 'माधुरी' में इसी विषय पर श्री वेंकटराव ने एक महत्त्वपूर्ण लेख छपवाया है, जिसमें उन्होंने यह दिखाया है कि नागरी लिपि में थोड़े-बहुत परिवर्तन कर देने से ही राष्ट्र-लिपि का उद्देश्य पूरा न होगा। उसके लिए तो एक सर्वथा नई लिपि की जरूरत है, जो कम से कम समय में सीखी, लिखी और छापी जा सके। उन्होंने नागरी लिपि की जगए एक नई लिपि का आविष्कार भी किया है और कोई नई लिपि स्वीकार करने के विरुद्ध जो युक्तियां दी जा सकती हैं, उनका जवाब भी दिया है। इसमें कोई शक नहीं कि वेंकटराव जी का यह उद्योग तारीफ के लायक है, लेकिन जब हम देखते हैं कि नागरी लिपि में

थोड़े ही फेर-फार से वह बंगला, गुजराती, उड़िया, गुरुमुखी आदि लिपियों के निकट आ जाती है और इन प्रांतों में अगर छः-सात फीसदी आबादी भी साक्षर मान ली जाए, तो भी लगभग दो करोड़ आदमियों का प्रश्न आ जाता है, जिन्हें नई लिपि सीखनी पड़ेगी। चूंकि तमिल-तेलगू आदि का उद्गम भी ब्राह्मी लिपि है, इसलिए नागरी को हम ब्राह्मी लिपि के जितना ही समीप ले जाएं उतनी ही भारतीय लिपियों में निकटता आ जाएगी। इस विषय में कुछ विचार और प्रोपेगेंडा हो भी चुका है, और लिपि सुधार-समिति की कोशिशों से उसमें जो कच्चाइयां थीं, उनके दूर हो जाने की भी आशा है। ऐसी दशा में हम तो किसी नए आविष्कार का समर्थन नहीं कर सकते। हमें तो संपूर्ण राष्ट्र को अपने साथ ले चलना है। लिपि-सुधार-समिति ने संयुक्ताक्षरों के लिए कुछ नई व्यवस्था करके छापे की कठिनाइयां भी दूर करने की चेष्टा की है और श्री हरि जी गोविल से हमें यह जानकर बड़ा हर्ष हुआ कि वह जो नए टाइप बनवा रहे हैं, उनकी संख्या मौजूदा पांच सौ की जगह डेढ़ सौ से ज्यादा न होगी। इससे छापे में कितनी सुविधा हो जाएगी, और प्रकाशन में खर्च की कितनी किफायत हो जाएगी उसके साथ ही इन नए परिवर्तनों के लिए किसी शिक्षा की ज़रूरत नहीं। थोड़े से अभ्यास से हमारी आंखें उनके नए रूप से अभ्यस्त हो जाएंगी।

[संपादकीय। 'हंस', जनवरी, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

लंदन में भारतीय साहित्यकारों की एक नई संस्था

हमें यह जानकर सच्चा आनंद हुआ कि हमारे सुशिक्षित और विचारशील युवकों में भी साहित्य में एक नई स्फूर्ति और जागृति लाने की धुन पैदा हो गई है। लंदन में The Indian Progressive Writers Association की इसी उद्देश्य से बुनियाद डाल दी गई है और उसने जो अपना मैनिफेस्टो भेजा है, उसे देखकर यह आशा है कि अगर यह सभा अपने इस नए मार्ग पर जमी रही तो साहित्य में नवयुग का उदय होगा। उस मैनिफेस्टो का कुछ अंश हम यहां आशय रूप में देते हैं-

भारतीय समाज में बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे हैं। पुराने विचारों और विश्वासों की जड़ें हिलती जा रही हैं और एक नए समाज का जन्म हो रहा हैं। भारतीय साहित्यकारों का धर्म है कि वह भारतीय जीवन में पैदा होने वाली क्रांति को शब्द और रूप दें और राष्ट्र को उन्नति के मार्ग पर चलाने में सहायक हों। भारतीय साहित्य, पुरानी सभ्यता के नष्ट हो जाने के बाद से जीवन की यथार्थताओं से भागकर उपासना और भक्ति की शरण में जा छिपा है। नतीजा यह हुआ है कि वह निस्तेज और निष्प्राण हो गया है, रूप में भी, अर्थ में भी। और आज हमारे साहित्य में भक्ति और वैराग्य की भरमार हो गई है। भावुकता ही का प्रदर्शन हो रहा है, विचार और बुद्धि का एक प्रकार से बहिष्कार कर दिया गया है। पिछली दो सदियों में विशेषकर इसी तरह का साहित्य रचा गया है, जो हमारे इतिहास का लज्जास्पद काल है। इस सभा का उद्देश्य अपने साहित्य और दूसरी कलाओं को पुजारियों, पंडितों और अप्रगतिशील वर्गों के आधिपत्य से निकालकर उन्हें

जनता के निकटतम संसर्ग में लाया जाय, उनमें जीवन और वास्तविकता लाई जाय, जिससे हम अपने भविष्य को उज्ज्वल कर सकें। हम भारतीय सभ्यता की परंपराओं की रक्षा करते हुए अपने देश की पतनोन्मुखी प्रवृत्तियों की बड़ी निर्दयता से आलोचना करेंगे और आलोचनात्मक तथा रचनात्मक कृतियों से उन सभी बातों का संचय करेंगे, जिससे हम अपनी मंजिल पर पहुंच सकें। हमारी धारणा है कि भारत के नए साहित्य को हमारे वर्तमान जीवन के मौलिक तथ्यों का समन्वय करना चाहिए और वह है, हमारी रोटी का, हमारी दरिद्रता का, हमारी सामाजिक अवनति का और हमारी राजनैतिक पराधीनता का प्रश्न। तभी हम इन समस्याओं को समझ सकेंगे और तभी हममें क्रियात्मक शक्ति आएगी। वह सब कुछ जो हमें निष्क्रियता, अकर्मण्यता और अंधविश्वास की ओर ले जाता है, हेय है, वह सब कुछ जो हममें समीक्षा की मनोवृत्ति लाता है, जो हमें प्रियतम रूढ़ियों को भी बुद्धि की कसौटी पर कसने के लिए प्रोत्साहित करता है, जो हमें कर्मण्य बनाता है, और हममें संगठन की शक्ति लाता है, उसी को हम प्रगतिशील समझते हैं।

इन उद्देश्यों को सामने रखकर इस सभा में निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किए हैं–

1 भारत के भिन्न-भिन्न भाषा-प्रांतों में लेखकों की संस्थाएं बनाना, उन संस्थाओं में सम्मेलनों, पैम्फ्लेटों आदि द्वारा सहयोग और समन्वय पैदा करना। प्रांतीय, केंद्रीय और लंदन की संस्थाओं में निकट संबंध स्थापित करना।

2 उन साहित्यिक संस्थाओं से मेल-जोल पैदा करना, जो इस सभा के उद्देश्यों के विरुद्ध न हों।

3 प्रगतिशील साहित्य की सृष्टि और अनुवाद करना, जो कलात्मक दृष्टि से भी निर्दोष हों, जिससे हम सांस्कृतिक अवसाद को दूर कर सकें और भारतीय स्वाधीनता और सामाजिक उत्थान की ओर बढ़ सकें।

4 हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा और इंडो-रोमन लिपि को राष्ट्र-लिपि स्वीकार कराने का उद्योग करना।

5 साहित्यकारों के हित की रक्षा करना, उन साहित्यकारों की सहायता करना, जो अपनी पुस्तकें प्रकाशित कराने के लिए सहायता चाहते हों।

6 विचार और राय को आजाद करने के लिए प्रयत्न करना।

मैनिफेस्टो पर सर्वश्री डॉ॰ मुल्कराज आनंद, डॉ॰ के॰ एस॰ भट्ट, डॉ॰ जे॰ सी॰ घोष, डॉ॰ एस सिन्हा, एम॰ डी॰ तासीर और एस॰ एस॰ जहीर के शुभ नाम हैं और पत्र-व्यवहार का पता–

डॉ॰ एम॰ आर॰ आनन्द
32, रसेल स्क्वायर,
लंदन

हम इस संस्था का हृदय से स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि वह चिरंजीवी हो। हमें वास्तव में ऐसे ही साहित्य की जरूरत है और हमने यही आदर्श अपने समाने रखा है। 'हंस' भी इन्हीं उद्देश्यों के लिए जारी किया गया है। हां, हम अभी इंडो-रोमन को राष्ट्र-लिपि स्वीकार करना को तैयार नहीं, क्योंकि हम नागरी लिपि में संशोधन करके उसे इतना पूर्ण बना लेना चाहते हैं, जिससे वह भारत की सभी भाषाओं के लिए समान

रूप से उपयोगी हो। हम यह भी कह देना चाहते हैं कि, अगर यह संस्था भारत के उस साहित्य को, जो उसके उद्देश्यों के अनुकूल हो, अंग्रेजी में अनुवाद कराके प्रकाशित कराने का प्रबंध कर सके तो यह साहित्य और राष्ट्र—दोनों ही की सच्ची सेवा होगी। हम हिन्दी लेखक संघ के सदस्यों से निवेदन कर देना चाहते हैं कि वे इन प्रस्तावों पर विचार करें और उस पर अपना मत प्रकट करें। लेखक संघ के उद्देश्य भी बहुत कुछ इस संस्था से मिलते हैं और कोई कारण नहीं कि दोनों में सहयोग न हो सके।

[संपादकीय। 'हंस', जनवरी 1936 में 'प्रगतिशील लेखक संघ का अभिनंदन' शीर्षक से प्रकाशित तथा 'साहित्य का उद्देश्य '(प्रथम संस्करण) में संकलित। परंतु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया। अब 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

साहित्य सम्मेलन के विषय में

पाठकों को मालूम ही है कि इस वर्ष हिन्दी साहित्य सम्मेलन का जलसा ईस्टर की छुट्टियों में नागपुर में होगा। तैयारियां हो रही हैं, स्वागत समिति बनाई जा रही है। प्रबंध मंत्री जी ने हिन्दी के विद्वानों से निबंधों के विषय लिख भेजने की प्रार्थना की है। निबंध तो आएंगे और पढ़े जाएंगे, लेकिन हमारे विचार में सम्मेलन को अबकी केवल हिन्दी साहित्य सम्मेलन न होकर आल इंडिया साहित्य सम्मेलन बनने की चेष्टा करनी चाहिए। यदि वह अन्य प्रांतों के विद्वानों को निमंत्रित कर सके और जो लोग मार्ग-व्यय लेना चाहें, उन्हें मार्ग-व्यय भी दे सके, तो इससे हिन्दी-साहित्य का बहुत कुछ उपकार होगा। हमें इस वक्त साहित्य की प्रगति के विषय में भारत के सभी महारथियों से परामर्श करके अपनी कोई नीति स्थिर कर लेनी चाहिए। अन्यत्र हम लंदन की एक साहित्य सभा का मैनिफेस्टो प्रकाशित कर रहे हैं। उस पर भी सम्मेलन को विचार करना चाहिए।

सम्मेलन में व्यक्तिगत रूप से निबंध पढ़ देने से साहित्य की प्रगति को कोई दिशा नहीं मिल सकती। उसे तो इस प्रगति का संचालन करने के लिए कोई सिद्धांत स्थिर कर लेने की जरूरत है, जिसमे वह साहित्य पर नियंत्रण कर सके। प्रगतिशील और अप्रगतिशील साहित्य में क्या अंतर है, इस पर खूब गौर करके उसे अपना निर्णय देना चाहिए कि वह किस प्रकार के साहित्य को आश्रय देना चाहता है और यह मार्ग-प्रदर्शन उसी वक्त हो सकता है, जब संपूर्ण भारत के साहित्य-महारथियों के सत्परामर्श और सहयोग से सम्मेलन अपना कोई मत पक्का कर ले।

[संपादकीय। 'हंस', जनवरी, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

मि० किप्लिंग का स्वर्गवास

इंग्लैंड के मशहूर साहित्यकार रूड्यार्ड किप्लिंग का स्वर्गवास हो गया। आपका जन्म भारत में हुआ था। आपके पिता बंबई के आर्ट स्कूल में अध्यापक थे। रूड्यार्ड किप्लिंग ने

यहीं शिक्षा पाई, यहीं अंग्रेजी पत्रों में लिखना शुरू किया और ख्याति पा जाने के बाद विलायत चले गए। उनकी भाषा में प्रवाह था, विचारों में प्रौढ़ता थी और उनकी सृजनशक्ति अपूर्व थी। उनकी रचनाओं में 'जंगल बुक', 'किम' और 'फौजी कहानियां' अमर हैं। फौजी जीवन के जितने यथार्थ चित्र उन्होंने खींचे, अंग्रेजी में बहुत कम किसी ने खींचे होंगे। आप साम्राज्यवाद के अनन्य भक्त थे और आपके मत में पच्छिम अनंत तक पूर्व पर प्रभुत्व जमाए रखने के लिए आया था, पर इस मत को स्वीकार न करते हुए भी इसमें कोई संदेह नहीं है कि वह ऊंचे दरजे के कलाकार थे और आगे चलकर शायद उन्हें अपनी गलती नजर भी आने लगी थी।

[संपादकीय। 'हंस', फरवरी, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

सम्राट जार्ज पंचम का स्वर्गारोहण

किसे इस अनिष्ट की शंका थी कि सम्राट जार्ज पंचम का इतने आकस्मिक रूप से स्वर्गवास हो जाएगा। मृत्यु तो संसार का ध्रुव सत्य है। जिसने जन्म लिया है, वह मरेगा ही, पर सम्राट का अंत इतना निकट है, इसकी तो कल्पना तक न की जा सकती थी। वैध शासन में जो कुछ करता है, मंत्रिमंडल करता है, पर अज्ञात रूप से राजा का दबाव पड़ना अनिवार्य है। यह कौन नहीं जानता कि दुखी भारत पर उनकी विशेष दृष्टि रहती थी। आपके लिए आपका साम्राज्य केवल एक मानचित्र न था, बल्कि सजीव वस्तु था, जिससे आप भली-भांति परिचित थे। आप 1906 में भारत आए और यहां से जाकर आपने इंग्लैंड में जो भाषण दिया था, उसमें भारत के प्रति सहानुभूति की प्रेरणा की थी। इसी तरह दिल्ली दरबार के शुभ अवसर पर भी आपने भारत के लिए शुभेच्छाएं प्रकट की थीं। आपको जब-जब अवसर मिले, आपने भारत के लिए सांत्वना-भरे उत्साह बढ़ाने वाले शब्द कहे। आज आपकी मृत्यु से भारत को अपने एक सच्चे हितैषी के उठ जाने का शोक हो रहा है। आपका राज्यकाल अपनी सुकीर्ति के लिए बहुत दिनों तक याद रहेगा।

[संपादकीय। 'हंस', फरवरी, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

हिन्दुस्तानी एकाडेमी का वार्षिक सम्मेलन

चार साल के बाद अबकी बारह, तेरह, चौदह जनवरी को हिन्दुस्तानी एकाडेमी इलाहाबाद ने फिर अपना सालाना जलसा किया। इसके सभापति बिहार के प्रसिद्ध नेता, साहित्यकार और 'हिन्दुस्तान रिव्यू' के यशस्वी संपादक श्री सच्चिदानंद सिंह थे। साहित्यकारों का अच्छा सम्मेलन था। उन्हें उर्दू और हिन्दी दो विभागों में कर दिया गया था। उर्दू विभाग के सद्र मौलाना अब्दुल हक साहब थे और हिन्दी विभाग के सद्र डा॰ गंगानाथ झा थे। दोनों विभागों में कई अच्छे-अच्छे विद्वता और गवेषणा और खोज से भरे हुए लेख पढ़े

गए, मगर दोनों सम्मेलनों के अलग-अलग होने के कारण श्रोताओं को सारे निबंधों को सुनने का अवसर न मिला। निमंत्रित सज्जनों के एक जगह रहने का कोई इंतजाम हो सकता तो आपस में विचार-विनिमय के अवसर मिलते और इस सम्मेलन की उपयोगिता कहीं ज्यादा बढ़ जाती। नहीं, संध्या होते ही लोग अपने-अपने डेरों की राह लेते थे और दूसरे दिन फिर उसी वक्त आते थे, जब जलसा शुरू होनेवाला होता था।

उर्दू और हिन्दी विभाग को अलग-अलग कर देने से एक और हानि यह हुई कि उर्दू और हिन्दी के बीच में जो दीवार खड़ी होती जा रही है, वह और भी ऊंची हो गई। अगर दोनों समुदाय मिल नहीं सकते तो न मिलें। अपनी ढफली अलग बजाना चाहते हैं, तो बजाते जाएं, लेकिन क्या इसमें भी कोई बुराई नहीं कि दोनों एक-दूसरे की सुन भी नहीं सकते। अगर निबंधों की चुनी हुई संख्या सम्मिलित रूप से पढ़ी जाती, तो पृथकता का भाव तो कुछ-न-कुछ कम हो ही जाता। हमें तो इन सारे निबंधों में मौलाना अब्दुल हक साहब का खुतबा ही सबसे ज्यादा विचारपूर्ण जान पड़ा। उनके भाषण में जोर था, स्फूर्ति थी और यकीन पैदा करने वाली शक्ति थी। आपने बहुत ठीक कहा कि अभी तक साहित्य और भाषा की उन्नति के लिए कितने प्रयास किए गए और किए जा रहे हैं, उनमें कोई सामंजस्य नहीं है। हरेक अपने-अपने ढंग से अपना-अपना काम करता है, दूसरे की अनुभूतियों और गलतियों से लाभ उठाने की चेष्टा नहीं की जाती, जो काम एक करता है, वही काम दूसरा करता है, और इस तरह बहुत-सा परिश्रम और धन खर्च व्यर्थ हो जाता है।

सभापति महोदय ने एकाडेमी के किए हुए कामों पर एक सरकारी नजर डालते हुए यह इच्छा प्रकट की कि ऐसे सम्मेलन प्रतिवर्ष होना चाहिए और उसमें भारत के अन्य भाषाओं के विद्वानों को भी निमंत्रित करना चाहिए। आपने हिन्दी-उर्दू विवाद पर प्रकाश डाला और दोनों बहनों को समीप आने और गले मिल जाने का अनुरोध किया। आपके शब्द यह हैं–

"ऑनरेबल राय राजेश्वरबली ने सर विलियम मैरिस (गवर्नर संयुक्त प्रांत) को हिन्दुस्तानी एकाडेमी को कायम करने की दावत देते हुए अपने भाषण में कहा था कि एकाडेमी एक ऐसी जबान को तरक्की देने की कोशिश करेगी, जिसे पढ़े-लिखे लोगों के अलावा सब समझ सकेंगे। मुझे इस दृष्टिकोण से पूरी सहानुभूति है। सर विलियम मैरिस ने शिक्षा मंत्री को जवाब देते हुए कहा–हर हिन्दी लिखने वाले का उद्देश्य यह होना चाहिए कि मानो वह मुसलमानों के पढ़ने के लिए लिख रहा है, और इसी तरह हर उर्दू लिखने वाले को यह ख्याल रखना चाहिए, मानो वह हिन्दुओं के पढ़ने के लिए लिख रहा है।"

उत्तर भारत में यह विषय साहित्य और भाषा दोनों ही एतबार से बहुत महत्त्वपूर्ण है और सभापति ने अपने भाषण में इसी समस्या को हल करने की चेष्टा की, लेकिन पार्थक्यवादियों को उनका यह प्रयत्न कुछ रुचिकर न लगा और जलसा समाप्त हो जाने के बाद पत्रों में पृथकता के समर्थन में बार-बार लेख लिखे जा रहे हैं और यह सिद्ध किया जा रहा है कि उर्दू और हिन्दी अब अलग-अलग रास्ते पर चलकर एक-दूसरे से इतनी दूर निकल गई हैं कि समीप आना असंभव है और यह कि उनको मिलाने की

कोशिश दोनों ही भाषाओं को मटियामेट कर देगी। एकतावादियों को बार-बार चुनौती दी जा रही है कि वे कोई ऐसी रचना करके दिखा दें, जिसमें एकता का आदर्श निभाया गया हो और वह किस्से-कहानी की पुस्तक न हो, बल्कि कोई ऐतिहासिक या वैज्ञानिक या दार्शनिक या आलोचनात्मक कृति हो। हम अपने पृथकतावादी भाइयों से बड़े अदब के साथ पूछेंगे कि अगर ऐसी कोई जबान मौजूद होती तो इस संस्था की जरूरत ही क्यों पड़ती। श्री सच्चिदानंद सिंह ने जिन भाषणों का हवाला दिया है, उन्हीं भाषणों से अब यह बात खोज निकाली गई है कि एकाडेमी के संस्थापकों की मंशा कोई नई भाषा निर्माण करना नहीं, बल्कि उर्दू और हिन्दी को पृथक-पृथक तरक्की देना था और इस संस्था का नाम 'हिन्दुस्तानी एकाडेमी' केवल इसलिए रख दिया गया था कि 'उर्दू-हिन्दी एकाडेमी' कुछ सुनने या लिखने में भला न लगता था। हमारे मित्रों ने जिस परिश्रम से यह खोज की है, उसके लिए वे बधाई के पात्र हैं, लेकिन सर विलियम मैरिस या ऑनरेबुल राय राजेश्वरबली के उन भावों में जो उनके मन में थे, हिन्दुस्तानी एकाडेमी के विषय में किसी तरह की दुविधा नहीं मालूम होती। वे दोनों भाषाओं की इस प्रगति से असंतुष्ट थे और उसका सुधार करने के लिए ही एकाडेमी की स्थापना हुई थी। उर्दू और हिन्दी को पृथक-पृथक अपने रास्ते पर चलाने के लिए किसी तरह के सरकारी सहारे की जरूरत न थी, दोनों भाषाएं उसकी मदद के बगैर उन्नति कर रही हैं।

मगर हम पूछते हैं, अगर सर विलियम मैरिस और राय राजेश्वर बली ने उर्दू और हिन्दी को पृथक रखने के लिए एकाडेमी की स्थापना की, तो अब हमारा कर्त्तव्य क्या है? पृथकता को बढ़ाना या घटाना? अगर बढ़ाने का निश्चय कर लिया जाए तो वह साहित्य और दोनों ही के लिए अहितकर होगा। हमारा आदर्श पृथकता नहीं, एकता होना चाहिए। इसे मानकर हमें आगे अपने कर्त्तव्य का फैसला करना होगा। और मिलाने की सबसे पुरअसर तदबीर यह है कि वर्नाक्यूलर फाइनल और हाई स्कूल परीक्षा तक उर्दू और हिन्दी दोनों लाजिमी विषय बना दिए जाएं। तभी आने वाली पीढ़ी जिस भाव या विचार को व्यक्त करने के लिए शब्द उपयुक्त समझेगी, उसका व्यवहार करेगी। और ऐसे तो हजारों शब्द हैं, जिनका आज भी हम व्यवहार कर सकते हैं, पर भाषा-चातुरी दिखाने की हवस हमें उन शब्दों का व्यवहार नहीं करने देती। डॉक्टर ताराचन्द ने हिन्दुस्तानी में जो भाषण दिया था, उस पर यारों ने खूब कहकहे मारे थे, लेकिन काश उन्हें किसी ऐसे पब्लिक जलसे में बोलने का अवसर मिलता, जिसमें अपढ़ या कमपढ़ हिन्दू-मुसमलमान दोनों ही होते, तो उन्हें मालूम होता कि यही जनता की भाषा है।

[संपादकीय। **'हंस'**, फरवरी, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

बिहार प्रांतीय-साहित्य-सम्मेलन, पूर्णिया

अबकी बिहार का प्रांतीय साहित्य सम्मेलन 22-33 फरवरी को पूर्णिया में हुआ। श्री बाबू यशोदानन्दन जी ने, जो हिन्दी के वयोवृद्ध साहित्य-सेवी हैं, सभापति का आसन ग्रहण

किया था। इस जीर्णावस्था में भी उन्होंने यह दायित्व स्वीकार किया, यह उनके प्रौढ़ साहित्यानुराग का प्रमाण है। प्रांत के हरेक भाग से प्रतिनिधि आए हुए थे और खूब उत्साह था। मेहमानों के आदर-सत्कार में स्वागताध्यक्ष श्री बाबू रघुवंश सिंह के सुप्रबंध से कोई कमी नहीं हुई। सभापति महोदय ने अपने भाषण में हिन्दी भाषा, साहित्य, देवनागरी लिपि आदि विषयों का विस्तार से उल्लेख किया और बिहार में हिन्दी के प्रचार और प्रगति की जो चर्चा की है, वह बिहार के लिए गौरव की वस्तु है। हमें नहीं मालूम था कि कविता में बड़ी बोली के व्यवहार की प्रेरणा पहले बिहार में हुई और हिन्दी साहित्य सम्मेलन की कल्पना भी बिहार की ही ऋणी है। मुसलमानी शासन-काल में हिन्दी की वृद्धि क्योंकर हुई, इस पर आपने निष्पक्ष प्रकाश डाला। आप उर्दू को कोई स्वतंत्र भाषा नहीं मानते, बल्कि उसे हिन्दी का ही एक रूप कहते हैं। आपने कहा–

'मुसलमानी शासन ने हिन्दी भाषा के प्रसार और प्रचार के मार्ग में बड़ी सहायता पहुंचाई है। उसी काल में हिन्दी के तीन रूप हो गए थे। एक नागरी लिपि में व्यक्त ठेठ हिन्दी, जिसे लोग अधिकांश में 'भाषा' या 'देवनागरी' या 'नागरी' कहते थे, दूसरी उर्दू यानी फारसी लिपि में लिखी हुई फारसी-मिश्रित हिन्दी अर्थात्–उर्दू और तीसरी पद्य हिन्दी यानी ब्रजभाषा। जो हिन्दी आज राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर अभिव्यक्त होने की अधिकारिणी है, वह देवनागरी है। यह और उर्दू वस्तुत: एक ही है और दिल्ली प्रांत की बोली है।'

इधर बिहार में भी संयुक्त प्रांत की भांति यह आयोजन किया जा रहा है कि प्रारंभिक दरजों में रीडरों की भाषा हिन्दी और उर्दू दोनों लिपियों में एक कर दी जाए, केवल लिपि का अंतर हो। बिहार में इस प्रस्ताव का विरोध किया जा रहा है और अखौरी जी ने भी अपने भाषण में उसका विरोध किया। आपके विचार में इससे उर्दू और हिन्दी दोनों को हानि पहुंचेगी और जो बालक इन रीडरों को पढ़कर निकलेंगे, वे अपनी भाषा के साहित्य-ग्रंथ पढ़ने में असमर्थ होंगे। मगर जब यह माना जाता है कि उर्दू केवल फारसी-मिश्रित हिन्दी है और हिन्दी केवल संस्कृत-मिश्रित उर्दू, तो अगर हम फारसी और संस्कृत को यथासाध्य दोनों में से निकाल दें, तो दोनों एक हो जाती हैं, केवल लिपि का अंतर रह जाता है। जहां तक हम दोनों रूपों को मिलाए रख सकें, वहां तक तो हमें मिलाए रहने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए। हां, जहां दोनों का मिश्रण असंभव हो जाए, वहा पृथक हो जाने में कोई बाधा नहीं। शुरू ही से क्यों इस पर जोर दिया जाए। लिपि का भेद तो है ही, भाषा के भेद को अगर मिटाया जा सके, तो हमें इसमें हानि के बदले लाभ ही नजर आता है। चौथे या सातवें दरजे तक सैकड़ों शब्द अनिवार्य रूप से मालूम हो जाएंगे और इससे उनके परस्पर व्यवहार में सुविधा ही होगी। जिसे साहित्य पढ़ने का शौक है, वह चौथी या मिडिल पास करके साहित्य की दो-तीन किताबें चार महीनों में पढ़कर इस कमी को पूरा कर लेगा। अब हम अंग्रेजी के हजारों शब्दों को अपनी भाषा में आने से किसी तरह नहीं रोक सकते (और न रोकना चाहिए) तो सौ-दो सौ फारसी शब्दों के मिल जाने से हिन्दी का ह्रास न होगा।

इस सम्मेलन के साथ एक कवि सम्मेलन भी हुआ था जिसके सभापति श्री प्रो॰ मनोरंजन एम॰ ए॰ थे। श्री प्रोफेसर साहब स्वयं अच्छे कवि हैं और जीवन में कविता का स्थान क्या है, यह खूब जानते हैं। आपने बहुत ठीक कहा, कि कविता केवल मनोरंजन

की वस्तु नहीं और न गा-गा कर सुनाने की चीज है। वह तो हमारे हृदय में प्रेरणाओं की डालने वाली, हमारे अवसाद-ग्रस्त मन में आनन्दमय स्फूर्ति का संचार करने वाली (स्त्रैण भावनाओं की नहीं) वस्तु है। कविता में अगर जागृति पैदा करने की शक्ति नहीं है, तो वह बेजान है। आप हाला बांधे, या तंत्री के तार, या बुलबुल और कफस, उसमें जीवन को तड़पाने वाली शक्ति होनी चाहिए। प्रेमिकाओं के सामने बैठकर आंसू बहाने का यह जमाना नहीं है। उस व्यापार में हमने कई सदियां खो दीं, विरह का रोना रोते-रोते हम कहीं के न रहे। अब हमें ऐसे कवि चाहिए जो हजरते इक़बाल की तरह हमारी मरी हुई हड्डियों में जान डालें। देखिए, इस कवि ने लेनिन को खुदा के सामने ले जाकर क्या फरियाद कराई है और उसका खुदा पर इतना असर होता है, कि वह अपने फरिश्तों को हुक्म देता है–

उट्ठो, मेरी दुनिया के गरीबों को जगा दो,
काखे[1] उमरा के दरो-दीवार हिला दो।
गरमाओ गुलामों का लहू सोज़े यक़ीं मे
कुंजिश्क[2] फ़रोमाया[3] को शाही[4] से लड़ा दो।
सुलतानिये[5] जमहूर[6] का आता है ज़माना,
जो नक्शे कोहन[7] तुमको नज़र आये मिटा दो।
जिस खेत से दहक़ा[8] को मयस्सर नहीं रोजी,
उस खेत के हर ख़ोशाए[9] गंदुम को जला दो।
क्यों ख़ालिको[10] मख़लूक़[11] में हायल रहें परदे,
पीराने[12] कलीसा को कलीसा[13] से उठा दो।

[संपादकीय। 'हंस', मार्च 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित। 'उठो मेरी दुनिया के गरीबों को जगा दो' शीर्षक से 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रथम संस्करण) में भी संकलित। परंतु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया।]

हज़रत राशिद खैरी का स्वर्गवास

हजरत राशिद खैरी के स्वर्गवास से उर्दू-साहित्य में ऐसा स्थान खाली हो गया, जिसकी पूर्ति मुश्किल से होगी। आप उन लेखकों में थे, जो समाज में अन्याय नहीं देख सकते और हमेशा उसके खिलाफ जेहाद करते रहते हैं। आपने अपनी सारी प्रतिभा मुस्लिम महिलाओं की वकालत की भेंट कर दी। आपकी लेखनी से करुणा की धारा-सी बहती थी। महिला-जीवन और उनके मनोभावों का आपने गहरा अध्ययन किया था और जब अपने पात्रों की करुण-कथा कहते थे, तो उस व्यथा का चित्र-सा खींच देते थे। आपने सैकड़ों पुस्तकें लिखी हैं और जो जनप्रियता आपको प्राप्त हुई, वह बिरले ही किसी को मिली होगी। आपकी शैली सर्वथा अनूठी है। बहुतों ने उसकी नकल की, पर कोई सफल

---

1 महल, 2 चिड़ा, 3 तुच्छ, 4 शिक्रा, 5,6 प्रजा राज्य, 7 पुराना, 8 किसान, 9 गेहूं की बाल, 10 स्त्रष्य, 11 सृष्टि 12 मठधारी, 13 गिरजे।

न हुआ। उसमें आपका व्यक्तित्व आईने की तरह झलकता है। दिल्ली की प्यारी ज़ुबान लिखने वाला आपके बाद अब और कोई नजर नहीं आता। ईश्वर आपको स्वर्ग प्रदान करे।

[संपादकीय। 'हंस', मार्च, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

दिल्ली में हिन्दुस्तानी सभा

हिन्दुस्तान में शायद यह पहला मौका था कि आठ मार्च को देहली की जामिया मिल्लिया में देहली के उर्दू और हिन्दी के अदीबों और साहित्यकारों ने मिलकर एक हिन्दुस्तानी सभा की बुनियाद डाली, जिसका उद्देश्य यह होगा कि वह दोनों साहित्यों को एक-दूसरे के समीप लाए, उनके अदीबों में मुहब्बत, हमदर्दी और एकता पैदा करे, उन्हें एक दूसरे के विचारों और भावों को जानने और समझने का मौका दे और हिन्दुस्तानी भाषा के विकास का आयोजन करे। एक समय था जब इल्म और फन की इतनी उन्नति और राजनीति में इतनी जागृति न होने पर भी आपस में बहुत कुछ मुहब्बत थी और साहित्य के क्षेत्र में तो कोई भेद ही नहीं था, मगर जमाने ने कुछ ऐसा पलटा खाया कि हिन्दी हिन्दुओं की जबान हो गई और उर्दू मुसलमानों की। हिन्दुओं ने उर्दू से मुंह मोड़ना शुरू किया, मुसलमानों ने हिन्दी से। अलग-अलग दो कैंप हो गए और दोनों जबानें और साहित्य राजनीति के चक्कर में पड़ गए। आपस में मनमुटाव बढ़ने लगा। हिन्दी-प्रचार की कोई कोशिश उर्दू दायरे में संदेह की आंखों से देखी जाने लगी, उर्दू-प्रचार की हिन्दी दायरे में। हालांकि अदब का राजनीति से कोई संबंध नहीं, उसका विषय तो इंसान है और चाहे अपने माथे पर कोई लेबल लगाए, वह इंसान ही है, मगर यह राजनीति का युग है और कोई उद्योग ऐसा नहीं, जिस पर राजनीतिक संकीर्णता का रंग न चढ़ाया जा सके। इसका नतीजा यह हुआ कि हिन्दी के भक्त उर्दू से कोरे हैं और उर्दू के भक्त हिन्दी से। उर्दू में जो कुछ लिखा जाता है, वह उर्दू पाठकों को सामने रखकर, हिन्दी में जो कुछ लिखा जाता है, हिन्दी पाठकों को सामने रखकर। हिन्दी लेखक क्यों यह समझें कि उसके पाठकों में उर्दू जानने वाले भी हैं, जब वह जानता है कि ऐसा नहीं है। उर्दू लेखक इतना आजाद नहीं है, क्योंकि अब भी पिछली पीढ़ी के कुछ लोग बाकी हैं, जिन्हें उर्दू और हिन्दी दोनों से एक-सा प्रेम है, क्योंकि वह उन्हें एक ही जबान के दो रूप समझते हैं, फिर भी ऐसे लोग तादाद में इतने कम हैं कि अदब और जबान की प्रगति में उनका लिहाज नहीं किया जा सकता। इस तरह से दोनों जबानें अलग होती जा रही हैं और जिनसे हम अपनी जबान में बेतकल्लुफ बातचीत न कर सकें, उनसे दिल क्योंकर मिलेगा।

हिन्दी और उर्दू साहित्य बदकिस्मती से ऐसे जमाने से गुजरे, जब साहित्य ने आम जिंदगी से नाता तोड़-सा लिया था और उनकी सारी ताकत विरह और विलाप के दुखड़े रोने में कटती थी या बहुत हुआ तो शराब की तारीफ की और दुनिया की अनित्यता पर फिलासफी बघारी, लेकिन दुनिया में जो साहित्य जीते-जागते हैं, उन्होंने कौम की तारीख बनाई है, उसकी संस्कृति बनाई है। अदीब ही कौम का पथ-प्रदर्शक होता है।

उसका दिल प्रेम की ज्योति से भरा होता है। उसमें तास्सुब और तंगखयाली के लिए जगह नहीं होती। आज युद्धवाद से लड़ने वाले लोग हैं, यही अदीब। ऐसी कौन-सी क्रांति है जिसका बीजारोपण अदीबों ने न किया हो। इससे किसे इनकार हो सकता है कि कौम का एकीकरण उसकी संस्कृति का एकीकरण है और यह उद्देश्य आपस की दोस्ती, विचार-विनिमय और सहृदयता से ही पूरा हो सकता है। भाषा के एकीकरण का भी इसके सिवा दूसरा कोई साधन नहीं। बोल-चाल की भाषा गलियों और बाजारों में बनती है, मगर साहित्य और संस्कृति की भाषा तो विद्वानों के समाज में ही बनेगी। जब उर्दू का एक अदीब अपनी कोई रचना ऐसे समाज के सामने पढ़ेगा, जिसमें हिन्दी के लेखक भी शरीक हैं तो वह ऐसी भाषा लिखने की कोशिश करेगा जो हिन्दी वालों की समझ में आए।

इसी तरह हिन्दी का लेखक उर्दू के अदीबों की मंडली में अपनी भाषा को सुबोध रखने पर मजबूर होगा। और अगर हमारी अन्य योजनाओं की तरह इस सभा का भी शैथिल्य के हाथों अंत न हो गया, तो कुछ दिनों में हम आशा कर सकते हैं कि जैसे दिल्ली में हिन्दी और उर्दू दोनों ही का जन्म हुआ, उसी तरह हिन्दुस्तानी भाषा और शैली का विकास भी दिल्ली ही में होगा। अभी तक हिन्दुस्तानी के हिमायतियों के रास्ते में जो सबसे बडी मश्किल है, वह यह है कि वह खुद कोई इल्मी चीज उस भाषा में नहीं लिख सकते। अगर हिन्दुस्तानी सभा कोई छोटी-मोटी पत्रिका भी हिन्दुस्तानी भाषा में निकालने का प्रबंध कर सके, तो वह कौम की बहुत बड़ी खिदमत होगी और उन लोगों को जो हिन्दुस्तानी के समर्थक तो हैं, पर हंसी के खौफ से उसका व्यवहार नहीं करते, क्योंकि अभी उनकी तादाद बहुत ही थोड़ी है, बड़ा प्रोत्साहन मिलेगा। हम सभा के मंत्रियों से दरख्वास्त करते हैं कि वह अपने जलसों की सूचनाएं अखबारों में छपाया करें, ताकि औरों को उनकी कारगुजारियों का हाल मालूम होता रहे।

[संपादकीय। 'हंस', अप्रैल, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

प्रगतिशील लेखक-संघ

The Indian Progressive Writer's Association पर हम किसी पिछली संख्या में आलोचना कर चुके हैं। हमने इस संघ के उद्देश्य और कार्यक्रम का भी उल्लेख किया था। हमें हर्ष है कि संघ ने उत्साह के साथ काम शुरू कर दिया है। उसका मुख्य कार्यालय प्रयाग में है। अलीगढ़, लाहौर, देहली, अमृतसर, लखनऊ आदि स्थानों में उसकी शाखाएं खुल गई हैं। इलाहाबाद में तो वह एक सजीव साहित्यिक संस्था का रूप धारण करती जाती है। जैसा इसके नाम से जाहिर है। संघ उस साहित्य और कला-प्रवृत्ति का पोषक है, जो समाज में जागृति और स्फूर्ति लाए, तो जीवन की यथार्थ समस्याओं पर प्रकाश डाले। संघ ने लखनऊ में 10 अप्रैल को अपना सालाना जलसा करना निश्चित किया है। जिन सज्जनों को संघ के उद्देश्यों से हमदर्दी हो, वह श्रीयुत् एस० एस० जहीर, 38 कैनिंग रोड, इलाहाबाद से पत्र-व्यवहार करें।

[संपादकीय। 'हंस', अप्रैल, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

प्रयाग महिला-विद्यापीठ की नई योजनाएं

पिछले महीने में हमने प्रयाग महिला-विद्यापीठ की एक अपील प्रकाशित की थी।, हमें आशा है, सहृदय सज्जनों ने उस पर ध्यान दिया होगा। ऐसी संस्था जो महिलाओं और बालिकाओं की शिक्षा के प्रश्न को परिस्थितियों के अनुकूल ढंग से हल कर रही है, पैसों के लिए मुहताज हो, तो खेद की बात है। कई कारणों से अंग्रेजी स्कूलों और कॉलेजों की प्रणाली हमारी बालिकाओं के लिए स्वस्थकर नहीं साबित हो रही है और हितकर हो भी तो वह इतनी महंगी है कि साधारण गृहस्थ उससे लाभ नहीं उठा सकता। वह तो संपन्न लोगों की ही चीज है। महिला विद्यापीठ बहुत थोड़े खर्च में बालिकाओं को ऐसी शिक्षा देता है, जिससे उनमें केवल जागृति नहीं आ जाती, वे घर के काम-धंधे में भी होशियार हो जाती हैं। इस मास उसने एक ऐसी योजना निकाली है, जिससे हिन्दी मिडिल-पास लड़कियां केवल तीन साल में एडमिशन की परीक्षा पास कर लेंगे, और नार्मल, ट्रेनिंग, विदुषी तथा विशारद परीक्षा-पास लड़कियां केवल दो साल में। विद्यापीठ का सदैव से यह उद्देश्य रहा है कि स्त्रियों और कन्याओं को कम-से-कम समय में अधिक-से-अधिक ज्ञान मिले और यह दोनों योजनाएं इसी उद्देश्य को पूरा कर रही हैं। इस वक्त एडमिशन पास करने में लड़कियों को विशारद या मिडिल पास करने के बाद पांच साल लगते हैं। पांच साल का काम जो विद्यालय दो ही साल में कर दे, वह लड़कियों की शिक्षा को कितना सरल और सुसाध्य बना रहा है, यह स्पष्ट है। और माहवार खर्च कुल पंद्रह रुपये जिसमें पढ़ाई, होस्टल, भोजन आदि सब शामिल है। अभी सिर्फ 15-15 लड़कियो के लिए यह खास इंतजाम किया गया है। जो माता-पिता इस अवसर से लाभ उठाना चाहते हों, वह विद्यापीठ के रजिस्ट्रार से पत्र-व्यवहार करके अपनी लड़कियों के लिए जगह रिजर्व करा लें।

[संपादकीय। 'हंस', अप्रैल, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

भारतीय साहित्य परिषद्-I

हम पिछले अंकों में एक अखिल भारतीय साहित्य परिषद् की जरूरत पर अपने विचार लिख चुके हैं। हमें हर्ष है कि महाराष्ट्र और गुजरात के साहित्य-परिषदों ने भी इसकी जरूरत तस्लीम की है और उसको कार्यरूप में लाने का आंदोलन कर रहे हैं। भाषाए तो हर एक प्रांत की अलग-अलग है, मगर सभी भाषाओं में सांस्कृतिक एकता मौजूद है, और साहित्य की प्रेरणाएं भी सभी भारतीय साहित्यों में प्राय: एक-सी हैं। प्राचीन और मध्य-कालीन साहित्य सभी भाषाओं में या तो भक्ति-प्रधान हैं या शृंगार-प्रधान, मगर नए साहित्य ने भिन्न-भिन्न प्रांतों में अलग-अलग प्रवृत्तियों को विकसित किया है। आज का जीवन जितना जटिल हो गया है और उस पर नित्य नए विचारों, नए वादों, नए दृष्टिकोणों का जिस तरह असर पड़ता रहता है, उसी तरह नवीन साहित्य भी, जो उसी उद्गम से निकलता है, विषय, प्रवृत्तियों, आदर्शों और विचारों में इतना बहुरंगी है कि प्रांतीय साहित्य

में मौलिक एकता होने पर भी अलग-अलग धाराएं साफ नजर आती हैं। अब समय आ गया है कि उन धाराओं का समन्वय किया जाए। पुराने जमाने में साहित्यकार केवल समाज का एक भूषण मात्र होता था, उसका संचालन और लोग करते थे, मगर नए जमाने का साहित्यकार इतना संतोषी नहीं है। वह समाज के परिष्कार में दखल देना चाहता है, राजनीतिज्ञों की गलतियों को सुधारना चाहता है, जो काम व्यवस्थापक लोग कानून और दंड-विधान से करना चाहते हैं वही काम वह आत्मा को जगाकर आंतरिक आदेशों से पूरा करने का इच्छुक होता है। समाज में उसने अपना एक स्थान बना लिया है, और आज कोई उन्नत राष्ट्र उसकी अवहेलना नहीं कर सकता। इसलिए यह जरूरी है कि भारत की सभी भाषाओं के साहित्यकारों का ऐसा परिषद् हो, जिसमें साहित्य और कला की सभी समस्याओं पर विचार किया जाए और सभी एक-दूसरे के अनुभवों और सिद्धियों से फायदा उठाएं और जो कदम उठाएं वह व्यक्तिगत रूप से। कितने ही ऐसे पेचीदा सामाजिक और बौद्धिक प्रश्न हैं, जिन पर विचार-विनिमय किए बगैर हम कोई राय कायम करने में असफल हो रहे हैं। प्रांतीय परिषदों में परस्पर कोई आदान-प्रदान न होने के कारण वे एक-दूसरे की प्रगति से बिलकुल बेखबर हैं। एक ही काम को अलग-अलग स्वंतत्र रूप से करने से धन और श्रम की जितनी क्षति होती हैं, क्या वह समन्वय से कम नहीं की जा सकती? साहित्य अब केवल भक्ति और शृंगार नहीं है। वह समाजशास्त्र भी है, धर्मशास्त्र भी है, अर्थशास्त्र भी है और सब-कुछ है जिस पर राष्ट्रों को अस्तित्व टिकता है। ऐसे महत्त्व की तरफ से हम इतने दिनों कैसे गाफिल रहे, यह नहीं समझ में आता। भाषा भेद ही इसका कारण था और अब भी है, लेकिन भेद के रहते हुए भी हम सहित्यिक संगठन को मुल्तवी न कर सकेंगे। अतएव यह विचार किया गया था कि 3 और 4 अप्रैल को वर्धा में भारतीय साहित्य-सेवियों का परिषद् बुलाया जाए और इस शुभकार्य का श्रीगणेश कर दिया जाए, लेकिन कई कारणों से हमें यह तारीखें बदलनी पड़ीं और अब यह तय किया गया है कि नागपुर-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर 23-24 अप्रैल को भारतीय परिषद् की बैठक भी हो। जब साहित्य सेवियों की अंतर्राष्ट्रीय सभाएं समय-समय पर होती हैं तो एक ही राष्ट्र के प्रांतीय साहित्यकार एक-दूसरे से बेगाना बने रहें, एक-दूसरे से प्रकाश पाने की कोशिश न करें और साहित्य की प्रगति का उचित नियंत्रण न करें, यह तो जीवन के लक्षण नहीं। हमें आशा है, इस अवसर पर सभी प्रांतों के महारथी आने का कष्ट करेंगे। साहित्य-सम्मेलन क्या अभी तक यह फैसला नहीं कर पाया कि इस परिषद् की व्यवस्था करना उसका कर्त्तव्य है?

[संपादकीय। 'हंस' अप्रैल, 1936 में पकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 म संकलित।]

श्रीमती कमला नेहरू का स्वर्गवास

जिस वक्त श्रीमती कमला नेहरू के स्वर्गवास की खबर अखबारों में निकली, तो ऐसा कौन आदमी था, तो अखबार को पटककर, सिर पर हाथ रखकर कई मिनट तक मर्माहत की-सी दशा में खो न गया हो। यह केवल राष्ट्र की वीर सेविका की मृत्यु न थी, अपनी ही बहन या माता की मृत्यु थी। उस सूक्ष्म-सी देह में कितनी साधना-शक्ति थी, जिसने

कभी त्याग को त्याग और खतरे को न समझा और कठिन-से-कठिन यातनाएं हंसकर झेलीं। यह आपके उस प्रेम की विभूति थी, जिसने सारे देश को अपने अंदर समेट लिया था। त्याग और साहस प्रेम ही के भिन्न रूप तो हैं। जिसमें प्रेम का बल नहीं, वह राष्ट्र पर अपने को होम कैसे कर सकता है। जिस वक्त आप यहां से योरोप गयीं, तो हमें आशा थी आप वहां से स्वस्थ होकर लौटेंगी। आपकी हालत कुछ-कुछ संभलने की खबरें भी आई थीं। पंडित जवाहरलाल जी जब बेडन-वाइलर से लंदन आए, तो हमने समझा, अब कोई खतरा नहीं रहा, मगर हमारी आशाएं झूठी निकलीं और आप राष्ट्र के सामने वीर नारी का अमर आदर्श रखकर प्रस्थान कर गईं। हमें पंडित जवाहरलाल से इस मातम में दिली हमदर्दी है, जिसका तपस्वी, कठोर कर्त्तव्य का अभ्यस्त जीवन भी इस सूनेपन को शायद ही मिटा सके।

[संपादकीय। 'हंस', अप्रैल, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

हिन्दी साहित्य के विद्यालय

दो साल पहले हिन्दी साहित्य के इच्छुकों के लिए पढ़ाई की व्यवस्था केवल नाम को थी। विशारद आदि परीक्षाओं में लोग बैठते थे, मगर खुद घर पर पढ़कर। प्रयाग का हिन्दी विद्यापीठ, काशी का भगवानदीन साहित्य विद्यालय और सिरका का हिन्दी विद्यालय यथासाध्य साहित्य की शिक्षा देते थे, मगर धन की कमी और अभाव के कारण वे बहुत थोड़े-से छात्रों को लेते थे। न पढ़ाई ही नियमित रूप से होती थी, न वे छात्रों के रहने का कोई इंतजाम कर सकते थे। इसलिए बाहर के छात्रों और खासकर दक्षिण भारत वालों को बड़ी मुश्किल का सामना करना पड़ता था बेचारे इतनी दूर की यात्रा करके आते थे और यहां कोई सुविधा न पाकर निराश लौट जाते थे। हर्ष की बात है कि साहित्य-प्रेमियों के उद्योग से इधर दो साहित्य-विद्यालय खुल गए हैं, जिन्होंने साहित्य को ही अपना मुख्य क्षेत्र बना लिया है। उनमें एक है बिहार प्रांत का 'देवधर साहित्य-विद्यालय' और दूसरा गोरखपुर का 'खोपापुर हिन्दी-साहित्य विद्यालय'। देवधर का दूसरा नाम वैद्यनाथधाम है, जो तीर्थस्थान भी है और अच्छी जलवायु के लिए भी प्रसिद्ध है। यहां हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाओं की पढ़ाई का अच्छा प्रबंध है। उसके साथ अंग्रेजी, संस्कृत, शिल्प आदि की शिक्षा की भी व्यवस्था की गई है। एक छात्रावास भी है, जहां केवल पांच रुपये महीने में छात्रों को अच्छा भोजन मिल सकता है। व्यायाम के लिए भी इंतजाम किया गया है। इस विद्यालय के संस्थापक कलकत्ते के उत्साही सज्जन श्रीयुत मदनलाल जी कयूयां हैं। विद्यालय का प्रबंध योग्य व्यक्तियों के हाथ में है, जिनमें श्री जनार्दन झा 'द्विज' एम० ए० और श्रीयुत लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु' एम० ए०, एल०-एल० बी० के नाम से हिन्दी-संसार परिचित है। हमें यह जानकर विशेष संतोष हुआ कि विद्यालय में छात्रों को लेखन और संपादन-कला की शिक्षा भी दी जाती है।

खोपापुर साहित्य-विद्यालय को खुले केवल तीन साल हुए। यहां भी हिन्दी-विशेष-योग्यता और विशारद परीक्षाओं की शिक्षा दी जाती है। इस वर्ष में आंध्र, आसाम, उत्कल,

महाराष्ट्र, गुजरात और पंजाब आदि अहिन्दी प्रांतों के पच्चीस छात्रों को छात्रवृत्ति देकर शिक्षा देने की व्यवस्था की जा रही है। साथ ही यह प्रबंध भी किया जा रहा है कि अंग्रेजी के साथ देश की दो अन्य प्रांतीय भाषाएं भी सिखाई जाएं। विद्यालय के संचालकों ने यह प्रबंध करके अपनी उदारता का परिचय दिया है, क्योंकि सांस्कृतिक विकास के लिए हमें दूसरों को अपनी भाषा देना ही नहीं है, उनसे लेना भी है। तभी दान-प्रतिदान स्थायी हो सकेगा। जिन सज्जनों को कुछ पूछना हो, हिंदी-साहित्य विद्यालय, खोपापुर, पो० देईडीहा (गोरखपुर) के पते से पत्र-व्यवहार करें।

[संपादकीय। 'हंस', अप्रैल, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

भारतीय साहित्य-परिषद्-2

आज से कई साल पहले हमारे मन में जो एक साहित्यिक कल्पना उठी थी, वह चौबीस एप्रिल को भारतीय साहित्य-परिषद् के रूप में मूर्तिमान् हो गई। विचार यह था कि हिन्दुस्तान में जहां सस्कृति के अन्य सभी अंगों की अपनी-अपनी अलग ऑल-इंडिया संस्थाएं हैं, वहां साहित्य की कोई ऐसी संस्था नहीं, हालांकि साहित्य किसी राष्ट्र की तहज़ीब का सबसे बलवान् अंग है। कोई ऐसा प्लेटफार्म तो होना ही चाहिए जिस पर हिन्दुस्तान के हरेक साहित्य के जाने-माने लोग मिलकर आपस में समाज और साहित्य के अनेक प्रश्नों पर अपने विचारों का तबादला कर सकें, एक-दूसरे के संपर्क से उनमें मित्रता और एकता का भाव मज़बूत हो, उनकी नज़र फैले, और वह साहित्यिक और मानसिक प्रांतीयता, जो रोज़ बढ़ती जा रही है, और जिससे कौम को बहुत बड़ा नुकसान पहुंचने का डर है, मुनासिब हदों के अंदर रहे। किसी हद तक स्पर्धा की तो ज़रूरत है। इसके बग़ैर जीवन में प्रगति नहीं आती, लेकिन जब तक यह स्पर्धा ईर्ष्या और संकीर्णता की सूरत अख्तियार कर लेती है, तब वह समाज के लिए घातक हो जाती है। इस तरक्की करने वाले युग में नित्य नये मसले पैदा होते जा रहे हैं और साहित्यिकों को अपने लिए कोई ठीक रास्ता निकालना मुश्किल हो रहा है। साहित्य भी उसी जलवायु में पूरी तरह विकास पा सकता है, जब उसमें आदान-प्रदान होता रहे, उसे चारों तरफ से हवा और रोशनी आज़ादी के साथ मिलती रहे। प्रांतीय चारदीवारी के अंदर साहित्य का जीवन भी पीला, मुर्दा और बे-जान होकर रह जायगा। यही विचार थे, जिन्होंने हमें इस परिषद् की बुनियाद डालने को आमादा किया, और यद्यपि अभी हमें वह कामयाबी नहीं हुई है जिसकी हमने कल्पना की थी पर आशा है कि एक दिन यह परिषद् सच्चे अर्थों में हिन्दुस्तान का साहित्यिक परिषद् बन जायगा। इस साल तो प्रांतीय परिषदों से बहुत कम लोग आये थे। इसका एक कारण यह हो सकता है कि हमें जल्दी से काम लेना पड़ा। हम पहले से अपना कार्यक्रम निश्चित न कर सके, प्रांतीय साहित्यकारों को काफ़ी समय पहले कोई सूचना न दी जा सकी। महात्माजी की बीमारी के कारण दो बार तारीखें बदलनी पड़ीं। इतने थोड़े समय में जो कुछ हुआ, वही ग़नीमत है। हमें गर्व है कि परिषद् की बुनियाद महात्माजी के हाथों पड़ी। अपने जीवन के अन्य विभागों की भांति साहित्य में भी, जिसका जीवन से

गहरा संबंध है, उन्होंने लोकवाद का समावेश किया है और गुजराती-साहित्य में एक ख़ास शैली और स्कूल के आविष्कारक हैं। आपने बहुत ठीक कहा कि–

'मेरी दृष्टि में साहित्य की कुछ सीमा-मर्यादा होनी चाहिए। मुझे पुस्तकों की संख्या बढ़ाने का मोह कभी नहीं रहा है। प्रत्येक प्रांत की भाषा में लिखी और छपी प्रत्येक पुस्तक का परिचय दूसरी सब भाषाओं में होना मैं आवश्यक नहीं मानता। ऐसा प्रयत्न यदि संभव भी हो, तो उसे मैं हानिकर समझता हूं। जो साहित्य एकता का, नीति का, शौर्यादि गुणों का, विज्ञान का पोषक है उसका प्रचार प्रत्येक प्रांत में होना आवश्यक और लाभदायक है। भारतीय परिषद् का यही उद्देश्य होना चाहिए कि प्रांतीय भाषाओं में जो कुछ ऊंचा उठाने वाला, जीवन देनेवाला, बुद्धि और आत्मा का परिष्कार करने वाला अंश है–उसी का हिन्दुस्तानी द्वारा दूसरी भाषाओं को परिचय कराया जाय।'

कुछ लोगों को एतराज़ है कि महात्माजी ने अपने भाषण में शृंगार-रस का बहिष्कार कर दिया है और उसे निकृष्ट कहा है। यह भ्रम इसलिए हुआ है कि 'शृंगार' का आशय समझने में भेद है। शृंगार अगर सौंदर्य-बोध को दृढ़ करता है, हममें ऊंचे भावों को जाग्रत करता है तो उसका बहिष्कार कौन करेगा। महात्माजी ने बहिष्कार तो उस शृंगार-साहित्य का किया है जो अश्लील है। एक दल साहित्यकारों का ऐसा भी है, जो साहित्य को श्लील-अश्लील के बंधन से मुक्त समझता है। वह कालिदास और वाल्मीकि की रचनाओं से अश्लील शृंगार की नजीरें देकर अश्लीलता की सफाई देता है। अगर कालिदास या वाल्मीकि या और किसी नये या पुराने साहित्यकार ने अश्लील शृंगार रचा है, तो उसने सुरुचि और सौंदर्य-भावना की हत्या की है। जो रचना हमें कुरुचि की ओर ले जाय, कामुकता को प्रोत्साहन दे, समाज में गंदगी फैलाए, वह त्याज्य है, चाहे किसी की भी हो। साहित्य का काम समाज और व्यक्ति को ऊंचा उठाना है, उसे नीचे गिराना नहीं। महात्माजी ने खुद इन शब्दों में उसकी व्याख्या की है।

'आजकल शृंगार-युक्त अश्लील साहित्य की बाढ़ सब प्रांतों में आ रही है। कोई तो यहां तक कहते हैं कि एक शृंगार को छोड़कर और कोई रस है ही नहीं। शृंगार रस को बढ़ाने के कारण ऐसे सज्जन दूसरों को 'त्यागी' कहकर उनकी उपेक्षा और उपहास करते हैं। जो सब चीजों का त्याग कर बैठते हैं, वे भी रस का तो त्याग नहीं कर पाते। किसी-न-किसी प्रकार के रस से हम सब भरे हैं। दादाभाई ने देश के लिए सब कुछ छोड़ा था, वे तो बड़े रसिक थे। देश-सेवा ही उन्होंने अपना रस बना रक्खा था।'

हर एक समाज की जरूरतें अलग-अलग हुआ करती हैं, उसी तरह जैसे हर एक मनुष्य को अलग-अलग भोजन की जरूरत होती है। एक बलवान्, स्वस्थ आदमी का भोजन अगर आप एक जीर्ण रोगी को खिला दें, तो वह संसार से प्रस्थान कर जाएगा। उसी तरह एक रोगी का भोजन आप एक स्वस्थ आदमी को खिला दें, तो शायद थोड़े दिनों में वह खुद रोगी हो जाए। इंगलैंड या फ्रांस समृद्धि के ऊंचे शिखर पर पहुंच गए हैं, वे अगर शराब और नाच और कामुकता में मग्न हो जाएं, तो उनके लिए विशेष चिंता की बात नहीं। उनके राष्ट्र-देह में इन विषों को पचाने की ताकत है। हिन्दुस्तान जो गुलामी की जंजीरों में जकड़ा हुआ एड़ियां रगड़ रहा है, उसके लिए वह सभी चीजें त्याज्य और निषिद्ध हैं जिनसे जीवन-शक्ति क्षीण होती है, जिनसे संयम-शक्ति का ह्रास होता है।

जो आंख केवल नग्न-चित्र ही में सौंदर्य देखती है, और जो रुचि केवल रति-वर्णन या नग्न-विलास में ही कवित्व का सबसे ऊंचा विकास देखती है, उसके स्वस्थ होने में हमें संदेह है। यह 'सुंदर' का आशय न समझने की बरकत है। जो लोग दुनिया को अपनी मुट्ठी में बंद किए हुए हैं, उन्हें दिमागी ऐयाशी का अधिकार हो सकता है। पर जहां फाका है और नग्नता है और पराधीनता है, वहां का साहित्य अगर नंगी कामुकता और निर्लज्ज रति-वर्णन पर मुग्ध है, तो उसका यही आशय है कि अभी उसका प्रायश्चित पूरा नहीं हुआ, और शायद दो-चार सदियों तक उसे गुलामी में और बसर करनी पड़ेगी।

भारतीय-परिषद् के स्वागताध्यक्ष आचार्य काका कालेलकर का भाषण विद्वत्ता-पूर्ण है और इस उद्योग के सभी पहलुओं पर आपने काफी विचार किया है। आपने साहित्य के द्वारा राष्ट्र के एकीकरण की चर्चा करते हुए सांप्रदायिकता और प्रांतीयता को देश का महारोग बतलाया, और साहित्य में इन गलत प्रवृत्तियों को रोकने के लिए नियंत्रण की जरूरत बतलाई। आपने इस प्रयास की कठिनाई का अनुमान करते हुए कहा–

'साहित्य को पकड़कर रखना मुश्किल है, बांध रखना अशक्य है। उसे कायदे के बंधन में कम-से-कम बांधना चाहिए। सदाचार और सुरुचि के प्रणेता शिष्ट पुरुषों का अंकुश साहित्य के लिए अच्छा है।' लेकिन इसके साथ ही आप यह चेतावनी भी देते हैं–

'धर्माचार्य तो जीवन की वास्तविकता से कोसों दूर हैं। वे तो भूतकाल के आदर्शों को भी नहीं समझते। प्राचीन आदर्श पर जो जंग चढ़ा है, उसी को वे धर्म का रहस्य मान बैठे हैं।'

'यह नियंत्रण तभी सफल हो सकेगा जब वह साहित्य की आत्मा से निकलेगा, जब भारतीय परिषद् पूर्ण रूप से विकसित होकर इस योग्य होगा कि संस्कृति के ऐसे महान् अंग को कलुषित प्रवृत्तियों से बचाए। इसी तरह अनेक प्रश्नों पर परिषद् साहित्य-समाज की हित-साधना करता रहेगा।'

आपने भी महात्माजी के इस कथन का समर्थन किया कि हमारा साहित्य का आदर्श जन-सेवा होना चाहिए–

'जो साहित्य केवल विलासिता का ही आदर्श अपने सामने रखता है, उसके संगठन करने की आवश्यकता ही क्या? हम तो जन-सेवा के लिए साहित्य की सेवा करने में प्रवृत्त हुए हैं। भाषा जन-सेवा का कीमती साधन है। इसीलिए हम उसका महत्त्व मानते हैं। राष्ट्रीय एकता के बिना, संस्कृति-विनिमय के बिना, लोक-जीवन प्रसन्न, पुरुषार्थी और परिपूर्ण नहीं हो सकता है।'

परिषद् के स्वीकृत प्रस्तावों में एक प्रस्ताव इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए रक्खा गया था–

(अ) जो साहित्य जीवन के उच्च आदर्शों का विरोधी हो, सुरुचि को बिगाड़ता हो, अथवा सांप्रदायिक सद्भावना में बाधा डालता हो, ऐसे साहित्य को यह परिषद् हरगिज प्रोत्साहित न करेगा।

(आ) लोक-जीवन के जीवित और प्रत्यक्ष सवालों को हल करने वाले साहित्य के निर्माण को यह परिषद् प्रोत्साहन देगा।

परिषद् का अभी कोई विधान नहीं बन पाया है। उसके संचालन के लिए एक कमेटी

बन गई है, और वही उसका विधान भी बनाएगी, और उसके कार्यक्रम का निश्चय भी करेगी। हमारी अभिलाषा है कि यह संस्था शुद्ध साहित्यिक संस्था हो, ताकि वह हिन्दुस्तान की साहित्यिक एकाडेमी का पद ले सके। उसमें किसी सम्मेलन या भाषा को प्रधानता देना उसके लिए घातक होगा। उसे किसी भी प्रांतीय-परिषद् के अंतर्गत न होकर पूर्ण स्वतंत्रता होना चाहिए। प्रांतीय परिषदों को उसके लिए मेंबरों को चुनने का अधिकार होगा और उन्हें चाहिए कि ऐसे ही महानुभावों को उसमें भेजें जिन्होंने अपनी साहित्य-सेवा और लगन से यह अधिकार प्राप्त कर लिया है। अगर वहां भी गिरोहबंदी हुई, तो परिषद् की उपयोगिता गायब हो जाएगी। यहां सम्मान और अधिकार बांटने का प्रश्न नहीं है। यहां तो ऐसे साहित्य-सेवियों की जरूरत है, जो हमारे साहित्य को ऊंचा उठा सकें, उसमें प्रगति ला सकें, उसमें सार्वजनिकता पैदा कर सकें। महात्माजी ने इस विषय में जो सलाह दी है, वह हमें हृदयंगम कर लेनी होगी–

'हमें अब सोच लेना है कि साहित्य-सम्मेलन के कार्य और भारतीय-परिषद् के कार्य में कुछ अतिव्यापित है या नहीं। साहित्य-सम्मेलन का कर्त्तव्य अन्य साहित्यों का संगठन करना नहीं है। उसका कर्त्तव्य तो हिन्दी-भाषा की सेवा करना है और हिन्दी का देश में प्रचार बढ़ाना है। इस परिषद् का उद्देश्य हिन्दी-भाषा की सेवा करना नहीं है। इसका उद्देश्य तो अन्य साहित्यों के रत्न इकट्ठे करके उसे देश के आम वर्ग के सामने रखना है।'

इस वक्त भी कई प्रांतों को परिषद् के नेक इरादों में विश्वास नहीं है। उनका ख्याल है, कि हिन्दी वालों ने उन पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिए यह नया स्वांग रचा है। उनके दिल में यह संदेह मिटाना होगा और तभी वे उसमें शरीक होंगे और परिषद् वास्तव में हिन्दुस्तान के साहित्य परिषद् का गौरव पा सकेगा।

[संपादकीय। 'हंस', मई, 1936 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रथम संस्करण) में संकलित। परंतु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया।]

हिन्दी-साहित्य सम्मेलन

नागपुर में हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की काफी धूम-धाम रही। मेहमानों के ठहरने का इंतजाम ऐग्रिकल्चर-कालेज के होस्टल में किया गया था। आराम की सभी चीजें मौजूद थीं। भोजन भी किफायत से और मुनासिब दामों पर मिलता था। सम्मेलन का पंडाल भी वहां से थोड़ी दूर पर था। मंच पर तो शामियाना तना हुआ था पर श्रोताओं के लिए खुले में फर्श का प्रबंध था। लाउडस्पीकर भी लगा हुआ था। फाटक पर और रास्ते के दोनों तरफ बिजली के रंगीन बल्ब लगा दिए गए थे। नेताओं का ऐसा जमघट सम्मेलन के किसी जलसे में शायद ही हुआ हो। महात्माजी, पंडित जवाहरलालजी नेहरू, बाबू राजेन्द्र प्रसाद, सरदार साहब, श्रीराजगोपालाचार्य आदि प्रतिष्ठित नेताओं ने सम्मेलन को गौरव प्रदान कर दिया था। चौबीस अप्रैल की शाम को पंडाल में स्वागताध्यक्षजी का मुख्तसर पर समयानुकूल भाषण हुआ। पश्चात् सभापति ने अपना सदारती भाषण सुनाया। अब तक हमने सम्मेलन के जितने सदारती भाषण पढ़े हमें अपने कानों से सुनने का केवल एक बार दिल्ली में

अवसर मिला। उसमें दो-एक को छोड़कर सभी भाषणों का एक ढर्रा-सा निकला हुआ जान पड़ा। जो आया उसने हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति से आरंभ किया और उसके विकास की लंबी कथा पढ़ सुनाई। साहित्य की समस्याओं और धाराओं से उसे कोई मतलब नहीं। बाबू राजेन्द्र प्रसाद का भाषण विद्वत्तापूर्ण भी था, आलोचनात्मक भी और व्यावहारिक भी। भाषा और साहित्य का ऐसा कोई पहलू नहीं, जिस पर आपने प्रकाश न डाला हो और मौलिक आदेश न दिया हो। भाषा के भंडार को बढ़ाने के विषय में आपने जो सलाह दी, उससे किसी भी प्रगतिशील आदमी को आपत्ति नहीं हो सकती। आपने बतलाया कि हिन्दी में अरबी और फारसी के जो शब्द आकर मिल गए हैं, उन्हें व्यवहार में लाना चाहिए। पारिभाषिक शब्दों के विषय में आपका प्रस्ताव है कि यथासाध्य सभी प्रांतीय भाषाओं में एक ही शब्द रखा जाए। प्रत्येक भाषा में अलग-अलग शब्द गढ़ने में समय और श्रम लगाना बेकार है। आपने यह भी बताया कि गांव में ऐसे हजारों शब्द हैं, जिनको हमने साहित्यिक हिन्दी से बाद कर दिया है, हालांकि वे अपने आशय को जितनी सफाई और निश्चयता से बताते हैं, वह संस्कृत से लिए हुए शब्दों में नहीं पाई जाती।

साहित्य के मर्म के विषय में भी आपके विचार इतने ऊंचे और मान्य हैं। आपने सच्चे-साहित्य की बात यों बताई–

'सच्चे साहित्य का एक ही माप है। चाहे उसमें रस कोई भी हो पर यदि वह मानव जाति को ऊपर ले जाता हो, तो सच्चा साहित्य है, और यदि उसका प्रभाव इससे उल्टा पड़ता हो, तो चाहे जैसी भी सुंदर और ललित भाषा में क्यों न हो, वह ग्राह्य नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट है कि सच्चे साहित्य के निर्माण में वही सफल हो सकता है जिसने तपस्या और संयम से अपने को इस योग्य बनाया हो। इसके लिए एक प्रकार की दैवी शक्ति चाहिए, जो पूर्व संस्कार और इस जन्म की तपस्या और संयम का फल हो सकती है।'

साहित्य में संगम, साधना और अनुभूति का कितना महत्त्व है, इस पर जोर देते हुए आपने आगे चलकर कहा–

'अनुभूति और मस्तिष्क-चमत्कार में उतना ही भेद है, जितना मधु के सुंदर वर्णन में और उसके चखने में। इसलिए चाहे जिस प्रकार के ग्रंथ क्यों न लिखे जाएं, यदि वह अनुभूति और जीवन से निकले हैं, तो उनकी कीमत है और उनमें आज और प्रभाव है। यदि वह केवल चमत्कार मात्र हैं, तो उन्हें केवल वागाडंबर ही मानना चाहिए। इस कसौटी पर अपने आधुनिक साहित्य को कसा जाए, तो थोड़े ही ग्रंथ खरे निकलेंगे। यही कारण है कि गोस्वामी तुलसीदास और सूरदास आज भी प्रिय हैं और करोड़ों के जीवन-सुधार में प्रेरक होते हैं। उनके पदों में एक प्रकार का आनंद है, जो दूसरों की रचनाओं में शीघ्र ही नहीं मिलता। इसलिए कविता और दूसरे साहित्य-निर्माण करनेवालों से यहा सविनय निवेदन है कि यह उनका धर्म है कि युग और समय के अनुसार सच्चे साहित्य का निर्माण करें। जातीय जीवन की झलक साहित्य में आनी चाहिए। हमारी भावनाओं और उमंगों को साहित्य में प्रतिबिम्बित होना चाहिए। हमारी उम्मीदें, अभिलाषाएं और उच्चाकांक्षाएं साहित्य में प्रदर्शित होनी चाहिए और उनको साहित्य से पुष्टि भी मिलनी चाहिए।'

इस भाषण का एक-एक शब्द विचार और अनुकरण करने योग्य है। यही बातें

हम भी बराबर कहते आए हैं, पर कहीं-कहीं उसका जवाब यही मिला है कि कला-कला के लिए है, उसमें किसी प्रकार का उद्देश्य न होना चाहिए। आशा है वह सज्जन अब इस उत्तरदायित्वपूर्ण कथन को पढ़कर अपने विचारों में तरमीम करेंगे।

सम्मेलन में इतिहास-परिषद्, दर्शन-परिषद् और विज्ञान-परिषद् की भी आयोजना की गई थी, पर हमें एक खास जरूरत से 25 की शाम ही को चला आना पड़ा, और उन परिषदों की कोई रिपोर्ट भी नहीं मिल सकी। यह सम्मेलन का काम था कि कम-से-कम पत्रों-पत्रिकाओं के पास तो उनकी रिपोर्ट भेज देता। हमें साहित्य-परिषद् के सभापति श्री बालकृष्णजी 'नवीन' का भाषण पढ़ने को मिला। उसमें जोर है, प्रवाह है, जोश है। कवि सम्मेलनों की मौजूदा हालत और उसके सुधार के विषय में आपने जो कुछ कहा, वह सर्वथा मानने योग्य है, पर जहां आपने कला को उपयोगिता के बंधन से आजाद कर दिया, वहीं आपसे हमारा मतभेद है। आखिर कवि किसलिए कविता करता है? क्या कवि भी श्यामा चिड़िया है, जो प्रकृतिदत्त उल्लास में अपना मीठा राग सुनाने लगता है? ऐसा तो नहीं है। श्यामा जंगल में भी गाएगी, कोई सुनने वाला है या नहीं, इसकी उसे परवा नहीं, बल्कि जमघट में तो उसकी जबान बंद हो जाती है। उसके पिंजरे पर कपडे की मोटी तह लपेटकर जब उसे एकांत के भ्रम में डाला जाता है, तभी वह जमघट में चहकती है। कवि तो इसीलिए कविता करता है कि उसने जो अनुभूति पाई है, वह दूसरो को दे, उन्हें अपने दु:ख-सुख में शरीक करे। ऐसा शायद ही कोई पागल कवि होगा, जो निर्जनता में भी अपनी कविता का आनंद ले। कभी-कभी वह निर्जनता में भी अपनी कविता का आनन्द लेता है, इसमें संदेह नहीं, पर इससे उसकी तृप्ति नहीं होती। वह तो अपनी अनुभूतियों को, अपनी व्यथाओं को लिखेगा, छपाएगा और सुनाएगा। दूसरों को उससे प्रभावित होते देखकर ही उसे उसकी सत्यता का विश्वास होता है। जब तक वह अपने रोने पर दूसरों को रुला न ले, उसे इसका संतोष ही कैसे होगा कि वह नहीं रोया, जहां उसे रोना चाहिए था। दूसरों का सुनकर अपनी भावनाओं और व्यथाओं की सत्यता जांचने का यह नशा इतना जबरदस्त होता है कि वह अपनी अनुभूतियों को मुबालगा के साथ बयान करता है, ताकि सुनने वालों पर गहरा असर पड़े। इसलिए यह कहना कि कविता का कुछ उद्देश्य ही नहीं होता और उसको उपयोगिता के बंधन में बांधना गलती है, एक सारहीन बात है। कवि को देखना होगा कि वह जो दूसरों को रुला रहा है, या हंसा रहा है तो क्यों? मेरी पत्नी का स्वर्गवास हो गया है, तो मैं क्यों दूसरों के सामने रोता और उनको रुलाता फिरूं? इसीलिए कि बिना दूसरों के सामने रोए दिल का बोझ हलका नहीं होता? नहीं। उसका उद्देश्य है, हमारी करुण भावनाओं को उत्तेजित करना, हमारी मानवता को जगाना और यही उसकी उपयोगिता है। मगर हम तो कवि की सभी अनुभूतियों के कायल नहीं। अगर उसने अपनी प्रेयसी के नखशिख के बखान में वाणी का चमत्कार दिखाया है, तो हम देखेंगे कि उसने किन भावों से प्रेरित होकर यह रचना की है। अगर उससे हमारे मनोभावों का परिष्कार होता है, हममें सौंदर्य की भावना सजग होती है, तो उसकी रचना ठीक, वरना गलत।

[संपादकीय। 'हंस', मई, 1936 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य', (प्रथम संस्करण) में प्रकाशित। परंतु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया।]

डॉक्टर एम० ए० अंसारी का स्वर्गवास

डॉ० अंसारी के स्वर्गवास से राष्ट्र को जो क्षति पहुंची है, उसकी पूर्ति होनी मुश्किल है। आपका जीवन त्याग और अदम्य उत्साह का आदर्श था। हताश होना आपने कभी जाना ही नहीं। आप जितने योग्य जनरल थे, उतने ही योग्य सैनिक भी थे। कौमी काम के सामने आपने न धन की परवाह की न स्वास्थ्य की। इधर आपका स्वास्थ्य कुछ दिनों से खराब हो रहा था, मगर यह आशंका तो हो ही नहीं सकती कि आपका अंत इतना निकट है। शोक !

[संपादकीय। 'हंस', जून, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

भारतीय साहित्य परिषद् की अस्ल हकीकत

हैदराबाद के रिसाला 'उर्दू' में मौलाना अब्दुल हक साहब ने भारतीय साहित्य-परिषद् के जलसे का संक्षिप्त हाल लिखते हुए कुछ ऐसी बातें लिखी हैं जो हमारे ख्याल में गलतफहमी के कारण पैदा हुई हैं, और उन शंकाओं के रहते हुए हमें भय है कि कहीं परिषद् को उर्दू के सहयोग से हाथ न धोना पड़े। इसलिए जरूरी मालूम होता है कि उस विषय पर हम अपने विचार प्रकट करके उन शंकाओं को मिटाने की चेष्टा करें। भारतीय साहित्य-परिषद् ने जब हिन्दुस्तान के सभी साहित्यों के प्रतिनिधियों को निमंत्रित किया, तो इसलिए कि इस साहित्यिक उद्योग में हम सब राजनीतिक मतभेदों को भूलकर शरीक हों, और कम-से-कम साहित्य के क्षेत्र में तो एकता का अनुभव कर सकें। अगर परिषद् के बानियों का उद्देश्य इस बहाने से केवल हिन्दी का प्रचार करना होता, तो उसे सभी साहित्यों को नेवता देने की कोई जरूरत न थी। हिन्दी-प्रचार का काम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और नागरी-प्रचारिणी सभा के जरिये हो रहा है। उस काम के लिए एक नया परिषद् ही क्यों बनाया जाता। हमारे सामने यही, और एकमात्र यही उद्देश्य था कि हिन्दुस्तान में कोई ऐसी संस्था बनाई जाए, जिसमें सभी भाषाओं के साहित्यकार आपस में मिलें, साहित्य और समाज के नए-नए जटिल प्रश्नों पर विचार करें, साहित्य की नई विचारधाराओं की आलोचना करें, और इस तरह उनमें एक विशाल बिरादरी के अंग होने की भावना जागे, उनमें आत्म-विश्वास पैदा हो, उन्हें दूसरे साहित्यों का ज्ञान हो और अपने साहित्य में जो कमी नजर आए, उसे पूरा कराने की प्रेरणा मिले। यह सभी मानते हैं कि अगर हिन्दुस्तान को जिंदा रहना है, तो वह एक राष्ट्र के रूप में ही जिंदा रह सकता है, एक राष्ट्र बनकर ही वह संसार की संस्कृति में अपने स्थान की रक्षा कर सकता है, अपने खोए हुए गौरव को पा सकता है। अलग-अलग राष्ट्रों के रूप में तो उसका दशा फिर वही हो जाएगी, जो मुसलमानों और उसके बाद अंग्रेजों के आने के समय थी। हममें से कोई भी यह नहीं चाहता कि हमारे प्रांतीय भेद-भाव फिर वही रूप धारण करें कि जब एक प्रांत शत्रु के पैरों के नीचे पड़ा हो, तो दूसरा प्रांत ईर्ष्यामिश्रित हर्ष के साथ दूर से बैठा तमाशा देखता रहे। यह कहने में हमें कोई संकोच नहीं है कि अंग्रेजों के आने के पहले हममें

राष्ट्रीय भावना का नाम भी न था। यह सच है कि उस वक्त राष्ट्र-भावना इतनी प्रबल और विकसित न हुई थी, जितनी आज है, फिर भी यूरोप में इस भावना का उदय हो गया था। उदय ही नहीं हो गया था, प्रखर भी हो गया था। अंग्रेजों की संगठित राष्ट्रीयता के सामने हिन्दुस्तान की असंगठित, बिखरी हुई जनता को परास्त होना पड़ा। इसमें संदेह नहीं कि उस वक्त भी हिन्दुस्तान में सांस्कृतिक एकता किसी हद तक मौजूद थी, मगर वह एकता कुछ उसी तरह की थी, जैसी आज यूरोप के राष्ट्रों में पाई जाती है। वेदों और शास्त्रों को सभी मानते थे, जैसे आज बाइबल को सारा यूरोप मानता है। राम और कृष्ण और शिव के सभी उपासक थे, जैसे सारा यूरोप ईसा और अनेक महात्माओं का उपासक है। कालिदास, वाल्मीकि, भवभूति आदि का आनंद सभी उठाते थे, जैसे सारा यूरोप होमर और वर्जिल या प्लेटो और अरस्तू का आनंद उठाता है। फिर भी उनमें राष्ट्रीय एकता न थी। यह एकता अंग्रेजी राज्य का दान है और जहां अंग्रेजी राज्य ने देश का बहुत अहित किया है, वहां एक बहुत बड़ा हित भी किया है, यानी हममें राष्ट्रीय भावना पैदा कर दी। अब यह हमारा काम है कि इस मौके से फायदा उठाएं और उस भावना को इतना सजीव, इतना घनिष्ठ बना दें कि वह किसी आघात से भी हिल न सके। प्रांतीयता का मर्ज फिर जोर पकड़ने लगा है। उसके साफ-साफ लक्षण दिखाई देने लगे हैं। इन दो सदियों की गुलामी में हमने जो सबक सीखा था, वह हम अभी से भूलने लगे हैं, हालांकि गुलामी अभी ज्यों-की त्यों कायम है। अनुमान कह रहा है कि प्राविंशल आटोनोमी मिलते ही प्रांतीयता और भी जोर पकड़ेगी, प्रांतों में द्वेष बढ़ेगा, और यह राष्ट्र-भावना कमजोर पड़ जाएगी। भारतीय परिषद् का उद्देश्य जहां साहित्यिक संगठन, सच्चे साहित्यिक आदर्शों का प्रचार और साहित्यिक सहयोग था, वहां एक उद्देश्य यह भी था कि उस संगठन और सहयोग के द्वारा हमारी राष्ट्र-भावना भी बलवान् हो। हमारा यह मनोभाव कभी न था कि इस उद्योग से हम प्रांतीय साहित्यों की उन्नति और विकास में बाधा डालें। जब हमारी मातृभाषाएं अलग हैं, तो साहित्य भी अलग रहेंगे। अगर एक-एक प्रांत रहकर हम अपना अस्तित्व बनाए रह सकते, तो हमें इस तरह के उद्योग की जरूरत ही न होती, लेकिन हम यह अनुभव करते हैं कि हमारा भविष्य, राष्ट्रीय एकता के हाथ है। उसी पर हमारी जिंदगी और मौत का दारमदार है। और राष्ट्रीय एकता के कई अंगों में भाषा और साहित्य की एकता भी है। इसलिए साहित्यिक एकता के विचार के साथ एक भाषा का प्रश्न भी अनायास ही बिन बुलाए मेहमान की तरह आ खड़ा होता है। भाषा के साथ लिपि का प्रश्न भी आ ही जाता है। और परिषद् के इस जलसे में भी ये दोनों प्रश्न आ गए।

झगड़ा हुआ भाषा पर, यानी साहित्य-परिषद् भाषा के किस रूप का आश्रय ले। 'हिन्दी' शब्द से उर्दू को उतनी ही चिढ़ है जितनी 'उर्दू' से हिन्दी को है। और यह भेद केवल नाम का नहीं है। हिन्दी जिस रूप में लिखी जा रही है, उसमें संस्कृत के शब्द बेतकल्लुफ आते हैं। उर्दू जिस रूप में लिखी जाती है उसमें फारसी और अरबी के शब्द बेतकल्लुफ आते हैं। इन दोनों का बिचला रूप हिन्दुस्तानी है, जिसका दावा है कि वह साधारण बोल-चाल की जबान है, जिसमें किसी भाषा के शब्दों का त्याग नहीं किया

जाता, अगर वह बोल-चाल में आते हैं। हिन्दी को 'हिन्दुस्तानी' चाहे उतना प्रिय न हो, पर उर्दू को 'हिन्दुस्तानी' के स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है क्योंकि उसे वह अपनी परिचित-सी लगती है। मगर परिषद् ने 'हिन्दुस्तानी' को अपना माध्यम बनाना न स्वीकार करके 'हिन्दी हिन्दुस्तानी' को स्वीकार किया। उर्दूवालों को 'हिन्दी हिन्दुस्तानी' का मतलब समझ में न आया, शायद वह समझे कि हिन्दी हिन्दुस्तानी केवल हिन्दी का ही दूसरा नाम है। यही उन्हें भ्रम हुआ कि शायद हिन्दुस्तानी के साथ हिन्दी को जोड़कर उर्दू के साथ अन्याय हो रहा है। इसी बदगुमानी में पड़कर मौलाना अब्दुल हक साहब के कलम से ये शब्द निकले हैं–

'एक दिन वह था कि महात्मा गांधी ने हिन्दुस्तानी यानी उर्दू जबान और फारसी हरूफ में अपने दस्तेखास के हकीम आजमखां को खत लिखा था और आज वह वक्त आ गया है कि उर्दू तो उर्दू, वह तनहा 'हिन्दुस्तानी' का लफ्ज लिखना और सुनना पसंद नहीं करते। उन्होंने अपनी गुफ्तगू में एक बार नहीं कई बार फरमाया कि अगर रेजोल्यूशन में तनहा 'हिन्दुस्तानी' का लफ्ज रक्खा गया तो उसका मतलब उर्दू समझा जाएगा लेकिन उनको नेशनल कांग्रेस के रेजोल्यूशन में तनहा हिन्दुस्तानी का लफ्ज रखते हुए यह खयाल न आया। आखिर इसकी क्या वजह है? कौन से ऐसे अस्बाब पैदा हो गए हैं जो इस हैरतअंगेज-इन्कलाब के बाइस हुए। गौर करने के बाद मालूम हुआ कि इस तमाम तगैयुर व तबद्दुल, जोड़-तोड़, दांव-पेंच का बाइस हमारे मुल्क का बदनसीब पालिटिक्स है। जब तक महात्मा गांधी और उनके रफका (सहकारियों) को यह तवक्का (आशा) थी कि मुसलमानों से कोई सियासी (राजनीतिक) समझौता हो जाएगा, उस वक्त तक वह हिन्दुस्तानी-हिन्दुस्तानी पुकारते रहे, जो थपककर सुलाने के लिए अच्छी-खासी लोरी थी, लेकिन जब उन्हें इसकी तवक्का न रही, या उन्होंने ऐसे समझौते की जरूरत न समझी, तो रिया (फरेब) की चादर उतार फेंकी और असली रंग में नजर आने लगे। वह शौक से हिन्दी का प्रचार करें। वह हिन्दी नहीं छोड़ सकते तो हम भी उर्दू नहीं छोड़ सकते। उनको अगर अपने वसीअ जराए और वसायल (विशाल साधनों) पर घमंड है, तो हम भी कुछ ऐसे हेठे नहीं हैं।'

हमें मौलाना अब्दुल हक जैसे वयोवृद्ध, विचारशील और नीतिचतुर बुजुर्ग के कलम से ये शब्द देखकर दुःख हुआ। जिस सभा में वह बैठे हुए थे, उसमें हिन्दीवालों की कसरत थी। उर्दू के प्रतिनिधि तीन से ज्यादा न थे। फिर भी जब 'हिन्दी हिन्दुस्तानी' और अकेले हिन्दुस्तानी पर वोट लिए गए तो 'हिन्दुस्तानी' के पक्ष में आधी से कुछ ही कम रायें आईं। अगर मेरी याद गलती नहीं कर रही है तो शायद पंद्रह और पचीस का बंटवारा था। एक हिन्दी-प्रधान जलसे में जहां उर्दू के प्रतिनिधि कुल तीन हों, पंद्रह रायों का हिन्दुस्तानी के पक्ष में मिल जाना हार होने पर भी जीत ही है। बहुत संभव है कि दूसरे जलसे में हिन्दुस्तानी का पक्ष और मजबूत हो जाता। और जो हिन्दुस्तानी अभी व्यवहार में नहीं आई, उसके और ज्यादा हिमायती नहीं निकले तो कोई ताज्जुब नहीं। जो लोग 'हिन्दुस्तानी' का वकालतनामा लिए हुए हैं, और उनमें एक इन पंक्तियों का लेखक भी है, वह भी अभी तक 'हिन्दुस्तानी' का कोई रूप नहीं खड़ा कर सके। केवल उसकी कल्पना-मात्र कर सके हैं, यानी वह ऐसी भाषा हो, जो उर्दू और हिन्दी दोनों ही के संगम की सूरत

में हो, जो सुबोध हो और आम बोल-चाल की हो। यह हम हिन्दुस्तानी-हिमायतियों का कर्त्तव्य है कि मिलकर उसका प्रचार करें, उसे ऐसा रूप दें कि उर्दू और हिन्दी दोनों ही पक्षवाले उसे अपना लें। दिल्ली और लाहौर में हिन्दुस्तानी सभाएं खुली हुई हैं। दूसरों शहरों में भी खोली जा सकती हैं। यह उनका कर्त्तव्य होना चाहिए कि हिन्दुस्तानी के विकास और प्रचार का उद्योग करें। और अभी जो चीज सिर्फ कल्पना है, वह सत्य बनकर खड़ी हो जाए। हम मौलाना साहब से प्रार्थना करेंगे कि परिषद् से इतनी जल्द बड़ी-बड़ी आशाएं न रक्खें और नीयतों पर शुबहा न करें। मुमकिन है आज जो बात मुश्किल नजर आ रही है, वह साल-दो साल में आसान हो जाए। केवल तीन उर्दू पक्षवालों की मौजूदगी का ही यह नतीजा था कि परिषद् ने अपने रेजोल्यूशनों की भाषा में तरमीम स्वीकार की। अभी से निराश होकर वह परिषद् का जीवन खतरे में न डालें।

[संपादकीय। 'हंस', जून, 1936 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रथम संस्करण) में संकलित। परंतु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया।]

श्री मैथिलीशरण स्वर्ण-जयंती

श्री मैथिलीशरण जी ने हिन्दी-साहित्य की जो सेवा की है उतनी शायद किसी व्यक्ति ने नहीं की। हिन्दी के नवीन पद्य-साहित्य में से उनकी विभूतियों को निकाल डालिए तो वह केवल फुटकर कविताओं का संग्रह मात्र रह जाता है। महाकाव्यों का आदि से ही साहित्य में सर्वोच्च स्थान रहा है। संसार-साहित्य में आज भी जिन ग्रंथों का सबसे ज्यादा आदर है, वह महाकाव्य ही है। और गुप्त जी ने एक-दो नहीं, करीब-करीब एक दर्जन महाकाव्यों की रचना कर डाली है। किसी भी साहित्य में यह गौरव दो ही चार कवि-सम्राटों को मिला होगा। आपकी रचनाओं का रूप तो पुराने आदर्शों के अनुकूल ही है; मगर उसमें नए युग का स्पंदन है और जागृति है। आपके रचे हुए चरित्र आदर्श होते हुए भी मानव हैं, तुलसीदास के चरित्रों की भांति देवता या राक्षस नहीं। रसों को व्यक्त करने में और उनके प्रवाह में पाठक को बहा ले जाने में गुप्त जी को कमाल है। आप इस समय पचासवें साल में हैं। आगामी श्रावण शुक्ला याने 21 जुलाई 1936 को आप पचास पूरे करके इक्यावनवें वर्ष में पदार्पण करेंगे। श्री बालकृष्ण जी शर्मा 'नवीन' ने नागपुर के कवि-सम्मलेन में अपना सदारती भाषण देते हुए यह प्रस्ताव किया था कि हिन्दी-साहित्य-प्रेमियों को उस दिन गुप्त जी की स्वर्ण-जयंती का उत्सव मनाना चाहिए। हम इस प्रस्ताव का हृदय से समर्थन करते हैं।

आपने उत्सव मनाने के दो रूप बताए हैं। एक तो यह कि उस तिथि को हिन्दी के प्रमुख साहित्य-सेवी गुप्त जी के निवास-स्थान चिरगांव में जमा होकर उन्हें बधाई दें। दूसरा यह कि सभी बड़े-बड़े शहरों में सभाएं की जाएं और गुप्त जी की साहित्य-सेवाओं की चर्चा हो और उनके दीर्घ-जीवन की कामना की जाए। एक तीसरा प्रस्ताव श्रीयुत् रामचन्द्र टंडन, संपादक 'हिन्दुस्तानी' इलाहाबाद का है कि इस जयंती के उत्सव में गुप्त जी की संपूर्ण रचनाओं का एक स्टैंडर्ड एडीशन निकाला जाए, मगर अभी तो

गुप्त जी पचासवें साल में ही हैं। अभी उन्हें कम-से-कम सत्तर तक जीना है, यानी साहित्यिक जीवन जीना है, इसलिए यह एडीशन तो फिर भी अधूरा ही रहेगा। हां, नवीन जी के दोनों प्रस्ताव व्यावहारिक हैं और अवसर के अनुकूल हैं, मगर हम इतना निवेदन कर देना चाहते हैं कि अगर कोई साहित्य-सेवी चिरगांव न पहुंचकर केवल पत्र द्वारा बधाई भेंट कर दें, तो उसे भी वही यश मिले, जो वहां उपस्थित होने वालों को मिलेगा।

[संपादकीय। 'हंस', जून, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

हिन्दी में पुस्तकों का प्रकाशन

श्री मार्तंड उपाध्याय ने जून के 'विशाल भारत' में एक लेख लिखकर जनता का ध्यान उस कुव्यवस्था की ओर खींचा है जो आजकल हिन्दी पुस्तकों के प्रकाशन और व्यापार में हो रही है। ऐसे कितने ही प्रकाशन निकल आए हैं, जो रद्दी किताबें छापकर ग्राहकों की आंखों में धूल झोंकते हुए खूब कमीशन देकर बेच देते हैं। जिसका नतीजा यह हो रहा है कि ग्राहक हरेक पुस्तक पर कमीशन मांगता है और चूंकि अच्छी पुस्तकों पर उसे कमीशन नहीं मिलता, इसलिए वह अच्छी किताबें न लेकर रद्दी पुस्तकों से ही संतुष्ट हो जाता है और इस तरह उन लोगों के लिए जो अच्छी रायल्टी या अच्छे पुरस्कार पर पुस्तकें लिखवाते हैं और ग्राहकों के हित का विचार करके पुस्तकों का दाम बहुत कम रखते हैं, उनके लिए अपनी हस्ती कायम रखना कठिन हो गया है और यही हाल रहा तो, अच्छी किताबें बाजार में आनी ही बंद हो जाएंगी। मार्तंड जी ने यह लेख लिखकर साहित्य का बड़ा उपकार किया है। यह नौबत अब यहां तक पहुंच गई है कि अगर शीघ्र ही इसकी कोई रोक-थाम न की गई, तो साहित्य को बड़ी क्षति पहुंचेगी। प्रकाशकों को आपस में मिलकर परिस्थिति पर विचार करना चाहिए और कोई प्रकाशक संघ जैसी संस्था बनाकर पुस्तकों के बाजार का नियंत्रण करना और अपराधियों को दंड देने का विधान सोच निकालना चाहिए। अगर हिन्दी साहित्य सम्मेलन इसका भार अपने सिर ले, तो वह अपने प्रभाव और दबाव से इस दशा को सुधार सकता है।

मगर हमारे ख्याल में सारी जिम्मेदारी इन गैर-जिम्मेदार प्रकाशकों पर डालकर चुप बैठ रहना ठीक न होगा। हमें ऐसा उपाय भी सोच निकालना चाहिए जिससे अच्छी पुस्तकों की सूचना पाठकों को मिला करे। इस काम में जब तक पत्रकार और बुकसेलर सब सहयोग न देंगे, अकेले प्रकाशकों की लीग बन जाने से कुछ न होगा। यह आम शिकायत है कि पत्रों और पत्रिकाओं में पुस्तकों की आलोचना या तो होती ही नहीं, या साल-छह महीने बाद होती है और वह भी निष्पक्ष नहीं होती। यह पत्र-संपादकों का एक कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह जिन पुस्तकों को अच्छा समझें, उनके प्रचार में प्रकाशक की मदद करें और वह इसी तरह हो सकता है कि जल्द-से-जल्द उसकी आलोचना करें या करावें और इसके साथ ही पुस्तकों के विज्ञापन का रेट कुछ घटा दें। एक तो हिन्दी प्रांत यों ही गरीब है, उस पर जब पाठकों को किसी पुस्तक के निकलने की सूचना ही नहीं मिलती, तो वे खरीदें क्या। यही सूचना निष्पक्ष रूप से देना समाचार-पत्रों का काम है। और आलोचना

जितनी ही जल्द निकलती है, उतना ही उसका व्यापारिक महत्त्व बढ़ जाता है।

प्रकाशन के एक-दो सप्ताह के अंदर आलोचना हो जाने का जो फल होगा वह विलंब के अनुपात से ही घटता जाएगा। पत्रिकाओं में पुस्तकों का विज्ञापन विशेष दर से छापना चाहिए। जब तक प्रकाशकों के साथ रियायत न की जाएगी और उन्हें प्रोत्साहन न मिलेगा, वे अच्छी पुस्तकें छापेंगे ही क्यों? प्रकाशकों को संघ बनाकर पुस्तकों की निकासी का प्रबंध भी करना चाहिए। अलग-अलग एजेंट न बनाकर उन्हें संघ द्वारा कई होशियार एजेंट रख लेना चाहिए। सभी पाठकों को अच्छी और बुरी पुस्तकों का भेद मालूम होगा और वे अच्छी पुस्तकें खरीदेंगे। बुरी चीज को बाजार से निकाला तो नहीं जा सकता, हां अच्छी पुस्तकों को प्रोत्साहन देकर और आलोचनाओं से पाठकों में सुरुचि पैदा करके उनके लिए बाजार बनाया अवश्य जा सकता है।

[संपादकीय। 'हंस', जून, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

'हंस' से ज़मानत—'एक हज़ार रुपये नक़द', प्रकाशन बंद

मेरी रुग्णता के कारण अगस्त का 'हंस' यों ही कुछ विलंब से प्रकाशित हो रहा था कि इधर बीच में ही युक्त प्रांतीय सरकार ने जून और जुलाई के अंकों में श्री सेठ गोविंददास जी (जबलपुर) के प्रकाशित 'सिद्धांत-स्वातंत्र्य' नाटक को आपत्तिजनक बतलाते हुए एक हज़ार की नक़द जमानत तलब कर ली है, जिसको 15 अगस्त तक जमा करना अनिवार्य था, किंतु 'हंस' की सांप्रतिक परिस्थिति पर विचार करते हुए इस ज़मानत की रक़म जमा करने में इस समय विवशता है। ऐसी स्थिति में यह समुचित जान पड़ता है कि 'हंस' का प्रकाशन बंद ही कर दिया जाए। इसलिए आज तक जितने फार्म छप चुके थे, वहीं पर 'हंस' का छपना रोककर इस अंक को समाप्त किया जा रहा है। आशा है, हमारे दयालु ग्राहक, लेखकादि बंधु सब बातों का पूर्णत: अनुमान कर 'हंस' की इस अनंतकालीन जुदाई को धैर्य के साथ बर्दाश्त करेंगे और आज तक की सब प्रकार की त्रुटियों को क्षमा करेंगे।

साथ ही एक प्रार्थना और है। वह यह कि अब भारतीय साहित्य-परिषद् का प्रकाशन कार्य दिल्ली से होगा। अत: कोई भी सज्जन हमारे पते पर पत्र-व्यवहार न कर 'सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली' के पते पर ही करने की कृपा करें।

[संपादकीय। 'हंस', 12 अगस्त, 1936 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

प्रगतिशील साहित्य और कला का व्रती 'हंस'

हमारी साहित्यिक जड़ता

समाज के सांस्कृतिक विकास में साहित्य सर्वदा से एक प्राणवंत शक्ति रहा है। मनुष्य

के विचारों और भावों में जो कुछ सुंदर और सत्य है, उसे उसने अपने में स्थान दिया है। तदुपरांत, यह शारीरिक और मानसिक संकीर्णता तथा गुलामी के विरुद्ध हमेशा युद्ध ठानता रहा है। अपने गत्यात्मक स्वरूप में इसने हमेशा जीवन और समाज के उदात्त और सुखप्रद विचारों के लिए भूमि तैयार की है। यद्यपि समाज के व्यक्तिवादी आदर्शों से एक प्राण रहने से अधिकांश में उसकी मनोवृत्ति व्यक्तिवादी रही है, तथापि कई अवसरों पर वह आप-से-आप मनुष्य के अहंभाव से ऊपर उठा है। वस्तुत: उन्नतिमूलक विश्ववाद ही सर्वदा उसका प्रिय आदर्श रहा है।

लेकिन भारतवर्ष ने अपने आपको इस सीमा तक अलग रखा है कि अब उसका साहित्य प्रगतिमान प्रेरणाओं से सर्वथा उन्मुक्त हो गया है। कल्पित अस्तित्व में विश्वास कर भक्ति या अध्यात्म में शांति-लाभ कर अथवा भावनाओं का काम-सौंदर्य वर्णित करता हुआ भारत सदियों पूर्व जीवन से उदासीन हो गया—मर गया। और यह शोचनीय स्थिति अब भी जारी है। समाज के उन्हीं आदर्शों को अपनाए, उन्हीं दृष्टिकोणों को लिए बैठे हम आज भी मध्ययुग के वासी हैं। शीघ्रगामी परिवर्तनों के मारे जैसे उसकी चेतना मंद पड़ गई है, और यद्यपि आज मौलिक परिवर्तन जारी हैं, तथापि शिथिल तथा अंत में मरणोन्मुख प्रतिक्रिया का भाव हममें कार्य कर रहा है और अपनी हस्ती बनाए रखने की प्राणप्रण से चेष्टा कर रहा है। जीवन की वास्तविकता से आंखें मूंद लेने की घातक मनोवृत्ति पुरातन संस्कृति के अध:पतन के बाद भारतीय साहित्य में आविर्भूत हो गई। परिणामस्वरूप आज वह शरीर और आत्मा दोनों ही दृष्टियों से निर्जीव हो गया है। हमारे कवि आज भी नैराश्यगीत गाने और सर्वस्व न्यौछावर करने में मग्न हैं, हमारे लेखक अभी तक उन गत वस्तु-स्थितियों का गुणगान करते हैं, जो किसी दिन थीं, पर अब भविष्य में कभी न होंगी। वैराग्य और परलोक-पूजा के भाव आज दिन भी राज कर रहे हैं। हमारे उपन्यासकार अभी तक अपने नायकों के काम-विकारों के चित्र खींचा करते हैं, हमारे नाटक आज भी भावनाओं के द्वंद्वालेखन तथा उस संस्कृति के वर्णन में व्यस्त हैं, जो कभी हो चुकी, मिट चुकी। वस्तुत: हमारे साहित्य ने वह विवेचनात्मक अंतर्दृष्टि प्राप्त ही नहीं की, जो जीवन के प्रसंगों और सत्य को यथाविधि परख सके। अभी तक वह उस आलोचनात्मक विवेक को प्राप्त न कर सका, जो जीवन की मूल समस्याओं पर प्रतिबिंबित, प्रतिमुखी तथा पुनर्भवात्मक धारणाओं को हरा सके और वर्गवाद, जातीय विद्वेष, विश्व उच्छृंखलता तथा मनुष्य-मनुष्य की लूट-खसोट की साहित्य-दृष्टि की मनोरेखाओं का विध्वंस कर सके। साहित्य-सृजन में वैज्ञानिक विवेकवाद का आविर्भाव कर स्वदेश की उन्नति की महत् कामना में वास्तविक सहायता देने की अभिलाषा अब तक उसमें कहां? निश्चय ही, इसे उन सांप्रदायिक वर्णों के पंजों से बचाना पड़ेगा, जिनसे जकड़ा जाकर वह आज दिन तक पतित होता चला आता है।

साहित्य में प्रगति का अर्थ

हमारे साहित्य को जनता के हृदय के साथ एक कर देने की अत्यंत आवश्यकता है जिससे वह सार्वजनिक जीवन से प्रेरित जनता की आत्मा के साथ जी सके। देश की वर्तमान प्रतिक्रिया की भावना को हमारा नवीन साहित्य सभी पहलुओं से जांचे, देखे।

स्वदेशी और विदेशी स्रोतों द्वारा रचनात्मक और विवेचनात्मक कार्य करते हुए देश को उसकी प्रगति के पथ में साथ दे। जो निर्जीव है, गलित है, जो हमें विवेकहीनता की ओर प्रेरित करता है, उसे विमुखी-वाम समझकर ठुकरा देना चाहिए। जो हममें आलोचनात्मक अंतर्दृष्टि जाग्रत करता है, जो प्रथाओं और वर्णों को विवेक से परखता है, जो हमें कर्म के लिए प्रेरित करता है, अपने-आप संगठित होने, अपने में आवश्यक परिवर्तन करने तथा प्रत्येक तथ्य को यथासाध्य देखने की शक्ति देता है, जो हममें मानवीय सौंदर्य-भावना को दृढ़ करता है, उसको उन्नतिमूलक समझकर ग्रहण करना चाहिए। 'प्रगतिशील लेखक-संघ' नामक एक संस्था इलाहबाद, लखनऊ, दिल्ली, लाहौर, बंबई, मद्रास, पटना, कलकत्ता और भारत के अन्य प्रसिद्ध नगरों में अपनी शाखाओं के साथ स्थापित हो चुकी है। युवक लेखकों और आम जनता ने उसका सप्रेम स्वागत भी किया है। गत नौ और दस अप्रैल को लखनऊ में उसने अपना वार्षिक अधिवेशन इन पंक्तियों के लेखक के सभापतित्व में मनाया था, जिसमें भारत के सभी प्रांतों के कलाकारों ने भाग लिया था। यह निर्विवाद साहित्य में प्रगतिमान परिवर्तन की इच्छा का द्योतक था। देहली से इस प्रकार के श्लाघ्य साहित्य के वर्द्धन के लिए एक पत्र भी प्रारंभ किया गया है। अंत:प्रांतीय भाषाएं भी इन्हीं आदर्शों से प्रेरित हो एक-दूसरी से अपना नाता दृढ़ कर रही हैं। अत: यह शोचनीय होगा, यदि भारत की राष्ट्रीय भाषा हिन्दुस्तानी इस प्रयत्न से पीछे रह जाए।

साहित्यिक पुनर्निर्माण के लिए हमारी योजना

अब तक प्रांतीय साहित्यों के राष्ट्रीकरण के लिए उद्योगशील 'हंस' से मांगी गई जमानत और तदुपरांत 'हंस' लिमिटेड के प्रोप्राइटरों द्वारा उसका प्रकाशन बंद कर दिए जाने के विषय में हमारे प्रेमियों ने अवश्य सुना होगा। अब ज़मानत देकर मेरे अतिरिक्त श्रीयुत जैनेन्द्र कुमार और श्री भारतीय के संपादकत्व में स्वस्थ और उन्नतिमूलक साहित्य के सृजन, वृद्धि तथा प्रचार के उद्देश्य से पुन: उसे चालू करने का निश्चय किया गया है। इसमें विशेषकर भारत और साधारणतया विश्वजनीन प्रगतिमान आंदोलनों पर हिन्दी के सर्वमान्य और प्रतिष्ठित लेखकों के लेख रहेंगे। कर्मयोगियों और महान् कलाकारों की जीवनियां, कहानियां, धारावाहिक उपन्यास, पुस्तकावलोकन आदि उसकी मुख्य विशेषताएं होंगी। भारत के नवजीवन के उद्देश्य से वही हमारा साधन होगा जो उस उद्देश्य की सिद्धि में सहायक हो।

राजनीतिक, सामाजिक, नीति और मनोवैज्ञानिक विषयों पर, जो हमारे सामने हैं, सुंदर तथा रोचक लेख रहेंगे। मानव-जीवन के प्राणवंत परिहास से वह उन्मुक्त न रहेगा। वह विचार और विनोद, दोनों के लिए उचित सामग्री प्रस्तुत करेगा। अखिल विश्व के समक्ष अपने विचारों को रखने के लिए प्रांतीय साहित्यकारों को क्षेत्र प्रदान करने वाला यह पत्र अंतर्प्रान्तीय रहेगा। विश्व की उन्नत विचारधाराओं के साथ रहकर वह अंतर्राष्ट्रीय भी होगा। संक्षेप में, कला तथा साहित्य में जो कुछ गलित, कलुषित, जर्जर तथा निष्प्राण होगा उस सबके विरुद्ध जो कुछ आलोचनात्मक, उन्नतिमूलक और विवेक-प्रणीत है, उसका पूर्ण समर्थन होगा और संदेशवाहक भी। यह योजना हम इस विश्वास के साथ रख रहे

हैं कि इस महान् अनुष्ठान में लेखक तथा कवि अपनी रचनाओं से, पाठक अपनी उदार सम्मति से तथा कलाकार अपनी विशिष्ट कृतियों से हमें प्रोत्साहित करेंगे।

प्रत्येक परामर्श का हार्दिक स्वागत होगा।

[संपादकीय। 'हंस', सितंबर, 1936 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

साहित्यालोचन की समस्या

काव्य-साहित्य के विवेचना की समस्या इन दिनों अत्यधिक जटिल और दुरूह हो गई है। प्रत्येक प्रकार के प्रश्न, जिनकी कल्पना की जा सकती है, इस संबंध में उपस्थित किए जा रहे हैं। कविता क्या है? साहित्य, रस, भाव, अलंकार आदि किसे कहते हैं, और उनका परस्पर क्या संबंध है—ये प्रश्न तो स्वाभाविक ही हैं, किंतु बहुत-सी अन्य जिज्ञासाएं भी जिनकी साधारणत: संभावना भी नहीं की जा सकती, इस अवसर पर उत्पन्न हो रही हैं। साहित्य का प्रयोजन और लक्ष्य क्या है? संस्कृति या जीवन-विकास में उसका क्या स्थान है? समाज-संस्था, नीति, आचार आदि उसमे किस प्रकार संबद्ध हैं—ये प्रश्न फिर भी प्रासंगिक हैं, परंतु ये यहीं नहीं समाप्त हो जाते। आज तो ईश्वर, आत्मा, प्रकृति आदि की दार्शनिक उलझनें एवं ज्ञान, कर्म, भक्ति आदि के विविध पंथ—वैष्णव, शैव, शाक्त आदि के सांप्रदायिक रहस्य—निर्गुण-सगुण, द्वैत-अद्वैत आदि मत-मतांतर तथा इन सबसे संबंधित नि:शेष शंकाएं, साहित्य की सीमा में ही अपना समाधान कर लेना चाहती हैं। यही नहीं, साहित्य की विचार भूमि इससे भी अधिक विस्तृत हो रही है। आज, कम-से-कम चालीस शताब्दियों के पश्चात्, इतिहास में पहली बार, सारी पृथ्वी के मनुष्य, जो कालवश पृथक् पृथक् हो गए थे, पुन: आकर मिले हैं। आर्यों से आर्य, अनार्यों से अनार्य इतने दीर्घ समयांतर में मिलकर फिर से एकता का धरातल स्थापित कर रहे हैं। यद्यपि राजनीतिक तथा कुछ अन्य सामयिक लक्षणों से प्रतीत होता है कि अभी पूर्व और पश्चिम एकाकार होने की मनोवृत्ति में नहीं है, किन्तु यह केवल ऊपरी निगाह है। वास्तविक मनोवृत्ति जो उन दोनों के सामूहिक आदान-प्रदान से प्रकट होती है दोनों के घनिष्ठ समागम का स्पष्ट संकेत करती है। साहित्य में इन दोनों के सम्मिलन के अमिट चिह्न अंकित हैं। आज साहित्यिक समीक्षा के प्रसंग में कला, कल्पना, सौंदर्य आदि पश्चिम के प्रमुख पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार हो रहा है। पूर्व में पश्चिम की अनेक साहित्य-शैलियों का ग्रहण और पश्चिम में पूर्व की गहन रस-धारा (अपूर्व भाव-तल्लीनता) का अनुसरण, प्रथम संयोग की चेष्टाएं हैं। धीरे-धीरे प्रकृतिस्थ होकर दोनों एक-सा रूप-रंग और एक ही दृष्टि धारण करेंगे। राजनीति के क्षेत्र में ही, जहां सबसे अधिक विभेद प्रतीत होता है, विचार-विषयक समरसता स्थापित होती जा रही है। उनके समाज और साम्राज्य आदि वादों से हमारा परिचय प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। आधुनिक जीवन की ये धाराएं नई नहीं हैं, प्रकृति की ही अंग हैं। ये केवल नाम-रूप बदलकर प्रवाहित हो रही हैं। हमारा प्रयोजन तो जीवन-धारा से ही है, नाम-रूप से नहीं, इसलिए शाब्दिक हेर-फेर में न पड़कर हम यही देखेंगे कि ये अनेक नामावलियां जिन वस्तुओं का संकेत करती हैं उनका

प्रकृत स्वरूप क्या है? किस काल-क्रम से परिवर्तित होकर वे आज के रूप में परिणत हुई हैं। प्राकृतिक विकास में उनका क्या स्थान है? साहित्य की मीमांसा में उनके अनुरूप स्थिति क्या होगी? ये सभी प्रश्न उत्तर की प्रतीक्षा कर रहे हैं, संप्रति शब्दों की अत्यधिक भरमार और उनका यथार्थ इतिहास अज्ञात होने के कारण, पूर्व और पश्चिम की समीक्षा एकाधार पर स्थित नहीं हो पाती। सहस्रों वर्षों का विच्छेद हो जाने के कारण आज हम एक-दूसरे के सम्मुख अजनबी से जान पड़ते हैं। इस विच्छेदावस्था में यद्यपि जीवन की वही प्राकृतिक धारा बहती रही है, किंतु इसी बीच में नए-नए धर्मोत्थान हुए हैं। सभ्यता की नई-नई रूपरेखाएं बनी हैं और साहित्य भी नए-नए आदर्शों को लेकर विकसित हुआ है। आज विज्ञान की सहायता से बहुत दिनों के बिछुड़े मनुष्य दूर-दूर से आकर मिल रहे हैं। सारी आशाओं का संयोग हो रहा है। यद्यपि सबके स्वर भिन्न हैं, किंतु आज सम्मिलित ध्वनि हो रही है। यद्यपि देश, काल और जातीयता के भाव अभी दूर नहीं हुए, किंतु आज उनका रंग फीका है। बाहर समाज में वर्ग-भेद, वर्ण-भेद आदि के रहते हुए भी मनुष्य अंतस्तल में अपनी एकता का अनुभव कर रहा है। शिक्षा की उन्नति के साथ-साथ अंतर्राष्ट्रीय विचार-विनिमय और भी अधिक होगा तथा संसार अपने आंगिक भेदों के रहते हुए संस्कृति या विकास के संपूर्ण क्षेत्र में एक नियम का आग्रह करेगा। साहित्य समीक्षा भी अपनी प्रादेशिक आकृति और स्थानीय वेष-विन्यास में समयोचित परिवर्तन कर वह स्वरूप धारण करेगी जो आधुनिक युग के लिए अत्यंत अपेक्षित है। तभी वह विलीन होते हुए संकुचित भेदों और रूढ़ियों से सिर उठाकर नवीन अभ्युदयशील जीवन पर चतुर्दिक् दृष्टिपात कर सकेगी और तभी साहित्य का वास्तविक आकलन और मूल्य-निरूपण हो सकेगा। साहित्यालोचन की यही सार्वभौम मर्यादा स्थिर करना हमारा प्रधान कर्त्तव्य है।

दो जलाशयों के संगम के समय जल की जैसी चंचल गति होती है, आज मनुष्य समाज के विचारों की भी वैसी ही हो रही है। गत युगों की संपूर्ण धारणाओं का उच्छेद सा हो गया है। अनेक धाराएं एक धारा में परिणत होने का उद्वेग लिए हुए आज अपनेपन की आस्था खो चुकी हैं। प्रकृति की अनिवार्य आकांक्षा, नव-निर्माण को ही जानकर, आज संसार के विचारवान् मनुष्य, गंगा और यमुना की भांति अपनी-अपनी प्रादेशिक विद्याओं को तिरोहित होते देख मोहित नहीं हो रहे, वरन् अपूर्व प्रसन्नता से यह दृश्य देखकर प्रहर्षित हैं। समय के रंग-स्थल में शताब्दियों के अनंतर आज यह समारोह है। निश्चय ही ऐसे पुण्य योग बहुत कम घटित होते हैं। शास्त्रों का कथन है कि ऐसे मंगल मुहूर्तों में बाधाएं भी अधिक उत्पन्न होती हैं। जितने बड़े यज्ञ किए गए हैं, उतने बड़े अंतराय भी उपस्थित हुए हैं। इसलिए ऊपर उल्लेख की गई कठिनाइयों से शंकित होने की आवश्यकता नहीं है। जितनी ही इनकी मात्रा आज अधिक होगी, उतना ही भविष्य की साहित्य-प्रगति का पथ प्रशस्त होगा। प्रयाग की संगम-भूमि, गंगा और यमुना की संपूर्ण जल-राशि को सीपी के जल-बिंदु की भांति धारण करती है। पीछे वही मुक्ति बनती है, मुक्ति देती है। उसी भांति उसी युग के समीक्षक को गत शताब्दियों की साहित्य-धारा आंखों के पानी की भांति धारण करनी होगी। यह कम संतोष का विषय नहीं कि आज कठिनाइयों के रोड़े द्रवित होकर हमारे सम्मुख आए हुए हैं--आज विचारों की कठोर

शृंखलाएं आप ही टूट-सी गई हैं–पूर्ण मानसिक स्वतंत्रता का युग है। हमें केवल इस फैलते हुए जल-प्रसार को, जिसने नवीन संगम की उमंग में अपनी बंधी हुई सीमाएं छोड़ दी हैं, अपनी दृष्टि की प्रणाली में बांध लेना है। तभी यह साहित्य-सरिता देश-विदेश के उर-प्रदेश में बहती हुई, संसृति के विकास का कारण बन सकेगी, तभी जनता का हृदय-महासागर उसे पाकर धन्यमन्य होगा।

हमें मनुष्यों के संपूर्ण साहित्यिक इतिहास की आवृत्ति कर लेनी होगी। सब साधनों को एक साधन यही है। हमारी सारी समस्याएं इससे सिद्ध हो सकती हैं। कितनी ही क्लिष्टताएं जिनका निवारण दिग्गज पंडितों के सिद्धांत नहीं कर सकते, इतिहास का एक पन्ना कर देता है। कहा नहीं जा सकता कि सिद्धांत-निरूपण की शैली से आज-तक संसार की एक भी समस्या हल हुई है, इसलिए इसका आश्रय ही छोड़ देना चाहिए। इसके बदले मानव-विकास के क्रम से चलने से वे सब वस्तुएं, जिनकी आज साहित्य में जिज्ञासा हो रही है, हमें यथास्थान प्राप्त होंगी और उनका यहीं निर्णय हो जाएगा। इतिहास के अध्ययन से सांस्कृतिक विकास की अनेकविध रूप-रेखाएं प्रकाश में आएंगी। सौंदर्य और नीति और प्रेम की शतश: प्रतिमाएं प्रकट और संगृहीत होंगी। इन जीवन-तत्त्वों के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुए बहुरंगी चित्र अपनी विशेषता के साथ सामने आएंगे। साहित्य-समीक्षक का यह कर्त्तव्य है कि वह इन तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप उद्घाटित करे और इनके पारस्परिक संयोगों की ओर भी ध्यान दे। साहित्य के जो नव रस भारतीय विचारकों ने निरूपित किए हैं, उनकी समय समय पर बड़ी दुरुपयोगिनी और रूढ़िग्रस्त दशा हो गई है। विद्वानों को चाहिए कि संस्कृति के ऊंचे स्वरूप के साथ रसों का अभिन्न संबंध स्थापित करें और पुन:-पुन: उसकी प्रतिष्ठा करते रहें।

एक प्रश्न यहां अब भी शेष रह जाता है। वह यह कि संस्कृति से भिन्न-भी कोई तत्त्व है, जो साहित्यिक साधना का विषय बन सकता है, या नहीं। हमारे विचार से उससे कोई भिन्न वस्तु है ही नहीं। सर्वोच्च वेदांत शास्त्र के पृष्ठ-पोषक यह कह सकते हैं कि मानवीय संस्कृति मिथ्या वस्तु है, वह माया ही है, पर यह केवल दृष्टि भेद से उत्पन्न हुआ भ्रम है। वास्तव में वेदांत का ब्रह्म-तत्त्व सर्वोत्कृष्ट सांस्कृतिक विकास का ही पर्याय है। यह तथ्य अधिकाधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

प्रवृत्तिवाद और निवृत्तिवाद, जिनका साहित्यिक स्वरूप क्रमश: Realism और Idealism के नाम से प्रचलित है, दोनों ही बौद्धिक विकास के पथ हैं। ये स्वत: संकुचित हैं, अत: व्यापक साहित्य-दृष्टि का प्रसार नहीं कर सकते। जब ये सारी एकांगी प्रवृत्तियां दूर हो जायेगी तभी सर्वोत्कृष्ट साहित्य की सृष्टि हो सकेगी। वेदांत की ऐसी ही निष्पक्ष और निर्लेप तत्त्व की शिक्षा है। उसमें संसार के मिथ्यात्व का निरूपण इसलिए किया गया है कि यही निष्पक्ष और सर्वोच्च दृष्टि प्राप्त हो।

इस ऊंचे भाव पर पहुंचकर संस्कृति अत्यधिक प्रौढ़ हो उठती है। प्रकृति की निहित शक्तियां अपनी सारी क्षुद्रता को त्यागकर प्रकट होती हैं और अपने शाश्वत स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती हैं। यही सत् या आनंद स्वरूप है, जिसका प्रकाश सभी चुने हुए श्रेष्ठ साहित्यिकों ने किया है। भारतवर्ष की तो यह प्रधान शिक्षा और साधना ही है।

साहित्य के श्रेष्ठ समीक्षक भी इसी उच्चतम भाव की धारणा रखते हैं और उसका ही अन्वेषण करते हैं। इस कारण कोई निम्नतर वस्तु उनकी दृष्टि से बच नहीं सकती, वह किसी प्रकार की निम्नता, आंतरिक दौर्बल्य, बौद्धिक शैथिल्य या स्खलन को क्षमा नहीं कर सकते। उनका लक्ष्य भी संस्कृति की वही पूर्णता है, जो सभी श्रेष्ठ साहित्यिकों का एकांत लक्ष्य है।

देश और काल के पक्षों को वह स्थान देगा, पर उन्हें साधन के रूप में स्थान देगा। साध्य तो उसका वही है, सर्वोच्च संस्कृति। प्रकृति की विभिन्नताएं भी उसे स्वीकार होंगी, पर वह इन संपूर्ण स्थितियों से उच्चातिउच्च आनंद निष्पन्न करने का सदैव लक्ष्य रक्खेगा।

साथ ही हमें यह न भूलना चाहिए कि साहित्य एक स्वतंत्र शास्त्र भी है और उसके अनेक उपकरण भी निर्मित होकर प्रचलित हुए हैं। इस साहित्य-तंत्र को भी साधन रूप में ही ग्रहण करना होगा, साध्य रूप में कदापि नहीं।

साहित्य या कला-वस्तु को विद्वानों ने कई प्रकार से जीवन-तत्त्व से संबोधित करने की चेष्टा की है। उसके उन प्रभावशाली अंगों को भली-भांति संगृहीत कर, जीवन-विकास या संस्कृति का उनकी सहायता से उन्नयन करना सभी श्रेष्ठ साहित्यिकों का एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए। चाहे कोई 'कला के लिए कला' के सिद्धांत को लेकर अग्रसर हो अथवा जीवन-विकास के अंतर्गत कला को आत्मसात् कर अग्रसर हो, साहित्य का लक्ष्य तो सदैव एक ही रहा है और रहेगा—वह है आनंद या रस का उद्रेक। इस युग के साहित्य-समीक्षक के सामने जो अनेक जटिल समस्याएं हैं, उनका निराकरण करने का सबसे सरल उपाय यही है कि वह आनंद-तत्त्व की अधिकाधिक पहचान और संचय करे तथा कृत्रिम उत्तेजना, उन्माद तथा स्थूल भावों के स्थान पर सच्चे उत्साह, शृंगार, सौंदर्य, प्रकाश और आनंद का पथ प्रशस्त बनाये।

[संपादकीय। 'हंस', सितंबर, 1936 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में सकलित।]

भूमिकाएं
एवं
समीक्षाएं

'हंस' के काशी-अंक का प्रथम पृष्ठ

कृष्ण कुंवर

हमारे पास 'हिन्दुस्तान के मशहूर लिखने वाले, हकीम बरहम साहब का उपन्यास 'कृष्ण कुंवर' रिव्यू के लिए आया है। इसके पहले कि हम उस पर कुछ लिखने का साहस करें अच्छा होगा कि हम उपन्यास के सिद्धांत और अंगों को पाठकों के सामने प्रस्तुत करें। उपन्यास अंग्रेजी साहित्य-आलोचकों की राय में शब्दचित्रों का एक संग्रह होता है। कहानी और उपन्यास में केवल यह अंतर होता है कि कहानीकार केवल घटनाओं का चित्रण करता है और उपन्यासकार घटनाओं को रंगीन शब्दों में पेश करके कोशिश करता है कि उनकी बोलती हुई तसवीर आंखों के सामने खींच दे। उपन्यास का क्षेत्र सम्प्रति बहुत विस्तृत हो गया है। कहीं तो उसमें जिंदगी के किसी अहम मसले पर बहस की जाती है, जिसकी मुहम्मद अली साहब ने बड़ी कामयाबी के साथ कोशिश की है, कहीं उसमें मानव स्वभाव की व्याख्या की जाती है, हृदय के भावों, आशाओं और निराशाओं के नक्शे उतारे जाते हैं, कहीं नैतिक बुराइयों को दूर करने की कोशिश की जाती है। उपन्यासकार कभी मित्र का काम करता है और कभी उपदेशक का, कभी दार्शनिक बनता है कभी आयुर्वेद का पंडित। इस तरह उपन्यास खुद एक विधा हो गई है और साहित्य की अन्य विधाओं की भांति उसके भी विविध प्रकार हैं–जैसे सामाजिक उपन्यास, जासूसी उपन्यास, आचार और नैतिकता के उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यास आदि। फिलहाल हमको दूसरी किस्मों से कोई बहस नहीं। हमारे पास रिव्यू के लिए जो उपन्यास आया है वह ऐतिहासिक है क्योंकि उसमें इतिहास से सहायता ली गई है और हम नीचे की पंक्तियों में देखेंगे कि ऐतिहासिक उपन्यास के रूप में वह कितने महत्त्व का आधकारी है। ऐतिहासिक उपन्यास की परिभाषा इस तरह की जा सकती है कि वह बीती हुई घटनाओं और जिस युग में वे घटनाएं हुईं उनका एक रंगीन फोटो है। लेखक महोदय ने केवल ऐतिहासिक घटनाओं का एक बहुत धुंधला खाका खींचा है, जिसको देखकर न घटनाओं ही का चित्र आंखों के सामने आता है और न उस युग के सामाजिक जीवन का। इसमें कोई संदेह नहीं कि कहीं-कहीं रंग भी चढ़ाया है मगर बहुत फीका। ऐतिहासिक निष्कर्ष सामान्य रूप से यह निकलता है कि उस युग में आपसी फूट और भेद-भाव का बाजार गर्म था। बस। इतनी बात तो हर व्यक्ति मामूली इतिहास के अध्ययन से भी जान सकता है।

मगर यह हमारी हठधर्मी है अगर हम हकीम साहब को इस बात के लिए दोष दें कि उन्होंने इस उपन्यास को ऐतिहासिक उपन्यास की हैसियत से किसी ऊंचे स्थान पर पहुंचाने में सफलता नहीं पाई। उन्होंने इस बात की कोशिश ही नहीं की। वह भूमिका में खुद कहते हैं, 'इस उपन्यास के प्रकाशन में मेरा असल उद्देश्य यह है कि फखउलमुल्क

आलीजनाब नवाब मीरखां साहब बहादुर, रियासत टोंक, पर जो अभियोग इतिहासकारों ने लगाया है वह उठ जाये और मालूम हो जाये कि कृष्ण कुंवर की हत्या में दरअसल किसका कसूर था।' इस प्रकार इस उपन्यास का उद्देश्य सामान्य न होकर विशेष है और इस ऐतिहासिक अभियोग का खंडन करने के लिए उचित था कि हकीम साहब इतिहास के पन्नों की ओर ध्यान देते और कुछ घटनाओं की जांच-पड़ताल निष्पक्षता से करके एक जोरदार गवेषणापूर्ण लेख लिखते। तब शायद इस अभियोग का खंडन हो सकता। मगर कहानी से किसी ऐसी ऐतिहासिक घटना का खंडन करना, जिसको बहुत से प्रामाणिक और विश्वसनीय इतिहासकारों ने सच्चा साबित कर दिया हो, एक व्यर्थ की कोशिश है। बल्कि यों कहिए कि ऐतिहासिक घटनाएं कहानी में मिलाने से उनका महत्त्व और भी कम हो जाता है क्योंकि जनसाधारण स्वाभाविक रूप से कहानी को यथार्थ से दूर समझते हैं। अगर हम यह भी मान लें कि इस तरह के उपन्यास उर्दू भाषा में नहीं लिखे गये हैं तो भी हकीम साहब का उद्देश्य पूरा नहीं होता क्योंकि इस किताब के पढ़ने से पाठकों को मीर खां साहब से किसी तरह की हमदर्दी नहीं पैदा होती। इस बात को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है कि थोड़े से शब्दों में प्लाट बयान किया जाये।

उपन्यास की नायिका महाराणा उदयपुर, मेवाड़ की इकलौती लड़की थी। उसकी मंगनी जोधपुर के राजा भीमसिंह से हुई थी मगर शादी से पहले राजा की मृत्यु हो गई। उसका भाई मानसिंह उसकी जगह गद्दी पर बैठा। संयोगवश, स्वर्गीय राजा की एक रानी गर्भवती थी और सवाईसिंह ने, जो जोधपुर का जागीरदार होने के अलावा भीमसिंह के जमाने में मंत्री भी रह चुका है, जोधपुर के तमाम रईसों को चंपावत नामक स्थान पर जमा करके इस बात को जाहिर किया। इस पर मानसिंह ने स्वीकार किया कि अगर रानी के कोई लड़का हुआ तो वह मेरा उत्तराधिकारी होगा। नियत समय पर रानी के एक लड़का पैदा हुआ जिसका नाम धोंकलसिंह रक्खा गया। चूंकि रानी को अपने लड़के की जीवन रक्षा के संबंध में आशंका थी उसने उसको चोरी-चोरी सवाईसिंह के पास भेज दिया जिसने दो बरस तक गुप्त रूप से उसका लालन-पालन किया। उस वक्त उसने फिर जोधपुर के रईसों को जमा किया और मानसिंह ने दुबारा वादा किया कि मैं अपने निश्चय पर दृढ़ रहूंगा। मगर जब धोंकलसिंह बालिग हुआ तो राजा अपने कौल से फिर गया और छान-बीन करनी शुरू की कि धोंकलसिंह स्वर्गीय भीमसिंह का बेटा है या नहीं। रानी के मातृप्रेम पर भय की जीत हुई। उसने धोंकलसिंह की मां होने से साफ इंकार किया। सवाईसिंह, जिसकी हजारों उम्मीदें धोंकलसिंह के गद्दी पर बैठने से जुड़ी हुई थीं, घटनाओं के इस तरह पलट जाने से बहुत गुस्सा हुआ। उसने खुल्लमखुल्ला मानसिंह के खिलाफ बगावत का झंडा बुलंद किया और यह सोचने लगा कि किस तरह राजा को जड़ से उखाड़ दूं। उसको बहुत जल्द एक तरकीब सूझ गई।

चूंकि कृष्ण कुंवर की मंगनी स्वर्गीय राजा भीमसिंह से हुई थी अब उसके जाति-अभिमान का तकाजा था कि उसका उत्तराधिकारी मंगेतर को ब्याह लाये। वंश की प्रतिष्ठा यह कब सह सकती थी कि जोधपुर की मंगेतर को कोई और ब्याह ले जाये। अतः मानसिंह महाराजा मेवाड़ से बातचीत कर रहा था। सवाईसिंह ने मानसिंह को चोट पहुंचाने के लिए इस नाजुक मामले को पसंद किया।

जयपुर का राजा जगतसिंह एक विलासी विषयी व्यक्ति था। सवाईसिंह ने उसके सामने कृष्ण कुंवर के दाहक रूप की खूब तारीफें कीं और धोंकलसिंह की खूब वकालत की। आखिर राजा बिना उसे देखे ही इस मेवाड़ की देवी का प्रेमी बन गया। इस तरह सवाईसिंह ने दो राज्यों में फूट का बीज बो दिया।

चूंकि राजा जगतसिंह अकेले राजा मानसिंह का मुकाबला न कर सकता था उसने बहुत रुपया खर्च करके नवाब मीरखां साहब (जिनको इल्जाम से बरी करने के लिए यह किताब लिखी गई है) और मरहठे सदाशिव राव और कुछ दूसरे राजाओं को अपना साथ देने पर राजी कर लिया। इधर सवाईसिंह ने अपनी व्यवहार-चातुरी से मानसिंह के दोस्तों और मददगारों को तोड़कर उन्हें अपना तरफदार बना लिया। चुनांचे जब लड़ाई शुरू हुई तो मानसिंह के साथ चलने वाले सिर्फ चार सरदार रह गये। तो भी उसने रणक्षेत्र से मुंह मोड़ना मर्दानगी के खिलाफ समझकर खूब बहादुरी दिखलाई। जब उसकी तमाम फौज वहीं ढेर हो गई तो उसने लाचार होकर अपने वफादार सरदारों की सलाह से भाग कर जोधपुर के किले में शरण ली। जयसिंह इस विजय से फूल उठा। एक दूत अपना संदेश लेकर राजा मेवाड़ के पास भेजा और खुद जोधपुर के किले पर घेरा डालने की तैयारियां करने लगे।

इसी बीच नवाब मीरखां साहब के जासूसों ने खबर पहुंचाई कि जयपुर का खजाना अब बिल्कुल खाली है। इतना सुनना था कि नवाब साहब ने फौरन जयपुर पर धावा कर दिया। जगतसिंह तो कोसों की दूरी पर पड़ा हुआ घेरे की तैयारियां कर रहा था, बस खां साहब ने खाली मैदान पाकर खूब बढ़-बढ़कर हाथ मारे। शाही खजाने का भी वारा-न्यारा किया और रिआया को सताने से जो कुछ हाथ लगा वह ले-देकर अपना रास्ता लिया।

अब लेखक महोदय से हमारा यह प्रश्न है कि यह हरकत नवाब साहब की वफादारी का दर्पण है या बेवफाई का? पहले तो जयपुर का खजाना भरा देखकर उसकी तरफ ढले। जब देखा कि अब उससे और कुछ हाथ लगता नजर नहीं आता तो पुराने संबंध बिल्कुल भूल गये और आस्तीन का सांप होकर बेचारे जगतसिंह ही को काट खाया। यह कहां की पालिसी है। अगर इस तबाही और बर्बादी से उनका मतलब जोधपुर की भलाई करना था तो इस लड़ाई की क्या जरूरत थी? लड़ाई-झगड़े के बगैर भी फैसला हो सकता था। लड़ाई के वक्त जगतसिंह को सलाम करके मानसिंह से आ मिलते, जगतसिंह इस तरह निहत्था होकर मुकाबले की हिम्मत न करता, तो लड़ाई होती न झगड़ा। इसमें कोई शक नहीं कि इस तरह काम करने से नवाब साहब पर दगाबाजी का अभियोग लगता मगर अब तो एक छोड़ तीन-तीन अभियोग लगते हैं। दगाबाजी, बर्बादी और मक्कारी। क्योंकि लेखक महोदय एक ऐतिहासिक घटना को झुठलाने बैठे थे इसलिए मुनासिब होता कि वह नवाब साहब के इस व्यवहार का स्पष्टीकरण करते। इतिहास न झूठा होता न सही, उनका मतलब तो हासिल हो जाता। मगर सारी किताब में इस घटना पर रोशनी डालने की कहीं कोशिश नहीं की गयी। संक्षेप में, यह कार्यपद्धति चाहे व्यवहार-चातुरी पर आधारित हो चाहे वीरता या प्रयोजन पर मगर इसमें कोई संदेह नहीं कि मीर साहब के सिर पर यह अभियोग अनंत काल तक रहेगा। हम यह नहीं कहते कि इतिहास के

पन्नों में ऐसे उदाहरण नहीं हैं। यूरोप वालों और अन्य सभ्य राष्ट्रों के इतिहास इन घटनाओं से भरे पड़े हैं। मगर जहां ऐसे उदाहरण होते हैं, हमेशा अपमान की दृष्टि से देखे जाते हैं और कोई व्यर्थ में पब्लिक के सामने रूखे-फीके पचड़े गाकर कौवों को हंस बनाने की कोशिश नहीं करता।

जयपुर का सत्यानाश करने के बाद नवाब साहब जोधपुर की ओर झुके। राजा बेचारा हार खाकर मुंह खोले बैठा था। मीर साहब की दोस्ती को एक अप्रत्याशित वरदान समझा। बड़ी अच्छी तरह पेश आया, यहां तक कि मीर साहब ने पगड़ियों की भी अदला-बदली की, जो एकता का सबसे पक्का प्रमाण समझा जाता है। अब क्या था, मानसिंह ने अपना सारा खजाना नवाब साहब के सामने खोल दिया और नवाब साहब ने बजाय इसके कि रुपया अपने काम में लाते उसी वक्त फौज में बांट दिया और जोधपुर के नमक ने यहां तक जोर बांधा कि सवाईसिंह को उसकी बगावत का मजा चखाने के लिए तैयार हो गये। उसे अपने साथियों समेत एक दावत में बुलाया और गोलियां चलवा दीं। जिस आदमी ने ऐसी अनोखी हरकतें की हों उसकी वकालत करना हमारे लेखक महोदय ही का काम है। माना कि सवाईसिंह ने बगावत की मगर वह आश्चर्यजनक दृढ़ता के साथ अपने इरादों पर डटा रहा। अगर उसकी बगावत की सजा यह समझी गई कि उसको दगाबाजियों का शिकार बनाया जाए तो हम नहीं कह सकते कि मीर साहब को उनकी हरकतों के लिए क्या सजा मिलनी चाहिए।

हम नीचे नवाब मीर खां साहब की जबान से टपके हुए कुछ जुमले लिखते हैं जिनसे उनके स्वभाव और विचारों का साफ पता चलता है।

1. जगतसिंह ने जब बातचीत के दौरान में कहा कि मैंने यह लड़ाई धोंकलसिंह के वास्ते मोल ली है तो खां साहब ने फरमाया 'अजी राजा साहब, आप मुझसे ऐसी बातें करते हैं और मुझे बनाते हैं। किसी गैर आदमी के लिए कोई इतनी हमदर्दी खर्च करने वाला नहीं हैं।' गोया जरूरतमंदों की मदद करना आदमी के फर्ज में दाखिल नहीं।

2. आगे चलकर मानसिंह से सवाईसिंह का जिक्र करते हुए फरमाते हैं 'खुदावंदतआला ने उसको उसके बुरे कामों की सजा दी। वह अपने अंजाम को पहुंचा। ऐसे नमकहरामों के साथ दगा-फरेब जो कुछ किया जाए उसका कुछ गुनाह नहीं और लड़ाई तो धोखेधड़ी का नाम है।' क्या ऊंची कसौटी है लड़ाई की। सवाईसिंह जो अपने पुराने राजा के बेटे के लिए अपनी जान न्यौछावर कर रहा है नमकहराम है और नवाब साहब जो रुपये के लिए ऐसी गंदी हरकतें करते हैं कि जबान खामोश हो जाती है, नमकहलाल हैं और बहादुर हैं और अपनी जाति का गौरव हैं।

अब हम किस्से का आखिरी और दर्दनाक वाकया बयान करते हैं। राजा उदयपुर यानी कृष्ण कुंवर का बाप जगतसिंह और मानसिंह दोनों से डरता है। उसका खजाना खाली है। चारों तरफ मुसीबतों से घिरा हुआ है। कभी तो जयपुर की तरफ ढलता है कभी जोधपुर की तरफ। इसी बीच नवाब साहब सवाईसिंह को जहन्नुम रसीद करने के बाद जोधपुर के वकील बनकर उदयपुर तशरीफ ले जाते हैं और राजा साहब से मुलाकात करके उनको एक ऐसी हमदर्दी से भरी हुई सलाह देते हैं जिसका नतीजा यह होता है कि कृष्ण कुंवर के गले पर छुरी फिर जाती है। हकीम साहब फरमाते हैं कि कृष्ण कुंवर की हत्या राजा

उदयपुर ने अपनी मर्जी से की, इसका इल्जाम नवाब साहब पर नहीं है। मगर क्या वजह है कि नवाब से मुलाकात होने के बाद ही राजा साहब ने ऐसा भयानक निश्चय किया। दोनों प्रतिद्वंद्वियों को रक्तपात के लिए तत्पर देखकर क्यों न लड़की का खात्मा कर दिया जाय जिससे हजारों खुदा के बंदों की जानें बच जातीं।

निश्चय ही नवाब साहब ने इस बात पर जोर दिया होगा और यही नहीं राजा साहब को मजबूर किया होगा क्योंकि उनको ऐसी हरकत पर मजबूर करने से नवाब साहब को अपनी हिफाजत का यकीन था। वह खूब जानते थे कि गो इस वक्त मानसिंह दबकर मेरी खुशामद कर रहा है मगर ज्यों ही मौका पाएगा जरूर बुरी तरह पेश आएगा और यकीनी बात थी कि जब कृष्ण कुंवर की शादी मानसिंह से होती तो दोनों राज्यों में जरूर मेल हो जाता और मानसिंह यह नई कुमक पाकर नवाब साहब को जरूर पुरानी बदमाशियों का मजा चखाता। उसी तरह यह आसानी से समझ में आ जाने वाली बात है कि उदयपुर और जयपुर में संबंध स्थापित होना खां साहब के वास्ते भी कुछ कम खतरनाक नहीं था क्योंकि उस सूरत में जगतसिंह उदयपुर की मदद पाकर चाबुक लिए हुए नवाब साहब के सर पर आ पहुंचता। अत: इन काल्पनिक विपत्तियों की काट उन्होंने यही सोची कि किसी तरह इस लड़की को मरवा डालूं। हकीम साहब किताब के खात्मे पर एक नोट में लिखते हैं, 'मीरखां ने एक मुनासिब राय दी थी कि आप महाराजा मानसिंह के साथ शादी कर दें। वह इसका अधिकारी भी है और लड़की पर जान भी देता है।'

यह सलाह बेशक अच्छी थी मगर उपन्यास में इसका कहीं जिक्र नहीं आया। नोट उपन्यास का कोई हिस्सा नहीं है। मुनासिब होता कि हकीम साहब किसी अध्याय में राजा उदयपुर और खां साहब की मुलाकात करवाते और इस मुलाकात में खां साहब के मुंह से यह शब्द निकलवाते। उस सूरत में ऐतिहासिक घटना को पलटना तो खैर कठिन है लेकिन हां इतना हो जाता कि पढ़ने वालों के दिलों में खां साहब से कुछ हमदर्दी हो जाती और शायद उनके निरपराध होने का विश्वास भी हो जाता। मगर सारे उपन्यास में इसको स्पष्ट रूप से तो क्या इशारे से भी नहीं लिखा गया बल्कि एक व्यक्ति जवानदास की जबानी, जो कृष्ण कुंवर के पास मौत का पैगाम लेकर आया है, यह शब्द कहलाए हैं, 'बात यह है कि मीर खां जोधपुर से आए हुए हैं। उन्होंने दरबार में कहा कि तुम अपनी लड़की पद्मिनी की शादी मानसिंह के साथ कर दो। श्री दरबार ने कहा, जयपुर वाला बिगड़ा हुआ है, मैं उसका मुकाबला नहीं कर सकता....इस पर मीरखां ने कहा, अगर तुमको यह डर है तो इस सब फिसाद की जड़ उस लड़की को ही मार डालो ताकि हजारों खुदा के बंदों की जानें बर्बाद न हों, एक ही जान पर खात्मा हो जाय।'

इन अंतिम शब्दों से मीरखां का साहस या उनकी वीरता हरगिज प्रकट नहीं होती बल्कि पहले के कायरतापूर्ण कृत्यों का मिलान जब इनसे कीजिए तो मक्कारी की बू पाई जाती है। खूब, आदम के बेटों की आपसी मारकाट को रोकने का खयाल इसी आदमी को पैदा हुआ जो कुछ दिन पहले जयपुर को लूटने से न हिचका और जिसने हजारों बेगुनाह खुदा के बंदों के खून से अपने हाथ रंगे। और जरा लेखक की गलती तो देखिए कि वह जो इल्जाम खां साहब के सिर से उठाने बैठे थे वह और भी उन पर थोप दिया यानी खां साहब ने राजा उदयपुर के सामने दो रास्ते पेश किये—या तो कृष्ण कुंवर की

शादी मानसिंह से कर दे या उसको मार डाले। पहली सूरत में यह बाधा थी कि जगतसिंह बिगड़ा हुआ है, दूसरी सूरत खतरों से खाली थी और नवाब साहब ने राजा साहब को यही तरीका अख्तियार करने की राय दी। खूब वकालत की। मीरखां साहब इस खता को कभी माफ न करेंगे। उनकी रूह को इस इल्जाम के लद जाने से सदमा पहुंचेगा।

अगर हम मान लें कि मीरखां साहब ने राजा उदयपुर को जो सलाह दी वह बिलकुल उपकार-भावना पर आधारित थी तो हमें मानना होगा कि उनके स्वभाव में एक बड़ी क्रांति हुई है एक सजग उपन्यासकार इस मानसिक परिवर्तन को इस खूबी से दिखाता कि एक नैतिक निष्कर्ष निकालने के अलावा उसमें मनोवैज्ञानिक उपन्यास का मजा जाता हकीम साहब आगे चलकर इसी नोट में फिर लिखते हैं, चह महाराणा की कमजोरी थी कि अपने खानदान की प्रतिष्ठा को उन्होंने कायम न रखा और लड़ाई के डर से अपनी कुंवारी लड़की को सख्त बेरहमी से मार डाला। मीरखां को वह जवाब दे सकते थे और अगर वह न मानते तो महाराणा उनको तलवार के जोर से मनवाकर छोड़ते....जब कृष्णा कुंवर कत्ल हो चुकी तो खुद मीरखां साहब ने महाराणा को कायल किया कि तुम इस राजपूती पर मरते हो।

सच पूछिये तो सारे किस्से का निचोड़ इसी नोट में मौजूद है बल्कि इसके लिखने से उपन्यास की कोई जरूरत ही नहीं बाकी रह जाती। हम मानते हैं कि महाराणा अपनी लड़की को कत्ल करने पर राजी हुए। वह इसके सिवाए और क्या कर सकते थे? उनकी हालत ऐसी कमजोर हो रही थी कि खानदान की प्रतिष्ठा को कायम रखने का सवाल तो दूर रहा खुद अपने राज्य का अस्तित्व बनाए रखने की चिंता में गोते खा रहे थे। इस बेचारगी में मीर साहब की बात न मानते तो क्या करते? अगर उनमें इतनी ही ताकत होती कि मीर साहब को तलवार के जोर से मनवाकर छोड़ते तो अपनी लड़की को कत्ल ही क्यों करते? जगतसिंह से लड़ न जाते? और लड़ जाना आसान भी होता क्योंकि मानसिंह भी साथ देता और शायद मीर खां साहब भी हाथ बटाते। इन तीनों राज्यों के मुकाबले में जगतसिंह अकेले क्या बना लेता। यह बात शायद महाराणा उदयपुर के ध्यान में आयी ही नहीं। बस यही खयाल होता है कि मीरखां साहब को मानसिंह और राणा साहब के बीच मेल हो जाना नागवार था, जिसके कारण स्पष्ट हैं। इसलिए उन्होंने कृष्ण कुंवर की हत्या के लिए प्रेरित किया होगा और राणा साहब 'विनाश काले विपरीत बुद्धि' के अनुसार खां साहब जैसे गाजी मर्द की बात को टालना समझदारी से खाली समझते होंगे। खां साहब इल्जाम से उस हालत में बरी हो सकते थे अगर वह जगतसिंह को डरा धमकाकर दबा लेते और तब मानसिंह की शादी बिना किसी झंझट के कृष्ण कुंवर से हो जाती, जगतसिंह अकेले मानसिंह का कुछ न बिगाड़ सकता क्योंकि अगर उसमें यह योग्यता होती तो लड़ाई शुरू होने से पहले उसने मीरखां साहब से सहायता की प्रार्थना न की होती।

[उर्दू पुस्तक-समीक्षा। 'जमाना', फरवरी, 1905 में प्रकाशित। उर्दू में असंकलित। हिन्दी रूप 'विविध प्रसंग' भाग-1 में संकलित।]

'आईने कैसरी' और 'महारिबाते अज़ीम'

आईने कैसरी[1]

कुछ अर्सा हुआ कि मिस्टर गेमेशचंद्र दत्त ने एक अंग्रेजी किताब 'महारानी विक्टोरिया के शासन काल में हिन्दुस्तान' में लिखी थी जिसका सिर्फ हिन्दुस्तान ही में बड़े उत्साह से स्वागत नहीं किया गया बल्कि अमरीका और इंग्लिस्तान के विद्वानों ने भी उसको बहुत सराहा। कुछ अंग्रेजी विचारकों ने उसको सर विलियम हंटर के अनमोल और स्मरणीय इतिहास के बराबर ठहराया। हमारी उर्दू जबान में इस तरह की कोई किताब न थी कि जिसको पढ़कर उर्दूदां पब्लिक अपनी सरकार और उसकी तबदीलियों और तरक्कियों का हाल मालूम कर सके। मौलवी जकाउल्ला साहब ने इस आम जरूरत को पूरा किया है। मगर जहां मिस्टर दत्त की किताब शुरू से आखिर तक नयी-नयी खोजों और सार्थक आंकड़ों और प्रमाणों से भरी हुई है, मौलवी साहब की किताब महज कुछ अंग्रेजी किताबों का ज्यों-का-त्यों तर्जुमा है। मिस्टर दत्त ने गवर्नमेंट के अंधेरे और रौशन दोनों पहलुओं पर निष्पक्ष होकर दृष्टि डाली है और सारी किताब में ऐसी-ऐसी समझदारी की सलाहें दी हैं कि अगर गवर्नमेंट उन पर अमल करे तो रिआया के लिए सचमुच सतयुग का जमाना आ जाएं। मगर मौलवी साहब ने शुरू से लेकर आखिर तक एक कवित्त गाया है, जो गद्य में होने से बिलकुल बदमजा हो गया है। काश इन्हीं घटनाओं पर मौलवी साहब कसीदा लिखते तो वह ज्यादा आदर से देखे जाने का अधिकारी होता।

मौलवी साहब उर्दू आसमान के सूरज हैं। जब तक उर्दू जबान जिन्दा रहेगी आपका नाम मध्याह्न के सूर्य की तरह चमकता रहेगा। मगर सिर्फ एक विद्वान भाषाविद की हैसियत से। उनके इतिहास, जिन पर उन्होंने अपने बुढ़ापे को कुर्बान कर दिया है, बहुत जल्द भुला दिए जाएंगे। मौलाना हाली का 'हयाते जावेद' मौलना आजाद की 'आबे हयात' मौलाना हैरत देहलवी की 'तारीखे हमीदिया' बेशक इस काबिल हैं कि उर्दू साहित्य का बेहतरीन नमूना करार दी जा सकें। मगर मौलवी साहब की 'आईने कैसरी' हरगिज इस रुतबे का दावा नहीं कर सकती।

यूं तो सर सैयद अहमद खां के सांस्कृतिक और राष्ट्रीय सिद्धांतों से हमेशा विरोध रहा मगर सच बात यह है कि अभी तक हमको उन उसूलों के मतलब कुछ यों ही से मालूम थे। मौलवी जकाउल्ला साहब ने उन तमाम उसूलों के माने सूरज की तरह रौशन कर दिए हैं।

एक ऐसी किताब पर जिसकी मोटाई ढाई सौ पन्नों से कम नहीं और जिसमें हिन्दोस्तान की पेचीदा गवर्नमेंट के अनेक विभागों पर रायजनी की गई है कुछ पन्नों में उसका निर्णय करना बहुत मुश्किल है। लिहाजा हम कुछ खास और मार्के के लेखों से उद्धरण देकर पाठकों के सामने पेश करते हैं।

1. लेखक-खान बहादुर शम्सुलउलमा मौलाना मौलवी जकाउल्ला साहब देहलवी।

हिन्दुस्तानियों का ऊंचे ओहदे पर नियुक्त होना

मौलवी साहब ख़याल फरमाते हैं कि हिन्दुस्तानियों के हाथों में जो अधिकार इस समय हैं, वही औचित्य की सीमा को लांघ गए हैं। उनके हाथों में और अधिकार देना रिआया के लिए नुकसानदेह और गवर्नमेंट के लिए खतरनाक होगा। इस बात को कभी नहीं भूलना चाहिए कि इस उसूल के कायम रखने में हमको जरा भी हिचक कभी न होगी कि हिन्दोस्तान के आदमियों के लिए हमारे कर्त्तव्यों में से पहला कर्त्तव्य यही था कि हम अपनी सल्तलत की सलामती की खैर मनाएं। हमको अपनी व्यवस्था के लाभप्रद होने का पूरा विश्वास है और पक्की धारणा है कि अगर हम अपनी गवर्नमेंट हिन्दोस्तानियों के हवाले कर दें तो अराजकता और व्यवस्था दोबारा दिखाई देगी। इसलिए हमारी गवर्नमेंट की दृढ़ता और स्थायित्व के लिए यह पालिसी बुनियाद होनी चाहिए कि ऊंचे ओहदों पर ज्यादातर अंग्रेजों की नियुक्ति हो। यह एक असली चीज है।'[1]

मौलवी साहब को सख्त अफसोस है कि इस मुल्क में अदालत और एक्जिक्यूटिव सबकी व्यवस्था हिन्दोस्तानियों ही के हाथ में है। काश, और अंग्रेज आ जाते। फरमाते हैं 'लोग जो यह मानते हैं कि हिन्दोस्तान में सिविल इंतजाम का बड़ा हिस्सा इंगलिशमैन के हाथ में है और इसमें हिन्दोस्तानी ऊंचे ओहदों के पाने से वंचित हैं, इससे ज्यादा कोई बात सच से परे नहीं हो सकती।' मौलवी साहब खुद म्योर कालेज के प्रोफेसर हो गए थे। उनके नजदीक अब इससे ऊंचा कोई ओहदा क्यों होने लगा जिसकी कोई हिन्दोस्तानी कोशिश करे। इसी सिलसिले में फिर फरमाते हैं, 'पब्लिक सर्विस में हिन्दोस्तानी मुलाजिमों की तादाद बढ़ती जाती है। इंग्लैंड में बहुत ही थोड़े अंग्रेज मुकर्रर होते हैं। उनके सिवा बिरली ही कोई ऐसी सूरत होगी जिस पर हिन्दोस्तानी न मुकर्रर होते हों।' अफसोस ! एक अंग्रेज जो विलायत में हिन्दोस्तानी ओहदा पाता है, उसकी तनख्वाह आमतौर पर ढाई सौ क्लर्कों के बराबर होती है। और बहुत बार इससे कहीं ज्यादा।

क्या मौलवी साहब नहीं जानते कि किसी जमाने में यह ऐक्ट पास हुआ था कि किसी महकमे में दो सौ या इससे कम के ओहदों पर कोई अंग्रेज न रखा जाए। आज तारघर और सेक्रेटेरियट और इंस्पेक्टर जनरल का दफ्तर, रेल का महकमा और खुदा जाने कितनी सरकारी दफ्तर हैं, जिसमें पचास रुपये से ज्यादा तनख्वाह के जितने ओहदे हैं उन पर अमूमन यूरपियन नजर आते हैं। कई महकमे तो ऐसे हैं जिनमें कोई हिन्दोस्तानी नजर ही नहीं आता। अगर हम यह भी माने लें कि हमारे हाथों में छोटे-छोटे सौ-दो सौ रुपये की तनख्वाहों के बहुत से ओहदे हैं तब भी इन ओहदों से हमारा राष्ट्रीय गौरव तनिक भी नहीं प्रकट होता। जैसा मिस्टर गोखले ने कहा था कि जब हम ओहदों का जिक्र करते हैं कि इस पांच सौ या इससे ज्यादा तनख्वाह के ओहदों का जिक्र करते हैं। क्या इसमें कोई शक है कि तनख्वाह के हिन्दोस्तानी ओहदेदारों के नाम उंगलियों पर गिने जा सकते हैं। मगर हम भूले जाते हैं। मौलवी जकाउल्ला साहब हिन्दोस्तानियों

1 अनुवाद है एक अंग्रेजी पुस्तक से। मौलवी साहब ने इस अनुवाद को अपने विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है

को सिर्फ इस खयाल से ऊंचे ओहदों के काबिल नहीं समझते कि 'उनके लिए ऐसी साइंटिफिक और टेकनीकल शिक्षा की जरूरत होती है जो कि हिन्दोस्तानियों में बहुत कम मिलती है' बल्कि आपको उनकी सच्चाई और ईमानदारी में भी संदेह है। 'गरज हिन्दोस्तानी जजों और मजिस्ट्रेटों की सच्चाई और ईमानदारी इस कारण है कि वह ईमानदार और सच्चे इंगलिश ओहदेदारों के मातहत रहते हैं।

लेखक महोदय ने अपनी वफादारी और नमकख्वारी के जोश में अपने भाई-बंदों को गाली देना शुरू कर दिया। आपकी नजरों में 'अब हिन्दोस्तानियों को ज्यादा रियायत की जरूरत नहीं है। मगर अंग्रेजों को हिन्दोस्तानी खिदमतों पर ज्यादा-से-ज्यादा तादाद में लगाने के लिए जरूरी है कि उनको ज्यादा आमदनियां और फरतो के अधिकार दिए जाएं....हिन्दोस्तानियों के लिए नौकरियों का मैदान बढ़ता जाता है और योरोपियन के लिए तंग होता जाता है।' इसको कहते हैं नमकख्वारी और नमकहलाली। बेचारे बिना हाथ-पैर के और बेजबान अंग्रेजों की कैसी वकालत की है। काश, लार्ड कर्जन की निगाह इस जुमले पर जाए। हे भगवान खुशामद की भी कोई इंतहा है। अफसोस, मौलवी साहब ने मिस्टर गोखले का वह नोट नहीं देखा जो उनकी आखिरी बजट स्पीच के साथ अखबारों में छपा है। क्योंकि इससे उनको मालूम हो जाता कि आखिरी चार-पांच वर्षों में कितने नये ओहदे [illegible] हुए और उनमें कितने हिन्दोस्तानियों को मिले और कितने अंग्रेजों के हाथ लगे। शायद इस नतीजे से उनको कुछ तसकीन होती। पब्लिक सर्विस कमीशन की रिपोर्ट देखिए और जांचिए कि इन हिदायतों की कहां तक तामील हो रही है।

राष्ट्रीय कर

जमीन की आमदनी -मौलवी साहब ने इसका महत्त्वपूर्ण विषय पर कुछ रोशनी नहीं डाली। हां, सिर्फ इतना कह दिया है कि 'हमको याद नहीं कि हिन्दोस्तान में खेती के नफे में कभी किसी गवर्नमेंट ने अपना हिस्सा इतना कम लिया हो।' अकबरनामा और दूसरी किताबों और ईस्ट इंडिया कंपनी की शुरू की रिपोर्टों के देखने से मालूम होता है कि पहले जमीन का टैक्स पैदावार पर एक-तिहाई से एक चौथाई तक था। अब अक्सर हिस्सों में पचास फीसदी है और कभी-कभी तो इससे कहीं ज्यादा। मिस्टर गोखले ने अपनी बजट स्पीच में एक नक्शा पेश किया था, जिसमें उन्होंने प्रामाणिक आंकड़ों और निरुत्तर कर देने वाली युक्तियों के आधार पर दिखाया है कि तमाम सभ्य संसार में कहीं कुल पैदावार पर आठ फीसदी से ज्यादा टैक्स नहीं। हिन्दोस्तान में पंद्रह फीसदी से पच्चीस फीसदी है। न कि जैसा मौलवी साहब फरमाते हैं। 'सिवाय कुछ ऐसी सूरतों के जिन्हें हम अपवाद मान सकते हैं, सात या आठ फीसदी कुल पैदावार का नहीं हैं।' इसमें कोई शक नही कि लगान की जो दर सन् 1830 में थी उससे अब किसी कदर कम है, मगर उस जमाने का आज जिक्र करना ही फिजूल है। ईस्ट इंडिया को अपने हलवे-मांडे से काम था। रिआया की जो हालत थी उसके बारे में कुछ न कहना ही बेहतर है।

इस सिलसिले में हमको लेखक महोदय के एक रिमार्क से बहुत आश्चर्य होता है। फरमाते हैं, 'जमीन भी अगरचे पब्लिक रेवेन्यू के बड़े हिस्से को पूरा करती है, कभी-कभी बिलकुल वह अपनी हैसियत के मुनासिब टैक्स नहीं देती....इसकी मशहूर मिसाल

बंगाल है जिसमें गलती से सौ बरस हुए कि इस्तमरारी बंदोबस्त हुआ है जिसके कारण बहुत उपजाऊ प्रदेश के जमींदार सरकार को नाकाफी मालगुजारी देते हैं और टैक्सों से भी बरी रहते हैं।' मौलवी साहब शायद दुआ करते हों कि बहुत जल्द बंगाल का इस्तमरारी बंदोबस्त खत्म कर दिया जाए और हर सूबे में मद्रास का रैयतवारी तरीका जारी हो जाए। सारा जमाना मानता है कि इस्तमरारी बंदोबस्त रिआया के लिए अमृत है और मगर मौलवी साहब के राजनीतिक सिद्धांत निराले हैं। बजाए इन बेमानी बातों के, इतिहासकार की हैसियत से मौलवी साहब के लिए यह बतलाना कर्त्तव्य था कि मौजूदा जमींदारी और काश्तकारी के तरीके का हिन्दोस्तान के अलग-अलग सूबों में जैसी जन्म हुआ और उनसे क्या-क्या नफे और नुकसान हैं वगैरह-वगैरह। मगर मौलवी साहब अपने बुढ़ापे की वजह से इतनी माथापच्ची नहीं कर सकते।

रेवेन्यू के दूसरे जरिये–लेखक महोदय नहीं चाहते कि गवर्नमेंट 'मामामाल न रहे' चुनांचे वह इनकम टैक्स और अफीम के रेवेन्यू और स्टांप के रेवेन्यू और शराब और दूसरी नशीली चीजों के रेवेन्यू वगैरह-वगैरह को बहुत अनुकूल दृष्टि से देखते हैं और इन सब जरियों को गवर्नमेंट की आमदनी का जरूरी समझते हैं बल्कि इन सब खजानो को नाकाफी समझते हैं। फरमाते हैं कि हिन्दोस्तान में औसत टैक्स फी आमदनी सिर्फ तीन रुपया है। अफसोस। अगर यह सही भी मान लिया जाए, तब भी क्या यह जुल्म नहीं कि उस आबादी पर जिसकी आमदनी डेढ़ रुपया फी आदमी से ज्यादा न हो, दो महीने की आमदनी का टैक्स लगा दिए जाए?

शराब की आमदनी के दिनोंदिन बढ़ने से राष्ट्र के नेता दुखी हैं, मगर मौलवी साहब उनकी इस्लाह इन शब्दों में करते हैं, 'आबकारी की आमदनी का बढ़ना इस बात को नहीं साबित करता कि आदमियों को शराब पीने की आदत ज्यादा हो गई है, बल्कि वह नतीजा इसका है कि शराब पर टैक्स की दर आम तौर पर बहुत ज्यादा बढ़ा दी गई है।' और चोरी-छिपे नाजायज शराब बनाने की मनाही हो गई है। आप इंडिया और इंग्लिस्तान का मुकाबिला करते हैं कि 'इंग्लिस्तान में 242 आदमियों पीछे एक दूकान और इंडिया में 2400 आदमियों पर एक दूकान है। आबकारी की आमदनी निश्चय ही बड़ी आमदनी हो गई है। इंग्लैंड में हितचिंतक व्यक्तियों ने इन आंकड़ों को देखकर अपनी दुर्बुद्धि और अज्ञान से गवर्नमेंट पर अपना बड़ा गुस्सा निकाला कि वह अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए यह शरारत करती है कि हिन्दोस्तानियों के लिए शराब पीना आसान करती जाती है। ऐसी ही हिन्दोस्तानियों की भी राय है मगर इसमें कुछ तथ्य नहीं।'

अगर मौलवी साहब को उनका बुढ़ापा इजाजत देता और वह एक रोज किसी शराबखाने में जाकर देखते कि कितने जुलाहे, शेख, पठान बोतलों पर बोतलें लुढ़काते जाते हैं तो कुछ सच्चाई खुलती और यह लोग वह हैं जो अगले जमाने में शराब को हराम समझा करते थे। ताज्जुब है कि मौलवी साहब ऐसे अपने धर्म के पक्के होकर भी गवर्नमेंट के इस नाजायज आमदनी के जरिये को अच्छा समझते हैं।

रुई के कपड़े महसूल–इस विषय पर मौवली साहब ने कुछ परिवर्तनों और कमी-बेशी का उल्लेख करने के बाद लिखा है कि 'दिसंबर 1894 में इस रुई के कपड़े और सूत पर जो हिदोस्तान में मिलें बनाएं पांच रुपया फीसदी कीमत पर महसूल लग जाए।

इस बेइंसाफी पर मौलवी साहब ने जबान नहीं खोली। हम उनके बहुत कृतज्ञ हुए कि उन्होंने इनके न्यायोचित पहलू पर प्रकाश नहीं डाला। यह वह टैक्स है जिसको सारी सभ्य दुनिया नफरत की निगाह से देखती है और जो अंग्रेजी कौम की खुदगर्जी और सख्ती की निहायत अच्छी मिसाल है।

हिन्दुस्तान का व्यापार--आयात व निर्यात

यह अर्थशास्त्र का एक निश्चिंत सिद्धांत है कि अगर किसी देश में निरंतर कई साल तक माल के आयात का परिमाण निर्यात से अधिक हों तो वह देश दिनों-दिन निर्धन और दरिद्र होता जाता है। मिल और फास्ट जैसे अर्थशास्त्रियो ने इस बात को अपनी दलीलों से आईने की तरह साफ साबित कर दिया है और अब किसी को उन पर नुक्ताचीनी करने की गुंजाइश नहीं है। मगर हमारे लेखक महोदय फरमाते हैं 'अब वह जमाना नहीं रहा कि इस बात को जरूरी मानना पड़ता था कि वही देश फायदे में रहता है, जिसमें माल का निर्यात माल के आयात से अधिक रहता है। यह दकियानूसी रायें हैं।' इस बात के सबूत में आप इंग्लिस्तान को पेश करते हैं। आपको शायद नहः मालूम कि हिन्दुस्तान की हालत इंग्लिस्तान से बिलकुल अलग है। अगर इंग्लिस्तान में माल का आयात निर्यात से अधिक है तो उसको ज्यादा डर नहीं क्योंकि वह कच्चे काम का एक बड़ा जखीरा अपने मुल्क में बढ़ाता जाता है। हिन्दुस्तान औद्योगिक देश नहीं और जो व्यापार है वह भी व्यवहारत: सोलहों आना अंग्रेजों के हाथ में है। नील, शक्कर, चाय, कहवा, रुई इत्यादि का क्रय-विक्रय अंग्रेज ही करते हैं। कलकत्ता, बंबई, मद्रास, कानपुर वगैरह की मिलों के मालिक भी ज्यादातर वही लोग है। हां, अगर इन व्यापारों से देश को लाभ है तो इतना कि कुछ गरीब मुहताजों के लिए रूखी रोटी का सहारा मौजूद है। गो दस-बीस पखा कुलियों की जान जाए तो कोई मुजायका नहीं। हिन्दुस्तानी व्यापार का मसला ऐसा दिलचस्प है कि खामखाह तबियत को ज्यादा जानकारी की तलाश होती है। लेकिन आलोच्य पुस्तक से जरा भी तृप्ति नहीं होती। एक न्यायप्रिय अंग्रेज का कहना है कि हिन्दुस्तान की व्यापारिक तबाही जो इंग्लिस्तान के हाथों हुई है, उसकी मिसाल व्यापार के इतिहास मे कहीं नहीं मिलती। सन् 1820 में हिन्दुस्तान योरप को करोडों रुपये का माल रवाना करता था। सन् 1820 में उसकी व्यापारिक मंदी शुरू हो गई और सन् 1850 तक यह देश उद्योग-धंधे की दृष्टि से समाप्त हा गया। हमारे व्यापार की हत्या करने के लिए इंग्लिस्तान ने जो तदबीरें की हैं, उनको आज पढ़कर रोना आता है।

चेंबर ऑफ कामर्स जो कानपुर, कलकत्ता वगैरह में कायम हैं, उनसे पब्लिक को फायदा नहीं होता। हां, वह अंग्रेजी व्यापार के खयालों के आला समझे जाते हैं। उन्हीं की प्रेरणा से तिब्बत को मिशन रवाना हुआ और बहुत करक उन्हीं के फायदे के लिए अब फारस से व्यापारिक संबंध बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है। अगर इन चेंबरों से देश को कुछ फायदा है तो इतना ही है कि समय समय पर दस-पांच लाख रुपये की वृद्धि युद्ध के खर्चे में हो जाती है और हजार दो-हजार आदमी कुर्बान हो जाते हैं।

लेखक महोदय ने इस प्रसंग में उन प्रस्तावों और सुझावों का जरा भी जिक्र नहीं किया जो हिन्दुस्तान के व्यापार को बढ़ाने के लिए गवर्नमेंट के सामने पेश किए जाते

हैं। इनमें से एक प्रस्ताव वही है जिस पर अमल करने से जर्मनी की गवर्नमेंट ने जर्मन शकर को इस काबिल बना दिया है कि हिन्दुस्तानी बाजारों में देशी शकर का मुकाबला कामयाबी के साथ करे।

शिक्षा

लेखक महोदय ने बहुत से कालेजों के कायम होने, अंग्रेजी शिक्षा के रिवाज पाने और शिक्षा की धीरे-धीरे उन्नति होने की चर्चा संक्षेप में कही है। स्त्री-शिक्षा के बारे में फरमाते हैं कि अभी आम राय इसके खिलाफ है जो एक हद तक सही है। इसी अध्याय में यह भी लिखा है कि किसानों में शिक्षा कभी नहीं पनप सकती। यह खयाल बिल्कुल दकियानूसी है। आस्ट्रेलिया, कनाडा कृषिप्रधान देश हैं, मगर वहां शिक्षा के क्षेत्र में ऊंचे दर्जे की तरक्की है गो इसमें कोई शक नहीं कि शिक्षा की दृष्टि से कृषिप्रधान देश कभी औद्योगिक देश का मुकाबला नहीं कर सकता। अनिवार्य शिक्षा की समस्या पर, जिस पर एक जमाने से बहस हो रही है, आप बिल्कुल खामोश हैं, शायद इस वजह से कि यह कांग्रेस के प्रस्तावों का एक अंग है। शिक्षा के खर्चों के बारे में इतना ही लिखा है कि 'गवर्नमेंट इससे ज्यादा नहीं कर सकती।' इसी सिलसिले में अलीगढ़ कॉलेज का संक्षिप्त उल्लेख किया है और अपने पेशवा और गुरु सर सैयद अहमद को भी दो-चार खरी-खोटी सुनाई हैं। औद्योगिक शिक्षा, कृषि की शिक्षा, आदि का भूलकर भी उल्लेख नहीं किया।

कॉलेज की शिक्षा से आप बुरी तरह क्षुब्ध हैं। फरमाते हैं कि हिन्दुस्तान में इसका कुछ अच्छा असर नहीं हुआ। आज तक कोई ऊंचे दिमाग वाला नहीं पैदा हुआ। बुरा नतीजा जो हुआ वह यह है कि लोग पढ़-पढ़कर गवर्नमेंट पर नुक्ताचीनी करते हैं जिसको मौलवी साहब बहुत बड़ा गुनाह समझते हैं।

कांग्रेस

कांग्रेस मौलवी साहब की आंखों में खटकता हुआ कांटा है लिहाजा आपने किताब के आखिरी पन्नों में उस पर कुछ शब्दों के तीर चलाए हैं-

'हिन्दुस्तान के पढ़े-लिखे लोगों ने एक नेशनल कांग्रेस बनाई है, जिसमें कभी-कभी पोलिटिकल बहसें बड़े जोर-शोर से होती हैं। यह शास्त्रार्थ, यह बहसें अकसर विद्यार्थियों के जैसी होती हैं। ब्रिटिश गवर्नमेंट के खिलाफ ऐसी बेसिर-पैर की समस्याएं भी पेश होती हैं कि हिन्दुस्तानी फाइनेंस का प्रबंध करें और ब्रिटिश गवर्नमेंट देश की रक्षा करे। गालिबन ऐसे बेतुके खयालात खुद-ब-खुद मुर्दा हो जाएंगे या गवर्नमेंट उनको ठंडा कर देगी।'

मौलवी साहब को खबर नहीं कि वह गंभीर विचार-विमर्श जो मुहम्मडन एजूकेशनल कॉन्फ्रेंस में होते हैं, एक मर्तबा मिस्टर बदरुद्दीन तैयब की प्रेसिडेंटरी में हो चुके हैं और मिस्टर तैयब जी कांग्रेस की जान हैं। मिस्टर हैदरी, स्वर्गीय मिस्टर सयानी, मिस्टर तैयब जी और नवाब मिस्टर मुहम्मद हुसेन मद्रासी जैसे-जैसे बुजुर्गवार कांग्रेस के सहयोगी हैं। ऐसे विद्वानों को विद्यार्थी का स्कूली बच्चा कहना लेखक महोदय ही के गुर्दे की बात है।

निहायत अफसोस है कि मुसलमान कौम के रहनुमा अभी तक जमाने और उसके रंग-ढंग पर जरा भी नजर न डालकर आंख मूंदे सर सैयद अहमद के बतलाए हुए रास्ते पर चले जा रहे हैं। मौलवी साहब सर सैयद के खास चेलों में हैं और शायद अपनी जिंदगी में अपने स्वर्गीय गुरु का विरोध करना बेवफाई समझते हैं।

हम नीचे उर्दूएमुअल्ला की एक फारसी तहरीर से नकल करते हैं जो एक बुजुर्गवार ने अमरीका से लिखकर भेजी है और मार्च के नंबर में छपी है। बहुत गवेषणापूर्ण लेख है–

'इंडियन नेशनल कांग्रेस हमा जरिया अस्त कि अर्जे हाल हमा हिन्दुस्तानियों रा बसमए कुबूले पार्लिमेंट इंग्लिस्तान ख्वाहद रसानीद। फरियाद ओ जरिए यक फिर्का या दो फिर्का मानिंदे आवाजे तूती दर नक्कारखाना मी बाशद। अम्मा वक्त कि हमा अब्नाए मुल्क बइत्तफाके हाले जारे खेशरा बयक आवाज अदा कुनंद, यक सदाए तुदंरा आसा आफाके आलमरा गीरद....हरचंद कि दरों साले गुजश्ता दुआए कांग्रेस कुबुल न खुद... .अम्मा इंडियन नेशनल कांग्रेस दर नजरे आलमे मुतमद्दिन एतबारे हासिल कर्दा अस्त व कोशिशे बानियानश रायगां न रफ्ता।'

अर्थात् इंडियन नेशनल कांग्रेस अकेला ऐसा जरिया है कि जो तमाम हिन्दुस्तानियों का हाल इंग्लैंड की पार्लमेंट तक कुबूलियत के लिए पहुंचाता है। एक या दो फिर्कों का रोना-धोना नक्कारखाने में तूती की आवाज की तरह होता है। लेकिन ऐसा वक्त आ गया है कि मुल्क के तमाम बेटे एक होकर एक आवाज से अपने दुःख-दर्द की गुहार लगाएं, एक ऐसी जबर्दस्त गरज जो सारी दुनिया को घेर ले...अगर्चे गए साल कांग्रेस की मुराद पूरी नहीं हुई लेकिन इंडियन नेशनल कांग्रेस ने तहजीबयाफ्ता दुनिया की नजर में एक एतबार हासिल कर लिया है और उसके बानियों (प्रवर्तकों) की कोशिश अकारथ नहीं हुई।

हिन्दुओं का हाल

पुस्तक के अंतिम पृष्ठों में मौलवी साहब ने हिन्दुओं की दुर्दशा पर भी कृपा की है। आपने जो इस कौम की तस्वीर खींची है, उससे साफ जाहिर होता है कि यह कौम बिलकुल वहशियों की है। फरमाते हैं कि यह लोग नये सिर से सती की प्रथा का जारी किया चाहते हैं, लड़कियों को मार डालते हैं, आदमियों की कुर्बानी दिन-दहाड़े करते हैं, विधवाओं को जीते-जी मार डालते हैं, और उनकी दशा को सुधारने का जरा भी प्रयत्न नहीं करते। कौम के नेता सांस्कृतिक सुधार से घबड़ाते हैं और भगवान् जाने क्या-क्या खुराफात बातें लिखी हैं। हमें लेख के बढ़ जाने का भय है तो भी हम इस मौके पर मौलवी साहब की किताब से कुछ उद्धरण देना जरूरी समझते हैं–

'अंग्रेजी हुकूमत की हालतें ऐसी हैं, कि उन ओहदों पर जिनमें जान-जोखिम का सामना करना पड़ता है योरोपियन ही मुकर्रर हों।'

'सती–अगर ब्रिटिश गवर्नमेंट अपनी देखभाल और खबरदारी में जरा भी चूके तो मुश्किल से कोई सूबा ऐसा होगा जिसमें यह अत्याचारी बर्बर प्रथा बड़ी तेजी से न होने लगे। बहुत थोड़े ही हिन्दू ऐसे होंगे जिनको सती प्रथा का हटाया जाना पसंद हो।'

'आदमियों की कुर्बानी–उन जिलों में जहां तालीम ने बहुत ज्यादा तरक्की की है, काली देवी अब तक आदमियों की कुर्बानी का दावा किए जाती हैं। इसकी मिसालें सामने

आती हैं।'

'यह भयानक घटनाएं जो होती हैं, (कन्याओं को मार डालना और आदमियों की कुर्बानी) इन पर आमतौर पर लानत-मलामत नहीं की जाती और गवर्नमेंट इन कामों के बंद करने में जो कोशिश करती है, उसको लोग पसंद नहीं करते और तालीम-याफ्ता आदमी तक भी गवर्नमेंट के साथ इसमें हमदर्दी नहीं करते। पुरानी रस्मों में गवर्नमेंट जो हस्तक्षेप करती है, उससे हिन्दू बहुत चिढ़ते हैं, चाहे यह रस्म इनकी अपनी हो या न हो।'

'लेकिन कम्बख्ती तो है कि इन सांस्कृतिक और सामाजिक प्रश्नों पर गवर्नमेंट को बहुत ही कम सलाह-मशविरा दिया जाता है।'

'लेकिन यह बात आसान नहीं है कि ऐसी मिसालें दी जाएं कि किसी धनीधोरी हिन्दुस्तानी ने सांस्कृतिक या समाज की उन्नति में नेतृत्व किया हो।'

हमने इन उद्धरणों के साथ इनको काटते हुए कोई नोट लिखना जरूरी नहीं समझा। उनको दुहरा देना ही उनका जवाब दे देना है। पाठक इनके बारे में स्वयं न्याय कर सकते हैं। हम को इसका तनिक भी दु:ख नहीं है कि हिन्दुओं पर किसी ने बेजा हमले किए। हां, दु:ख इसका है कि जिसने हमले किए वह अपने बुढ़ापे के कारण हमारे मुंहतोड़ जवाबों को सह न सकेगा।

उपरोक्त बातों के अलावा इस किताब में राज्य-व्यवस्था, ईसाई शिक्षा और चरित्र पर उसका प्रभाव, कानून बनाना, कौंसिल इंपीरियल और प्राविंशियल, म्युनिसिपल सुधार, और भारतीय सेना, गवर्नमेंट खर्चे-वगैरह-वगैरह पर कलम घिसा गया है जो हर व्यक्ति Citizen of India और स्ट्राजी के British Empire को पढ़कर बखूबी मालूम कर सकता है।

भाषा और लेखन-शैली

गो मौलवी साहब देहलवी हैं और उर्दू जबान के उस्ताद, गो उन्होंने अपनी सारी कीमती जिंदगी लिखने-पढ़ने ही में खर्च की है मगर, अफसोस है कि यह किताब साहित्यिक रूप से उस सम्मान की भी अधिकारिणी नहीं, जो उसको ऐतिहासिक रूप से प्राप्त है। अंग्रेजी के बड़े-बड़े भारी भरकम शब्द बिना किसी टीका के लिख दिए गए हैं, जिनको समझने के लिए अरबी-फारसी के अलावा अंग्रेजी का भी अच्छा ज्ञान होना चाहिए। कहीं-कहीं ऐसे पेचीदा जुमले लिखे हैं, कि उनके माने अक्ल में जरा भी नहीं आते। खास-तौर पर जहां अंग्रेजी किताबों से तर्जुमे किए हैं वहां की भाषा बिलकुल अर्थशून्य हो गई है।

किताब का अंत

मौलवी साहब ने अपनी किताब के अंत में यों लिखा है-'अब मैं अपनी किताब को खत्म करता हूं। मुझे यकीन है कि जो कमअक्ल लोग ब्रिटिश गवर्नमेंट की खूबियों और नेकियों, नेमतों और बरकतों के समझने में धोखे खाते हैं, इस किताब के पढ़ने से उनके दिलों से वह भरम और धोखे दूर हो जाएंगे।' हमको सचमुच अफसोस होगा अगर मौलवी साहब के यह जुमले गवर्नमेंट तक न पहुंचें जिनके कि वह इतने बड़े भक्त हैं।

महारिबाते अजीम

इस किताब में मौलवी साहब ने यह महत्त्वपूर्ण और स्मरणीय घटनाएं और लड़ाइयां लिपिबद्ध की हैं, जो स्वर्गीय महारानी के राज्यकाल में इंगलिस्तान में हुई। मगर यह पुस्तक इतिहास के नाते इतना कम महत्त्व रखती है कि इसको मौलवी साहब जैसे बड़े और अनुभवी लेखक के साथ जोड़ते हुए शर्म मालूम होती है। मौजूदा जमाने में इतिहास लिखने का स्तर बहुत ऊंचा हो गया है। अब किसी घटना को केवल सरल भाषा में बयान कर देने का नाम इतिहास नहीं है। इतिहासकार का कर्त्तव्य है कि वह जिस घटना को लिखे, उस पर अच्छी तरह अधिकार रखता हो, उस पर ठीक राय दे सके और उसके कारणों और नतीजों पर अच्छी तरह दलील देकर बहस करे। इस हैसियत से यह किताब, जिसकी समालोचना की जा रही है, बहुत कम महत्त्व रखती है। इसमें किसी घटना पर अच्छी तरह बहस नहीं। हां क्रीमिया की लड़ाई के साथ खास रियायत की गई है। मगर किसी लड़ाई या मुहासिरे का इतिहास प्रभावशाली नहीं हो सकता, जब तक कि लड़ाई का सही नक्शा आंखों के सामने मौजूद न हो। इस किताब में इस किस्म का एक तस्वीर या एक नक्शा भी नहीं है जिसने इसके शैक्षणिक महत्त्व को बहुत कम कर दिया है। इसके अलावा कुछ और जिनको दुहराना उचित है–

1 फ्रांस और प्रूशिया की लड़ाई, जिसने संसार के इतिहास में ख्याति प्राप्त की, बहुत ही संक्षेप में लिखी गई है।

2 मिस्टर ग्लैडस्टन के शिक्षा-संबंधी बिल पर, जो एक बहुत स्मरणीय घटना है, कुछ प्रकाश नहीं डाला गया।

3 तुर्की के बारे में ग्लैडस्टन और लार्ड बीकन्सफील्ड की पालिसियों में जो स्पष्ट अंतर है, उसको कहीं प्रकट नहीं किया गया।

4 किसी-किसी जगह पर खर्च या आमदनी का जिक्र है पौंड में किया गया है, रुपये में होना चाहिए था।

5 अंग्रेजी नामों के सामने रोमन लिपि के नाम लिखना चाहिए ताकि उच्चारण में गलती न हो।

जबान इस किताब की 'आईने कैसरी' की जबान से भी गिरी हुई है। बड़े-बड़े और कठिन शब्द अनावश्यक ठूंस दिए गए हैं। मसलन् 'कूवत व सतवत व शौकत व सौलत' चारों पर्यायवाची शब्द बार-बार साथ-साथ आए हैं। इसी तरह 'इस्तीला' और 'इस्तेला' वगैरह और कहीं-कहीं तो जुमले ऐसे हैं कि समझ में ही नहीं आते। शायद वह इस वजह से कि लेखक ने अंग्रेजी इतिहास को सामने रखकर उनका खुलासा किया है। अगर घटनाओं पर अधिकार रख के लिखते तो वह अंग्रेजी शब्दों के अजनबी-से अनुवाद न दिखाई पड़ते जो अकसर मिलते हैं।

[उर्दू पुस्तक-समीक्षा। 'ज़माना', अप्रैल, 1905 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'विविध प्रसंग' भाग-1 में संकलित।]

महारानी विक्टोरिया की जीवनी

अगर इंग्लैंड जैसे देश में जहां इतनी अधिक पुस्तकें हैं, मिस्टर मारले की पुस्तक 'ग्लैडस्टन की जीवनी' को वहां के पत्रों ने महीने की बेजोड़ किताब का स्थान दिया था, तो हिन्दुस्तान जैसे टुटपुंजिए देश में मौवली जाकउल्ला साहब की इस ताजा कृति या अनुकृति को साल की बेजोड़ किताब की सम्मानित उपाधि न्यायपूर्वक दी सकती है। यह एक मोटी किताब है, और यद्यपि इन जानकारियों का भंडार अंग्रेजी भाषा में असंख्य मिलता है तब भी कई किताबों का अध्ययन करना और उनसे अपने मतलब की चीजें चुनकर पूरी एक किताब लिखना आसान काम नहीं है। हम मौलवी साहब को उनकी कामयाबी पर मुबारकबाद देते हैं। उर्दू जबान में अब तक इस सर्वप्रिय महारानी की कोई स्मणीय जीवनी नहीं प्रकाशित हुई थी और गो इसमें शक है कि यह किताब भी याद रखने के काबिल साबित होगी या नहीं, ताहम फिलहाल इसके फायदेमंद होने में कोई शक नहीं है। उर्दूदां पब्लिक पर मौलवी साहब ने सचमुच बड़ा एहसान किया है।

भाषा और लेखन शैली

इस किताब की भाषा मौलवी साहब की दूसरी ताजा किताबों के मुकाबले में कहीं ज्यादा अच्छी है। गो फारसी के मोटे-मोटे लफ्ज जगह-जगह लुढ़का दिए गए हैं। और बिला जरूरत मुश्किल लफ्जों की भरमार कर दी गई है, ताहम भाषा की सरलता और गंभीरता में बहुत ज्यादा फर्क नहीं आने पाया। बाज मौके पर जो सीन बयान किए गए हैं, वह मजे ले-लेकर पढ़ने के काबिल हैं। खासतौर पर बड़ी नुमाइश को खूब विस्तार और स्पष्टता से बयान किया है। तर्जुमे जो अंग्रेजी किताबों से लिए गए हैं, उनके शाब्दिक अर्थों की अपेक्षा उनके आशय पर अधिक ध्यान रखा गया है। हां, कहीं-कहीं अंग्रेजी शब्द इतने अधिक इस्तेमाल किए गए हैं कि वह भाषा बेचारे गैर-अंग्रेजीदां के लिए लैटिन से कम नहीं है। मसलन् '27 को मलका को विंडसर कैसिल में म्युनिसिपैलिटियों और फ्रेंडली सोसायटियों और प्रोफेशनल एसोसिएशनों और पब्लिक बॉडियों गरज इंग्लैंड....डेपुटेशन मुबारकबाद देने आए।"

लेखक महोदय ने भूमिका में कहा है कि इस किताब में महारानी विक्टोरिया के राज्यकाल का इतिहास लिखने पर दृष्टि नहीं रखी गई है बल्कि उसमें उनके निजी जीवन की बातें लिपिबद्ध की गई हैं। मगर खुशकिस्मती से मौलवी साहब ने इस भूमिका का बहुत ज्यादा लिहाज नहीं रखा है क्योंकि उन्होंने न सिर्फ निजी जिंदगी की दिलचस्पियां बयान की हैं, बल्कि राज्यकाल की भी, और सच तो यह है कि महारानी को उनके जमाने से अलग करना मुश्किल है। दोनों एक थे और जब एक का इतिहास लिखा जाता है, तो दूसरे का जिक्र करना अनिवार्य हो जाता है।

महारानी के सद्‌गुण

महारानी के राज्य संचालन के गुण और बादशाहत के कानून चाहे तो महत्त्व रखते हों इसमें संदेह नहीं कि महारानी दया का भंडार थीं। रहमदिली और हमदर्दी उनकी घुट्टी

में पड़ी थी । वह जब बालमोरल या विंडसर कौंसिल में तशरीफ ले जातीं तो अक्सर विधवाओं और अनाथों के झोंपड़ों में बैठकर उनके साथ हमदर्दी का इजहार फरमातीं। जब अंग्रेजी फौज रूसियों के मुकाबले में टर्की की मदद के लिए गई थी, उस वक्त महारानी और उनके कुनबे ने अपने हाथों से घायल सिपाहियों के लिए मोजे और कुरते तैयार किए थे। महारानी का स्वभाव बहुत स्नेहशील था। पति या बच्चों का वियोग एक पल के लिए भी असह्य हो जाता था और जिस गरिमा और सच्चाई और आदरपूर्ण प्रेम से वह अपने पति से पेश आती थीं, उससे हमारी हिन्दोस्तानी स्त्रियां बहुत कीमती सबक हासिल कर सकती हैं। महारानी पत्नी के रूप में, योरप की बीवियों की बनिस्बत् हिन्दोस्तान की औरतों से ज्यादा मिलती-जुलती हैं। विद्वानों और कलाकारों का आदर करना उनके स्वभाव का अंग था। जिस वक्त लार्ड डिजराइली का देहांत हुआ महारानी ने चाहा कि उसकी लाश वेस्टमिन्स्टर ऐबे में दफन की जाए। मगर जब स्वर्गीय लार्ड के उत्तराधिकारी राजी न हुए तो महारानी ने वहां उनकी एक लोहे की मूर्ति अपने खर्चे से बनवाकर रख दी। छिद्रान्वेषण और छोटी-छोटी बातों में नुक्ताचीनी करने से उनको नफरत थी। कहते हैं अपने रोजनामचे में योरप के बादशाहों और बड़े-बड़े लोगों की आदतों पर अक्सर कलम चलाई है मगर किसी की शान में कोई कड़ी बात नहीं लिखी।

इंगलिस्तान की महारानी के रूप में विक्टोरिया

इस हैसियत से महारानी का स्थान इतना ऊंचा न था जिसकी तुलना महारानी एलिजाबेथ से की जा सके। पहले-पहल उन्होंने पालियामेंट के लिबरल दल की तरफ ध्यान दिया मगर लार्ड मेलबोर्न जैसा अनुभवी व्यक्ति इस समय प्रधानमंत्री था, उसी ने धीरे-धीरे महारानी के दिल से तरफदारी के खयाल दूर कर दिए क्योंकि बादशाह का किसी दल की तरफदारी करना देश के लिए घातक है। इसके बाद लार्ड एबरडीन और राबर्ट पील और ड्यूक ऑफ वेलिंग्टन और लार्ड पार्म्सटन और लार्ड डिजरायली और ग्लैडस्टन जैसे कौम के बुजुर्ग प्रधानमंत्री के पद पर सुशोभित हुए। मगर महारानी के संबंध सबसे बहुत मैत्रीपूर्ण रहे। कभी-कभी लार्ड पार्म्सटन की जंगजू पालिसी अलबत्ता उनको नागवार मालूम होती थी, इसलिए बाहर के देशों से तो खतोकिताबत होती थी उसके मसौदे पढ़ने पर महारानी बहुत जोर दिया करती थीं क्योंकि उनको लार्ड पार्म्सटन पर भरोसा न था। इस राज्यकाल में सुधार के बहुत महत्त्वपूर्ण कानून चलन में आए मगर महारानी को उनके लिए कभी दर्दसरी की जरूरत पेश न हुई।

उनका उसूल था कि बादशाह को कौम के साथ-साथ आजादी के मैदान में कदम रखना चाहिए, न खुद आगे चलकर रास्ता बनाना चाहिए और न पीछे रहकर अपनी हुकूमत की पाबंदियों ढीली करनी चाहिए। तमाम मंत्री और साधारण लोग दिल से महारानी को प्यार करते थे और उन्हें आदर देते थे। इसमें कोई शक नहीं कि महारानी पर कई बार घातक हमले किए गए, मगर हर बार साबित हो गया कि यह हमले निजी, खुदगरजियों और बदमिजाजियों और जहालतों का नतीजा थे। महारानी के राज्याभिषेक के कुछ ही साल बाद बड़े-बड़े शहरों में चार्टिस्टों ने खूब उधम मचाया। यह उन मजदूरपेशा आदमियों की जमात थी जिसको रिफार्म बिल से कोई अधिकार न प्राप्त हुए थे। महारानी हमेशा

प्रयत्नशील रहती थीं कि देश में स्थायी सेना अधिक संख्या में रहा करे। अत: हिन्दोस्तान के विद्रोह के कुछ साल पहले जब हिन्दुस्तानी फौज में छटनी हुई थी उस समय महारानी ने इस प्रस्ताव का विरोध किया था। जब फ्रांस में बड़ी क्रान्ति हुई उस समय योरोप के बादशाहों का खाना-पीना और सोना हराम था, मगर महारानी बेधड़क हवाखोरी और सैर के लिए निकला करती थीं। उन्होंने रिआया के दिलों में घर कर लिया था। जब कभी उनकी सालगिरह होती या वह किसी दूसरे शहर में तशरीफ ले जातीं उस वक्त उनका स्वागत बड़े धूम-धाम से किया जाता था। यह जमाना इंगलिस्तान के लिए तरक्कियों का जमाना था। अगर महारानी एलिजाबेथ के जमाने में लिटरेचर की तरक्की हुई, जहाजरानी का शौक रिआया के दिलों में पैदा हुआ तो महारानी विक्टोरिया के जमाने में उद्योग-धंधों की ऐसी-ऐसी तरक्कियां हुई, जिनको महारानी एलिजाबेथ चमत्कार समझती थी।

प्रिंस एलबर्ट

महारानी और प्रिंस एलबर्ट एक प्राण दो शरीर थे। संभव नहीं कि इस किताब को शुरू से आखीर तक पढ़कर पाठकों को प्रिंस से वही प्रेम न हो जाए जो किसी अच्छे नावेल के हीरो के साथ हुआ करता है। वह नेक-तबीयत शहजादा महारानी विक्टोरिया का ममेरा भाई था। पहले-पहल बड़े-बड़े अंग्रेजी परिवारों ने सचमुच उसका उचित सम्मान नहीं किया। लोग उनको दूसरे देश का निवासी होने के कारण अजनबी समझते थे। प्रिंस ने अपनी बारीक निगाहों से इस बेरुखी को ताड़ लिया और अपना शेष जीवन अंग्रेजी कौम की भलाई की कोशिशों के लिए समर्पित कर दिया। सन् 1881 में जो बड़ी नुमायश विलायत में हुई थी और जिसने उस वक्त संसार भर में ख्याति पायी थी, वह प्रिंस एलबर्ट की सूझबूझ और व्यावहारिक योग्यता का ही परिणाम थी।

इस जमाने मे नुमाइशों से मुल्क के लिए खतरा पैदा होने का डर था। लिहाजा कुछ बड़े सम्मानित लोगों ने प्रिंस को उनके इरादे से दूर रखना चाहा मगर प्रिंस ने प्रशंसनीय लगन और एकाग्रता से इस काम को अंतिम परणिति तक पहुंचाया और इस नुमाइश ने न सिर्फ इंगलिस्तान की राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को बढ़ाया, बल्कि अंग्रेजी कल-कारखानों को इससे बहुत ताकत मिली। इस सफलता ने प्रिंस के हौंसलों को और बुलंद कर दिया। वह दिलोजान से कौम की भलाई में लग गए। जहां कहीं शिक्षा या समाज-सुधार पर कोई जलसा होता उसके सभापति प्रिंस बनाए जाते थे। इस नुमाइश की देखा-देखी और भी बहुत-सी नुमाइशें हुईं और हर मौके पर काम करने वालों ने प्रिंस के व्यापक अनुभव से लाभ उठाया। वह ज्ञान-विज्ञान और ललित कलाओं और कल-कारखानों की उन्नति के इच्छुक थे और उनको 'कल-कारखानों का प्यारा और दस्तकारियों का लाड़ला' कहना बिलकुल उचित है। अपनी इन सब व्यस्तताओं के होते हुए प्रिंस एलबर्ट महारानी के कामों में भी सहयोग दिया करते थे, बल्कि यों कहिए कि उनके खास सलाहकार और मंत्री थे। उनको इंगलिस्तान की हुकूमत की कील कहना गलत न होगा। मशहूर अंग्रेजी कवि लार्ड टेनिसन ने उनकी शान में एक बेजोड़ कसीदा लिखा है।

लेकिन गो कि प्रिंस एलबर्ट तमाम तरक्की की कोशिशों की जान थे, और इंगलैंड में सभी अच्छे पढ़े-लिखे समझदार लोग उनकी कारगुजारियों की तारीफ करते थे, तब

भी एक मौके पर जब रूस की संधि का मसला पेश हुआ तो कुछ मंत्रियों ने प्रिंस पर खुफिया जासूस और मुखबिर होने का इलजाम लगाया ओर इसी इलजाम पर उनको टावर में कैद भी कर दिया। महारानी को अपने देश की इस कृतघ्नता से बहुत दुःख हुआ। मगर जब पार्लियामेंट फिर बैठी तो लार्ड ग्रेनवेल ने बहुत समझदारी से प्रिंस के सर से वह सभी इलजाम दूर कर दिए।

प्रिंस की चिट्ठी-पत्री

जीवनीकारों का अनुभव है कि हीरो के एक खत का महत्त्व लेखक के दस-बीस पन्नों से ज्यादा होता है। मौलवी साहब ने भी प्रिंस और महारानी के अनेक पत्रों के अनुवाद लिखे हैं। इन पत्रों से शहजादे की नेक और पाक तबीयत का साफ पता चलता है। खास-तौर पर जो खत उन्होंने अपने उस्ताद और सच्चे दोस्त बैरन स्टाकमेयर को लिखे हैं वह अक्लोदानिश का खजाना मालूम होते हैं। अक्सर चिट्ठियों में बादशाहत के उसूलों और दार्शनिक समस्याओं पर बड़ी खूबी से बहस की गई है। प्रिंस क एड्रेस हर मौके पर बड़ी दिलचस्पी से सुने जाते थे। उन्होंने बड़े अभ्यास से अंग्रेजी लिखने और बोलने में वह योग्यता प्राप्त कर ली थी जिससे लोगों को आश्चर्य होता था। खासकर एक एड्रेस जो उन्होंने अंक-विद्या के लाभों पर दिया है वह उनके लिए कुछ एड्रेसों में विशेष रूप से जिक्र करने के काबिल है। मौलवी साहब ने उसका अनुवार बड़ी खूबी से किया है गो कि भाषा जरा कठिन हो गई है।

कुछ फुटकर बातें

उपरोक्त बातों के अलावा इस किताब में महारानी के रोजनामचे से जगह-जगह मनोरंजक चयन किए गए हैं। उनके सफरनामे, उनकी शाही मुलाकातों के जिक्र, उनकी सैर और तफरीह के किस्से, छोटे शहजादों के खेल-तमाशे, बचपन की कहानियां, घरेलू प्रबंध, बच्चों की शिक्षा-दीक्षा और दैनिक जीवन की और भी बातें बड़ी खूबी से लिखी गई हैं। महारानी की न्यायप्रियता और उदारता की कहानियां जो बहुत प्रभावशाली हैं, सारी पुस्तक में जगह-जगह मोतियों की तरह बिखेर दी गई हैं। ऐतिहासिक घटनाएं सब संक्षेप में लिख दी गई हैं और अक्सर बड़ी खूबी से उनके बारे में राय भी दी गई है।

[उर्दू पुस्तक समीक्षा। 'ज़माना', अगस्त, 1905 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-1 में संकलित।]

हाल की कुछ किताबें

हर एक भाषा की बौद्धिक और ज्ञानविज्ञान-विषयक उन्नति को जांचने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि उसकी रचनाओं और संकलन इत्यादि पर दृष्टि डाली जाए। इस लिहाज से अगर उर्दू की हाल की कुछ किताबों पर निगाह डालिए तो किसी कदर मायूसी होती है। इसमें शक नहीं कि किताबें बहुत सी प्रकाशित हुईं मगर उनका स्तर कुछ ऐसा गिरा हुआ है कि उर्दू भाषा का महत्त्व उनके कारण बहुत नहीं बढ़ता। 'आबे-हयात' या 'हयाते-

जावेद' के स्तर की कृतियां अब दिनों-दिन दुर्लभ होती जाती हैं और 'तमद्दुने-अरब' के स्तर के अनुवाद तो जैसे सपना हो गए। और प्रांतों की भाषाओं को देखिए तो ज्ञान-विज्ञान के हर क्षेत्र में अनेकों पुस्तकें लिखी जा रही हैं जो नये-नये अनुसंधानों से भरपूर होती हैं और जिनको पढ़कर यह इतमीनान होता है कि हमने अपने ज्ञान में कुछ वृद्धि की। हमारी उर्दू जबान में वैज्ञानिक और ऐतिहासिक पुस्तकों का तो जिक्र ही क्या कुछ दिनों से ऊंचे स्तर की कहानियां भी नजर से नहीं गुजरीं। कुछ लोगों का खयाल है कि गंभीर साहित्य की मंदी का कारण उर्दूदां लोगों की उदासीनता और उपेक्षा है। हम इस राय से पूरी तरह सहमत नहीं है। संभव नहीं कि ज्ञान के बाजार में कोई अनूठी चीज आए और हाथों-हाथ बिक न जाए। खास सबब इस मंदी का यह है कि आमतौर पर लिखने वाले न कोई ऊंची कसौटी अपनी आंखों के सामने रखते हैं और न काफी तौर पर लिखने में जान ही लगाते हैं। अगर बाकायदा तौर पर ऐसी कोशिशें की जाएं तो पब्लिक बहुत जल्द उनकी कद्र करने लगे और उर्दू का इल्म का बाजार हरा-भरा और कामयाब हो जाए। तो भी पढ़ने वालों की यह बदशौकी और लिखने वालों की यह बेदिली देखते हुए हम इन किताबों को भी गनीमत समझते हैं जो पिछले कुछ महीनों में प्रकाशित हुईं और उन पर एक सरसरी निगाह डालते हैं।

मौलवी मुहम्मद हसन खां साहब के नाम से उर्दूदां पब्लिक अपरिचित नहीं है। आपकी दो किताबें 'तुज़के अब्दुर्रहमानी' और 'हाजरा' इसके पहले लोकप्रिय हो चुकी हैं। यह तीसरी किताब एक अंग्रेजी पुस्तक 'द डायरी ऑफ ए टर्क' का अनुवाद है। खालिद जो इस पुस्तक का लेखक है एक तुर्की नौजवान है जिसने राष्ट्रीय झगड़ों के कारण अपने देश से भागकर इंगलिस्तान में शरण ली है और वहीं यह किताब लिखी है। इसके पढ़ने से तुर्की के पिछले पचास-साठ वर्षों की सांस्कृतिक स्थितियों पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। यद्यपि लेखक खुद एक तुर्क है मगर उसने तुर्की मामलों पर एक सजग अंग्रेज की निगाह डाली है और अक्सर बड़ी गंभीरता से उन पर अपनी राय भी दी है। हिन्दुस्तान की तरह तुर्की भी मौजूदा जमाने की रफ्तार के असर से प्रभावित हो रहा है। यहां की तरह वहां भी पोलिटिकल आजादी और अधिकारों की मांग करने वालों की संख्या दिनों-दिन बढ़ती जाती है। खालिद इसी श्रेणी का एक जोशीला नौजवान है और गो वह तुर्की की आंतरिक व्यवस्था से खुश नहीं है मगर जब कोई ऐसा मौका आया है उसने तुर्की को उन गलत-फहमियों से बचाने की कोशिश की है जो योरोप में बेइंसाफ और द्वेष से भरे हुए पत्रों और पत्रकारों की बदौलत फैली हुई हैं। खास-तौर पर जिस अध्याय में उसने आरमीनियों के उपद्रव और विद्रोहात्मक षड्यंत्र और तुर्की गवर्नमेंट की परेशानी और बेबसी का जिक्र किया है उसके पढ़ने से साफ जाहिर होता है कि योरोपीय राज्य तुर्की की जड़ खोदने में, चाहे वह कितने ही अनुचित ढंग से क्यों न हो, पहलू नहीं बचा रहे हैं। इसके अलावा लेखक ने तुर्की क रीति-रिवाज और सामाजिक व्यवस्था का भी थोड़ा बहुत जिक्र किया है जिससे जाहिर होता है कि हिन्दुस्तान की तरह वहां भी नयी और पुरानी सभ्यता में संघर्ष छिड़ा हुआ है। उद्योग-धंधों और कल-कारखानों की मंदी का वहां भी यही हाल है और वहां भी पढ़ा-लिखा समुदाय इसी तरह सरकारी नौकरियों पर जान देता है। अनुवाद की दृष्टि से यह पुस्तक प्राय: निर्दोष है मगर एक चीज जो

तबियत को परेशान करने वाली है वह इसकी लंबी भूमिका है। ज्ञान जितना बड़ा हो, पग्गड़ भी उतना ही बड़ा होना चाहिए। आमतौर पर भूमिका में मूल पुस्तक के उद्देश्य और लक्ष्य बताए जाते हैं मगर मौलवी साहब मुहम्मद हसन खां ने अपनी भूमिका को, जो असल किताब से दो ही चार सफे कम हैं, सांस्कृतिक प्रश्नों की बहस की मैदान बनाया है। आप हिन्द की इस्लामी तरक्की की रफ्तार से दुखी और बेजार हैं, और जरूरत से ज्यादा सख्त शब्दों में आजादी के उन बड़े-बड़े चाहने वालों से अपना विरोध प्रकट करते हैं जिनमें जस्टिस तैयब जी, जस्टिस अमीर अली, सर आगा खां जैसे कौम के नेता शामिल हैं। बहस उसी बात को लेकर है जिस पर बार-बार अखबारों और रिसालों में लिखा जा चुका है। हां, इस मौके पर सारी आपत्तियां और उनके जवाब बाकायदा तौर पर एक जगह इकट्ठा कर दिए गए हैं। हमको इससे बहस नहीं कि आपने ऐसे विचारों को जो मौजूदा जमाने से कतई मेल नहीं खाते क्यों प्रकट किया। हर आदमी को अपने विचार व्यक्त करने का अधिकार है मगर इस काम के लिए दूसरी तरह की किताब की जरूरत थी। कागज, छपाई और लिखाई के लिहाज से ये किताब बहुत अच्छी है। इन गुणों को देखते इसकी कीमत ज्यादा नहीं है।

समकालीन ऐतिहासिक घटनाओं पर ड्रामा लिखने का रिवाज अभी उर्दू जबान में बहुत कम है। एलबर्ट बिल पर एक ड्रामा छपा था। इसके बाद अब 'दकन रिव्यू' के काबिल एडिटर मौलवी जफर अली खां बी० ए० ने रूस और जापान की लड़ाई पर एक ड्रामा लिखा है जिसमें लड़ाई के कारण, जापानी सिपाहियों और सेनापतियों का देश-प्रेम, रूसी फौज के आपसी झगड़े-फसाद और इसके बुरे नतीजे बड़े मनोरंजक ढंग से दिखाए गए हैं। कहीं-कहीं हुस्नो-इश्क की चाशनी भी डाल दी गई है जिससे किताब की दिलचस्पी बहुत बढ़ जाती है। मगर ड्रामे का सर्वोत्तम गुण यह है कि उसका एक-एक शब्द और एक-एक वाक्यांश हृदय के आवेग से गर्म हो और सुनने वाले के दिल से कभी गुदगुदी, कभी गर्मी और घुलावट, कभी जोशो-खरोश और कभी गम और गुस्सा पैदा करे। इस लिहाज से हम इस किताब को ड्रामे के बजाय नाविल से ज्यादा मिलता-जुलता समझते हैं। इसके अलावा कला का एक दोष यह है कि सारी किताब पढ़ जाइए मगर ये पता नहीं चलता कि कौन हीरो है और कौन हीरोइन।

आमतौर पर ड्रामा में हीरो को ऐसी महत्त्वपूर्ण भूमिका दी जाती है और सारी घटनाओं में उसका अंश इतना अधिक होता है कि उसको दूसरे साधारण पात्रों से अलग पहचान लेना बहुत आसान होता है। मगर इस ड्रामे में गौर करने से भी समझ में नहीं आता कि किसको हीरो कहें और किसको हीरोइन। यह भी कहना जरूरी है कि जल्द-जल्द सीन बदलना दोषपूर्ण है, इसका लिहाज किए बगैर कि घटनाओं के लिए दृश्य-परिवर्तन की जरूरत है या नहीं। इस ड्रामे में कुछ ही पन्नों में टोकियो, काबुल, सेंट पीटर्सबर्ग, मास्को, पोर्ट आर्थर, काजां, लड़ाई का मैदान और-और भी बहुत-सी जगहों का नक्शा दिखाया गया है। इसी कारण से किसी जगह पर पढ़ने वाले का ध्यान काफी तौर पर जम नहीं पाता।

कैरेक्टरों के संभालने में लेखक को एक हद तक कामयाबी हुई है। ऐमी, क्लियोपैट्रा और कियो वगैरह इंसानियत के नमूने हैं। मिकाडो की दृढ़-निश्चयता और जार के हृदय

की अस्थिरता भी खूब दिखाई गई है मगर इसके साथ ही कहीं-कहीं मौके-महल का लिहाज न करके कैरेक्टरों से ऐसे पार्ट कराए गए हैं जो किसी तरह नैचुरल नहीं मालूम होते बल्कि एक हद तक सुरुचि को ठेस पहुंचाते हैं जैसे–

की डुगडुगी से पहले कलंदर ने मुनादी
फिर उठके रसन खिर्स की बंदर को थमा दी
भालू ने जो बंकार के बंदर को सदा दी
बंदर ने भी दुम अपनी हिकारत से उठा दी
और खिर्स को दिखला दिये दो सुर्ख रतालू।

ये शेर अगर किसी मसखरे की जबान से अदा कराए जाते तो जरा भी बेमौका या नागवार न मालूम होते। मगर एक ऐसी मजलिस में जो शेख-उल-इस्लाम काजी मुहम्मद बिन यहया के घर पर हुई है और वहां भी एक तहजीब-याफ्ता मौलवी की जबान से ऐसे पोच अशआर का निकलना बहुत बुरा मालूम होता है।

इसी तरह मुल्ला मुहम्मद सईद की जबान से नीचे लिखी बातचीत अदा कराई गई है :

'यूरोप के ईसाई, क्या अंग्रेज और क्या रूसी, लातों के भूत हैं, बातों से नहीं मानते। जो डंडा संभालकर उनके सिर पर सवार हो जाए उसके ये दोस्त और जो जरा दबा उसको उन्होंने टेटुआ दबाया।'

यह बातचीत काबुल के अमीर जैसी समझदार, ऊंचे दिमाग वाले बादशाह के एक सुसंस्कृत मंत्री की है, मगर किसी बाजारू आदमी की जबान से निकलती तो ज्यादा ठीक मालूम होती है। इसके अलावा ऐसी बेहूदा बातचीत से काबुल के अमीर के दरबार का रोब-दाब, शान-शौकत पढ़ने वाले के दिल से दूर हो जाती है।

सबसे बड़ी गलती कैरेक्टरों के दिखाने में लेखक महोदय से यह हुई है कि आपने मिस्टर और मैडम रूजवेल्ट को बिलकुल मटियामेट कर दिया है। आपकी मैडम रूजवेल्ट किसी पुराने दकियानूसी हिन्दी किस्से की रानी हों तो हों, मगर अमरीका के मनस्वी बुद्धिमान प्रेसीडेंट की पत्नी नहीं हो सकतीं। इन दोनों कैरेक्टरों में जो बातचीत होती है वह उनके पद, सभ्यता और कुलीनता की दृष्टि से बिलकुल छिछली है, मिस्टर रूजवेल्ट अपनी बीवी से कहते हैं

यह खब्त क्या तुम्हें सूझा है ऐ मेरी प्यारी
मगर दिमाग तुम्हारा है अक्ल से आरी

हम नहीं समझते कि मिस्टर रूजवेल्ट या उनकी बीवी की नजरों से यह शेर गुजरे तो वह हिन्दुस्तानियों की तहजीब का अपने दिल में क्या अंदाजा लगाएं। आधुनिक सभ्यता की विशेषता स्त्रियों के साथ अत्यंत सदाचार बरतना है। अगर उनको आवश्यकतावश बुरा-भला भी कहें तो बहुत संयत और क्षमायाचना के से स्वर में कहेंगे न कि इस तरह आमने-सामने गाली गलौज । मगर इसी पर खात्मा नहीं हुआ है। सारी दुनिया एकमत है कि मिस्टर रूजवेल्ट शांति-प्रेमी, स्वतंत्र-विचार, और संधि वह समझौते के जोरदार समर्थक व्यक्ति हैं। मगर इस ड्रामे के लिखने के जोश में उनकी जबान से निहायत पोच और गंदे खयालात का इजहार किया गया है। मसलन 'दो-तीन लाख और रूसी मारे गए

तो मेरी जूती से और जापान की फौजी आबादी लाख-डेढ़ लाख कम हो गई तो मेरी बला से।'

अफसोस, हमारे नाटककार ने एक बहुत ही नेक और बड़े आदमी को जनता की आंखों में गिरा दिया है। इसमें शक नहीं कि नाटककार हमेशा थोड़ी-बहुत अतिरंजना से काम लिया करता है मगर नेक को बद बना देना अतिरंजना नहीं है। अलबत्ता मामूली नेक को फरिश्ता और बद को शैतान बना देना अक्सर ड्रामा लिखने वालों का ढंग रहा है। अफसोस है कि इस किताब में ऐसी बातों का बहुत कम लिहाज रखा गया है और शायद यही वजह है कि सारी किताब में कहीं भी भावनाओं में सच्चा उभार नहीं आता।

भाषा इस पुस्तक की साफ-सुथरी है। कहीं-कहीं जटिल और दुर्बोध शब्दों का प्रयोग कानों को खटकता है। कथोपकथन कहीं-कहीं बहुत लंबे हैं जिनसे तबीयत उकता जाती है। ड्रामे के लिए शब्दो की सहजता और उपयुक्तता बहुत जरूरी चीज है। भारी-भरकम विषयों के लिए उचित हों तो हों, मगर ड्रामा के लिए उपयुक्त नहीं।

किताब की तरफ से नजर हटाकर जब उसकी भूमिका को देखिए तो फौरन ऐसा खयाल होता है कि जैसे बाजार की खाक छानकर एक मसखरों की महफिल में आ गए। मौलवी अब्दुल हक साहब लेखन कला के पंडित हैं। आपने उस संक्रामक रोग का, जिसको 'जमीन की न मिटने वाली भूख' कहते हैं और जिसमें योरप की कुल सल्तनतें गिरफ्तार हैं, निहायत प्यारे लहजे में जिक्र किया है। आपकी शैली हास्यपूर्ण और बहुत ही दिल में घर करने वाली है। एक ऐसे रूखे-सूखे पोलिटिकल मसले को ऐसे मजेदार ढंग से निबाहना आप ही का काम है।

अंजुमन तरक्किये उर्दू और अंजुमने उलूमे कदीमां कुछ अर्से से कायम हैं और विभिन्न शास्त्रों की कुछ किताबें भी प्रकाशित कर चुके हैं, मगर हमारी समझ में अब तक उनकी तरफ से कोई ऐसी किताब नहीं प्रकाशित हुई जो ऐतिहासिक महत्त्व की दृष्टि से उस पत्र-माला की बराबरी कर सके जिसका पहला नंबर 'रुक्काते बद्र' के नाम से प्रकाशित हुआ है। मौलवी हकीम सैयद मुहम्मद अली साहब अश्क मलीहाबादी ने जो उसके संपादक हैं वाकई मुल्क और जबान पर एहसान किया है। नवाब वाजिद अली शाह जब अपने भोग-विलास के कारण बर्बाद हुए तो उनके अनेक महलों और बेगमों पर हसरत भरी बेचारगी की हालत छा गई। कितनी ही बेगमों ने तो सरकारी वसीका लेकर संतोष किया और शहर को छोड़कर दर-ब-दर भटकने लगीं और कितनी ही दुनिया की गंदगियों का शिकार हो गईं। मगर कुछ पतिव्रता स्त्रियों ने अपने सम्मान और शील को बनाए रक्खा और जब तक जिंदा रहीं प्यारे जान आलम के नाम पर मरती रहीं। बद्र आलम साहिबा उन्हीं बेगमों में से थीं और यह किताब, जो रुक्कात बद्र के नाम से छपी है, उन पत्रों का संग्रह है जो बद्र आलम साहिबा ने प्यारे अख्तर के नाम लिखे थे। क्योंकर मुमकिन था कि वह तबीयतें जो नाजोनेमत की गोद में पली थीं, जिन्होंने मुसीबत और नाउम्मीदी को सपने में भी न देखा था और जो ऐश-परस्ती में सर से पैर तक डूबी हुई थीं, एकाएक अपनी आदतों को बदल लेतीं। गो जान आलम मटियाबुर्ज की चहारदीवारी में बंद थे, तख्तो ताज और शान-शौकत का खात्मा हो गया था, गो बद्र आलम किराए के मकान में रहती, महाजनों के तकाजे सहती और 'झाड़ी जमीन पर' बैठती थीं, मगर

खत सब-के-सब आशिकाना शिकवे-शिकायत, गुपचुप माशूकाना इशारों और लगावटबाजी के जुमलों से भरे हुए हैं। जबान की नमकीनी का क्या पूछना। लखनऊ की एक आला दर्जे की तालीमयाफ्ता बेगम की जबान में जिस कदर नजाकत, पाकीजगी और सुथरापन हो सकता है वह सब इन खतों में मौजूद है। हां, चूंकि वह जमाना 'सुरूर' के रंग का था, इसलिए अक्सर संबोधन आदि लंबे-चौड़े हैं और ज्यादातर मौकों पर छोटी-सी बात भी बहुत अनुप्रासों से भरी हुई शैली में अदा की गई है। बद्र आलम साहिबा शायरा भी थीं और संकलित पत्रों को देखकर कह सकते हैं कि उनकी तबीयत शायराना थी। अफसोस जमाना कैसा बेरहम है। उन शहजादियों को, जो जमीन पर पांव भी न रखती थीं, जमाने के सदमे उठाना और जिंदगी के जुल्म सहना पड़े। इन पत्रों में एक बात जो सबसे ज्यादा दिल पर असर करती है वह यह है कि बद्र आलम साहिबा का यही खयाल रहा कि जान आलम से बहुत जल्द फिर लखनऊ में मिलेंगे। काश, इस पत्रों के संग्रह के साथ एक भूमिका भी होती तो किताब ज्यादा दिलचस्प हो जाती।

स्त्री-शिक्षा के प्रश्न से आजकल बड़ा लगाव दिखाई पड़ रहा है। गवर्नमेंट और पब्लिक दोनों ही ने उसके महत्त्व और उसकी आवश्यकता को स्वीकार कर लिया है और उसको व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न कर रहे हैं। ऐसे वक्त में मुंशी अहमद अली खां साहब की किताब 'अतालीके निस्वां' एक बड़ी जरूरत को पूरा करेगी। यह किताब पांच छोटी जिल्दों में प्रकाशित हुई है। ग्रंथकार ने स्त्री-शिक्षा की जो कसौटी अपने सामने रखी है वह यह है कि लड़कियां 'दो-चार हर्फ उर्दू जबान में अपने रिश्ते-कुनबे वालों को अपनी जरूरत के बारे में लिख-पढ़ सकें, घर का रोज का खर्च लिख लें, बच्चों को मामूली किताबें पढ़ा सकें, अपनी और घर वालों की सेहत ठीक रक्खें और बच्चों की आम बीमारियों का इलाज हकीम न मिलने की सूरत में कर लें। उनको सिखाए पढ़ाएं, स्वादिष्ट और पौष्टिक खाने पकाएं, सीने-पिरोने और कुछ कशीदे काढ़ने की जानकारी रखती हों और सामान्य ज्ञान की बातों का उनके पास खजाना हो।' हम इस कसौटी का पूरी तरह समर्थन करते हैं। हमको खुशी है कि लेखक ने इस पर अमल करने में एक बड़ी हद तक कामयाबी हासिल की है और 'अतालीके निस्वां' की पांचों जिल्दों में कहीं यह कसौटी नजरों से नहीं गिरने दी है। हां, लेखों के क्रम से हम पूरी तरह सहमत नहीं हैं। मसलन, पहले हिस्से में हिसाब की तालीम दी गई है। हमारी समझ में बच्चों के लिए सबसे पहले मामूली चीजों पर जबानी सबक देने की जरूरत है। शुरू शुरू में उनको हिसाब से बहुत कम दिलचस्पी होती है। हिसाब का जिक्र स्वभावत: गृहस्थी के प्रबंध से संबंध रखता है, जिसका जिक्र पांचवीं जिल्द में आया है। खाना पकाने, सीने-पिरोने, काढ़ने और रंगने पर मौजूदा जमाने की खोजों और आविष्कारों को ध्यान में रखकर बहुत फायदेमंद और तजुर्बे की हिदायतें की गई हैं। सामान्य लेख और चिट्ठियां लिखने के पाठों का क्रम बिलकुल अंग्रेजी किताबों के ढंग पर रखा गया है जिससे उम्मीद है कि यह मुश्किल काम बहुत आसान हो जाएगा।

पंजाब रिलीजस बुक सोसाइटी के ज्ञान-विज्ञान-विषयक कार्यों की 'ज़माना', के पन्नों में कई बार तारीफ की जा चुकी है। पिछले कुछ महीनों में इस सोसाइटी की तरफ से कई फायदेमंद और काम की किताबें प्रकाशित हुई हैं जिसमें विषय की दृष्टि से 'हयाते

शमा' खास तौर पर जिक्र करने के काबिल है। आकार इस पुस्तक का छोटा है और पृष्ठ संख्या भी साठ से ज्यादा नहीं मगर इनमें ग्रंथकार ने वह सब जरूरी बातें भर दी हैं जो एक सांइस का आरंभिक ज्ञान रखने वाले को जाननी चाहिए। मसलन चिराग के लिए हवा चलने की क्यों जरूरत होती है, चिराग के जलने मे कौन-कौन चीजें पैदा होती हें, कोयले की गैस क्या है और क्योंकर बनती है वगैरह। अक्सर बातों को समझाने के लिए तस्वीरों से मदद ली गई है। भाषा सरल और सुबोध है। इस किताब के अलावा इसी रूप-रंग और आकार-प्रकार की कई और किताबें सोसाइटी ने छापी हैं-'फूलों की कहानी', 'तारीखे मिस्र' और 'राबिन्सन क्रूसो' का तर्जुमा वगैरह। 'फूलों की कहानी' वनस्पति-शास्त्र की एक प्राइमर है। इसमें फूलों की बनावट, उनकी अंग-रचना और क्रिया-कलाप, उनका वर्गीकरण, उनका शादी-ब्याह, उनके जन्म आदि का काफी विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। फूलों के विविध अंग तस्वीरों की मदद से दिखाए गए हैं। ऐसी हालत में जब कि उर्दू जबान में वनस्पति-शास्त्र पर विशद पुस्तकें बहुत कम लिखी गई हैं, हम इस प्राइमर को गनीमत समझते हैं। ऐसी किताबों के लिखने में एक बड़ी दिक्कत यह है कि मौके-मौके पर शब्दों की कमी अनुभव होने लगती है और लेखक को मजबूरन दूसरी भाषा के शब्द ज्यों-के-त्यों रख देने पड़ते हैं। मगर इस किताब में अक्सर अंग्रेजी शब्दों के मुकाबले में उनके फारसी पर्याय ढूंढ़ निकाले गए हैं।

दूसरी किताब 'तारीखे मिस्र' एक हिस्ट्री की प्राइमर है जिसमें पुराने जमाने के मिस्रियों के रीति-रिवाज, रहन-सहन, आचार-विचार, राज्य-व्यवस्था, धार्मिक विश्वास, उत्थान और पतन के कारण इत्यादि का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। मिस्र का पुराना इतिहास इंजील के अनुसार नूह के तूफान के बाद ही से शुरू होता है। इस किताब में लेखक ने नये ऐतिहासिक अनुसंधानों को ध्यान में रक्खे बिना, बाइबिल के बयान का समर्थन कर दिया है। मगर मिस्र के धार्मिक विश्वासों और रीति-रिवाज का हाल पढ़कर यह विचार पक्का हो जाता है कि मिस्रियों की सभ्यता आर्यों की सभ्यता का अनुकरण थी। मसलन मिस्र वाले आवागमन को मानते थे और जात-पांत के पाबंद थे जो आर्य सभ्यता की विशेषताएं हैं। यह किताब बहुत ही संक्षिप्त है, मगर तो भी सिर्फ बादशाहों की लड़ाइयों का जिक्र करके खतम नहीं हो जाती, सांस्कृतिक स्थितियों पर भी थोड़ा-बहुत प्रकाश डालती है जिसको इतिहास-लेखन की कला का प्रधान उद्देश्य कहना चाहिए।

तीसरी किताब 'सरगुजश्ते रॉबिन्सन क्रूसो' है। यह एक निहायत मशहूर अंग्रेजी किस्से का तर्जुमा है, जिसमें एक अंग्रेजी मल्लाह के जहाज के टूटने और सुनसान वीरान जंगलों में लंबी मुद्दत तक रहने के बाद अपने देश को वापस आने का किस्सा ऐसे सरल और मनोरंजक ढंग से बयान किया गया है कि यह किताब हमेशा इरादे के पक्के नौजवानों में बहुत पसंद की जाती रही है। शायद ही कोई अंग्रेज बच्चा ऐसा होगा जो रॉबिन्सन क्रूसो के नाम से उसी तरह परिचित न हो, जितना किसी मामूली दोस्त के नाम से। डानियल डीफो, जो इस किताब का लेखक है, मलिका एन के जमाने का एक बड़ा लेखक हुआ है जिसने बहुत दिनों तक अपने वक्त के सवालों पर किताबें लिखने के बाद यह किस्सा लिखा और सच तो यह है कि अपनी अमर कीर्ति की नींव डाल गया। हमारी भाषा में देखिए तो रेनाल्ड्स के नाविलों के तर्जुमे भरे पड़े हैं, मगर अब तक इस हौसलामंद और

उमंग पैदा करने वाली किताब की किसी ने बात भी न पूछी थी। कुछ अर्सा हुआ हिन्दी में इसका अनुवाद प्रकाशित हुआ था। अब इस सोसाइटी के सत्-प्रयत्नों से उर्दू में भी प्रकाशित हो गया। अनुवाद सरल और सुबोध भाषा में है, मगर तस्वीरों के बिना यह किताब कुछ फीकी मालूम होती है।

'ताजो निशां' और 'गंजे शायगा' के लेखक मुहम्मद रफी रिजवी आली ने इसी सिलसिले में एक और किताब छापी है जिसमें विभिन्न देशों और राष्ट्रों की पगड़ियां और टोपियों की तस्वीरें दिखाने की कोशिश की गई है। ऐसे संग्रहों का महत्त्व अब केवल इस कारण से है कि उनसे संस्कृति के इतिहास की व्याख्या में सहायता मिलती है, मगर उनसे यह फायदा उठाने के लिए विषय को जिस तरह से सजाने-संवारने की जरूरत है वह इसमें नहीं है। अगर लेखक ने अंग्रेजी टोपियों का क्रम इस प्रकार दिया होता है कि पहले उनका क्या ढंग था फिर उसमें क्या परिवर्तन हुआ और अब उनकी क्या शक्ल है तो देखने वाले को खास दिलचस्पी होती। इसके अलावा ऐसी किताबें किसी काम की नहीं होतीं जब तक कि तस्वीरें साफ और असल से हूबहू मिलती-जुलती न हों। अफसोस है कि इस हैसियत से यह किताब बहुत कम महत्त्व रखती है। तस्वीरें ज्यादातर गलत हैं, जिनको देखकर असल चीज की तस्वीर दिमाग में नहीं आती। तस्वीरें रंगीन हो सकतीं तब भी गनीमत होता।

ऐसे अच्छे वक्त में जब कि हिन्दुस्तान हुजूर शहजादे और शहजादी वेल्स के शुभ आगमन से दूसरा स्वर्ग हो रहा है, इस चर्चा का प्रकाशित होना अवसर के बहुत अनुकूल और उचित है। काजी अजीजउद्दीन अहमद साहब ने, जो इस किताब के लेखक हैं और जिनके नाम से उर्दू लिटरेचर बहुत बार परिचित हो चुका है, शहजादा साहब के पूरे हालात मुख्तलिफ जरियों से जमा करके इकट्ठा कर दिए हैं, मगर लेखक ने सिर्फ संग्रह और संपादन का कष्ट नहीं उठाया है बल्कि पुस्तक की भाषा और लेखन-शैली से उस भक्ति और सच्ची वफादारी का पता चलता है जो हिन्दुस्तानियों को अपने शाही मेहमानों से है। खासकर वे अध्याय, जिनमें शहजादे के निजी गुणों की चर्चा की गई है, बहुत खूबी से लिखे गए हैं और मौके-मौके पर ऐसी जनश्रुतियां उद्धृत की गई हैं जो शहजादे की नेक तबीयत, दानशीलता और गरीबों की मदद करने के गुण का प्रमाण देती है।

[उर्दू पुस्तक समीक्षा। 'ज़माना', फरवरी, 1906 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-1 में संकलित।]

कुछ नयी किताबें

आसारे अकबरी

हाल की कुछ नयी किताबों में मौलवी सईद अहमद साहब मारहरवी की ताजा किताब 'आसारे अकबरी' यानी 'फतेहपुर सीकरी का इतिहास' बड़ी आसानी से दूसरी सब किताबों से बाजी मार ले जाती है। यह ऐसी अनमोल किताब है जैसी बहुत अर्से से उर्दू जबान में देखने में नहीं आई, जिसे एक-दो-तीन बार पढ़िए मगर फिर भी पढ़ने की हवस बाकी रह जाती है। गहरी छान-बीन की दृष्टि से देखिए तो, घटनाओं की मनोरंजकता और महत्त्व

की दृष्टि से देखिए तो और भाषा की खूबी,की नजर से देखिए तो यह किताब उर्दू की अच्छी-से-अच्छी किताबों के बराबर रखे जाने के योग्य है।

लेखक ने इस पुस्तक को नौ अध्यायों में बांटा है। पहले अध्याय में फतेहपुर सीकरी की आबादी, उत्थान और पतन का संक्षिप्त इतिहास लिखा गया है। मुगलिया खानदान के साथ इसकी भी बुनियाद पड़ी, उसके उत्थान के साथ उसका भी उत्थान हुआ और उसके पतन के साथ उसकी भी तबाही आ गई। बुनियाद की वजह शायद पाठकों को मालूम होगी। जहांगीर ने अपने तुजुक में इसका जिक्र यों किया है–

'जिन दिनों वालिद बुजुर्गवार को बेटे की बड़ी आरजू थी एक पहाड़ में सीकरी इलाका आगरे के पास शेख सलीम चिश्ती नाम के एक पहुंचे हुए फकीर रहते थे, जो उम्र की बहुत मंजिलें तय किए हुए थे। उधर से लोगों को उनसे बड़ी भक्ति थी। मेरे वालिद जो फकीरों की बड़ी इज्जत करते थे, उनके पास गए। एक दिन ऐसे वक्त जब कि फकीर साहब अपने ध्यान में मग्न बैठे थे, उनसे पूछा–हजरत, मेरे बेटे होंगे? फरमाया कि खुदा तुम्हें तीन बेटे देगा। वालिद ने कहा, मैंने मन्नत मानी कि पहले बेटे को आपकी देख-रेख में रक्खूंगा। शेख की जबान से निकला कि मुबारक हो। मैं भी उसे अपना नाम दूंगा।'

थोड़े ह दि ों में शेख की भविष्यवाणी सच हुई। शाहजादा जहांगीर सीकरी ही में पैदा हुआ। बादशाह खुद वहां गए। शेख के वास्ते आलीशान खानकाह (आश्रम) बनवानी शुरू की और अपने रहने के वास्ते भी रंग-महल बनाने का हुक्म दिया। फिर क्या था, जिसे पी चाहे वही सुहागिन। शहर की रौनक रोज-ब-रोज बढ़ने लगी। दरबारियों ने अपने-अपने महल बनाने शुरू किए। अबुल फजल और फैजी, बीरबल, मानसिंह, हकीम हम्माम और दूसरे रईसों ने मकान बनवाए। हर साल यहां नौरोज का जश्न होने लग, जिसका जिक्र लिखने वाले ने बड़ी खूबसूरती से किया है। दीवाने-आम और खास के चारों तरफ एक सौ बीस महल बन गए। इस कस्बे की रौनक और आबादी थोड़े ही दिनों में यहां तक बढ़ी कि पूरब से पश्चिम सात मील तक फैल गई और आगरे से निकलते ही उसके मुहल्ले नजर आने लगे। दोनों शहरों के बीच का फासला बिलकुल आबाद हो गया। यह रौनक और धूम--धाम शाहजहां के वक्त तक कमोबेश कायम रही। मगर जब मुगलिया खानदान का सितारा डूबने लगा, सल्तनत में कमजोरी पैदा हुई और मुगल बादशाहों को तख्त के लाले पड़ गए तो फतेहपुर की खबर कौन लेता। चूरामन और सूरजमल जाट की लूट-खसोट शुरू हुई। मुहल्ले के मुहल्ले, कूचे के कूचे वीरान हो गए। अक्सर इमारतें जमीन के नीचे दबे हुए खजाने की तलाश में खोद डाली गईं। कीमती पत्थर, देग, खम्भे और भरतपुर पहुंचा दिए गए। आखिर जो कुछ रही-सही आबादी थी उसका बड़ा हिस्सा सन् सत्तावन के भयानक गदर में तबाह हो गया, उसकी मौजूदा हालत का जो नक्शा लेखक ने खींचा है वह बहुत दुख देने वाला है- अब यह हालत है कि आगरे दरवाजे में घुसते ही खंडहर नजर आने शुरू हो जाते हैं। किसी महल की दीवारों के चिह्न बाकी हैं, किसी का सिर्फ दरवाजा ही खड़ा रह गया है, किसी जगह पत्थर और चूने का ढेर लगा हुआ है, किसी मकान का हम्माम बाकी रह गया है। गरज कि जिसका जो कुछ हिस्सा बाकी रह गया है, वह एक दुख का घर है जो कि राह चलते मुसाफिरों और

प्राचीन स्मारकों के प्रेमियों को आठ-आठ आंसू रुलाता है और सराय फानी का नक्शा आंखों के सामने पेश करता है। शहर की दीवार के अंदर और बाहर जिधर देखो खंडहर ही खंडहर नजर आते हैं। बड़ी-बड़ी सुहानी बारादरियों और आलीशान महलों में आदमी की जगह चील-कौवों का बसेरा और उल्लू का पहरा है।'

बाकी आठ अध्यायों में दक्खिन, उत्तर, पूरब, पश्चिम की लगी हुई इमारतों और पहाड़ी के ऊपर बनी हुई और आस-पास की इमारतों का जिक्र किया गया है। इसके पढ़ने से पता चलता है कि जिस वक्त यह शहर अपनी पूरी रौनक पर होगा उस वक्त सचमुच बहिश्त का नमूना होगा। खुशनुमा बागों, हरे-भरे मैदानों और खूबसूत बावलियों, तालाबों और नहरों के बार-बार जिक्र आते हैं, जिससे इस जमाने की सुथरी रुचि और सफाई का सबूत मिलता है। हर इमारत की लंबाई-चौड़ाई, ऊंचाई, नक्काशी, गुलकारी और दूसरे गुणों का बड़े विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है, बल्कि कहीं-कहीं उनके निर्माण की तिथि, कारीगरों के नाम और निर्माण का खर्च भी लिख दिया है गो यह खूबी सब जगह नहीं पाई जाती।

उर्दू लिटरेचरों में 'आसारुस्सनादीद' के बाद कोई ऐसी किताब नहीं छपी जिसमें इमारतों के अलग-अलग हिस्सों की चर्चा इस विस्तार और खूबी से की गई हो जैसी कि आलोच्य पुस्तक में। इमारतों के बारे में हमारा अज्ञान और ध्यान न देना यहां तक बढ़ गया है कि बहुत कम लोग ऐसे होंगे जो बेधड़क इमारत के अलग-अलग हिस्सों के नाम भी बतला सकें। लेखक ने यह बातें बेमजा और रूखी-फीकी जबान में नहीं लिखी हैं, बल्कि अक्सर जबान ऐसी अच्छी है कि मजा ले-लेकर पढ़ने के काबिल है। दरगाह शरीफ के बुंलद दरवाजों को इस तरह बयान किया गया है—

'बुलंद दरवाजे की बुलंदी एक सौ उन्तीस फीट है। पढ़ने वाले खुद अंदाजा कर सकते हैं कि पहाड़ की ऊंची चोटी पर इतना बुलंद दरवाजा कैसा शानदार, अजीबो-गरीब और खूबसूरत नजर आता होगा। बाहर से देखिए, तो इसके बड़े दरवाजे और इर्द गिर्द दरों की बनावट, उनके बीच की नफीस संगमरमरी पच्चीकारी, खूबसूरत बेलें, तरह-तरह की सजावट, खुशनुमा मीनारें, गुलदस्ते, कतबे के बड़े-बड़े हरूफ, बीच की हवादार शहनशीं, ऊपर की प्यारी-प्यारी बुर्जियां हैरत में डाल देती हैं। अंदर की तरफ से देखिए तो हर मंजिल के बुर्ज और बुर्जियां, कंगूरे, मीनारें, गुलदस्ते एक-दूसरे से मिले हुए खूबसूरती का अजीबो-गरीब नजारा पैदा करके इंसान को हैरत में डाल देते हैं। ऊपर का हवादार सुहाना मुकाम जहां से न सिर्फ कुल शहर बल्कि कोसों तक का दृश्य अच्छी तरह दिखाई देता है, ऐसा सुंदर और मोहक है कि उसकी असली हालत का शब्दों में फोटो उतारना असंभव है।'

इसी तरह ख्वाबगाह खास के बालाखाने की जो कैफियत दिखाई है, बेमिसाल है—

'महल खास की दक्खिनी इमारत की छत पर वह छोटा-सा खूबसूरत और तिलस्माती कमरा है जो ख्वाबगाह के नाम से जाना जाता है। चूंकि यह खास बादशाह के सोने के वास्ते बनाया गया था इस वजह से अच्छे-अच्छे कारीगरों और चित्रकारों ने इसको सुंदर बनाने में कोई ऐसी तदबीर नहीं उठा रक्खी थी जो इंसान के काबू के बाहर न हो। रंगसाजी के आला दर्जे के कारीगरों ने अंदर-बाहर, नीचे-ऊपर तमाम दरो-दीवार को रंग-बिरंगे

बेल-बूटों और तरह-तरह की गुलकारी से अलंकृत करके स्वर्ग का नमूना बना दिया था। चित्रकारों ने अपनी चित्रकला का कमाल दिखाकर तरह-तरह की तस्वीरों और भांति-भांति के दृश्यों से तमाम कमरे को एक अनूठी चित्रशाला बनाकर तिलस्म की दुनिया को मात किया था। मोती जैसे सुंदर सजीले अक्षर लिखने वाले कतबानवीसों ने तरह-तरह की गुलकारियों के बीच में ऐसी नजाकत और सफाई से कतबों को लिखा था कि उनके देखने से आंखों में रौशनी पैदा होती थी। गरज कि इस जगह पर हर किस्म के बड़े-बड़े कारीगरों ने अपनी कारीगरी को कमाल के दर्जे पर पहुंचा दिया था मगर अफसोस और सख्त अफसोस है कि यह बेजोड़ कमरा इस तमाम सज-धज और रंग-रूप के बदले अब एक खंडहर है, जिस पर उदासी बरस रही है। इसके तमाम सुनहरे बेल-बूटे और गुलकारियां न मालूम किन जालिम हाथों से खत्म हो गईं, यहां तक कि कोई दौलत का भूखा दरवाजों के किवाड़ तक उतार ले गया। अफसोस।'

बात जरा नमक-मिर्च लगाकर कही गई है मगर कैसे चुस्त और सुथरे ढंग से। अफसोस कि इन महान चित्रकारों के बारे में अब कुछ भी पता नहीं चलता। उनकी कारीगरी के नमूने भी जो उनके ताजा यादगार होते धीरे-धीरे वक्त के हाथों बर्बाद हुए जाते हैं। हां, पुराने विवरणों में उनके नाम अलबत्ता मिलते हैं जिनमें खास-खास ये हैं–मीर सैयद अली तबरेजी, ख्वाजा अब्दुस्समद शीरीं-रकम, विश्वनाथ कुम्हार, बसावन, केशव, लाल, मुकुंद, मिस्कीन, फर्रुख, माधो, जगन, महेश, खेमकरन, नारा, सांवला, हरबंस। इन सबका सरदार उस्ताद बहजाद था जो पहले इस्माइल शाह सफवी ईरान के बादशाह का चित्रकार था फिर अकबरी दरबार में हाजिर होकर ऊंचे मनसब पर पहुंचा। मरियम के जनाना बाग का जो जिक्र किया गया है वह किताब के बेहतरीन हिस्सों में है–

'अकबरी जमाने में इस बाग के अंदर जन्नत के बाग का जलवा नजर आता था। पत्थर की पक्की रविशों में रंग-बिरंगे फूल इतर छिड़का करते थे। क्यारियों में हर तरह के दुर्लभ, अच्छे और स्वादिष्ट मेवे शाखों में झूमा करते थे। हमेशा साफ-शफ्फाफ पानी बड़े अदब के साथ धीरे-धीरे खूबसूरत नालियों में चलता रहता था। जिस वक्त मौसमे बहार में लाजवंती नारियां अपने-अपने ऐश महल से निकलकर बाग की रविशों पर हौले-हौले सैर करती फिरती होंगी उस वक्त किस्म-किस्म के फूलों की महक, सुम्बुल का बाल बिखेरना, रैहान का प्यारी-प्यारी आंखों से तकना, इत्र में बसी हुई हवा का चलना, मछली-ताल में रंग-बिरंगी मछलियों का तैरना, सुरीले पंछियों का चहचहाना, जमुर्रद जैसे हरे फर्श का लहलहाना कैसा प्यारा, सुहाना दृश्य प्रस्तुत करता होगा।'

ऐसे मोती इस किताब में बड़ी उदारता से लुटाए गए हैं। मगर राजा बीरबल के महल पर लेखक ने फूल बरसाए हैं। कहते हैं–

'जिस तरह अकबर के नौरतन में निकटता की दृष्टि से कोई आलीजाह अमीर और शानो-शौकत वाला सरदार बीरबल के रुतबे को नहीं पहुंचता उसी तरह शाही महल की निकटता, कारीगरी और खूबसूरती में किसी अमीर का महल इस बेमिसाल मकान का मुकाबला नहीं कर सकता। फरगुसन साहब अपनी 'इमाराते मशरिक' में कहते हैं कि बीरबल और तुर्की सुल्ताना का मकान सबसे ज्यादा बेशकीमती और सबसे खूबसूरत और अकबर की दूसरी तमाम इमारतों में सबसे ज्यादा कारीगरी वाली इमारतें हैं। ये इमारतें

छोटी जरूर हैं लेकिन कहीं ऐसे खूबसूरत बेल-बूटे और ऐसी तसवीरें देखना नामुमकिन है। यहां कोई जगह ऐसी नहीं कि जहां कुछ-न-कुछ सजावट मौजूद न हो या भद्दे तौर से की गई हो।'

एक खस गुण इस किताब में यह है कि अमीरों के मकानों के साथ-साथ उनके जीवन का हाल बताने का भी ढंग रक्खा गया है। शेख फैजी, अबुल, फज्ल, बीरबल, टोडरमल, हकीम शीराजी और दूसरे बुजुर्गों के अलग-अलग हालात लिखे गए हैं, जिनको पढ़कर मालूम होता है कि 'दरबारे अकबरी' की नकल की है। इन चर्चों में कहीं-कहीं मजेदार छेड़-छाड़ की चाशनी भी दी गई है। जोधाबाई के बारे में लिखते हुए कहते हैं

'एक रात जब कि चांदनी छिटकी हुई थी, नूरजहां सफेद कपड़े पहने हुए जहांगीर के पास बैठी थी। इत्रे जहांगीरी की खुशबूदार लपटों से तमाम दरो-दीवार और कपड़ों पर छिड़काव हुआ था। बादशाह और बेगम दोनों का दिमाग इत्र से बसा हुआ था। बादशाह ने इसी हालत जोधाबाई को भी याद फरमाया। लौंडियां दौड़ीं और थोड़ी ही देर में वह भी सुर्ख कपड़े पहनकार आ मौजूद हुईं और बादशाह के बराबर बैठ गईं। बादशाह ने उनकी तरफ ध्यान दिया। नूरजहां बेगम को ईर्ष्या हुई। बादशाह की तरफ देखकर बोली कि आखिर को जोधाबाई जमींदार ही की बेटी है ऐसे वक्त में जब कि फौवारों से गुलाब का छिड़काव हो रहा है और चमेली व सेवती का फर्श बिछा हुआ है और चांदनी छिटकी है, सुख लिबास क्या मतलब रखता है। जोधाबाई ने फौरन जवाब दिया कि मेरा सुहाग कायम है, इस वजह से मैंने सुर्ख लिबास पहना है, तुम्हारा सुहाग उठ चुका है इस शोक में तुमने सफेद कपड़े पहने हैं और यह दोहा पढ़ा--

जारूं नार तास का हिया।
एक छोड़ जिन दो जा किया।

गरज कि किताब में इस तरह के गुण भरे हुए हैं। हम इससे ज्यादा उद्धरण देना उचित नहीं समझते। शौकीन लोग खुद मंगाएं, लेख्क की मेहनत की दाद दें और दूसरी किताबों के लिए हौसला बढ़ाएं। किसी साहित्य-प्रेमी का पुस्तकालय इस किताब से खाली न रहना चाहिए। अफसोस है उर्दूदां पब्लिक की नाकदरियों ने लेखक को यह हिम्मत नहीं दिखाई कि वह इस किताब को इमारतों की फोटो से सुशोभित कर सकते जिससे इसका महत्त्व और दुगुना हो जाता। इस सुंदर लिखाई और छपाई के साथ कलम से बनाई हुई तस्वीरों का जोड़ अच्छा नहीं मालूम होता।

सुघड़ बेटी

जब से स्त्री-शिक्षा की समस्या उठ खड़ी हुई है और गवर्नमेंट ने उसके प्रति व्यावहारिक सहानुभूति दिखाना शुरू किया है, लड़कियों की शिक्षा की जरूरतों को पूरा करने के लिए खूब कोशिशें की जा रही हैं। आखिरी बार नई किताबों पर रिव्यू करते हुए 'तालीमे निस्वां' का जिक्र किया गया था जो पांच जिल्दों में खत्म हुई थी। वह किताब कुंवारी और ब्याही सबसे लिए यकसां फायदेमंद थी। मगर 'सुघड़ बेटी' जो मुहम्मदी बेगम साहिबा की दिलचस्प किताब है, सिर्फ कमसिन लड़कियों के लिए लिखी गई है। किफायतशारी का जिक्र करते हुए 'कौड़ियों से घर चलाया' नाम की जो कहानी है, वह कम-उम्र लड़कियों के लिए

दिलचस्प साबित होगी। इसके अलावा कपड़े-लत्ते, उनके इस्तेमाल, चिट्ठी-पत्री, खेल-कूद, पढ़ने-लिखने के बारे में नसीहत-भरी बातें लिखी हैं। यह ऐसी किताब है जो किसी लड़की के हाथ में शौक से रक्खी जा सकती है और चूंकि मुहम्मदी बेगम साहिबा बहुत-सी किताबें इस किस्म की लिख चुकी हैं उनका सीख देने का ढंग बहुत उपयुक्त और सरल है।

किताबे निस्वां

अगर 'सुघड़ बेटी' कमसिन लड़कियों के लिए लिखी गई है तो मौलवी गयासुद्दीन की नई कृति 'किताबे निस्वां' खास तौर पर जवान और ब्याही औरतों के लिए है। लेखक ने इस किताब को चार हिस्सों में बांटा है। पहले हिस्से में आचरण के संबंध में नसीहत-भरा बातें लिखी हैं, जो सब लड़कियों के लिए समान रूप से लाभकारी हैं। मगर हमारी समझ में नहीं आता कि झूठ-सच, पर्दा, खाने-पीने का इंतजाम वगैरह विषयों के साथ किताब के शुरू के हिस्से में 'गवर्नमेंट के अधिकार' या 'हमारे अधिकार' जैसे प्रश्नों पर उपदेश देने की जरूरत क्यों आ पड़ी। ये प्रश्न न तो नीति और आचार से संबंध रखते हैं न साहित्य से। ऐसे विभिन्न विषयों को एक में मिला देना भानमती के पिटारे में जायज हो तो हो मगर ऐसी तालीमी किताब में हरगिज जायज नहीं। ऐसी बातें भूगोल का अंग हैं और उनके लिखने की जगह आखिरी अध्याय है जहां संसार के महाद्वीपों पर लेखक ने बड़ी तेजी से यात्रा की है। मगर इसमें भी बजाय इसके कि सरकार और प्रजा, उनके आपसी संबंध, उनकी आपसी आवश्यकताओं आदि प्रश्नों पर सामान्य रूप से विचार किया जाय, लेखक ने अंग्रेजी सरकार के उन एहसानों की बड़ाई गाई है जिससे हिन्दुस्तानियों का सिर झुका हुआ है। इसी हिस्से में आंकड़े और हिसाब, गृहस्थी की बातें, खाना पकाने की विधि और दूसरी बहुत-सी बातें दर्ज हैं। दूसरे हिस्से में लेखक ने औरतों को वे बातें बताई हैं जिनकी उनको स्वास्थ्य रक्षा के लिए सख्त जरूरत है। इनमें से अधिकांश लाभकारी बातें हैं मगर असंस्कृत शब्द इतने ज्यादा इस्तेमाल किये गये हैं कि कोई पंक्ति उनसे खाली नहीं। बेहतर होता अगर किताब के कई हिस्से होते या कम-से-कम जो बातें खासतौर पर औरतों के जानने की होतीं वह अलग किताब में बतलाई जातीं। इस दृष्टि से यह किताब हरगिज इस काबिल नहीं कि किसी कुंवारी लड़की के हाथ में रक्खी जाये।

नौजवानों का रहनुमा

नवयुवतियों को नेक सलाह और मशविरों की जितनी जरूरत है शायद नवयुवकों के लिए उससे ज्यादा रहनुमाई की जरूरत होती है क्योंकि उनके चरित्र-भ्रष्ट होने के मौके कहीं ज्यादा होते हैं। इस जरूरत को पूरा करने के लिए पंजाब रिलीजस बुक सोसाइटी ने इस नाम का एक अच्छा अनुवाद प्रकाशित किया है। मूल पुस्तक अमरीका के एक मशहूर डॉक्टर की लिखी हुई है। मिस्टर हरसरन ने उसका अनुवाद किया है और सच तो यह है कि अनुवाद में मूल का मजा पैदा करने की कोशिश की है। अपरिचित मुहावरे और वाक्य बहुत कम हैं और पुस्तक आदि से अंत तक मनोरंजक है। कौन नहीं जानता कि

हमारी कौम के हजारों नौजवान अपनी नातजुर्बेकारियों का दंड भोग रहे हैं और कितने ही भोग-विलास के गड्ढे में ऐसे औंधे गिरे हैं कि इस जिंदगी में उभरना मुहाल है। देश की जनता की पस्तहिम्मती, नाटा कद और शारीरिक दुर्बलता उसी संयमहीनता का परिणाम है जिसके शिकार लोग अपनी नातजुर्बेकारी के कारण होते हैं। लेखक ने बड़े स्पष्ट और विशद ढंग से उन रोगों, उनके लक्षणों, उनके घातक परिणामों का उल्लेख किया है जिनका नाम लेना भी अशोभन है। उनसे बचने के लिए लेखक ने व्यावहारिक बातें बतलायी हैं। अगर युवक समाज जिसके लिए यह किताब लिखी गई है इसको पढ़ेगा और इसकी हिदायतों पर अमल करेगा तो बेशक बहुत-सी बुराइयों से बचा रहेगा।

'बीवी का चुनाव', 'विवाह और उसका उद्देश्य' आदि प्रश्नों पर लेखक ने बहुत अनुभव की बातें सिखाई हैं। किताब के आखिरी हिस्से में साधारण सभ्यता और सुरुचि के बारे में भी सीखें दी गई हैं मगर हम लेखक की इस बात से सहमत नहीं हैं कि उपन्यासों का पढ़ना सरासर हानिकर है। उपन्यासों में अच्छे भी होते हैं और बुरे भी। अच्छे उपन्यास पढ़ने की मनाही करना गोया आदमी को जिंदगी की एक बहुत बड़ी नेमत से वंचित करना है। हां, बुरे और चरित्र को भ्रष्ट करने वाले उपन्यास हरगिज न पढ़ना चाहिए और उपन्यास ही क्यों कवितायें, इतिहास, यात्रा-विवरण, अखबार सभी चरित्र को भ्रष्ट करने वाले हो सकते हैं अगर उनमें गंदी भावनाओं को उभारने वाली बातें लिखी जायें। ऐसी किताबों से जवानों को जरूर बचना चाहिए। कुछ रईस लोग अपने सोने के कमरों में नंगी तस्वीरें लटकाया करते हैं। कोई किताब शायद इससे ज्यादा रुचि को गंदा करने वाली और तबीयत को बिगाड़ने वाली न होगी।

बच्चों को आचार की शिक्षा

ऐसे समय जबकि शिक्षा का प्रश्न जीवन का एक सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न हो रहा है इस पुस्तक का प्रकाशित होना बहुत शुभ है। विशेषत: इस कारण से कि इसके लेखक लाला गोकुल चंद एम० ए० जैसे अनुभवी विचारशील व्यक्ति हैं। बच्चों की शिक्षा हर सभ्य देश में मुफ्त दी जाती है और उसका प्रबंध और उसकी व्यवस्था देश के सबसे अच्छे दिमागों की कोशिशों का नतीजा हुआ करती है। हिन्दुस्तान में ऊंची शिक्षा का प्रश्न तो छिड़ा और गवर्नमेंट ने उससे सच्ची हमदर्दी जताई मगर बच्चों की शिक्षा का प्रश्न अब तक गफलत में पड़ा हुआ है। अभी तक इसके सिवाय कि देहाती मदरसों के लिए सब-डिप्टी-इंसपेक्टरों की तादाद बढ़ा दी गई है, इस मामले में और ज्यादा उत्साह नहीं दिखाई पड़ता है और सच तो यह है कि अकेले गवर्नमेंट की कोशिशें कभी इस बड़े काम को पूरा कर ही नहीं सकतीं जब तक कि मां-बाप सजग होकर इसमें उत्साह और तत्परता न दिखायें। हमको विश्वास है कि यह छोटी-सी किताब इस काम में मां-बाप का हाथ बटा सकती है, शर्त यही है कि वह इससे मदद लेना चाहें। मगर रोना तो इसका है कि लोग ऊपरी दिखावे और सजधज की बातों में तो अनुभवी, जानकार और हुनरमंद लोगों की तलाश करते हैं मगर बच्चों की शिक्षा-दीक्षा जैसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर ऐसी उदासीनता दिखाते हैं जिसको गुनाह कहा जा सकता है। यही वजह है उनके लालन-पालन के बारे में बहुत से गलत खयाल फैल गये हैं। मसलन जब बच्चा जरा भी रोने लगता है तो मां

उसको गोद में लेकर जोर-जोर से लोरियां सुनाने लगती है। लेखक महोदय की सलाह है कि जिस कमरे में बच्चा लेटा हो वहां बिल्कुल शोर न हो, खासकर जब वह सोता हो उस वक्त बिल्कुल खामोशी चाहिए। कुछ मां-बाप मारे प्यार के अपने सोते बच्चों से बातें करते रहते हैं। यह हानिकर है। इससे बच्चे की श्रवण शक्ति पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

एक आम खराबी जो लड़कों के लालन-पालन में पाई जाती है वह यह है कि हम उनको अपनी ही गलती से आज्ञा न मानना और अनुचित हठ करना सिखाते हैं। जरूरत इसकी है कि बच्चे से जो बात कही जाये वह जोर देकर उनसे कही जाये 'क्योंकि प्रकृति ने बच्चों को ऐसी शक्ति दी है कि वे फौरन ताड़ जाते हैं कि जो बात उनसे कही गई है यूंही कही गई है या गंभीरता से। अगर मां बच्चे को कोई शरारत करते हुए देखकर नजर उधर कर लेती है या मुस्करा पड़ती है तो बच्चा समझ जाता है कि दिल्लगी है।' उसी तरह बच्चों को भूत, काटू वगैरह चीजों से डराने से जो खराबियां पैदा होती हैं लेखक ने उनका भी जिक्र किया है। कभी-कभी बच्चे रूठ जाते हैं उस वक्त मार-पीट, घुड़की-धमकी बिल्कुल बेकार होती है। लेखक की सलाह है कि ऐसी हालतों में बच्चे की तरफ ध्यान न देना चाहिए। उसकी तबीयत ऐसी नर्म होती है कि जरा सा ध्यान न देने पर हंसने खेलने लगते हैं। मगर बड़े, होशियार लड़कों के साथ यह बर्ताव करना नुकसानदेह है क्योंकि ध्यान न देने पर उनको और गुस्सा आने का डर है।

हमारे यहां बच्चों के पालन-पोषण में उनकी कलात्मक चेतना के संस्कार की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। जरूरी है कि बच्चों के सामने अच्छी-अच्छी तस्वीरें पेश करके उनमें सुरुचि की बुनियाद डाली जाये। उसी तरह बच्चे के सामने भद्दी आवाज में गाना अनुचित है।

हमारे यहां हर आदमी अपने लड़के को यूनिवर्सिटी की शिक्षा दिलवाना चाहता है। उसके स्वाभाविक रुझान की छान-बीन करने की जरा भी कोशिश नहीं की जाती जिसका बुरा नतीजा यह है कि बहुत से लड़के जो शिक्षा के किसी दूसरे क्षेत्र में उन्नति करते वह अपनी तबीयत के खिलाफ किताबें रटने पर मजबूर किये जाते हैं। मगर सवाल यह है कि तबीयत के रुझान का अंदाजा कैसे किया जाये। बचपन में इंद्रियां बहुत दुर्बल होती हैं और किसी विशेष रुझान का पता नहीं चलता। अतः तेरह बरस की उम्र तक जरूरी है कि बच्चे को स्कूल की साधारण शिक्षा दी जाये। उसके बाद जिस तरफ उसका रुझान देखें उसी ढर्रे पर लगा दें। अगर लेखक ने थोड़े से शब्दों में 'किंडरगार्टन' शिक्षा-प्रणाली का उल्लेख कर दिया होता तो पुस्तक और भी लाभप्रद हो जाती। प्राचीन स्पार्टा या प्राचीन भारतवर्ष की शिक्षा-प्रणाली की चर्चा करने से, जो अब बिल्कुल गई-गुजरी बातें हो गई हैं, किंडरगार्टन की चर्चा करना कहीं ज्यादा गुणकारी होता।

मसलए तालीम पर चंद खयालात

हमारे देश-गौरव लाला लाजपत राय साहब की तालीम के मामलों से दिलचस्पी बहुत बार जाहिर हो चुकी है। हाल में आपने इस नाम से एक पैम्फ्लेट प्रकाशित किया है जिसमें हमारे मौजूदा तालीमी मसलों पर बड़ी छान-बीन और खूबी से विचार किया गया है और दावत दी गई है कि जो दूसरे लोग इस मसले से हमदर्दी रखते हों वह भी इस विचार-

विमर्श में योग दें और अपने अनुभवों और विचारों को व्यक्त करें ताकि विचार-विनिमय से हम सही तरीके पर पहुंच जायें। लाला साहब ने अपने लेख में भारतीय शिक्षा-प्रणाली की यूरोपीय शिक्षा-प्रणाली से तुलना की है जिससे प्रकट होता है कि हम जीवन-संघर्ष की दौड़ में दूसरों से कितना पीछे हैं। हमारे यहां की शिक्षा अभी तक अव्यावहारिक है और उसके सांस्कृतिक पक्ष पर अधिक जोर दिया जाता है। यूरोप और अमरीका में शिक्षा की कसौटी बिल्कुल बदल गई है। वहां शिक्षा एक पूंजी है जिसके जरिये से शिक्षा पाया हुआ लड़का या लड़की राष्ट्र और देश की संपत्ति बढ़ाते हैं यानी हमारी शिक्षा बौद्धिक है और उनकी भौतिक।

हिंदुस्तान में तो अनिवार्य शिक्षा का क्या जिक्र, हर चार गांव में मुश्किल से एक गांव में कोई मदरसा है। यूरोप और अमरीका में शिक्षा न केवल अनिवार्य है बल्कि अंधों, लूलों, लंगड़ों और अलग-अलग पेशों के लिए अलग-अलग मदरसे कायम हैं। लड़कों को स्वस्थ रखने और उनको मजबूत और तंदुरुस्त बनाने के लिए बड़ी कोशिश की जाती है। मसलन 'हर स्कूल में डॉक्टरी जांच का खास इंतजाम है। लड़कों की आंख, कान, कमर, छाती, हाथ, पैर, सिर इत्यादि सब अंगों की समय-समय पर परीक्षा की जाती है और जो लड़के उन अंगों में किसी कमजोरी या कमी के कारण साधारण कक्षाओं के साथ काफी उन्नति नहीं कर सकते उनके वास्ते खास कक्षायें खुली हुई हैं।' हमारे यहां अभी तक प्राइमरी शिक्षा भी मुफ्त नहीं हुई। लड़का मुश्किल से शुरू की मंजिल तक पहुंचता है कि मां-बाप पर पढ़ाई के खर्चों का बोझ पड़ने लगता है। यूरोपीय देशों और अमरीका में आरंभिक और माध्यमिक शिक्षा हाई स्कूल के दर्जे तक बिला फीस मुफ्त और बिला किसी किस्म के खर्च के दी जाती है। यहां तक कि कागज, कलम, दावात वगैरह का खर्चा भी राज्य की ओर से दिया जाता है।

हमारे यहां अब तक यह खयाल फैला हुआ है कि यूरोप में ऊंची शिक्षा बहुत मंहगी है। लाला साहब इसका खंडन करते हैं। कहते हैं–

"अगर इस देश की औसत आमदनी का मुकाबला दूसरे यूरोपियन देशों की औसत आमदनी से किया जाये तो मालूम होगा कि हमारे देश में हर तरह की शिक्षा मंहगी है। हमारे देश में सरकारी हिसाब से औसत आमदनी फी आदमी तीस रुपय सालाना है। गैर-सरकारी हिसाब से सिर्फ अठारह रुपये सालाना है। इंगलैंड में औसत आमदनी फी आदमी 675 रुपये सालाना है। जिस हिसाब से इंगलिस्तान वालों की औसत आमदनी हिंदुस्तान वालों की औसत आमदनी से साठ गुना ज्यादा है, क्या कोई व्यक्ति यह कह सकता है कि हमारे देश में जो फीस गवर्नमेंट कॉलेजों में सरकार लेती है या जिस फीस के लेने पर इमदादी कॉलेजों को मजबूर करती है उसका इंगलिस्तान के कॉलेजों की फीस से वही संबंध है जो हमारी औसत आमदनी का इंगलिस्तान की औसत आमदनी से है? गवर्नमेंट कॉलेज लाहौर में बी० ए० क्लास में दस रुपया फीस सिर्फ शिक्षा की है। क्या कोई आदमी हमको बता सकता है कि ऑक्सफोर्ड या केम्ब्रिज के किसी कॉलेज में केवल शिक्षा की फीस 225 रुपया माहवार तक पहुंचती है। हरगिज नहीं। हालांकि दोनों जगहों की शिक्षा में आकाश-पाताल का अंतर है।" यही कारण है कि इन देशों में हर विद्यार्थी पर औसतन एक सौ पैंतीस रुपया खर्च पड़ता है और राज्य को अपनी कुल आमदनी का एक-तिहाई

हिस्सा केवल शिक्षा की मद में खर्च कर देने में संकोच नहीं होता।

घास-चारा

मुंशी देवी दयाल साहब ने इससे पहले 'फूल', 'दरख्त' वगैरह पर छोटी-छोटी और फायदेमंद किताबें लिखकर जबान की खिदमत की है। हाल में उन्होंने 'घास-चारा' और 'दूध' और 'शहद' तीन किताबें तैयार की हैं। 'घास-चारा' में तरह-तरह की घासों के नाम और थोड़े शब्दों में उनके फायदे और इस्तेमाल बयान किये गये हैं। यह भी बतला दिया गया है कि कौन-सी घास मवेशियों की खुराक के वास्ते ज्यादा फायदेमंद है और कौन नुकसानदेह। इस किताब में उन लोगों के लिए, जो बहुत से घोड़े वगैरह रखते हैं, काम की सलाहें मिल सकती हैं।

[उर्दू पुस्तक समीक्षा। 'ज़माना', अक्तूबर, 1906 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग', भाग-1 में संकलित।]

समीक्षाएं

विक्रमोर्वशी

उर्दू भाषा का स्रोत यद्यपि फारसी और संस्कृत दोनों ही हैं मगर उर्दू के शायर शुरू ही से फारसी कविता के अनुकरण में इतना ज्यादा लगे रहे हैं कि शायद रामायण और दो-एक और धार्मिक पुस्तकों को छोड़कर दूसरी किसी महान् संस्कृत पुस्तक ने उर्दू जबान का जामा नहीं पहना। अर्सा हुआ कि हिंदी भाषा ने, जिसका अल्प सामर्थ्य एक पक्की बात है, कालिदास और भवभूति की अधिकांश कृतियों से अपना भंडार भर लिया। उर्दू जबान में 'शकुंतला' के एक टूटे-फूटे तर्जुमे को छोड़कर अभी तक इनमें से किसी एक का भी तर्जुमा नहीं हुआ। खुशी की बात है कि उर्दू के मशहूर कलम के जादूगर मौलवी मुहम्मद अजीज मिर्जा साहब ने अब इस तरफ ध्यान दिया है और कालिदास के प्रसिद्ध नाटक 'विक्रमोर्वशी' का तर्जुमा उर्दू पब्लिक के सामने पेश किया है। मिर्जा साहब सिद्धहस्त लेखक हैं और आपका नाम उर्दू दुनिया में बहुत मशहूर है। इस अनुवाद का महत्व इस कारण से और भी बढ़ गया है कि एक मुसलमान लेखक की कलम से वह निकला। अगर किसी हिंदू ने यह काम किया होता तो शायद इसके हिंदूपन की वजह से यह किताब मुसलमानों में इतनी लोकप्रिय न हो सकती जिसका उसे हक है।

मौलवी साहब ने असल में तर्जुमे से पहले एक लंबी-चौड़ी भूमिका लिखी है जिसकी गहरी छान-बीन तारीफ के काबिल है। उसको ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में हिंदुस्तान में नाट्य-कला की रुचि कितनी समुन्नत थी। नाटक के सिद्धांतों, प्रकारों, विषयों के प्रकार, वर्णन शैली, नायकों के प्रकार आदि सूक्ष्म बातों पर जो बाल की खाल प्राचीन काल के हिंदुओं ने निकाली है उससे उनकी सर्वतोमुखी रुचि और बौद्धिक वैभव का पता चलता है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं किया जा सकता कि

अनुवादक-**मौलवी अजीज मिर्जा साहब बी० ए० होम सेक्रेटरी हुजूर निजाम।**

उन्होंने नाट्य-लेखन को एक विज्ञान बना दिया था।

मगर यह अभियोग कुछ मुसलमानों ही के सर नहीं है कि उन्होंने हिंदी ज्ञान-विज्ञान और साहित्य से लाभ नहीं उठाया। हिंदुओं पर भी यही इल्जाम पूरी तरह लागू होता है। मुसलमानों के जमाने में तो खैर संस्कृत की धार्मिक और कुछ सहित्यिक पुस्तकों के अनुवाद हुए भी मगर हिंदुओं ने तो शायद फारसी और अरबी साहित्य की किसी एक कृति को भी भाषा या संस्कृत का जामा नहीं पहनाया। 'गुलिस्तां' जैसी सर्वप्रिय पुस्तक का अनुवाद भी हिंदी भाषा में कुछ महीने पहले तक मौजूद न था। इसमें शक नहीं कि हिंदुओं ने फारसी में अपनी शायरी की यादगारें छोड़ी हैं। टेकचंद, माधोराम, कतील सब अमर नाम हैं मगर इनमें से किसी ने भी यह कोशिश नहीं की कि फारसी किताबों को हिंदी या संस्कृत का आभूषण पहनाते। उन्होंने प्रचलित ढंग का अनुकरण किया और इसी से संतुष्ट रहे। इस तरह दोनों कौमें सदियों से एक जगह रहने-सहने के बावजूद भी एक-दूसरे के ज्ञान-विज्ञान और साहित्य से अपरिचित हैं। और हालांकि यह बेगानापन पूरे तौर पर दोनों जातियों के आपसी विरोध के लिए जिम्मेदार नहीं कहा जा सकता तो भी इस इल्जाम से वह बरी नहीं है। लेखक महोदय ने भूमिका में कहा है--

'इस काम की जरूरत मुझे इस वजह से और भी महसूस हुई कि मौजूदा जमाने में मुल्क की बदनसीबी से हिंदुस्तान की बड़ी कौमों, हिंदू-मुसलमानों में सख्त विरोध पैदा होता जाता है और मेरे खयाल में अगर कोई तदबीर इस आपस के विरोध को रोकने या उसकी जगह हमदर्दी पैदा करने की है तो वह यही है कि एक-दूसरे के लिटरेचर से लाभांवित हों। इसका मौका, जो फारसी लिटरेचर के दोनों कौमों की दिमागी और दुनियावी तरक्की के लिए लाजमी होने की वजह से था, बाकी नहीं रहा।'

हिंदू और मुसलमानों की एकता और समझौते का सवाल ऐसा महत्वपूर्ण और पेचीदा है कि इसकी प्रेरणा जिस किसी तरफ से हो वह सच्चा कौमी हमदर्द कहे जाने का हकदार है और उसकी कोशिश मुबारकबाद के काबिल है।

कालिदास के जीवन पर ऐसा पर्दा पड़ा हुआ है कि उसके बारे में इसके सिवा और कुछ मालूम नहीं है कि वह राजा विक्रमादित्य के नौरतन का एक अनमोल हीरा था। यहां तक कि कभी-कभी छान-बीन करने वालों को शेक्सपियर की तरह उसके अस्तित्व पर भी संदेह होता है। बाद के संस्कृत कवियों में उसके काव्य का जो ऊंचा स्थान है और उसको जो प्रतिष्ठा और लोकप्रियता प्राप्त है वह भवभूति को छोड़कर, जो उसके एक शताब्दी बाद पैदा हुआ, और किसी संस्कृत कवि को प्राप्त नहीं। उसके काव्य की महत्ता के संबंध में लेखक महोदय कहते हैं--

'योरप और हिंदुस्तान के बड़े-बड़े काव्य-मर्मज्ञ एकमत हैं कि कालिदास जन्म से ही चितेरे की दृष्टि, कवि का मन और नक्काशी करनेवाले का हाथ लेकर आया था। उसकी व्यापक दृष्टि न केवल मानव-प्रकृति के पेचीदा रहस्यों बल्कि प्रकृति के तमाम दिल लुभाने वाले करिश्मों या चकित कर देने वाली घटनाओं की तह तक पहुंच गई थी और वह जो कुछ देखता था उसकी प्रबल स्मरण-शक्ति उसको बिना काट-कसर किए अपनी कल्पना के भंडार में जमा कर लेती थी।'

जर्मन के सबसे बड़े कवि गेटे ने 'शकुन्तला' की इन शब्दों में प्रशंसा की है जिनमें

एक कवि की काव्य-मर्मज्ञता का पता चलता है–

'नये साल की कलियां और बीते हुए साल के मेवे और वह सब चीजें जो आत्मा के लिए भोजन या कंठ और जिह्वा के लिए स्वादिष्ट हैं या जो उसको लुभा सकती है या विभोर कर सकती है, गरज जो कुछ धरती और आकाश में अच्छा और सुन्दर है वह सब तूने एक नाम में जमा कर दिया है। ओ शकुन्तला, तेरा नाम जबान पर आया और वो सब नेमतें गोया कि मिल गईं।'

कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति और प्रकृति के चित्रण में उसको जो अधिकार प्राप्त है उसकी बदौलत संसार के समस्त कवियों में उसे एक ऊंचा स्थान मिला है।

'विक्रमोर्वशी' कालिदास के तीन प्रसिद्ध नाटकों में से है और यद्यपि उनमें 'शकुन्तला' का-सा आकर्षण नहीं है मगर रंगीनी और वर्णन की सहजता और कोमल भावनाओं की चाशनी की दृष्टि से, जो कालिदास के साहित्य की विशेषताएं हैं, वह और नाटकों के समकक्ष है। शेक्सपियर की तरह कालिदास भी अपने ड्रामों के लिए नये प्लाट नहीं गढ़ता बल्कि पुरानी घटनाओं पर रंग-रोगन चढ़ाकर एक आकर्षक रूप में प्रस्तुत करता है। 'शकुन्तला' और 'विक्रमोर्वशी' दोनों पुराने किस्से हैं, हां 'मालविकाग्निमित्र' एक एतिहासिक कहानी है।

मुसलमानों ने क्यों हिन्दू नाटक से फायदा नहीं उठाया इस प्रश्न पर विद्वान् अनुवादक ने कुछ न्यायपूर्ण बातें कही हैं। आपका ख्याल है कि मुसलमान अपने कौमी इल्म और अदब पर इतना नाज करते थे कि किसी दूसरी कौम के साहित्य या अदब से फायदा उठाना अपनी शान के खिलाफ समझते रहे जिसका अफसोसनाक नतीजा यह है कि उर्दू साहित्य का विकास कृत्रिमता पर जाकर समाप्त हो गया। काश, उर्दू शायरी की बुनियाद भाषा या संस्कृति पर कायम की गई होती तो, आज दूसरा ही समां नजर आता और बयान के जोर और प्रकृति के चित्रण की स्थिति ही कुछ और हो जाती और वह चीज जिसको अब हमारी आंखें बेफायदा उर्दू शायरी में ढूंढती हैं, और जो हर कौम की शायरी की जान है उसका पता सिर्फ उसके न होने से न चलता।' लिहाजा अब जरूरत है कि उर्दू शायरी की रगों में नया खून दौड़ाया जाये। इस भूमिका में सिर्फ एक छोटी-सी बात है जिस पर हम अनुवादक महोदय से सहमत नहीं हो सकते। आप कहते हैं कि नाटक की उद्भावना सबसे पहले यूनान वालों ने प्रस्तुत की और इस मामले में जर्मनी के पंडितों को आप प्रमाण मानते हैं जिनका आमतौर पर यह तरीका है कि वे हर तरह की रोशनी और तहजीब को योरप ही से जोड़ें या अगर कभी न्यायप्रियता की भावना में आकर हिंदुस्तान के ज्ञान-विज्ञान और कला की प्रशंसा भी करें तो एक ऊंचे आसन पर बैठकर, संरक्षक के-से स्वर में, जिसमें सच्चाई की बहुत कम गंध आती है। कहते हैं कि हिंदुओं ने काव्य के दो प्रकार बतलाये थे–एक 'दृश्य' जो देखा जा सके और दूसरा 'श्रव्य' जो सुना जा सके। चूंकि नाटक पहले प्रकार का काव्य है इससे यह खयाल किया जा सकता है कि जिन लोगों ने यह दो प्रकार बतलाये वे नाटक की कला से अपरिचित न थे। किसी भी वर्गीकरण के लिए आवश्यक है कि उन वर्गीकृत चीजों का अस्तित्व हो। जब तक हमारे सामने सभी तरह के रंग मौजूद न हों, हम उनकी अलग-अलग किस्मों को एक-दूसरे से अलग नहीं कर सकते और हिंदुओं का यह विभाजन उतना ही पुराना है जितनी कि

हिंदू कविता। लिहाजा यह मानना पड़ेगा कि हिंदुओं ने नाटक की उद्‌भावना यूनानियों से नहीं ली। यह बेशक समझ में आने वाली बात है कि संस्कृत के आचार्यों ने श्रव्य प्रकार पर अधिक बल दिया और इसी में साहित्य-रचना करते रहे, दृश्य की ओर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया। इसकी मिसाल उर्दू शायरी से मिल सकती है कि बावजूद दो सौ वर्षों से ज्यादा की मश्क के अभी एक भी ऐसा ड्रामा नहीं निकला जिसे अमर जीवन का अधिकार प्राप्त हो। यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि नाटक का जो अर्थ आजकल है वह हिंदुओं के यहां नहीं था और न सिर्फ हिंदुओं के यहां बल्कि इंगलिस्तान में भी शेक्सपियर के वक्त तक ड्रामों ने मौजूदा ढंग अख्तियार न किया था। न जादू करने वाले परदे होते थे न आश्चर्यजनक दृश्य। लोग कोमल भावनाओं और ललित भाषा से आनंद उठाने के लिए जाया करते थे।

जहां तक अनुवाद का संबंध है, पुस्तक प्राय: निर्दोष है। कहीं-कहीं संस्कृत-उपमाएं उर्दू लिबास में भोंडी नजर आती हैं जिसका कारण शायद यह है कि हमारी रुचियां बिगड़ी हुई हैं। ड्रामे के लिए केवल कविता की कल्पनाओं की आवश्यकता नहीं है बल्कि परिधान की भी आवश्यकता है और पद्य जब गद्य का रूप ले लेता है तो उसकी आकर्षकता में बहुत अंतर आ जाता है। क्या उर्दू के बड़े-बड़े कवि जो गुलो-बुलबुल और गमजा-ओ-अदा और शिकवे-शिकायत में अपनी जान खपाया करते हैं इस तरफ ध्यान न देंगे। हजरत सुरूर, तालिब बनारसी, पं० बृजनरायन चकबस्त, हजरत कैफी और हजरत नजर अगर इस काम में हाथ लगाएं तो अपनी अमर कीर्ति का शिलान्यास कर सकते हैं। लिखाई-छपाई इस किताब की खासी है और जिल्द बहुत खूबसूरत ओर मजबूत। कीमत डेढ़ रुपया। दफ्तर 'ज़माना' कानपुर से मिल सकती है।

विदुर नीति

प्राचीनकाल के हिंदू-नीति आचार्यों में विदुर जी महाराज को जो ऊंचा स्थान प्राप्त है उससे बहुत कम लोग-परिचित हैं। संस्कृत में शंकर, चाणक्य और विदुर की नीति-शिक्षा बहुत ऊंचा स्थान रखती है। विदुर महाराज धृतराष्ट्र और पांडु के भाई थे मगर दोनों ओर से कुलीन न होने के कारण धन-संपदा से वंचित कर दिए गए थे। उनका जीवन बहुत सरल था मगर इसके साथ ही विचार बहुत ऊंचे थे। उनकी सरलता का यह हाल था कि श्री कृष्ण जी महाराज जैसे महान् व्यक्ति की दावत की तो मामूली साग से अधिक स्वादिष्ट कोई चीज न पेश कर सके। विदुर का साग आज तक मशहूर है मगर बावजूद इस सादगी के निर्भीक स्वंतत्रता-प्रेमी ऐसे थे कि जब उनसे कभी किसी बात में परामर्श लिया जाता था तो बड़े निर्भीक ढंग से अपनी राय देते थे। उनकी अच्छी सीखें संस्कृत साहित्य में हमेशा से बहुत ऊंचा स्थान पाती रही हैं। जब कौरवों और पांडवों में समझौते से काम न निकलने के कारण झगड़े पैदा हुए तो धृतराष्ट्र जो अपने भाई विदुर के पास सलाह लेने गए। विदुर जी ने उस वक्त उन्हें जो सलाह दी है उसका एक-एक अक्षर सोने के पानी से लिखे जाने योग्य है। खेद है कि अब तक उर्दू की दुनिया इस अनमोल मोती, ज्ञान और बुद्धि की इस खान के अस्तित्व से बिल्कुल अपरिचित थी। हाल में हैदराबाद के श्रीयुत मानिकराव विट्ठल राव ने इसका अनुवाद प्रकाशित किया है। यह सज्जन पहले

भी कई लाभप्रद पुस्तकें लिख चुके हैं और यह अनुवाद कुल मिलाकर बुरा नहीं। हम पाठकों के मनोरंजन और लाभ के लिए उसमें से कुछ उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। इन्हें पढ़कर यह अनुमान किया जा सकेगा कि सांसारिक प्रश्नों पर अच्छी राय काम करने के लिए जरा भी जरूरत नहीं कि आदमी दुनिया का गुलाम होकर रहे। पहले ही उद्धरण में विद्वान के जो गुण बतलाए गए हैं उनसे यह साफ जाहिर होता है कि हमारी बड़प्पन की कसौटी कितनी गिर गई है। आज हम उस व्यक्ति को विद्वान कहने में जरा भी नहीं झिझकते जो दो-चार भाषाओं से परिचित हो, जो अपने विचारों को सुथरे ढंग से व्यक्त कर सके और जो आवश्यकतानुसार कायदे मे बहस-मुबाहमा कर सके। हम यह अक्सर सुनते हैं कि अमुक सज्जन यद्यपि जरा शराब पीते हैं मगर इसमें शक नहीं कि अपने समय के बड़े विद्वान् हैं। गरज यह कि इंसान में सैकड़ों ऐब हों मगर सिर्फ उसके बौद्धिक वैभव के आधार पर उसे विद्वान् कहने में जरा भी आगा-पीछा नहीं किया जाता। देखिए, विदुर जी क्या कहते हैं–

'विद्वान् उसी को कह सकते हैं जो संसार के व्यापार मे लिप्त रहने पर भी ऐंद्रिक इच्छाओं और धन-संपदा से ऊंचा स्थान सदाचार को देता हो। जो व्यक्ति अपना अनमोल समय व्यर्थ नहीं गंवाता और विचारों पर जिसको अधिकार हाता है उसे विद्वान् कहते हैं। पंडित और बुद्धिमान वही है जो संसार की आपद-विपद मे ऐसा ही निश्चिंत रहे जैसे नदी अपने में कंकड़-पत्थर फेंके जाने से रहती है।'

कुछ और सीखें सुन लीजिए–

1 मनुष्य के शरीर से खून निकालने के लिए दो नश्तर हैं जिनमें से पहला नश्तर तो कंगाल को अकूत संपत्ति की लालसा और दूसरा है कमजोरी के बावजूद दूसरों पर गुस्सा करना।

2 निम्नलिखित दो व्यक्तियों को कमर में पत्थर बांधकर नदी में डुबो देना चाहिए–एक तो ऐसे धनवान को जो अपने धन में अधिकारी व्यक्तियों को सम्मिलित न करे और दूसरे ऐसे कंगाल को जो गरीबी के बावजूद परमेश्वर की उपासना न करे।

3 दो आदमी ऐसे आफत के परकाले हैं कि सूरज के लंबे-चौड़े घेरे को भी चीर-फाड़कर ऊपर दाखिल हो सकते हैं–पहला तो प्राणायाम करने वाला संन्यासी है और दूसरा लड़ाई के मैदान में बहादुरी के साथ दुश्मन का मुकाबला करके शहीद हो जाने वाला वीर।

4 प्रतापी राजाओं के लिए अगले लोग कह गए हैं कि उन्हें कायर, सहानुभूतिशून्य और खुशामदी लोगों से परामर्श न करना चाहिए।

5 भाई, अगर तू खुशहाली से जिंदगी बसर करना चाहता है तो इन चारों बातों पर अमल कर–खानदान के बढ़े-बूढ़ों, मुसीबत के मारे शरीफ आदमी, गरीब दोस्त और निस्संतान बहन को अपने घर में जगह दे, उनकी इज्जत कर और उनका ध्यान रख। खानदान के बड़े-बूढ़ों से न सिर्फ तेरा भरम बना रहेगा बल्कि तुझे बीते हुए जमाने की बातें भी मालूम हो सकेंगी। शरीफ मुसीबत का मारा क्यों न हो लेकिन उसके अच्छे गुणों का प्रभाव तेरे बच्चों पर पड़ेगा। दोस्त हमेशा तेरी भलाई चाहेगा और उससे अच्छी सलाह देने वाला तुझे न मिलेगा। बहन गृहस्थी के प्रबंध में तुझको जो मदद दे सकेगी वह दूसरे से मुमकिन नहीं।

6. मनुष्य में जो पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं अगर उनमें से एक पर भी तेरा अधिकार न रहा तो रोजनदार चर्मी डाल से बहकर निकल जाने वाले पानी की तरह आदमी के दिमाग से तमाम ख़ूबियां गायब हो जाती हैं।

7. छः व्यक्ति अपने कृपालुओं की कृपा को महत्व नहीं देते और उसकी परवाह नहीं करते—पढ़कर निकल जाने वाला शिष्य अपने गुरु की, विवाहित पुत्र अपनी मां की, जिसने अपनी वासना पूरी कर ली है ऐसा आदमी औरत की, गरजमंद ऐसे आदमी की जिससे गरज पूरी हो गई, तूफान से बचा हुआ आदमी किश्ती की, स्वस्थ होने के बाद रोगी वैद्य की।

8. जिस तरह शहद की मक्खी फूल को बनाए रखकर उसमें से सिर्फ शहद ले लिया करती है उसी तरह राजा को चाहिए कि प्रजा की स्थिति बनाए रखकर उससे कर वसूल करे।

9 सदाचार से सद्‌गुणों की, अध्ययन से ज्ञान की, अच्छे आचरण से सौंदर्य की, नेक आचरण से परिवार की, नाप-तोल से गल्ले की, फेरने से घोड़े की, देख-भाल से जानवरों की और सादे कपड़ों से स्त्री के सतीत्व की रक्षा होती है।

हम पाठकों से विनती करते हैं कि यह पुस्तक पढ़ें। इसे वे धार्मिक, सांसारिक, राष्ट्रीय अर्थात् सभी बातों में अपना सच्चा मार्ग-दर्शक पाएंगे। मैनेजर 'जमाना' के पास से मिल सकती है।

[उर्दू पुस्तक समीक्षा। 'ज़माना', फरवरी, 1908 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-1 में संकलित।]

बिहारी सतसई

'बिहारी सतसई', मुसन्निफा (लिखित)—प॰ पद्मसिंह शर्मा, मतनूआ (प्रकाशक)—ज्ञानमण्डल, काशी, कीमत—दो रुपया।

उर्दू नाजरीन (पाठक) बिहारी के नाम से बेगाना नहीं है। बिहारी के कई पुरनामे (अर्थवान्) दोहे उर्दू में मुरव्विज (प्रचलित) हैं। हज़रत नियाज़ फतहपुरी ने अपने 'जज़्बात भाषा' में बिहारी के दोहों की तशरीह (व्याख्या) की है और राकिम ने कई साल हुए रिसाला 'तर्जुमान' में बिहारी के हालात लिखे थे। यहां सिर्फ इतना कह देना ज़रूरी है कि बिहारी हिन्दी का जिन्दा जावेद (अमर) और हुस्न-ओ-इश्क के रंग में बेमिस्ल (अनुपम) शायर है। हिन्दी में इसके कलाम का पाया (दर्जा) कितना ऊंचा है, इसका सुबूत यह है कि इस पर कम-ओ-बेश बीस शरहें (टीकाएं) निकल चुकी हैं, जिनमें कई संस्कृत जबान में हैं। यह कहना मुबालगा (अतिरंजनापूर्ण) नहीं है कि इस खास रंग में बिहारी संस्कृत के अक्सर असातिज़ा (गुरुओं) से आगे निकल गया है। मगर अब तक 'बिहारी-सतसई' पर जितनी शरहें (टीकाएं) मौजूद थीं, वो कदीम तर्ज़ (पुरानी शैली) की हैं, जिनके समझने के लिए खुद उनकी तशरीह (व्याख्या) की ज़रूरत है। अलावा बरी (इसके अलावा), इनमें बिहारी के कलाम की खुसूसियात (विशेषताओं) से बहस नहीं की गई है। न किसी दूसरे हिन्दी शायर से इसका मुआजमा (तुलना) किया गया है। पंडित पद्मसिंह शर्मा ने ये किताब तस्नीफ करके (लिख करके) हिन्दी लिट्रेचर

की यह कमी पूरी कर दी है। हिन्दी में ऐसी मब्सूत (विस्तृत) तनकीद (समीक्षा) दूसरी नहीं है। उर्दू लिट्रेचर में मौलाना हाली, गालिब और सादी से इसका मुकाबला हो सकता है, लेकिन बसीत (फैला हुआ) के एतबार से उसे उन पर भी तफव्वुक (श्रेष्ठता) है। इस काम के लिए पंडित पद्मसिंह खासतौर पर मौजूं हैं। इन्हीं बिहारी के कलाम का सच्चा जौक (रसानुभव) है। उनकी तबियत सुखन-फहम (काव्य-मर्मज्ञ) वाकै (घटित) हुई है, और वो महज हिन्दी और संस्कृत पर कादिर (समर्थ) नहीं, उर्दूँ और फारसी पर भी इन्हें उबूर (सिद्धहस्तता) है। इस किताब की नुमायां (स्पष्ट) खुसूसियत ये है कि इसमें बिहारी के दोहों से टक्कर खाते हुए अक्सर उर्दू शुअरा (कवियों) के अशआर (बहुत-से शेर) भी दे दिये गये हैं, जिनसे तनकीद (समीक्षा) और तशरीह (व्याख्या) का लुत्फ दुबाला (दुगुना) हो जाता है। शर्माजी का तर्जे-बयान निहायत चुस्त, फसीह (रोजमर्रा के शब्दों का प्रयोग करने वाली लेखन-शैली) और दिलकश है। महज इंशा परदाजी के एतबार से भी ये किताब हिन्दी लिट्रेचर में बेमिस्ल है, वसअतए मालूमात (ज्ञान की गंभीरता), शायराना सुखन-फहमी (कवियों जैसी काव्य-मर्मज्ञता) लुत्फए-तनकीद (समीक्षा का आनंद) इस पर मजीद (अतिरिक्त) है।

बिहारी की सतसई (सात सौ दोहों का मजमुआ) से पहले दो हस्तियां और भी मशहूर हैं। एक प्राकृत में मौसूम-बा (नामधारी), 'गाथा-सप्तशती', दूसरी संस्कृत में मौसूम बा 'आर्या सप्तशती'। हिन्दी में 'तुलसी सप्तशती' और 'रहिमन-सप्तशती' भी मौजूद हैं और बिहारी की सतसई के बाद तो सतसइयों का तांता बंध गया। कितने ही शुअरा (शायरों) ने इसके ततब्बे (अनुकरण) में तबअ-आजमाई (काव्य-रचना की कोशिश) की, मगर मुसन्निफ (लेखक) ने इन तमाम मुकद्दम-व-मुवख्खर (पूर्वापर) सतसइयों से बिहारी के सतसई का मुआज़ना (तुलना, समानता) करके इसकी फज़ीलत (प्रतिष्ठा, श्रेष्ठता) पायाए-सुबूत (प्रमाण की पराकाष्ठा) तक पहुंचा दी है। मारिफत (अध्यात्म) और अखलाक (शिष्टाचार), बैराग (वैराग्य) और धर्म-जैसे मज़ामीन (विषयों) में तुलसी और रहीम ने जरूर कमाल किया है, लेकिन हुस्न-ओ-इश्क के रंग में बिहारी फर्द (अद्वितीय) हैं और इसके सतसई का यही माबउल इम्तियाज (सन्देहविहीन) है।

शर्मा जी ने इसके तस्नीफ (कृति) में ऐसी तलाश और तहकीक (गवेषणा) से काम लिया है कि बेइख्तियार (सहसा) दाद देनी पड़ती है। इसमें शक नहीं कि बिहारी ने मुतकद्दिम (प्राचीन) 'गाथा-सप्तशती' और 'आर्या-सप्तशती' का कदम-कदम पर ततब्बे (अनुकरण) किया है, लेकिन इन मजामीन (विषयों) में कुछ ऐसी कुदरत पैदा कर दी है, इन्हें कुछ ऐसा चमका दिया है कि तक्लीद (अनुकरण) में इंजाद (आविष्कार) का मजा आता है। मजमून आफरीनी (नये विषयों का आविष्कार) बिहारी के खुसूसियत है और इस एतबार से उर्दू के गालिब के सिवा कोई दूसरा शायर उसके जोड़ का नहीं है। मुलाहिजा फरमाइए, तस्वीरकशी (चित्रण) के फरसूदा मज्मून (पुराने विषय) पर बिहारी ने जितनी जिद्दतराजी (आविष्कार) की है–

लिखन बैठि जाकी सबी, गहि गहि गरब जरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर।।

यानी सारी दुनिया के मुसव्विर (चित्रकार), जो अपने फन में कमाल का दावा रखते थे, बार-बार तस्वीर खींचने बैठे और नाकाम रहे।

जनाब अकबर फरमाते हैं–

लहजा-लहजा है तरक्की पे तेरा हुस्न-जमाल,
जिसको शक हो, तुझे देखे तेरी तस्वीर के साथ।

बिहारी ने मुसव्विरों (चित्रकारों) की नाकामी की तवज्जों (ध्यान देना) नहीं की, मसलन रुखए-रौशन (सुंदर मुख) के नजारे की ताब ना लाना (देख न पाना), या लहजा-लहजा (क्षण-क्षण) हुस्न का बढ़ना, या खुद ही जौकए-नजारा (दृश्य के आनन्द से तस्वीर बन जाना या बकौल मसहफी–

न हो महसूस जो शै कि तरह नक्शे में ठीक उतरे,
शबीहे-यार खिंचवाई, कमर बिगड़ी, दहन बिगड़ा।

उसने उसकी तौजीह (विवरण, स्पष्टीकरण), फेले-अबस (व्यर्थ का काम) समझकर खामोशी इख्तियार करना ही मुनासिब (उचित) समझा। उसके खयाल में मुसव्विरों (चित्रकारों) की नाकामी के बेशुमार असबाब (कारण) हो सकते हैं। एक-दो नहीं कि उनका शुमार किया जा सके।

हिन्दी शुअरा (कवियों) के साथ-साथ हजरत मुसन्निफ (लेखक) ने बिहारी का उर्दू शुअरा (शायरों) से मुआजना (तुलना) किया है, इससे साबित होता है कि इन्हें उर्दू शायरी का कितना सही मजाक (रुचि, रसिकता) है।

बिहारी

जौ वाके तन की दशा, देखौ चाहत आप।
तौ बलि नेकु बिलोकिए, चलि अचकां चुपचाप।।

यानी जो आप उस सितमजदा (पीड़ित) की हालत देखना चाहते हैं तो जरा अचानक और चुपचाप चलकर देखिए। अगर आपके आने की उसे खबर हो जायेगी तो उसकी हालत रुबए-इस्लाह (ठीक होने की तरफ) हो जायेगी।

गालिब

उनके देखे से जो आ जाती है मुंह पर रौनक,
वो समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है।

बिहारी

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गांठ दुरजन हिये, दई नयी यह रीति।।

कायदा है कि जो धागा उलझता है, वही टूटता है, वही जोड़ा जाता है, और उसी में गांठ पड़ती है, मगर मुहब्बत का रिश्ता अजीब-ओ-गरीब है, उलझती आंख है, और टूटता है खानदान। साफ-दिलों के दिल में वो रिश्ता जुड़ता है और गांठ पड़ती मुफ्सिदों (छलियों, शरारतियों) के दिल में।

बिहारी

डर न टरै नींद न परै, हरै न काल बिपाक।
छिनक छाकि उछकै न फिरि, खरो विषम छवि छाक।।

यानी, नशा-ए-मुहब्बत दीगर नशों से कितना जाइद (बढ़ा हुआ) है, न वो खौफ से उतरता है, न उसमें नींद आती है, और वक्त ही उसकी कुछ इस्लाह (सुधार, शुद्धि) कर सकता है। एक बार पढ़ा, फिर एक लम्हे के लिए कभी नहीं उतरता–

मय में वो बात कहां जो तेरे दीदार में है,
जो गिरा, फिर न कभी उसको संभलते देखा।

बिहारी

जो न जुगुति पिय मिलन की, धुरि मुकुति मुख दीन।
जो लहिए संग सजन तो, धरक नरक हू कं न।।

यानी, अगर जन्नत में विसालए-यार (प्रेमी से मिलना) नामुमकिन है, तो तुफ (धिक्कार) है ऐसी जन्नत पर। अगर यार साथ हो तो दोजख भी जन्नत है–

ज़ौक

मुझको दोजख रश्कए-जन्नत है गर मेरे लिए,
वहां भी आतिश हो किसके रू-ए आतिशनाक का।

बिहारी

देखौं जागि त बैसिए, सांकर लगी कपाट।
कित ह्वै आवत जाति भजि, कौ जानै केहि बाट।।

यानी, जागकर देखता हूं तो दरवाजा वैसे ही बंद है और जंजीर लगी हुई मालूम होती है, वो महारू (चन्द्रमुखी) किस रास्ते से आता है और भाग जाता है।

ज़ौक

खुलता नहीं दिल, बन्द ही रहता है हमेशा,
क्या जाने कि आ जाता है तू उसमें किधर से

बिहारी

भूषन भार संभारि है, क्यों यह तन सुकुमार।
सूधे पाय न परत घर, सोभा ही के भार।।

हजरत अकबर

नाज कहता है कि जेवर से हो तजकीने-जमाल,
नाजुकी कहती है, सुरमा भी कहीं बार न हो।

उलमुख्तसर (सारांश यह है कि) यह एक मुहक्किकाना (शोधपरक) और अदीबाना

(साहित्यिक) तस्नीफ (रचना है) और हजरत मुसन्निफ ने हिन्दी लिट्रेचर की ये बेशबहा (बहुमूल्य) खिदमत अंजाम दी है। उर्दू में अगर्चे मआसिराना मजाक (समकालीन सुरुचि) हिन्दी में कुछ मुतागायर (अजनबी) है, लेकिन उम्मीद है कि जमाना अनकरीब में दोनों जबानें पहलू-ब-पहलू (साथ-साथ) बज्मआरा (सुसज्जित) होंगी और उर्दू नाजरीन (पाठकगण) भी ऐसी तसानीफ (कृति) से मुस्तफीद (लाभान्वित) होंगे। किताब के चंद आखिरी सफात में मुसन्निफ ने पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र मरहूम मुरादाबादी की तसनीफकरदा (लिखित) 'बिहारी-सतसई' की टीका की जो अदबी तनकीद की, वह एक नादिर मिसाल (अनुपम उदाहरण) है, तहकीक (शोध) और तौजीह (व्याख्या) के साथ-साथ जराफत (मनोरंजन) की ऐसी चाशनी है कि वो इजालाए इंकबाज (संभावित त्रुटियों को दूर करने) का अच्छा नुस्खा है।

[पुस्तक समीक्षा (तनकीद)। 'ज़माना', फरवरी, 1920 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का आप्रप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित]

आलम-केलि

संपादक: ला० भगवानदीन, प्रकाशक: उमाशंकर मेहता, रामघाट, काशी। मूल्य एक रुपया।

इसमें आलमकवि-कृत 'आलमकेलि' के अतिरिक्त शेख-रचित छंद भी है। आजकल जबकि तुक्कड़ों के अविरत आक्रमण ने सत्काव्य का नाम मिटा देने का बीड़ा उठा लिया है, ऐसी पुस्तकों की आवश्यकता है। विषय शृंगार रस है, पर निर्वीर्य वीररस से अधिक जीवित है।

[पुस्तक समीक्षा। 'मर्यादा', जून, 1922 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

चित्रमय श्रीकृष्ण

प्रकाशक : भारत चित्र-मंदिर, हावड़ा। सोल एजेंट : हिंदी पुस्तक एजेंसी, 126, हैरिसन रोड, कलकत्ता। मूल्य चार रुपया।

भक्तों के बड़े काम की चीज़ है। श्रीकृष्ण का जीवन-चरित्र—जन्म से कंस के वध तक—चित्रों द्वारा ही दिखाया गया है। प्रत्येक चित्र के सामने दूसरे पृष्ठ पर उसका संक्षिप्त विवरण भी दे दिया गया है, जिससे चित्र का आशय समझने में आसानी होती है। चित्रों की संख्या 41 है। इन चित्रों को चित्रकला का उत्तम नमूना नहीं कहा जा सकता। प्रकाशक का यह अभिप्राय भी नहीं है, नहीं तो 41 चित्रों के सुंदर रेशमी जिल्द में बंधे हुए अलबम का मूल्य इससे कहीं अधिक होता। तिस पर भी बाज़ तस्वीरें अच्छी हैं। लड़कों को उपहार देना हो तो इससे अच्छी चीज़ न मिलेगी।

[पुस्तक समीक्षा। 'मर्यादा', जून, 1922 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

पतितोद्धार

लेखक : श्री जंगबहादुर सिंह, प्रकाशक : हिंदी ग्रंथ भंडार कार्यालय, काशी। मूल्य एक रुपया।

इस उपन्यास के पतित नायक किशनचंद नाम के एक जमींदार हैं। वह सरकार के बड़े भक्त थे। युद्ध के आरंभ में उनके इलाक़े के मनुष्य पकड़-पकड़ कर रंगरूट बनाकर भेज दिए गए, पर बाबू साहब ने इन बेचारों का पक्ष न लिया। प्रजा के एकमात्र हितैषी बाबू साहब के एक मित्र बाबू शिवनाथ थे, पर उन्हें पुलिस के षड्यंत्र के कारण एक चोरी के अभियोग में तीन मास का दंड दिया गया। युद्ध के पीछे रौलट एक्ट और मार्शल-लॉ का ज़माना आया। जमींदार महोदय का, जो अब रायसाहब हो गए थे, लड़का बम से घायल होकर मरा। उनकी ज़ायदाद ज़ब्त हो गई और उनको काले पानी का दंड मिला। इस दु:ख में उनके दो सहायक हुए, एक तो बाबू शिवनाथ, जो जेल से छूटने पर स्वामी विश्वेश्वरानंद के नाम से संन्यासी हो गए थे, और दूसरा संतसिंह, जिसको बाबू साहब ने ज़बर्दस्ती रंगरूट बनाकर युद्ध में भिजवा दिया था। वीरता दिखाने के कारण संतसिंह को विक्टोरिया क्राम मिला था, पर इनकी रक्षा में एक अंग्रेज़ को मार डालने के अपराध में गोली से मार दिया गया। अंत में बाबू साहब को क्षमादान मिला और ज़ायदाद भी लौटा दी गई। इनकी आंखों से पट्टी खुली। इन्होंने संतसिंह के लड़के को अपने यहां रख लिया और राय साहब की सनद भी जला दी। यही इनका उद्धार हुआ। पुस्तक अच्छी है।

[पुस्तक समीक्षा। 'मर्यादा', जून, 1922 मे प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 म सकलित।]

भारतीय जेल

लेखक : जेल-प्रवासी ठा॰ महताबसिंह वर्मा, प्रकाशक : देशभक्त पुस्तकालय, सिरसागंज, मैनपुरी, मूल्य : आठ आना (पचास पैसे)।

अभी तक जेलों में प्राय: लुच्चे-लफंगे जाया करते थे, अब बड़े-बड़े सदाचारी और विद्वान् एक बार जेल जाने के लिए तरसते हैं। इससे कम-से-कम एक लाभ यह है कि जेलों के प्रबंध पर बहुत-कुछ प्रकाश पड़ा है। जेल के कर्मचारी इस बात को भूल जाते हैं कि दुराचारी से दुराचारी मनुष्य भी आखिर मनुष्य है। क़ैदियों के साथ जैसे-जैसे व्यवहार किए जाते हैं, उन्हें देखकर कलेजा मुंह को आता है। मैं स्वयं जेल हो आया हूं, इसलिए कुछ-कुछ इन रहस्यों का जान सका हूं। जो लोग इस विषय का ज्ञान प्राप्त करना चाहें, उन्हें ठा॰ महताबसिंह की पुस्तक अवश्य देखनी चाहिए। ठाकुर साहब एक वर्ष तक क़ैद में रहे हैं, और आपको अपने विषय का अच्छा अनुभव है।

[पुस्तक समीक्षा। 'मर्यादा', जून, 1922 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

मराठे और अंग्रेज़

प्रकाशक : राष्ट्रीय हिंदी मंदिर, जबलपुर।

यह श्री नरसिंह चितामणि केलकर की मराठी पुस्तक 'मराठे व अंग्रेज' का श्री सूरजमल जैन-कृत उल्था है। हमने मूल पुस्तक भी देखी थी। उसी समय यह खयाल हुआ था कि इसका हिंदी अनुवाद निकल जाए तो अच्छा होगा। हर्ष की बात है कि श्री सूरजमल जी ने यह कमी दूर कर दी। पुस्तक बहुत उपयोगी है। जो लोग मराठी के इतिहास को, जो भारत के आधुनिक इतिहास का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण अंग है, अनुशीलन करना चाहते हों, उन्हें यह पुस्तक अवश्य देखनी चाहिए।

हम प्रकाशकों को भी दो परामर्श देना चाहते हैं। एक तो वह ऐसी पुस्तकों में अक्षरानुक्रम के अनुसार विशिष्ट नामों की सूची (Index) दे दिया करें, दूसरे, अपने निवेदन में खर्च का दुखड़ा न रोया करें। 520 पृष्ठ की पुस्तक के लिए तीन रु० मूल्य अधिक नहीं है, इतनी-सी बात समझाने के लिए दो पृष्ठों के विवरण की कोई आवश्यकता न थी। इस पुस्तक के पीछे कर्मचारियों के वेतन में लगा है 1015 रु० पौने चार आना (।।।), परंतु लेखक के पुरस्कार और सम्मति पुरस्कार में (संभवत: यह रकम श्री केलकर को दी गई) कुल 354 रु० लगे हैं। चाहे केलकरजी, चाहे सूरजमल जी, जिस किसी बड़भागी को यह पुरस्कार मिला हो, इसका सरदल पड़ता है।।=) 10 प्रति पेज। जो 75 प्रतियां उपहार-स्वरूप दी गई हैं, उनका मूल्य जोड़कर भी]-)।।। प्रति 10 पेज पड़ता है। यह प्रसिद्ध प्रकाशकों की साहित्य-सेवियों के प्रति अति गुण-ग्राहकता है। यदि यह उदारता गुप्त ही रखी जाए तो अच्छा है। परलोक में तो इसका फल मिलेगा ही।

[पुस्तक समीक्षा। 'मर्यादा', जून, 1922 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 1 में संकलित।]

माधुरी

यह सचित्र मासिक पत्रिका श्रावण-शुक्ला सप्तमी, संवत् 299 (तुलसी संवत्) से प्रकाशित होने लगी है। इसके संपादक श्री दुलारेलाल भार्गव और श्री रूपनारायण पांडेय हैं। वार्षिक मूल्य : छह रुपये आठ आना है।

अभी तक हिंदी में एक सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक पत्रिका की आवश्यकता थी। इस अभाव को दूर करने के लिए ही इसका जन्म हुआ है। पत्रिका अपने दामन को वर्तमान राजनीति के गंद नाले से पाक रखना चाहती है, इसलिए उसके मार्ग में विशेष विघ्न-बाधाओं के उपस्थित होने की कम संभावना है। एक बात में तो अब भी सर्वोत्कृष्ट है।–जहां तक हमको ज्ञात है, हिंदी में कोई भी 100 पृष्ठों की पत्रिका नहीं निकली। रंगीन चित्रों में सुधार की आवश्यकता है।

पहला अंक आशाजनक है। हम संपादकों को इस बात के लिए बधाई देते हैं कि उन्होंने पं० गोविंदनारायण मिश्र और प्रेमघन जी ऐसे आचार्यों की कृपा-भिक्षा प्राप्त की

है, और भी कई अच्छे लेखकों के पद्य और निबंध हैं। आरंभ में 'माधुरी' शीर्षक दो पद्य हैं, एक के रचयिता पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय हैं और दूसरे के श्री मैथिलीशरण गुप्त। पहला द्रुतविलंबित छंद में है। उसकी भाषा संस्कृत प्राय: है, इसलिए सुनने में स्वभावत: कर्णप्रिय है। दूसरे के छंद का कुछ पता नहीं चला। पंक्तियों के अंत में 'आह तेरी माधुरी, वाह तेरी माधुरी। देखकर सरवन की गाथा गाने वाले जोगीड़ों के 'हर गंगा' की याद आती है। ऐसी रचनाओं के प्रति गुणग्राहकता दिखलाने से 'माधुरी' का एक उद्देश्य 'हिंदी में उच्चकोटि के स्थायी साहित्य को उत्पन्न करना' अतिशीघ्र सिद्ध हो जाएगा।

[पत्रिका समीक्षा। 'मर्यादा', जून, 1922 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

साहित्य

यह सचित्र मासिक कलकत्ते से निकलने लगा है। इसके संपादक हमारे मित्र पं० छविनाथ पांडेय हैं। वार्षिक मूल्य 5) है। इसके दो अंक हमारे पास आए हैं। पत्रिका होनहार है। अभी तक जो तीन चित्र निकले हैं, वे 'चित्रमय श्रीकृष्ण' नामी पुस्तक से लिए गए हैं। गद्य-पद्य मिलाकर 64 पेज मैटर रहता है। अंत में थोड़ी-सी उपयोगी व्यावसायिक चर्चा रहती है। प्रूफ़ देखने की असावधानी या किसी अन्य कारण से कुछ बुरी त्रुटियां रह गई हैं। संपादक महाशय ने शायद देखा होगा कि स्वयं उनके ही विचार कहीं-कहीं बहुत ही अपरिमार्जित-सी भाषा में व्यक्त हुए प्रतीत होते हैं।

[पत्रिका समीक्षा। 'मर्यादा', जून, 1922 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

सेवा-धर्म्म

प्रकाशक : वीर मंदिर, आरा।

यह पुस्तक 'सेवा' संबंधी गद्य-पद्य अवतरणों का संग्रह है। कुछ अवतरण तो हिन्दी साहित्य या प्रसिद्ध वक्ताओं के भाषणों से लिए गए हैं, संस्कृतादि से अनूदित हैं। इनको बाबू शिवपूजनसहाय ने स्वर्गीय कु० देवेन्द्रप्रसाद जैन की स्मृति में संकलित किया है। संग्रह अच्छा है, विशेषत: बालकों के लिए उपयोगी होना चाहिए। 112 पृष्ठों की पुस्तक के लिए एक रुपया बारह आना मूल्य कुछ अधिक प्रतीत होता है।

[पुस्तक समीक्षा। 'मर्यादा', जून, 1922 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 1 में संकलित।]

अंधा एतकाद और खुफिया जैहाद

लेखक, श्री स्वामी श्रद्धानंद जी।

इस पुस्तक में मुसलमानों के एक गुप्त धार्मिक संप्रदाय का वृत्तांत, उत्पत्ति से लेकर उसके वर्तमान स्वरूप तक, खोज और प्रमाण के साथ लिखा गया है। इस गुप्त संप्रदाय का नाम इसमाइलिया था। इसकी बानी हसन बिन सबाह नाम का एक शिष्य मुसलमान था। हसन ने अपने संप्रदाय को कैसे फैलाया, उसके क्या-क्या सिद्धांत थे और किन उपायों से वह कई सदियों तक बड़े-बड़े बादशाहों को नीचा दिखाता रहा, यह वृत्तांत किसी उपन्यास से कम मनोरंजक नहीं। धर्म के नाम पर संसार में कैसे अत्याचार होते चले आए हैं, इसका यह एक अच्छा उदाहरण है। जब हलाकू खां के जमाने में इस संप्रदाय की जड़ उखड़ गई, तो उसके कुछ बचे-बचाए आदमी सिंध आदि स्थानों में भाग आए। सिंध के खोजे उसी इसमाइलिया फिरके के अनुयायी हैं और उनके इमाम सर आगाखां हैं। हिंदुस्तान में आने पर इस फिरके में कितने ही हिंदू भी शामिल हो गए। अब इस फिरके के नेताओं को यह आशंका हुई कि यदि हिंदुस्तान में मुसलमानों का राज्य न रहा तो हिंदू-धर्म को मानने लगेंगे। इसलिए उन मुरादों को फंसाने के लिए नये-नये धर्म-ग्रंथों की रचना की गई, जिनमें हिंदुओं के पुराणों और अवतारों के भी समावेश कर दिया गया। उन ग्रंथों के नाम भी हिंदू-धर्म-ग्रंथों जैसे रख दिए गए। यही नहीं आगा खां भी हिंदू कहलाते हैं।

इसी ईसमालिया फिरके की देखा-देखी योरोप में ईसाइयों ने भी जेसुइट नाम का संप्रदाय जारी किया, जिसने रोमन चर्च की गिरती हुई दीवार को बहुत दिनों तक संभाला और उसके प्रचारक पुर्तगाल से आकर हिंदुस्तान, चीन, जापान आदि एशियाई देशों में ईसाई-धर्म का प्रचार करते रहे।

लेकिन हम-लेखक के इस कथन से सहमत नहीं हैं कि इस प्रकार का अंधविश्वास मुसलमानों और ईसाइयों ही तक महदूद है। हिंदुओं में भी कई ऐसे मत हैं जिनमें श्रद्धा का उससे कम दुरुपयोग नहीं किया गया, जैसा ईसाइयों या मुसलमानों में बाज़ फिरकों ने किया और न यही निर्विवाद है कि मुसलमानों के भारत में आने के पहले हिंदू-धर्म में हिंसा और अंधविश्वास का पता न था। पांखड़ियों से दुनिया कभी खाली नहीं रही। अगर मुसलमानों में इसमालियों ने अपने भक्तों की आत्मा पर अधिकार जमाया और उन्हें अन्य धर्मवालों की हत्या करने पर आमादा किया, तो भारतवर्ष में भी ऐसे कामांध गुरुओं और महंतों की कमी नहीं रही, जो धर्म की आड़ में नाना प्रकार के भ्रष्टाचरण करते रहे। यह मानना पड़ेगा कि हर एक धर्म में भक्तों की सरसता और श्रद्धा से फायदा उठाने वाले धूर्त रहे हैं, अब भी हैं और हिंदुओं को उनसे सावधान रहना चाहिए।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', माघ 1981 वि० सं० (फरवरी, 1924) में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

आदर्श बहू

श्री शिवनाथ शास्त्री की 'मेजबऊ' नामक बंगला पुस्तक का अनुवाद। अनुवादक श्री शिवसहाय चतुर्वेदी।

मूल बंगला पुस्तक के उन्नीस संस्करण हो चुके हैं। इससे जाहिर है कि पुस्तक कितने मार्के की है। मज़ा यह है कि अनुवादक महोदय ने केवल अनुवाद ही नहीं किया दु:खांत कथा को सुखांत भी कर दिया है। अब सिद्ध हो गया है कि किसी मनुष्य को केवल लेखक की पुस्तक का अनुवाद करने ही का अधिकार नहीं, उसके मनमाना उलट-फेर करने का और उस पर भी पुस्तक को मूल का अनुवाद कहने का अधिकार है। हमारी समझ में यह अनुवादक महोदय की अनधिकार चेष्टा है, उन्हें इसका कोई मजाज़ नहीं कि किसी लेखक की कीर्ति को अपनी इच्छा से भ्रष्ट कर दें। और सुनिए। यह पुस्तक हिंदी में पहली ही बार अनुवादित होकर प्रकाशित नहीं हुई। इसका पहला एडीशन 'शारदा' के नाम से पहले छप चुका है। यह दूसरा एडीशन है, पर नाम बदल गया है। 'शारदा' शायद अच्छा नाम था, इसलिए फिर नामकरण किया गया है। इसे भी धोखे-धड़ी समझना चाहिए।

पुस्तक बालिकाओं के लिए उपयोगी है और इससे उनका मनोरंजन भी होगा किंतु अनुवादक ने इस सुखांत करके इस पर घोर आघात किया है। मालूम नहीं, इस किताब में ऐसी कौन-सी खूबी थी कि इसका बंगला से अनुवाद करना आवश्यक समझा गया। यदि हमारे यहां के हिंदी लेखक ऐसी साधारण कथाओं की कल्पना भी नहीं कर सकते, तो हमारी भाषा का ईश्वर ही मालिक है। संभव है, मूल पुस्तक में कोई खास बात हो, अनुवाद में तो कोई ऐसी बात नहीं दिखाई देती। हां, अगर कोई खूबी है तो यह कि भाषा में जहां तहां बंगला की झलक आ गई है, जो भाषा की सरसता में बाधक होती है।

मालूम नहीं प्रकाशक महोदय ने इस पुस्तक के लिए चित्र किस चित्रकार से बनवाए है। हमने ऐसी भद्दी तसवीरें कभी नहीं देखी थीं। कोमल जाति के साथ इतना भीषण अत्याचार आज तक किसी ने न किया होगा। ऐसी तसवीरों से तो तसवीर का न रहना हज़ार गुना अच्छा था। वास्तव में इन चित्रों ने पुस्तक के अन्य बाह्यगुणों को मिटा दिया है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', माघ 1981 वि॰ सं॰ (फरवरी, 1924) में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

कुरान--सूरए बफर

अनुवादक तथा संपादक : रामचंद वर्मा तथा श्री प्रेमशरण आर्य प्रणत।

श्रीयुत् पं॰ रामचंद आर्य कुरान के हाफ़िज़ और अरबी के विद्वान् हैं। शायद उनके सहकारी श्री प्रेमशरण जी भी अरबी के आलिम-फाज़िल होंगे। इन दोनों महानुभावों ने कुरान का हिंदी अनुवाद करना शुरू किया है। यह पुस्तक केवल एक सूरा है। इसमें अरबी इबारत दी गई है। उसके नीचे उसकी टीका भी कर दी गई है। मालूम नहीं टीकाएं किस मुफ़स्सिर के आधार पर की गई है। उसका नाम कहीं नहीं दिया गया। बिना किसी मुसलमान या मुस्तनद आलिम की सनद के यह टीका वैसे ही मान्य नहीं हो सकती, जैसे वेदों

की टीका किसी संस्कृतज्ञ मुसलमान द्वारा संपादित की हुई है। हां, इसका एक शुभ फल अवश्य हो सकता है कि वह है हिंदू-मुसलमानों का वैमनस्य ! न जाने हमारे ये भाई कब समझेंगे कि इसलाम धर्म का जिज्ञासु कुरान की वह टीका देखेगा, जो मुसलमानों द्वारा सम्मानित और प्रमाणित हो। ऐसे अनुवादों से तो झगड़ा पैदा होने के सिवाय और कोई फल नहीं निकल सकता। किंतु संसार में ऐसे भी प्राणी हैं, खासकर भारतवर्ष में, जो दूसरों के मतों का खंडन करना ही जातीय सेवा का मुख्य उपाय समझते हैं।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', माघ, 1981 वि० सं० (फरवरी, 1924) में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

गृहिणी गौरव

गल्पों का संग्रह। अनुवादक : श्रीकृष्णलाल वर्मा।

सात बंगला गल्पों का अनुवाद है। कहानियां मनोरंजक और शिक्षाप्रद हैं। कई कहानियों में स्त्रियों के आदर्श चरित्र दिखाए गए हैं। पहली कहानी तो बहुत अच्छी नहीं, किंतु शेष कहानियां उच्चकोटि की हैं। 'सेवा का अधिकार' हमें बहुत पसंद आई। अनुवादक ने भाषा लालित्य को कहीं हाथ से नहीं जाने दिया। पुस्तक सेठ लक्ष्मीचंद्र जी वेद को समर्पित की गई है। शुरू में सेठ जी का चित्र और उनका संक्षिप्त जीवन चरित्र दिया गया है। उनके दिए हुए दानों की एक तालिका भी दी गई है, जो दानों के महत्व को घटा देती है। पुस्तक सचित्र है और चित्र साधारणत: अच्छे हैं।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', माघ, 1981 वि० सं० में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

हिंदू-मुसलिम-इत्तहाद की कहानी

लेखक : स्वामी श्रद्धानंद जी।

स्वामी जी ने हिंदुओं और मुसलमानों के आपस के झगड़े की मुख्तसर तारीख लिखी है। झगड़े हमेशा होते ही रहे हैं। हिंदुओं की बौद्धों और जैनियों से खूब लड़ाइयां हुईं। मुसलमानों की बौद्धों से, बौद्धों की बौद्धों से, हिंदुओं की हिंदुओं से। ग़रज़ जातिगत और धर्मगत लड़ाइयां परंपरा से होती चली आ रही हैं। मगर कोशिश यह होनी चाहिए कि हम उन झगड़ों को भूल जायं, न कि गड़े मुरदे उखाड़-उखाड़कर विरोधी की आग और भड़काते रहें। हिंदू मुसलमान के सिर पर इलज़ाम रखता है, मुसलमान हिंदू के सिर। दोनों पक्षों को अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए दलीलें और प्रमाण मिल जाते हैं और झगड़ा कभी तय नहीं होता। जब तक हम दूसरों के अवगुणों पर पर्दा डालना और गुणों को देखना न सीखेंगे, जब तक हम अपने हृदय को उदार न बनाएंगे, तब तक सुधार की कोई आशा नहीं हो सकती।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', माघ 1981 वि० सं० (फरवरी, 1924) में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

इत्मुल अर्ज़

लेखक : श्री नत्थनलाल गुप्त।

यह भूगोल की उर्दू-पुस्तक है। ये लेख पहले लाहौर की वैज्ञानिक उर्दू पत्रिका 'रोशनी' में निकले थे। अब कुछ काट-छांटकर उन्हें पुस्तक का रूप दे दिया गया है। इसमें भूगोल के उस भाग का वर्णन किया है, जो गणित से संबंध रखता है। पृथ्वी की वार्षिक गति, वायु मंडल, पृथ्वी का आकार, सूर्य-रेखा आदि विषय रोचक और सरल भाषा में खोज के साथ लिखे गए हैं। हमारे खयाल में यदि कोई स्कूल इस विषय को उर्दू भाषा में पढ़ाने का निश्चय करे, तो उसे उपर्युक्त पुस्तक के अभाव की शिकायत न करनी पड़ेगी। इस पुस्तक में भूगोल के इस भाग की वे सभी बातें लिख दी गई हैं, जो कोर्स की साधारण अंग्रेज़ी पुस्तकों में नहीं मिल सकतीं। जहां कहीं ज़रूरत पड़ी है, लेखक ने चित्रों और नक्शों से भी काम लिया है। छपाई इसमें बहुत अच्छी हो सकती थी। इस पुस्तक में यह विशेषता है कि लेखक ने अपने विषय को खूब स्पष्ट करके समझाया है और शंकाओं का भी दलीलों से समाधान करने की चेष्टा की है, जिसमें वह बहुत सफल हुए हैं। अब तक हमने हिंदी में ऐसी कोई पुस्तक नहीं देखी।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', फाल्गुन 1981 वि. सं. (मार्च, 1924) में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग', भाग 3 में संकलित।]

चन्दभवन

लेखक : पं. रामगोपाल मिश्र

इसमें भी वे ही दोनों चित्र विराज रहे हैं, शायद दोनों के ब्लाक बनवा लिये गये थे, तस्वीरें ज्यादा छपा ली गयी थीं, इसलिए उन्हें दीमकों से खिला देने की अपेक्षा यही हुआ कि उनका कुछ उपयोग हुआ। उपन्यास में बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह और बेमेल विवाह के कुपरिणाम दिखाये गये हैं। दहेज की कुप्रथा का भी उल्लेख किया गया है। कनक का जीवन इसलिए दुखमय हो जाता है कि पिता के निर्धन होने के कारण उसका विवाह कृष्ण मुरारी से न हो सका। सोलह वर्ष की बाल-विधवा शान्ता इसलिए विष खा लेती है कि उसकी नव-विवाहिता विमाता ने उसे ससुराल भेज दिया। शान्ता का छोटा भाई सतीश हेमलता के प्रेम में नैराश्य के सिवा और कुछ न देखकर घर से निकल जाता है और हेम का विवाह कृष्ण मुरारी से हो जाता है। किन्तु हेम के हृदय पर सतीश की मुहर थी। हेमलता मिशन की शरण लेती है और अंत को उसे भी विष खाना पड़ता है। पुस्तक करुणारस-पूर्ण है। चरित्र-चित्रण में भी लेखक की कुशलता का परिचय मिलता है। भाषा सरल और सुबोध है। विवाह की समस्या कठिन है। योरोप में प्रेम के विवाह होते हैं पर थोड़े ही दिनों में तलाक की नौबत आती है। धर्म ही एक ऐसा स्तंभ है, जिसके आधार पर वैवाहिक भवन आजीवन अटल रह सकता है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', मार्च, 1924 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

भारतीय शासन

चौथा संस्करण। लेखक और प्रकाशक : श्री भगवान केला।

इस राजनीतिक युग में जब कि प्राणिमात्र के हृदय में स्वराज्य की अभिलाषाएं उछल रही हैं, यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है कि हम अपने देश की शासन-पद्धति से भली-भांति परिचित हों। जब तक हमें यह न मालूम हो कि इस पद्धति में क्या-क्या बुराइयां हैं, उनके सुधार की क्या-क्या योजनाएं हैं और शासन के किन-किन अंगों के परिवर्तन से हमारा यथेष्ट कल्याण होगा, हम स्वराज्य के आंदोलन में पूरे उत्साह से सम्मिलित नहीं हो सकते। इस पुस्तक से हमें इस विषय की कितनी ही बातें मालूम हो सकती हैं--ब्रिटिश साम्राज्य का शासन, पार्लियामेंट, प्रिवी कौंसिल, भारत सरकार, भारतीय व्यवस्थापक मंडल, प्रांतीय सरकार, देसी रियायतें, भारतीय शासन के विभाग--इन सभी विषयों की विवेचना की गई है। लेखक ने केवल इन संस्थाओं की चर्चा ही नहीं की, उनके विषय में अपनी राय भी दे दी है। 'इंडिया कौंसिल' से साधारणत: लोग अनभिज्ञ हैं। लेखक ने उसका विस्तार से वर्णन किया है। आपकी यह राय है कि इंडिया कौंसिल की कोई जरूरत नहीं। जब उपनिवेशों के सेक्रेटरी को किसी कौंसिल की ज़रूरत नहीं, तो भारत के सेक्रेटरी को चालीस लाख वार्षिक खर्च करके एक कौंसिल रखने की क्या ज़रूरत। पुस्तक उन लोगों के लिए बहुत उपयोगी है, जो राजनीति में प्रारंभिक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। पंडित दयाशंकर दुबे जी ने इसकी भूमिका लिखी है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी' फाल्गुन 1981 वि० सं० (मार्च, 1924) में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

स्वाधीनता के पुजारी

लेखक : श्री भूदेव विद्यालंकार।

इस पुस्तक में रूस के दस प्रधान देश-भक्तों की वीर-कथा का संग्रह किया गया है। उसमें कई स्त्रियां हैं, कई राजकुमार हैं, कई ऊंचे राज्य कर्मचारी हैं। इन वीरों ने कितनी दिलेरी से कड़ी से कड़ी यातनाएं झेलीं, देश-भक्ति की वेदी पर कितने प्रफुल्ल विश्वास और अदम्य उत्साह से अपने को बलिदान किया, यह पढ़कर उन वीरात्माओं के प्रति हृदय में श्रद्धा की लहरें-सी उठने लगती हैं। स्वाधीनता की देवी से वरदान पाना कठिन है, इसका अनुमान इन चरित्रों के देखने से हो सकता है। पुस्तक सचित्र है, तेरह हाफ्टोन चित्र दिए गए हैं। वर्णन-शैली चित्ताकर्षक है, और बाज़-बाज़ चरित्रों में तो उपन्यासों से कहीं अधिक आनंद आता है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', फाल्गुन 1981 वि० सं० (मार्च, 1924) में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

अद्भुत प्रायश्चित

लेखक : **बाबू ब्रजनंदन सहाय। लेखक ही से** चित्रगुप्त मंदिर, बाबू बाजार, आरा के पते से 2 आने 2 पाई में मिल सकता है।

यह छोटा-सा मनोहर उपन्यास है। इसमें भाव, भाषा और उद्देश्य, सब-कुछ परिमार्जित है। यद्यपि यह सन् 1901 में लिखा गया था, पर इससे इसके लेखक की प्रतिभा का परिचय मिलता है। अगर बाबू साहब ने उपन्यास लिखे होते, तो वह अवश्य सफल होते। एक शराबी, दुर्व्यसनी युवक, जिसे पिता ने निराश होकर घर से निकाल दिया था, अध:पतन की चरम सीमा तक पहुंचने के बाद, ईश्वर और मनुष्य पर विश्वास न रहने की हालत में, अपने ममेरे भाई के प्रेम और सद्-व्यवहार से क्योंकर संभल जाता है, यही इस पुस्तक में दिखाया गया है। वह दृश्य बहुत मार्मिक है, जब शराबखाने में दोनों भाइयों की भेंट हुई है। छपाई इससे उत्तम होती तो अच्छा होता। युवकों के लिए बहुत ही उपयोगी चीज़ है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', जून, 1924 में प्रकाशित। 'प्रेमचद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

अपूर्व ब्रह्मचारी

लेखक और प्रकाशक: पं॰ विंध्येश्वरी दत्त शुक्ल वकील, सिवान, सारन। मूल्य 6 आने बहुत ठीक है। कागज, छपाई आदि सुंदर।

रोचक उपन्यास है। लेखक ने बनारस के एक द्विजकुल की कथा द्वारा ब्राह्मणों का वर्तमान धार्मिक पतन और अविद्या का दिग्दर्शन कराया है। वास्तव में इस जाति का ऐसा ही पतन हुआ है। कथा स्वाभाविक है। भिखारी मिसिर और उनकी कर्कशा स्त्री का चरित्र खींचने में लेखक ने सफलता प्राप्त की है। अखाड़े वाला दृश्य बहुत अच्छा है, किंतु विनयानंद जैसे कमसिन बालक के मुख से जो बातें कहलाई गई हैं, वे किसी युवक मुख से शोभा देतीं। कथा भी शिथिल है। पुलिस के कर्मचारियों का जो देव-चरित्र अंकित किया गया है, वह किसी धार्मिक संस्था के सेवकों की याद दिलाता है। हमारे पुलिस के आदमी ऐसे ही दयालु होते, तो फिर रोना काहे का था?

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', जून, 1924 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

छानबीन

लेखक : स्व॰ दर्शनानंद जी। प्रकाशक : वही। दाम पांच आने।

यह एक ट्रैक्ट है, जिसमें कुरान पर आक्षेप किए गए हैं। ऐसे ट्रैक्टों से सांप्रदायिक

विरोध बढ़ने के सिवा और कोई लाभ नहीं होता। इन्हीं करतूतों ने आज भारत की राष्ट्रीय स्थिति को इतना जटिल बना दिया है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', जून, 1924 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

ध्रुवतारा

लेखक : एक स्वयंसेवक 'विशारद' और प्रकाशक : नारायण पुस्तकालय, चौक, पटना सिटी। भाषा सजीव और मधुर। मूल्य तीन आने, कागज़, छपाई आदि सुंदर।

एक छोटी-सी आख्यायिका में एक विधवा की करुण-कथा कही गई है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', जून, 1924 मे प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 1 में संकलित।]

रूपसुंदरी

लेखक: पं० गाणेशदत्त शर्मा गौड़ 'इंद्र'। प्रकाशक: सुंदर प्रेस, सनावद, निमाड़।

इसे न उपन्यास कह सकते हैं, न आख्यायिका। एक पतिव्रता स्त्री ने अपने पति की प्राण-रक्षा की है, यहां तक तो कोई अनोखी बात नहीं, लेकिन इसके आगे राक्षसों का पदार्पण हुआ, जिससे कहानी का मज़ा जाता रहा। भाषा आद्योपांत स्वाभाविक है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', जून, 1924 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 1 में संकलित।]

सुमति

लेखिका : श्रीमती रत्नावती देवी शर्मा, प्रकाशक : पं० चिरंजीलाल शर्मा, 3 जॉर्ज टाउन, इलाहाबाद. मूल्य छः आने।

एक छोटा-सा उपन्यास है। दो सौतें आपस में कैसे रह सकती हैं, यही बात दिखाई गई है। तारा धैर्य और स्नेह की मूर्ति है। उसकी छोटी सौत अपनी कुटिला चाची के फेर में पड़कर उसे बहुत दु:ख देती है, पर तारा सब-कुछ प्रसन्नतापूर्वक सह लेती है। चरित्रो के दोष-गुण दिखाने की ज़रूरत नहीं। लड़कियों के मन-बहलाव की अच्छी पुस्तक है। कहीं-कहीं गाने और गज़लें हैं, जिनकी उपन्यास में कोई ज़रूरत न थी। गज़लों में बाज़ारी नाटक खेलने वाली बातें करती हैं।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', जून, 1924 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 1 में संकलित।]

विचित्र जीवन

लेखक : पं० कालीचरण शर्मा। प्रकाशक : प्रेम पुस्तकालय, फुलट्टी बाजार, आगरा।

यह भी उसी ढंग की पुस्तक है। इसमें हजरत मुहम्मद के चरित्र के दोष दिखलाए गए हैं। अत्यंत अशिष्ट, भ्रष्ट और अविचारपूर्ण पुस्तक है। लज्जा और खेद का विषय है कि कुछ प्रकाशक टके कमाने के फेर मे पड़कर ऐसी गंदी किताबें प्रकाशित कर रहे हैं। ऐसी किताबो से आर्य-समाज का गौरव नहीं बढ़ता, और महात्माजी के कथन की ही पुष्टि होती है। अगर मुसलमान लोग ऐसा साहित्य लिखते या प्रकाशित करते हों, तो उसके जवाब में भी हिंदुओं को ऐसी पुस्तकें न लिखनी चाहिए। हिंदू-धर्म का आदर्श क्षमा और नेकी ही है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', वर्ष 2, खंड 2, स 6, जून, 1924 मे प्रकाशित। 'प्रेमचद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

विष-लता

लेखक : श्रीयुत धर्मपाल बी ए, उर्फ मियां अब्दुल गफूर। प्रकाशक · वैदिक पुस्तकालय, मुरादाबाद। मूल्य छः आने।

मियां अब्दुल गफूर जिन दिनों महाशय धर्मपाल के नाम से प्रसिद्ध होकर आर्यसमाज में यश और गौरव लूट रहे थे, उन्हीं दिनों उन्होंने यह छोटी-सी पुस्तिका (उर्दू में) लिखकर मुसलमान बादशाहों की धर्मान्धता, अन्यायशीलता और पैशाचिकता का रोना रोया था। न सभी हिंदू राजे महाराजे आदर्श थे, न सभी ईसाई, मुसलमान, बौद्ध या जैन ही। फिर विशेष रूप से मुसलमान बादशाहों को ही बदनाम करने की आवश्यकता? वह अविद्या, अनुदारता और संग्राम का युग था। सभी नरेश न्यूनाधिक इसी कोटि में होते थे। किसी धर्म-विशेष के भूतपूर्व नरपतियों का अब छिद्रान्वेषण करना केवल दो जातियों में द्वेष बढ़ाना है। मेरी राय में ऐसी पुस्तकों को दियासलाई दिखानी चाहिए।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', जून, 1924 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में सकलित।]

प्राणघातक माला

अनुवादक : 'अभ्युदय'-संपादक पंडित कृष्णकांत मालवीय, बी० ए०। अभ्युदय प्रेस, प्रयाग में प्रकाशित। मूल्य दस आना।

श्रीमती स्वर्णकुमारी देवी ने कई उपन्यास बंगला में लिखे हैं और उन्हें ख्याति भी प्राप्त है, पर इस प्राणघातक माला में बहुत उद्योग करने पर भी हमें कोई ऐसी बात नहीं मिली, जिसकी हम सराहना करते। 'मॉडर्न रिव्यू' में इसका अनुवाद क्रमशः प्रकाशित हुआ था। इसके सिवा हमें इसमें कोई खूबी नहीं दिखाई दी। संभव है, मूल पुस्तक अच्छी

हो, क्योंकि इस अनुवाद की भाषा दोषों से भरी हुई है, और अच्छी पुस्तक की सुंदरता पर कुछ-न-कुछ असर पड़ता ही है। घटना उस समय की है, जब बंगाल में अफगानों का राज्य था। विशेषकर महिलाओं का इससे मनोरंजन हो सकता है। यह कथा है, पर उपन्यास नहीं है, जिसका आधार चरित्र और भावों पर ही होता है। कहीं-कहीं प्रेम और भक्ति के भाव उत्तेजनापूर्ण शब्दों में चित्रित किए गए हैं, जो सर्वथा कृत्रिम जान पड़ते हैं। श्री कृष्णकांत मालवीय इसके अनुवादक हैं, इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि लेखिका के भाव व्यक्त नहीं हो सके। हां, जैसा उन्होंने स्वयं लिखा है, अनुवाद सावधानी से नहीं किया गया। चरित्र-चित्रण में, भावों में, वर्णन-शैली में, कहीं प्रौढ़ता का आभास नहीं मिलता। कहीं-कहीं प्रकृति का वर्णन परिमार्जित भाषा में करने की चेष्टा की गई है, जो सफल नहीं होने पाई।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', वर्ष 3, खंड 1, सं॰ 1, जुलाई, 1924 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

बंग-विजेता

यह स्वर्गवासी रमेशचंद्र दत्त-कृत बंगला उपन्यास 'बंग-विजेता' का हिंदी रूपांतर है। अनुवादक : पंडित भगवानदीन पाठक 'विशारद'। प्रकाशक : अभ्युदय प्रेस, प्रयाग। मूल्य—एक रुपया, पृष्ठ सं॰ 200।

रमेश बाबू धुरंधर राजनीतिज्ञ और कार्य-दक्ष सरकारी अफसर होने के साथ-साथ उच्च कोटि के साहित्यसेवी भी थे। ऐसे बहुज्ञ मनुष्य बहुत कम होते हैं। वह इतिहास, काव्य, उपन्यास, समालोचना, सभी विषयों में कुशल थे। बंग-विजेता उनका अपूर्व उपन्यास है। इसका उर्दू-अनुवाद बहुत दिन पहले हो चुका है। अब हिंदी में भी हो गया। अनुवाद के विषय में हम इतना ही कह सकते हैं कि उसका बंगालीपन कहीं नहीं खटकता, यद्यपि कहीं-कहीं अनुवादक महोदय ने किस्से को संक्षिप्त कर दिया है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', जुलाई, 1924 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 1 में संकलित।]

सुघड़ बेटी

यह एक मुसलमान महिला की उर्दू-रचना का हिंदी-अनुवाद है। अनुवादक हैं प्रो॰ रामस्वरूप कौशल एम॰ ए॰। पुस्तक का मूल्य आठ आने है, जो बहुत उचित है। पृष्ठ सं॰ 122।

यह पुस्तक पुत्रियों के लिए बहुत उपयोगी है। लेखिका बीस वर्ष तक स्त्रियों की सर्वप्रधान उर्दू-पत्रिका का संपादन करती रही थीं, और बालिकाओं की शिक्षा में उन्हें बड़ी दिलचस्पी थी। पुस्तक की भाषा ऐसी सरल और चित्ताकर्षक है, जैसी कि एक महिला ही लिख सकती है। पुत्रियों की शिक्षा का कोई अंग आपने नहीं छोड़ा। माता पिता का आदर, भाई-बहिनों से प्रेम, गुरुजनों का सत्कार से लेकर स्वास्थ्य-रक्षा, सफाई, गृह

प्रबंध, पुस्तकावलोकन, पत्र-रचना, पाक-शिक्षा आदि समग्र विषयों पर बड़ी रोचक शैली में छोटे-छोटे निबंध लिखे गए हैं। इससे पुत्रियों को केवल शिक्षा ही न मिलेगी, उनका मनोरंजन भी होगा। पुत्री-शिक्षा के विषय में अब तक कोई ऐसी पुस्तक नहीं थी, जो थोड़े-से पृष्ठों में शिक्षा के सभी अंगों पर प्रकाश डाले। 'सुघड़ बेटी' ने इस अभाव को पूरा किया है। हम तो उनकी भाषा की सरलता पर मुग्ध हो गए। जिन महाशयों को अपनी पुत्री के लिए, पुत्रियों के लिए किसी उपयुक्त पुस्तक की तलाश हो, उनसे हम ज़ोरों के साथ इस पुस्तक की सिफ़ारिश करते हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि हमारा और मुसलमानों की शिक्षा तथा सभ्यता का एक ही आदर्श है। इस पुस्तक में एक प्रसंग भी ऐसा नहीं है, जो हिंदू बालिकाओं के लिए उतना ही ग्राह्य न हो, जितना किसी मुसलमान बालिका के लिए।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', जुलाई, 1924 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

कर्मवीर

अनुवादक: पं० कृष्णकांत मालवीय, प्रकाशक: अभ्युदय प्रेस, प्रयाग। पृष्ठ सं 76 मूल्य चार आने।

स्वदेशी-आंदोलन के समय की लिखी हुई दो बंगला कहानियों का अनुवाद। कहानियां अच्छी हैं।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', अगस्त, 1924 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

चाणक्य और चंद्रगुप्त

अनुवादक: पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी, प्रकाशक: सरस्वती भंडार, मुरादपुर, पटना। पृष्ठ सं० 531, मूल्य 2 रुपये आठ आने, छपाई सुंदर।

यह स्वर्गीय हरिनारायण आप्टे के 'चंद्रगुप्त' नामक ऐतिहासिक उपन्यास का हिंदी-अनुवाद है। अनुवाद बुरा नहीं है, हालांकि कहीं-कहीं बेमुहावरा शब्दों का प्रयोग हो गया है। मूल उपन्यास उच्च कोटि की रचना है, इसमें संदेह नहीं। आप्टे महोदय मराठी के कुशल उपन्यासकार थे, और 'चंद्रगुप्त' उनकी सर्वोत्तम रचना है। मुरादेवी और चाणक्य का चरित्र बड़ी कुशलता से चित्रित किया गया है। मुरादेवी को अपने नवजात पुत्र की हत्या का अपने शत्रुओं से बदला लेने के लिए कौशल करना, राजा घनानंद पर मोहिनी-मंत्र डालना, उस पर अपनी सहृदयता और क्षमाशीलता की धाक बिठाना, चाणक्य के षड्यंत्र में योग देकर राजा घनानद का वध कराने के लिए तैयार हो जाना, और ठीक उस वक्त, जबकि षड्यंत्र पूरी तरह रचा जा चुका था, उसका अपने घृणित कृत्य पर पश्चात्ताप करना, राजा को सतर्क करने का संकल्प विकल्प, प्राण-भय से रहस्योद्घाटन करने में असमर्थ होना और नंद वंश का विध्वंस होते देखकर मनस्ताप से पीड़ित हो

उसी प्राणघातक कुंड में कूदकर प्राण दे देना आदि सभी घटनाएं बड़ी मनोरंजकता और मार्मिकता से चित्रित की गई हैं। चाणक्य की कूटनीतिज्ञता तो विख्यात ही है। यहां उसका खूब विकास हुआ है। राक्षस की गंभीरता और राजभक्ति के सामने चाणक्य की कुटिलता दुराग्रहपूर्ण होती है। हमें चाणक्य से सहानुभूति नहीं होती, वरन् राजा घनानंद की सरलहृदयता पर दया आती है। मुरा ने अंतिम समय अपने दुष्कृत्य पर पश्चात्ताप करके अपने को संभाल लिया है, अन्यथा हम उसे कुटिल और मायाविनी कहते। ऐतिहासिक उपन्यास में एक बड़ा गुण यह होता है कि वह अतीत को वर्तमान बनादेता है। वह उसके रहन-सहन, आहार-व्यवहार, रस्म-रिवाज, शासन-विधान का ऐसा चित्र खींचता है, जो उनको हमारी आंखों के सामने मूर्तिमान कर दे। इस उपन्यास में यह अभाव खटकता है, और इससे इसका ऐतिहासिक महत्त्व बहुत न्यून हो जाता है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', 1924 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

मन-मोदक

प्रकाशक : सरस्वती प्रेस, काशी। पृष्ठ सं॰ 160. मूल्य 12 आना।

बालवृन्द विनोदशील होते हैं। उनका मन ऐसी कहानियों में खूब लगता है, जिनमें हंसने का मसाला हो। इस पुस्तक में संग्रहकर्ता ने ऐसी ही उत्तम, मनोरंजक और हास्यजनक कथाओं का संग्रह किया है। कहानियां सभी बालोपयोगी हैं, मनोरंजन के साथ कुछ शिक्षा भी अवश्य मिलती है। बहुत-सी कहानियां तो ऐसी हैं कि बच्चे पढ़कर हंसते-हंसते लोट जाएंगे। इसके साथ ही कहानियों में कहीं अश्लील शब्द या भाव नहीं आने पाया, और जब किसी हास्य-रस की पुस्तक के विषय में हम इतना कहते हैं, तो बहुत कहते हैं। भाषा अत्यंत सरल और सरस है। जिन महाशयों की इच्छा हो कि अपने बालकों को घर-बैठे मनोरंजन की कोई सामग्री दें, उनके लिए यह पुस्तक बड़े काम की है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', वर्ष 3, खंड 1, सं॰ 2, अगस्त 1924 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

रामायणी कथा

अनुवादक : बाबू भगवानदास हालना और साहित्योपाध्याय पं॰ बदरीनाथ शर्मा वैद्य। प्रकाशक : अभ्युदय प्रेस, प्रयाग। पृष्ठ संख्या 240+26, छपाई साधारण, मूल्य 1 रुपया।

श्रीयुत बाबू दिनेशचंद्र सेन बंगाल के सुविख्यात विद्वान् है। उनका रचा हुआ 'बंगला-साहित्य का इतिहास' बड़ा सम्मानित ग्रंथ है। उसका अंग्रेज़ी अनुवाद भी हो चुका है। 'रामायणी कथा' आप ही की एक सुंदर रचना है। यह उस पुस्तक का हिंदी रूपांतर है।

इस पुस्तक में दिनेश बाबू ने रामायण के प्रधान चरित्रों की बड़ी मार्मिक, सरस, विद्वत्तापूर्ण, भक्तिमय आलोचना की है। भाषा इतनी मधुर और करुणरसपूर्ण है कि पढ़कर चित्त प्रसन्न हो जाता है। आलोचना यद्यपि भक्तिपूर्ण है, पर आलोचना के आदर्श को हाथ

से नहीं जाने दिया है। गुणों के साथ दोष भी दिखा दिए गए हैं। चरित्रों का चित्रण वाल्मीकीय रामायण के आधार पर ही किया गया है। गोसाईं तुससीदास जी के रामचंद्र में देवगुणों की प्रधानता है, पर वह वाल्मीकि कहीं यह बात नहीं भूले कि वह एक 'नरचंद्र' की कथा कह रहे हैं। अतएव उन्होंने उनके चरित्र और वैराग्य को इतना नहीं उठाया है कि उसमें दोष का लेश भी न रहने पावे। वाल्मीकि ने रामचंद्र के मुख से कई अवसरों पर भरत और दशरथ के प्रति ऐसे वाक्य कहलवाए हैं, जिनसे रामचंद्र के मन की दुर्बलता सिद्ध होती है। पर हम तो यही कहेंगे कि सर्वांग-सुंदर चरित्र वे ही होते हैं, जिनमें मनोभावों को आदर्श-रक्षा के भय से लेखक ने दबा न दिया हो। रामचंद्र भरत को प्राणों से भी ज्यादा प्यारा समझते हों, लेकिन उनका सीता से कहना कि "तुम भरत के सामने हमारी प्रशंसा मत करना, क्योंकि ऐश्वर्यशाली पुरुष दूसरे की प्रशंसा नहीं सह सकते", दुर्बलता-सूचक होते हुए भी अत्यंत स्वाभाविक है, और रामचंद्र के मानव-चरित्र-ज्ञान का अच्छा परिचय मिलता है। भरत का चरित्र अत्यंत करुणरसपूर्ण और किसी अंश में रामचंद्र के चरित्र से भी सुंदर है। यद्यपि यह अनूदित ग्रंथ है, पर इसे हम हिंदी-भाषा का एक रत्न समझते हैं।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', अगस्त 1921 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

सिराजुद्दौला

लेखक : श्रीयुत बाबू अक्षयकुमार मैत्रेय। अनुवादक : पं. भगवानदीन पाठक 'विशारद'। प्रकाशक: अभ्युदय, प्रेस, प्रयाग। पृष्ठ सं. 310, छपाई आदि साधारण. मूल्य, सजिल्द 2 रुपये आठ आना, सादी 2 रुपया।

बाबू अक्षयकुमार मैत्रेय बंगला के प्रसिद्ध विद्वान् और सुलेखक हैं। यह पुस्तक उन्हीं की मूल पुस्तक 'सिराजुद्दौला' का हिंदी अनुवाद है। बंगला में इस पुस्तक के चार संस्करण हो चुके हैं। इसीसे विदित है कि इसका बंगाली पाठकों ने जितना आदर किया है। है भी आदर के योग्य पुस्तक। पुस्तक की लेखन-शैली इतनी सरस, मधुर और आकर्षक है कि बिना समाप्त किए छोड़ने को जी नहीं चाहता। ऐसे ही अनुवादों से हिंदी का कोष भरा जाए, तो क्या कहना। इतिहास इतना सरस और विनोदमय हो सकता है, यह पुस्तक इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। अंग्रेज़ इतिहास-लेखकों ने औरंगजेब, शिवाजी और टीपू की जितनी मिट्टी खराब की है, उससे ज़्यादा सिराजुद्दौला की की है। मैकाले ने तो उसे नर पिशाच चित्रित करने में क़लम तोड़ दी है। लेकिन यथार्थ यह है, जैसाकि एक विद्वान् अंग्रेज़ इतिहास-लेखक का मत है कि "सिराज दुष्ट होने की अपेक्षा अभागा ही अधिक था।" इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि सिराज विलासी, विषयी और क्रोधी था, पर यह आक्षेप ऐसा है, जो समान सत्यता के साथ अन्य एकाधिपतियों पर भी रखा जा सकता है। अकबर, शाहजहां, जहांगीर, रणजीतसिंह आदि किस-किसका नाम गिनावें। ये सभी समय-समय पर कामांध हो गए थे। इनकी काम-वासना ने बड़े अनर्थ घटित कर दिए। सिराजुद्दौला में भी यह दुर्गुण मौजूद था, लेकिन वह इतना बड़ा धूर्त, दुष्ट, क्रूर, नरपिशाच

न था जितना अंग्रेज़ लेखकों ने लिखा है। अक्षय बाबू ने ऐतिहासिक प्रमाणों से युक्त उसका जो चरित्र अंकित किया है, उसे पढ़कर हमें इस अभागे नवाब से सहानुभूति हो जाती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसकी पराजय उसकी गलतियों का फल थी। उस समय बंगाल की राजनीतिक परिस्थिति ही कुछ ऐसी हो रही थी कि उसमें कोई राजनीति-निपुण व्यक्ति भी वही करने पर बाध्य होता, जो सिराज ने किया। हम तो यह कहेंगे कि उसने अंग्रेज़ों के साथ, देश की परिस्थिति से परिचित होने के कारण जितनी सहानुभूति दिखाई, उतनी कोई दूसरा आदमी शायद न दिखा सकता, यद्यपि अलीवर्दी खां ने उसे अपना युवराज अभिषिक्त किया था, पर अलीवर्दी ही के भाई-भतीजे भिन्न-भिन्न प्रांतों के शासन पर नियुक्त थे। ये सभी अपने-अपने सूबे में इसलिए धन और शक्ति एकत्र कर रहे थे कि सिराज को नीचा दिखा सकें। चारों तरफ षड्यंत्र रचा जा रहा था। राजवल्लभ, निवाज़िश, घसीटी बेगम, शौकतजंग—सभी इस षड्यंत्र में शरीक थे। सिराज को नीचा दिखाने के लिए ये लोग अंग्रेज़ों से हर तरह की रिआयत करते थे और इनके धन से अपना उद्देश्य पूरा करना चाहते थे। इन्हीं की शह पाकर अंग्रेज़ सौदागरों को भी सिराज को आंखें दिखाने का हौसला होता था, फिर अंग्रेज़ों के निःशुल्क वाणिज्य से देशी व्यापारियों का कचूमर निकला जाता था। शर्त तो यह थी कि कंपनी बिना कर दिए व्यवसाय करे, पर कपंनी के नौकर, नौकरों के नौकर और उनके भाई-भतीजे, मामा फूफा विलायत से आकर व्यक्तिगत भाव से कपंनी के नाम पर बिना कर दिए व्यवसाय करके धन कमा रहे थे। यह कुव्यवस्था देखकर कोई भी राजा चुप नहीं रह सकता था। अंग्रेज़ों की सिराज से इसीलिए दुश्मनी थी कि वह उन्हें दिल खोलकर लूटने नहीं देता था। अलीवर्दी खां के समय में भी यह लूट हो रही थी, पर उसे मराठों के धावों के मारे इन बातों की ओर ध्यान देने का अवकाश कहां था? पर बुड्ढा चतुर राजनीतिज्ञ था। अंग्रेज़ों का दुस्साहस, दृढ़ता और सुव्यवस्था देखकर उसे शंका हो रही थी कि सिराज को भविष्य में आकर किसी से शंका है, तो अंग्रेजों से। उसका सिराज को अंतिम उपदेश था कि अंग्रेज़ों को जमने न देना, इनसे सदा चौकस रहना, इन्हें शक्ति का संचय न करने देना, इन्हें क़िला बनवाने अथवा सेना एकत्रित करने का मौका कभी मत देना। अगर दिया तो समझ लो कि यह देश फिर तुम्हारा नहीं रहेगा।

अलीवर्दी तो यह उपदेश करते-करते मरा, इधर अंग्रेज़ों को यह धुन थी कि किला बने और ज़रूर बने। सिराज ने बार-बार मना किया। लिखा, अपने दूत भेजे, पर अंग्रेज़ों ने हीले-हवाले किए। यहां तक कि राजदूत का अपमान तक किया, और किला बनाना बराबर जारी रखा। सिराजुद्दौला ने समझ लिया कि ये अंग्रेज़ सौदागर केवल हमारी घरू लड़ाई और पारस्परिक विद्रोह के कारण ही अपने उद्दण्ड और उच्छृंखल स्वभाव का परिचय दे रहे हैं, अन्यथा इनमें इतनी हिम्मत कहां थी। इसलिए अंग्रेज़ों पर रोष न प्रकट करके वह पहले पारस्परिक कलह को शांत करने पर कटिबद्ध हुआ, लेकिन अंत में विवश होकर उसे कलकत्ते पर आक्रमण करना ही पड़ा। अंग्रेज़ों ने किला बनवाने की कसम खा ली थी। सिराज को अपनी रक्षा के लिए किले को तोड़ना पड़ा। उसका प्रधान अपराध यही था कि अपमान, हानि, निरंकुशता, सब-कुछ चुपचाप बैठा क्यों न सहता रहा।

सिराजुद्दौला पर सबसे बड़ा और भीषण दोष यह लगाया गया है कि उसने काल-

कोठरी में अंग्रेज़ों की हत्या की। प्राय: सभी अंग्रेज इतिहासकारों ने इस दुर्घटना पर बड़े ज़ोर से आंसू बहाए और सिराज को खूब जी भरकर गालियां दी हैं, पर बाबू अक्षयकुमार ने भली-भांति सिद्ध कर दिया है कि यह सिराज पर मिथ्या दोषारोपण है। वास्तव में काल-कोठरी की दुर्घटना हुई ही नहीं। वह केवल कल्पना ही कल्पना है। हालवेल, जिसने इस कल्पना की सृष्टि की, और जो अपने को भी बंद किए गए कैदियों में रखता है, दगाबाज़ और झूठा आदमी था, यह प्रमाणों द्वारा सिद्ध है। ऐसे धूर्त की बातों पर अंग्रेज़ इतिहास-लेखकों ने विश्वास क्यों कर लिया, समझ में नहीं आता। शायद इसीलिए कि किसी बेगुनाह के खून का इल्ज़ाम लेते हुए न्याय-बुद्धि को संकोच होता है। शेर ने भी तो हिरन पर इल्ज़ाम लगाया था। रही यह बात कि सिराज ने यह हत्या न की होती तो प्लासी की लड़ाई न होती, इसमें कुछ सार नहीं। सिराज को तो जाना ही था, अंग्रेज़ों का तो बहाना मात्र था। सिराज को प्लासी ने नहीं, स्वार्थियों ने मटियामेट किया। देश का पहले नैतिक पतन होता है, राजनीतिक पतन तो केवल इसका बाह्य रूप है। इस ग्रंथ की और ज़्यादा प्रशंसा न करके हम पाठकों से अनुरोध करेंगे कि अवश्य पढ़िए।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', अगस्त 1924 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

कुमारी

लेखक : प्रो॰ रामस्वरूप कौशल, एम. ए.। प्रकाशक : दास्त्त अशाअत, लाहौर। पृष्ट-संख्या 102, मूल्य छ: आना। मिलने का पता : सरस्वती प्रेस, बनारस।

यह छोटा-सा उपन्यास है, जिसमें लेखक ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि बिना कन्याओं की अनुमति के उनका विवाह कर देना तथा कुपात्र से विवाह करना कितना हानिकर होता है। हमारी विवाह-पद्धति बिगड़ी हुई है, उसके सुधार के लिए जितना प्रयत्न किया जाय, थोड़ा है। किस्सा दिलचस्प है, और परिणाम अत्यंत करुणोत्पादक।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', अगस्त, 1924 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य'..खण्ड-1 में संकलित।]

युद्ध की 2500 बातें

लेखक : पं. श्यामाचरण शर्मा। प्रकाशक : अभ्युदय प्रेस, प्रयाग। मूल्य : पांच आना, पृष्ठ सं॰ 125।

बड़ी उपयोगी पुस्तक है। लड़ाई के समय में तो पठनीय ही थी, किंतु अब भी इसका महत्त्व कुछ कम नहीं हुआ। भिन्न-भिन्न देशों में सेना-संबंधी नियम, राष्ट्रों का सैन्य बल, उनकी संपत्ति और जनसंख्या, आर्थिक अवस्था इत्यादि के पहले के अंक तो अब अनावश्यक हो गए हैं। किसी की आबादी बढ़ गई, किसी की घट गई है। आर्थिक दशा का भी वही हाल है। सेनाओं की संख्या में भी ज़मीन-आसमान का फ़र्क हो गया है। नवें अध्याय का, जिसमें प्रसिद्ध पुरुषों का परिचय दिया गया है, ऐतिहासिक महत्त्व

बहुत अधिक है। उसमें लड़ाई के प्रधान नायकों का दिग्दर्शन और निर्णय आसानी से हो जाता है। जिन परिच्छेदों में तरह-तरह के जहाज़ों के नाम और काम बताए गए हैं, उन्हें देखकर Cruiser and dread-nought हमारे लिए अर्थहीन अथवा अस्पष्ट शब्द नहीं रहेंगे। फ़ौजी अफ़सरों के ओहदों के नाम भी दिए गए हैं।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', वर्ष 3, खंड 1, सं॰ 3, सितंबर, 1924 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

संसार-संकट

लेखक : पं॰ कृष्णकांत मालवीय। प्रकाशक : अभ्युदय प्रेस, प्रयाग। पृष्ठ सं॰ 143, मूल्य एक रुपया आठ आना।

पहले एक लंबी प्रस्तावना है, जिसमें योरप के महायुद्ध के कारणों का दिग्दर्शन कराया गया है। उसके बाद उन लेखों का संग्रह किया गया है, जो 'अभ्युदय' में 19 जनवरी से 19 जून तक, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रकाशित हुए थे। अंत के दो-तीन परिच्छेद पीछे से लिखे गए हैं। विषय कितना जटिल है, यह बताने की ज़रूरत नहीं, पर यदि हम कूप मंडूक न बने रहना चाहें, तो इस विषय पर विचार करना हमारा धर्म है। दुनिया किस तरफ़ जा रही है, इस मौक़े पर हमारा क्या लक्ष्य होना चाहिए, हमें किन बाधाओं का सामना करना पड़ेगा, कौन हमारा सहायक होगा, किसके शत्रु होने की आशंका है, इस प्रकार की सब धारणाएं राजनीतिक परिस्थिति के ज्ञान पर ही निर्भर हैं। राजनीति की धारा क्षण-क्षण पर बदलती रहती है। इसलिए हमें भी अप-टु-डेट रहने के लिए विशेष प्रयत्न करना -इस विषय के पत्रों-पत्रिकाओं को देखते रहना-चाहिए। इस लेखमाला से पाठकों को योरप की राजनीति समझने में बड़ी सहायता मिलेगी। इस विषय पर अभी तक कोई पुस्तक नहीं है। हां, पत्रों में फुटकर लेख अलबत्ता मिलेंगे। इस पुस्तक को पढ़ लेने से बहुत-सी पत्रिकाओं के पन्ने न उलटने पड़ेंगे। लेखक महोदय ने कहीं-कहीं अमर कवि अकबर के शेर ऐसी ख़ूबी से चस्पां कर दिए हैं कि पढ़ने से तबीयत फड़क उठती है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', सितंबर, 1924 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

चंद्रनाथ

लेखक : श्री शरच्चंद्र चट्टोपाध्याय, अनुवादक : श्रीयुत् बाबू रामचंद्र वर्मा।

यह पुस्तक हिंदी-ग्रंथ-रत्नाकर का अट्ठारहवां ग्रंथ है। बंगला से अनुवादित है। शरच्चंद्र बंगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। इस छोटी-सी पुस्तक में आपने समाज का ध्यान उस निर्दयता की ओर आकर्षित किया है, जो कुलीनता और छूत-छात के नाम पर नित्य नये-नये अन्याय-यंत्र गढ़ा करती है। पुस्तक बहुत ही रोचक, भावपूर्ण और असर डालनेवाली है। करुणा जाग्रत करने में लेखक को पूरी सफलता हुई है। अनुवाद भी बा-मुहावरा और

सरल है। पढ़ते वक्त यही मालूम होता है कि यह अनुवाद नहीं, मूल पुस्तक है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', वैशाख, 1982 वि॰ सं॰ (मई, 1925) में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग', भाग-3 में संकलित।]

जर्मनी और तुर्की में चौवालीस मास

लेखक : लाला हरदयाल एम॰ ए॰।

लाला हरदयाल एम॰ ए॰ अंग्रेज़ी के अच्छे लेखक हैं और राजनीति में उग्र नीति के समर्थक की हैसियत से मशहूर हैं। स्वदेशी आंदोलन के समय आप बहुत लिखा करते थे। उसके कुछ समय बाद योरोप चले गए। तब से योरोप के भिन्न-भिन्न देशों में विचरते रहते हैं। महासमर के ज़माने में आपने चौवालीस महीने जर्मनी और तुर्की में गुज़ारे। इस लेख-संग्रह में उन्होंने इन्हीं दोनों देशों के संबंध में अपने विचार प्रकट किए हैं। उनका कहना है कि जर्मनी वाले किसी को अपने बराबर नहीं समझते। जर्मनों का ख्याल है कि ईश्वर ने उन्हें दुनिया पर राज्य करने के लिए बनाया है। उनमें धार्मिक भावों की गंध तक नहीं। पुस्तक में फ्रांस, इंग्लैंड, इटली को बर्बर जर्मनी से कहीं सभ्य, दयालु, नीतिपरायण बताया गया है। इसी भांति तुर्की को भी आपने मनुष्यता से रहित, खिलाफत का झूठमूठ डंका बजाने वाले, स्वार्थी, झूठे और निर्दयी बतलाया है। लाला जी का दावा है कि उन्होंने जो कुछ लिखा है, अपने अनुभव से लिखा है, इसलिए हम उनकी आलोचनाओं का मिथ्या तो नहीं कह सकते हैं कि जितने दुर्गुण जर्मनों में हैं, वे सभी योरोप की अन्य जातियों में भी उसी मात्रा में मौजूद हैं। संभव है लाला जी ने इंग्लैंड को अपनी नेकनीयती का परिचय देने के लिए ये लेख लिखे हों। यदि ऐसा हो, तो बड़े हर्ष की बात है। हम लाला जी का स्वागत करने को तैयार हैं। इन देशों के संबंध में लालाजी के विचार जानने योग्य हैं ज़रूर। तुर्क और जर्मन जातियों के स्वभाव का अच्छा ज्ञान प्राप्त होता है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', वैशाख, 1982 वि॰ सं॰ (मई, 1925) में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

मुक्त धारा

महाकवि श्री रवींद्रनाथ ठाकुर के बंगला नाटक 'मुक्तधारा' का हिंदी अनुवाद। अनुवाद, पंडित धर्मेंद्रनाथ शास्त्री, तर्कशिरोमणि, एम॰ ए॰, प्रोफेसर, मेरठ कालेज।

लेखक का नाम ही पुस्तक के उच्चकोटि की होने की गारंटी है। इसमें महाकवि ने वर्तमान साम्राज्यवाद और उसके द्वारा दलित पराधीन जातियों की वेतन का चित्र खींचा है। अनुवादक महोदय ने नाटक की एक विस्तृत भूमिका भी लिख डाली है, जिसमें नाटक को साहित्यिक और दार्शनिक दृष्टि से विवेचना की गई है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', वैशाख, 1982 वि॰ सं॰ (मई, 1925) में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

भारत-रमणी-रत्न

लेखक : 'देवता स्वरूप' भाई परमानंद, एम० ए०। प्रकाशक : आकाशवाणी पुस्तकालय, लाहौर। मूल्य बारह आना, पृष्ठ सं० 214।

इस पुस्तक के एक भाग में सीता, सावित्री, विदुला, सुलभा, दमयंती, द्रौपदी आदि पर छोटे-छोटे निबंध हैं, और शेष पुस्तक में भारतीय इतिहास की कुछ घटनाओं और चरित्रों का वर्णन, जिसको इस संग्रह में मिलाने की बिलकुल ज़रूरत न थी। भाषा सरल और सुबोध है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', सितंबर, 1925 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 1 में संकलित।]

महर्षि उपन्यास (प्रथम भाग)

लेखक : बा० हरिवंशलाल गुप्त, रिटायर्ड डिपुटी मजिस्ट्रेट। प्रकाशक : लाला शीतलप्रसाद गुप्त, शांति प्रिंटिंग प्रेस, सहारनपुर। मूल्य आठ आना, पृष्ठ सं० 112।

यह पुराने ढंग का ऐयारी का उपन्यास है। लेखक को यह कहानी एक महात्मा ने सुनाई थी। मालूम होता है कि, महात्माजी ऐयारी के किस्सों के विशेष प्रेमी होंगे। हमने समझा था, इसमें लेखक ने अपने सरकारी जीवन के अनुभव दिखाए होंगे, जिनसे अन्य अफ़सरों को कुछ मदद मिलेगी, पर यह किस्सा देखकर निराशा हुई। ऐसे किस्से लिखने वाले हमारे यहां बहुत हैं, और इसके लिए एक तजुर्बेकार अफसर को कलम उठाने की खास ज़रूरत न थी। किस्सा पढ़ने में मन तो लगता है, लेकिन तत्त्व कुछ नहीं निकलता। अभी यह पहला भी भाग है। भाषा भी सरकारी ढंग की है, जैसी अदालती कागज़ों में देखने में आती है, और छापे की अशुद्धियों की तो भरमार है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', वर्ष 4, खंड 1, संख्या 3, सितंबर, 1925 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

इंट्रोडक्शन टू दि कमेंट्री ऑन दि वेदाज़

मूल सम्कृत से अनुवाद, अनुवादक : पं० घासीराम एम० ए०, एल-एल० बी०। प्रकाशक : आर्य-प्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रदेश। मूल्य : सादी जिल्द का 2 रुपया और सजिल्द का 2 रुपये आठ आना, पृष्ठ-सं० 508।

महर्षि दयानंद ने वेद-भाष्य की भूमिका एक स्वतंत्र ग्रंथ में लिखी है। यह उसी पुस्तक का अंग्रेज़ी अनुवाद है। महाशय घासीराम संस्कृत के भी पंडित हैं, और अंग्रेज़ी लिखने में तो वह कुशल ही हैं। अनुवाद संभवत: अच्छा ही है। वेदों के पढ़ने का सौभाग्य तो बहुत कम आदमियों को मिल सकता है। हां, इस भूमिका को पढ़कर हमें कुछ पता चल सकता है कि वेदों में क्या है, क्यों उनका आदर है, क्यों संसार उनके सामने सिर

झुकाता है। वेदों की रचना के विषय में जो शंकाएं साधारणत: लोगों को हुआ करती हैं, उनका यहां समाधान हो जाएगा। अन्य भाष्यकारों ने वेदों का तत्त्व समझने में जो ठोकरें खाई हैं, उसका भी कुछ अंदाज़ हो जाएगा, और यजुर्वेद आदि ग्रंथों के विषय में पाश्चात्य विद्वानों ने जो नयी-नयी धारणाएं बना रक्खी हैं, वे निर्मूल सिद्ध हो जाएंगी।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', जनवरी, 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

गिलम्पसिस् ऑफ दयानंद

लेखक : चमूपति एम॰ ए॰, प्रकाशक : आर्य पुस्तकालय, अनारकली, लाहौर, मूल्य एक रुपया, पृष्ठ सं॰ 158।

लेखक महोदय अंग्रेज़ी के अच्छे विद्वान् एवं सुलेखक हैं। आपकी लेखन-शैली बड़ी सरस तथा प्रसादमय होती है। लेखक ने महर्षि दयानंद के जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं पर छोट-छोटे निबंध बहुत ही सजीव और ओजस्विनी भाषा में लिखे हैं, जिन्हें पढ़कर चित्त केवल आनंद ही नहीं मिलता, वरन् मन में सदुत्साह, सेवा, कर्त्तव्य-बुद्धि और अध्यवसाय जैसे गुणों का संचार होता है। भाषा इतनी सुंदर और मधुर है कि उसमें काव्य-का सा रस, आदि से अंत तक, विद्यमान है। बारहवें अध्याय में महर्षि के राजनीति-संबंधी विचारों की व्याख्या करते हुए चमूपति महोदय लिखते हैं–

Daya Nand's most pathetic prayevs, those that gush from his heart, are the prayers that seek to remedy the ills of his country The very word Swarajya' which today is India's water word, was first used its present political bearing by Dayananda "

'स्वराज्य' दयानंद के जीवन का सबसे महान् आविष्कार है। उनके पहले और उनके बाद भी, बहुत दिनों तक, इस शब्द का आशय भी ध्यान में न आया था। अब इस शब्द ने हमारे दिलों में कैसा घर कर लिया है। स्वराज्य की कल्पना सबस पहले दयानंद ने की, और अगर कोई समय ऐसा आया कि हम उनके बताए हुए रास्ते पर चलने में समर्थ हुए, तो वह केवल स्वराज्य नहीं, धर्म-राज्य होगा। पुस्तक की जिल्द सुंदर है, और महर्षि का एक हाफटोन चित्र भी है। भूमिका प्रोफ़ेसर वास्वानी ने लिखी है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', जनवरी, 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित]

दयानंद-दर्शन अर्थात् महर्षि दयानंद के राष्ट्रीय स्वरूप का चित्र

लेखक : श्री पं॰ सत्यदेव विद्यालंकार, संपादक : 'मारवाड़ी', भूमिका-लेखक : श्री स्वा॰ श्रद्धानंद जी महाराज, प्रकाशक : अलंकार-बंधु, नया बाजार, देहली, मूल्य : आठ आना)।

इस ग्रंथ में ऋषि दयानंद के राजनीति-संबंधी सब विचारों को एकत्र कर दिया गया है। जिस समय महर्षि ने ये विचार प्रकट किए थे, उस समय के बड़े-बड़े धुरंधर, राजनीतिक नेता भी कानों पर हाथ रखते थे। पर आज हम उन्हीं विचारों का प्रतिपादन कर रहे हैं। महर्षि के राजनीतिक सिद्धांत प्रजा-सत्तात्मक थे। राजा का उन्होंने बहिष्कार नहीं किया, पर राजा की नियुक्ति प्रजा के अधीन कर दी है, राजा की स्वेच्छाचारिता को रोकने के लिए सभाओं और मंत्रिमंडलों की क़ैद लगा दी है, यहां तक कि राजा के कर्त्तव्य-विमुख हो जाने पर उसे दंडनीय भी ठहराया है। किताब पढ़ने तथा विचार करने योग्य है। इससे स्पष्ट विदित हो जाता है कि महर्षि के राजनीतिक विचार संसार के किसी बड़े-से-बड़े राजनीति-विशारद के विचारों से कम उन्नत न थे।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', जनवरी, 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड । में संकलित।]

प्रेम-साम्राज्य

लेखक : श्री सत्यदेव नारायण साही, प्रकाशक : बाबू कृष्णदेवनारायण साही, कबीर-चौरा, बनारस से प्राप्त। मूल्य आठ आना।

साही जी ने इस छोटी-सी पुस्तक में प्रेम, सौंदर्य, आनंद, कीर्तन—इन चार विषय की सरस मीमांसा की है, लेकिन तात्त्विक मीमांसा नहीं, कवित्वमय मीमांसा समझिए। साहीजी मनचले, दिल में तड़प और दर्द रखने वाले लेखक हैं, और यह पुस्तक उसी तड़प का एक नाल-ए-दर्द है। पढ़ने में गद्य-काव्य का आनंद मिलता है। वास्तविक सौंदर्य क्या है, और वास्तविक सौंदर्योपासना किसे कहते हैं, यह साही जी के ही शब्दों में सुनिए "...उत्कंठा होती है, लेकिन केवल दर्शन-मात्र की। कभी छूने का साहस नहीं होता। चित में चुंबन और आलिंगन की इच्छा तक नहीं आती। यह भी अभिलाषा नहीं कि यह मूर्ति अपनी हो जाय। नशा नहीं, होश-हवास ठिकाने हैं। भक्त की अधिक विह्वलता देख, आत्मीय मित्र सहानुभूतिपूर्वक यह ध्यान छोड़ देने की सलाह देते हैं, किंतु मजबूरी-

कट गई एहतियाते-इश्क में उम्र,
मुझसे इज़हारे-मुद्दआ न हुआ।

अच्छे-अच्छे अवतरणों और सुभाषितों से पुस्तक की रोचकता और भी बढ़ गई है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', जनवरी, 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड । में संकलित।]

वीर राजपूत

मूल-लेखक : श्रीयुत 'नाथ माधव', अनुवादक : पं॰ लक्ष्मीधर वाजपेयी, प्रकाशक : केदारनाथ गुप्त, छात्रहितकारी पुस्तक माला दारागंज, इलाहाबाद, मूल्य : एक रुपया, पृष्ठ सं॰ 235।

श्रीनाथ माधव मराठी के सिद्ध-हस्त उपन्यासकार हैं। आपकी यह रचना भी बहुत

ही सुंदर हुई है। उपन्यास रहस्यपूर्ण है, और बहुत ही चित्ताकर्षक है। प्लाट राजपूताना के इतिहास से लिया गया है। यहां शरच्चंद्र चट्टोपाध्याय के मर्मस्पर्शी संकेत और चित्त का मुग्ध करने वाली आकांक्षा तो नहीं है, पर वीररस का अच्छा विकास हुआ है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', जनवरी 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

संसार चक्र

लेखक : पं॰ जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, प्रकाशक : भोलानाथ चतुर्वेदी, 60, सीताराम घोष स्ट्रीट, कलकत्ता, मूल्य : एक रुपया।

यह एक विलक्षण उपन्यास है और मनोरंजक भी खूब है। इसकी मूल रचना का श्रेय बाबू प्रफुल्लचंद्र मुकर्जी का है। चतुर्वेदी जी ने इसे 'चुस्त-दुरुस्त' करके और काट-छांटकर हिंदी-रसिकों के पढ़ने योग्य बना दिया है। जिन लोगों को रहस्यपूर्ण उपन्यासों से प्रेम हो, उन्हें इस पुस्तक में दो-तीन रातें जागने की काफी सामग्री मिलेगी।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', जनवरी, 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

सुमति

लेखिका : श्रीमती रत्नवती देवी शर्मा, प्रकाशक : श्री चिरंजीलाल शर्मा, 33, जॉर्ज टाउन, प्रयाग, पृष्ठ संख्या 70, मूल्य छह आना)।

यह एक छोटा-सा उपन्यास है, जिसमें लेखिका ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि दो सौतें भी कितने प्रेम से निबाधित रूप से रह सकती हैं—यदि उनमें सुमति हो, और पति अनुचित पक्षपात न करता हो। जगह-जगह गाने भी दिए गए हैं, जिनमें कविता के दोषों का खूब चमत्कार दिखलाया गया है। पुस्तक की भाषा शिथिल और बेमुहावरा है। हम अपनी महिलाओं को साहित्य-क्षेत्र में देखना तो चाहते हैं, लेकिन नारी-हृदय के उज्ज्वल तत्त्वों को लेकर। ऐसी पुस्तकों से कोई फायदा नहीं।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', वर्ष 4, खंड 2, सं॰ 1, जनवरी, 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

कर्त्तव्याघात

लेखक : श्री देवनारायण द्विवेदी

यह मौलिक उपन्यास है। हिंदी में इतना अच्छा मौलिक उपन्यास हमारी नज़र से नहीं गुज़रा।

पर भाषा में बंगला की झलक मिलती है। कहानी इतनी सुंदर है, लेखक की शैली इतनी प्यारी है, चरित्रों का प्रदर्शन इतना मनोहर है कि जैसे पाठक मनोभावों के उद्यान में गुज़र रहा हो। कहीं मानमय पितृभक्ति है तो कहीं दीपशिखा की भांति हृदय में जलने वाला पुत्र प्रेम। चंद्रकला का चित्र तो हिंदी संसार में एक अनूठी वस्तु है। उसके पति ने अपने पिता की आज्ञा से अपनी पहली स्त्री को त्याग दिया है। बेचारी त्यक्ता मनोरमा अपने पुत्र सुशील के साथ मायके में विपत्ति के दिन काट रही है। यह देहज के पूरे रुपये न मिलने का दंड है। चंद्रकला अपनी सौत से जलती है। एक बार वह अपने सौतेले बेटे को देख लेती है। इससे उसका हृदय और भी व्याकुल हो जाता है। वह जानती है कि पति के देह पर मेरा अधिकार होने पर भी उसके हृदय पर मनोरमा ही राज्य कर रही है। क्यों न करे? उसे पुत्र है, वह अनुपम सुंदरी हैं। मैं अभागिन हूं। पुत्रविहीना पत्नी को पति क्यों प्यार करेगा। उसके भाग्य में संतान-सुख भोगना लिखा ही नहीं। अपनी ननद के एक बालक को वह अपना पुत्र बनाकर पालती है, लेकिन वह भी उसे दगा दे जाता है। सुशील की तेजस्वी मूर्ति उसकी आंखों में नाचती रहती है। वह पति को मनोरमा की हवा भी नहीं लगने देना चाहती, उसे भीषण शपथ दिला कर पुत्र-दर्शन से भी वंचित रखती है, यहां तक कि दुखिया मनोरमा अंत को संसार से बिदा हो जाती है। चंद्रकला इस अवसर पर अपनी सौत के पास पहुंच जाती है। मनोरमा उसे देखकर कहती है-

'बहन चंद्रकला ! आ भाई, इस अंतिम समय में एक बार तुझे गले से तो लगा लू। तेरा कोई अपराध नहीं है चंदरि। नहीं-नहीं, इस तरह रोकर मुझे दुखी न कर बहन--आज मैं धन्य हो गई। तेरे ऊपर ईश्वर जानते होंगे--किसी दिन मैंने विद्वेष नहीं किया। आज भी यही आशीर्वाद अपने हृदय से देकर जाती हूं, 'तेरा जीवन सावित्री के समान पवित्र रहे।'

चंदरि शब्द का प्रयोग सुनकर मनोरमा अधीर हो जाती है। सौत की व्यथा पहले ही शांत हो चुकी थी। अब सपत्नी-भक्ति का उदय होता है। मनोरमा अपने पुत्र को उसकी गोद में सौंप देती है।

इसी बीच में पति महोदय भी आ पहुंचते हैं। मनोरमा उन्हें देखते ही चिल्ला उठती है--'स्वामी ! प्राणनाथ !' यह कहते ही उसमें अचानक बल का संचार हो जाता है, और वह पति के पैरों पर गिर पड़ती है। पंद्रह वर्षों की अभिलाषा आज मरण शैय्या पर पूरी होती है। लज्जित पिता स्त्री और पुत्र से क्षमा मांगता है और इस करुण कथा का अंत हो जाता है।

इस उपन्यास में मुख्य पात्र चार हैं--मनोरमा, सुशील, राजेंद्र और चंद्रकला। मनोरमा का चरित्र भारतीय पत्नी का आदर्श है। उसका पति-प्रेम अटल है। पति ने उसे त्याग दिया है, उसकी खबर नहीं लेता। उसके पास एक पत्र भी नहीं भेजता। पर उसे विश्वास है कि पति का उससे प्रेम है, वह पिता की आज्ञा से विवश होकर मेरी अवहेलना कर रहा है। वह जानती है कि स्वामी को मेरे वियोग में घोर पीड़ा हो रही है, पुत्र वियोग से उसका हृदय फटा जा रहा है, पिता की आज्ञा मानने के लिए भी पति के प्रति द्वेष या अश्रद्धा का भाव नहीं आने पाता। एक बार जब सुशील अपने पिता के व्यवहार से दुखी होकर उनकी उपेक्षा करता है तो मनोरमा उसकी भर्त्सना करती है। इस समय उसके मुख से जो शब्द निकले हैं, उनमें पति-श्रद्धा की पवित्र धारा-सी बहने लगती है। चंद्रकला के

प्रति भी उसके मन में द्वेष का भाव नहीं है। जरा-सी जलन नहीं। वह अपनी दशा पर दुखी, पर संतुष्ट है। भारतीय नारी का इससे बढ़कर और क्या आचरण हो सकता है?

राजेंद्र महाशय हैं तो अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे, लेकिन खासे बुद्धू हैं। पिता की आज्ञा का पालन करना वह अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं। उचित और अनुचित का विचार रखते हुए भी वह पिता की एक अत्यंत अनुचित आज्ञा के सामने सिर झुका देते हैं। उन्हें अपनी प्रिय पत्नी को त्याग कर दूसरा विवाह करते हुए संकोच नहीं होता। चंद्रकला से उन्हें प्रेम नहीं है। इनका हृदय मनोरमा और सुशील के वियोग में तड़पता रहता है लेकिन वह सुशील का पत्र पाकर भी उसका जवाब नहीं देते, किसी प्रकार की सहायता नहीं करते। वह जानते थे कि इस दशा में यदि वह कुछ सहायता करना भी चाहें तो मानिनी मनोरमा उसे स्वीकार न करेगी। जैसा हम ऊपर लिख आए हैं, मनोरमा से उसके अंतिम समय में उनकी भेंट होती है।

लेखक ने सबसे अधिक रचना-कौशल चंद्रकला के चरित्र में दिखाया है। वह धनी माता-पिता की लड़की है, राजेंद्र का बखान भी सुन चुकी है, लेकिन सौतियाडाह की आग में जलने की अपेक्षा वह मर जाना ही अच्छा समझती है। वह अपने माता पिता के कानों में यह बात डाल देती है। लेकिन उसके पिता को राजेंद्र-सा दूसरा वर मिलना कठिन मालूम होता है। विवाह हो जाता है। ससुराल में आकर चंद्रकला को ज्ञात होता है कि यद्यपि कोई मेरा अनादर नहीं करता पर घर भर का प्रेम मेरी सौत ही पर है। यहां तक कि उसे मालूम होता है, राजेंद्र भी उसे प्यार नहीं करते। वह ईर्ष्या की अग्नि में जलने लगती है। वह अक्सर अपने दुर्भाग्य पर अकेले बैठकर रोया करती है। पति उसकी बड़ी खातिर करता है, मगर आए दिन घर में ऐसी बातें होती रहती हैं जिनसे उसे पता चलता है कि यहां कोई मेरा नहीं, यहां तक कि पति भी पहले सौत के पति हैं उसके बाद मेरे। कभी-कभी वह यह सोचती है कि जो अपनी पहली प्रणय-पात्री को इतनी निर्दयता से त्याग सकता है वह मेरा क्या हो सकेगा? इसी मर्मवेदना की दशा में एक बार वह अपनी ननद के घर के नेवते में जाती है। वहां सुशील भी आया हुआ है। सुशील कहीं से तमाशा देखकर आया है और चंद्रकला को अपनी बुआ समझकर उस तमाशे का जिक्र करने लगता है। उसकी प्यारी-प्यारी बातें सुनकर चंद्रकला के 'शुष्क वंध्या जीवन में अनायस ही मातृत्व का उदय हुआ।' वह तुरंत वहां से अपने घर चली आई। उसे संदेह हुआ। अपनी सौत के विहार की कल्पना करके वह व्याकुल हो गई, उसकी आंखों के सामने उसी लड़के की सूरत नाच रही थी, मालूम होता था, राजपुत्र की तरह सुकुमार, देवकुमार की भांति सुंदर लड़का पास बैठा है। जब लड़का इतना सुंदर है, तो उसकी मां न जाने कितनी सुंदर होगी? इसी वक्त राजेंद्र अपनी बहन के यहां जाने को तैयार होते हैं। चंद्रकला को निश्चय हो जाता है कि यह सौत से मिलने जा रहे हैं। वह उन्हें भीषण शपथ दिलाती है--'आज यदि वहां जाओ तो अपने लड़के का खून पियो।'

राजेंद्र मर्माहत-से होकर बाहर चले जाते हैं। लेकिन जब थोड़ी देर के बाद चंद्रकला को ज्ञात होता है कि राजेंद्र रात भर ही पर रहे, रात को भोजन भी नहीं किया, तो उसका संदेह दूर हो जाता है। लेखक ने इस अवसर पर चंद्रकला के मनोभाव को जितनी सुंदरता से प्रकट किया है, उससे उनके स्त्री-हृदय के ज्ञान का अच्छा परिचय मिलता है। उस

दिन से शनैः शनैः चंद्रकला की ईर्ष्या की आग ठंडी होने लगती है। दो साल के बाद फिर सावित्री के घर जाने का मौका मिलता है। सुशील के वहां आने की आशा है। चंद्रकला अब की अपने पति से वहां जाने का अनुरोध करती है। पर वह नहीं जाते। वह भीषण शपथ उन्हें भूली नहीं है। चंद्रकला आती है और उसकी आंखें सुशील को चारों ओर ढूंढ़ने लगती हैं पर सुशील वहां नहीं आया है।

कुछ दिनों के बाद सुशील अपने पिता को एक पत्र लिखकर अपनी किसी परीक्षा में पास होने की सूचना देता है। पंडित जी इस पत्र को खोलते भी नहीं। चंद्रकला इस खत को पढ़ती है और पति से उसका जवाब देने का अग्रह करती है। कितना स्वाभाविक परिवर्तन है। पति अगर पुत्र और परित्यक्त स्त्री से प्रेम करता तो चंद्रकला का क्रोध बढ़ता, द्वेष की आग दहकती। लेकिन पति का उन दोनों के प्रति यह अन्याय देखकर चंद्रकला की सहृदयता जागृत हो जाती है। अंत को वह खुद सुशील के पत्र का जवाब देती और उसे इलाहाबाद आकर पढ़ने का अनुरोध करती है। वह यहीं करती थी। सुशील इलाहाबाद आकर पढ़ता है पर अपने पिता के घर नहीं आता। चंद्रकला को उसके प्रयाग आने की बात मालूम होती है। वह उसे घर पर बुलाती है, खुद गाड़ी में बैठकर उसकी तलाश करने लगती है, पर वह न आता है, न दिखाई देता है। इसी बीच में राजेंद्र बीमार पड़ जाते हैं। मानसिक वेदना ही उनकी बीमारी का कारण है। उनकी दशा अच्छी नहीं है। यह वह चंद्रकला नहीं है जिसे हम पहले देख चुके हैं। द्वेष ने अब सहृदयता और प्रेम को स्थान दे दिया है।

सुशील के स्वभाव में मान की मात्रा अधिक है। वह यों ताक अपने पिता को देखने नहीं आता, लेकिन रात को घोर मेघाच्छन्न अंधकार में चोरों की भाँति अपने पिता के कमरे में जाता और उनके चरणों पर सिर रखकर रोता है। उसके आंसुओं से चादर भीग जाती है। आहट पाते ही वह फिर नीचे कूदकर चला जाता है। मगर उसकी चोरी छिपी नहीं रहती है। चंद्रकला और उसका पति दोनों ही भांप जाते हैं कि आगंतुक कौन था। राजेंद्र महाशय पिता की आज्ञा का अक्षरशः पालन करने पर तुले हुए हैं चाहे इसके लिए अपने प्राण ही क्यों न देने पड़ें। पुस्तक के अंतिम दो-तीन परिच्छेद, जिनमें चंद्रकला, सुशील और राजेंद्र के चरित्रों का पूर्णरूप से विकास हुआ, बहुत ही सुंदर है। राजेंद्र का पश्चात्ताप, चद्रंकला की ग्लानि और सुशील की पितृभक्ति का दिग्दर्शन अत्यंत मनोहर है। हम पाठकों से अनुरोध करते हैं कि इस करुण कथा को अवश्य पढ़ें। ऐसे उपन्यास उन्होंने बहुत कम पढ़े होंगे।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', फरवरी, 1926 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-1 में संकलित।]

पंडित जी

मूल-लेखक : शरच्चंद्र चट्टोपाध्याय, अनुवादकर्ता : पं० रूपनारायण पांडेय, 'माधुरी'-संपादक। प्रकाशक इंडियन प्रेस, मूल्य एक रुपया आठ आना), पृष्ठ सं० 198, बढ़िया सचित्र जिल्द।

हम बंगला-अनुवादों के पक्षपाती नहीं हैं, लेकिन शरद बाबू के विषय में यह बात

नहीं। उनकी पुस्तकों के अनुवाद जितने ही निकलें, उतना ही हिंदी का गौरव बढ़ेगा। हर्ष की बात है कि इंडियन प्रेस, प्रयाग ने शरद्-ग्रंथावली के नाम से उनके प्राय: अच्छे उपन्यासों के अनुवाद निकालने का काम शुरू कर दिया है। इस माला के तीन रत्न निकल चुके हैं। 'पंडितजी' पहला रत्न है। यह पुरुष की मातृ-भक्ति और स्त्री के मान की एक अत्यंत करुणाजनक कहानी है। कथा के नायक और नायिका, दोनों समाज की उस श्रेणी से लिए गए हैं, जिसे संसार नीच कहता है। कुसुम की सगाई पहले वृन्दावन से हुई थी, पर किसी कारण वह टूट गई। कुसुम उस समय बालिका थी। वह इतना ही जानती है कि मैं विधवा हूं , और यद्यपि उसकी बिरादरी में विधवा-विवाह का रिवाज है, पर वृन्दावन के फिर आकृष्ट होने पर वह पहले उसकी अवेहलना करती है। यहां तक कि उसकी माता का दिया हुआ कड़े का जोड़ा लौटा देती है। माता को इससे दु:ख होता है, और पुत्र वृन्दावन कुसुम के इस अपराध को क्षमा नहीं करता। दोनों हृदय से एक-दूसरे को चाहते हैं, पर सगाई नहीं होती। वृन्दावन का एक बहुत ही सुंदर बालक है, जिसे कुसुम प्यार करती है। नायक और नायिका में जो अगाध प्रेम और विश्वास है, उसका यह बालक माध्यम स्वरूप है। वृन्दावन उसे कुसुम के घर भेज देता है, कुसुम उसे अपना जीवनाधार समझती है। दैवात् वृन्दावन के गांव में हैज़ा फैलता है। बालक चरन हैज़े का शिकार हो जाता है। कुसुम यह खबर पाते ही अभिमान छोड़कर वृन्दावन के पास चली जाती है। वृन्दावन ने तो सब्र कर लिया, पर कुसुम को किसी तरह सब्र नहीं होता। वह कहती है, ''सब कहते हैं, तुमने यह दुख सह लिया है, लेकिन मेरे कलेजे के भीतर तो दिन-रात आग-सी जल रही है—मैं किस तरह जिऊंगी?''

वृन्दावन कहता है, ''चरन को तुम कितना प्यार करती थीं, सो मैं अच्छी तरह जानता हूं कुसुम, इसीसे तुमको भी अपनी राह में बुलाता हूं। तुम्हारा चरन मरा नहीं है, कहीं गया नही है, केवल छिपा हुआ है। एक बार अच्छी तरह ध्यान देकर देखना सीख लेने पर देखोगी कि संसार में जहां कहीं जितने लड़के हैं, उन्हीं में हमारा चरन है।''

कितने शांतिमय शब्द हैं। कुसुम के भाई कुंज का चित्र खींचने में लेखक ने कमाल कर दिया है। शरद् बाबू सचमुच मनोभावों के चतुर चितेरे हैं। यही एक सांत्वना है, जो मनुष्य के जलते हुए हृदय को शांत कर सकती है। यही वह अवसर है, जब मान टूट जाता है, पुराने बैर मिट जाते हैं, और आत्मान्धकार दूर हो जाता ह। अभिमान में प्रेम का कितना सम्मिश्रण होता है, कुसुम का चरित्र इसका बहुत ही सुंदर उदाहरण है। वृन्दावन का चरित्र कुछ नीरस हो गया है। उसमें इतनी समझ भी नहीं कि वह कुसुम के कोमल भावों का आदर कर सके, जिनके वशीभूत होकर कुसुम ने उसकी माता का दिया हुआ उपहार लौटा दिया था। वहां अवहेलना न थी, उपेक्षा न थी केवल एक प्रकार का संकोच था। वही वृन्दावन, जिसने एक बार कुसुम से कहा था, ''इस समय एक बार भी नहीं जान पड़ा कि आज तुमने पहले-पहल मुझसे बातचीत की है। ऐसा जांचता है, जैसे कितने युग-युगांतर से तुम मुझ पर इसी तरह स्नेह का शासन करती आ रही हो। भगवान के हाथ का बांधा हुआ यह कैसा अद्भुत हृदय का बंधन है। कुसुम!'' वही वृन्दावन, जो अकारण ही कुसुम के द्वार से आता-जाता रहता था, केवल इस अपराध से कुसुम से सदा के लिए मुंह फेर लेता है। यहां तक कि बालक का देहांत हो जाने और स्वयं कुसुम शोक-

विकल होकर उसके पास जाती है। हम यह तो नहीं कह सकते कि ऐसे पुरुष हो ही नहीं सकते, पर बहुत कम होंगे। तथापि पुस्तक अच्छी है। इसके प्रकाशन के लिए इंडियन-प्रेस को धन्यवाद है। आशा है, कि हिंदी-संसार में इसका यथेष्ट आदर होगा।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', फरवरी, 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

बड़ी दीदी

लेखक : अनुवादक और प्रकाशक : वही। मूल्य एक रुपया), पृष्ठ सं॰ 101, सचित्र।

"दुनिया में एक ऐसे लोग का दल है, जो फूस की आग कहे जा सकते हैं। वह चटपट जल उठते और जल्दी से बुझ भी सकते हैं। उनके पीछे हर घड़ी एक ऐसे आदमी के रहने की ज़रूरत रहती है, जो आवश्यकता के फूस डालता रहे, उन्हें उकसाता रहे।"

इस छोटी-सी कहानी का नायक सुरेंद्रनाथ इसी प्रकृति का युवक है। ऐसे प्रकृति के लोगों को क्या-क्या कठिनाइयां पड़ती हैं, वे कितनी जल्द हतोत्साह हो जाते हैं, कितनी आसानी से दूसरों का मुंह ताकने लगते हैं, और उनका अंत कितना करुणाजनक होता है- इसे शरद बाबू ने एक निपुण चित्रकार की भांति दिखाने की चेष्टा की है, पर चित्र में मौलिकता ने यथार्थता का स्थान छीन लिया। ऐसे असावधान जीव अगर हैं, तो बहुत ही कम। शिक्षा ने सुरेन्द्र पर इतना कम असर किया, यह आश्चर्य है। एम॰ ए॰ की नहीं, किसी बुद्धू की तसवीर मालूम होती है। ऐसे प्राणी बड़े ही सरल होते हैं, इसमें संदेह नहीं; लेकिन सरलता की भी कोई हद होनी चाहिए। कृतज्ञता का भाव उनमें विशेष रूप से रहता है, और वे एहसान को कभी नहीं भूल सकते, इस भाव का यहां बहुत अच्छा विकास हुआ है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', फरवरी, 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

महिला-स्वास्थ्य-संजीवनी

लेखिका : श्रीमती गोपालदेवी, प्रकाशक : गृह-लक्ष्मी कार्यालय, प्रयाग, मूल्य एक रुपया चार आना। पृष्ठ-संख्या 142।

हमारी महिलाओं की शारीरिक अवस्था जितनी शोचनीय है, उसको सभी जानते हैं। बहुत कम ऐसी स्त्रियां हैं, जिन्हें कोई-न-कोई शिकायत न हो। इस पुस्तक में महिलाओं के स्वास्थ्य के संबंध की प्राय: सभी जानने योग्य बातों पर विचार किया गया है। केवल बीमारियों के लक्षण और औषधियां ही नहीं दी गई हैं, बल्कि वे सिद्धांत भी बताए गए हैं, जिन पर आचरण करने से औषधियों की जरूरत ही न पड़े। पुस्तक उपयोगी है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', वर्ष 4, खंड 2, संख्या 2, फरवरी, 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

चंचला

लेखक : पं॰ राजनारायण मिश्र। प्रकाशक : पं॰ नीलकंठ, वंशीधर पुस्तकालय, अमीनाबाद, लखनऊ, मूल्य एक रुपया), पृष्ठ-सं॰ 64।

यह औरंगज़ेब और चंचलकुमारी का क़िस्सा है। लेखक महोदय ने फ़ारसी और उर्दू की खूब टांग तोड़ी है। आप 'जिगर' को 'ज़िगर', 'बेगम', को 'बेग़म', लिखते हैं। शीन का शड़ाका इसी को कहते हैं। उर्दू-मुहवरों की तो ऐसी मिट्टी ख़राब की है कि बस, कुछ न पूछिए। सुनिए–

पटिया बीवी–"लख्ते ज़िगर, कुछ पूछो, मत, बड़ी ही नागहानी का मौक़ा है।"

नागहानी का मौक़ा कैसा होता है, यह मिश्रजी ही जानते होंगे।

और सुनिए–

उदयपुरी बेग़म, 'अरे, लख्ते ज़िगर, शाह से ज़रूर यह तस्करा बयान करूंगी।"

'तस्करा' किस भाषा का शब्द है, यह लेखक महोदय ही बता सकते हैं। ऐसी किताबें लिखकर क्यों अपना धन और पाठक का समय नष्ट किया गया है, समझ में नहीं आता।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', अप्रैल, 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

साधु-यंत्र या गुप्त-भेद

लेखक : पंडित राजनारायण मिश्र, प्रकाशक : नीलकंठ वंशीधर पुस्तकालय, अमीनाबाद, लखनऊ, पृष्ठ सं 112, मूल्य आठ आना)।

लेखक महोदय बुरा तो मानेंगे, पर समालोचक का काम ही ऐसा पाजी है कि उसे कड़वी सच्चाइयां कहनी ही पड़ती हैं। यह एक जासूसी कहानी है, लेकिन कथानक कुछ इस तरह रक्खा गया है कि अंत की बात पहले मालूम हो जाती है, और पढ़ने वाले को न तो कुतूहल होता है, न उत्सुकता। पात्र सभी बाज़ारू शोहदे हैं, वे भी असली शोहदे नहीं, बल्कि उनके गुंडे। कोई पात्र सजीव नहीं, न किसी चरित्र में कोई विशेषता है। ज़रा-सी बात को बढ़ाकर कहने का लेखक को मर्ज़ है, जिससे पढ़ने वाले का जी ऊब जाता है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', वर्ष 4, खंड 2, सं॰ 4, अप्रैल, 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य', खण्ड-1 में संकलित।]

सभा-विज्ञान और वक्तृता

लेखक और प्रकाशक : देवकीनंदन शर्मा। मूल्य लिखा नहीं। सुंदर रेशमी जिल्द, पृष्ठ सं॰ 150 है।

इस पुस्तक के दो खंड हैं। पहले खंड के 16 प्रकरणों में सभापति, मंत्री और सभासदों के कर्त्तव्य तथा अधिकार-प्रस्ताव, संशोधन, सूचना, वाद-विवाद, वाद-विवादांतक प्रस्ताव,

उपसमिति, विरोध-समिति, वोटिंग एवं प्रश्न के नियम और व्याख्या है। दूसरे खंड में पांच प्रकरण हैं, जिसमें वक्तृता का महत्त्व, वक्ता का शरीर, वक्ता की मानसिक स्थिति, वक्ता की तैयारी और वक्तृता पर कितनी ही विचारणीय बातें बतलाई गई हैं। जो लोग नये-नये किसी सभा या समाज में सम्मिलित होते हैं, उन्हें ऊपर लिखे सभा के नियमों और कर्मचारियों के कर्त्तव्य का उचित ज्ञान न होने के कारण बहुत कठिनाइयां पड़ती हैं। इस पुस्तक में प्राय: सभाओं और संस्थाओं के विषय की सभी बातें बड़ी सुगमता से समझा दी गई हैं। वक्ताओं को भी वक्तृता के नियम, गुण-दोष, विस्तार प्रभाव आदि के विषय में बड़ी शंकाएं रहती हैं, सफलता कैसे प्राप्त हो, यह बात जानने को उन्हें बड़ी फ़िक्र रहती है। दूसरे खंड में उन्हें बहुत-सी काम की बातें मिलेंगी। पुस्तक बहुत ही उपयोगी और समयानुकूल है। हमारा ख्याल है, शायद हिंदी में इस विषय को यह पहली ही पुस्तक है। आशा है, हिंदी-प्रेमी इसका आदर करेंगे।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', वर्ष 4, खंड 2, सं॰ 5, मई, 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

आत्म-त्याग की सुरस कथाएं

अनुवादक : जी॰ ए॰ मालेराव, प्रकाशक : रामचंद्र अन्ना मालेराव, लकड़गंज, जबलपुर, मूल्य एक रुपया), पृष्ठ सं॰ 175।

अंग्रेज़ी में 'गोल्डेन डीड्स' नाम की एक बहुत ही प्रसिद्ध पुस्तक है। उसमें कितनी ही वीरत्व-पूर्ण ऐतिहासिक कथाओं का संग्रह किया गया है। उसकी भाषा और शैली, दोनों ही बहुत परिमार्जित हैं। यह पुस्तक उसी अंग्रेज़ी-पुस्तक के मराठी-अनुवाद का हिंदी अनुवाद है। ऐसी शिक्षाप्रद और स्फूर्ति-दायक पुस्तकों के अनुवाद का तो कोई विरोध नहीं कर सकता, लेकिन अनुवाद मूल-पुस्तक का होना चाहिए, न कि उसके अनुवाद का। मूल पुस्तक की साहित्यिकता बहुत-कुछ तो पहले ही अनुवाद में गायब हो जाती है, और बची-खुची दूसरे अनुवाद में उड़ जाती है। फ्रेंन्च, जर्मन या रूसी भाषाओं की पुस्तकों के विषय में तो यह मजबूरी है कि उन भाषाओं को सीखने का यहां कोई साधन नहीं, हारकर हमें अंग्रेज़ी-अनुवादों का आश्रय लेना पड़ता है। लेकिन 'गोल्डेन डीड्स' के विषय में तो ऐसी कोई बाधा नहीं थी। अनुवाद नीरस हो गया है, और अनुवाद नहीं केवल उन कहानियों का सारांश-मात्र शेष रह गया है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', वर्ष 5, खंड 1, सं॰ 1, जुलाई, 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

नर-हत्या

लेखक: मुंशी हुबलाल, म्युनिसिपल ओवरसियर, मिर्ज़ापुर, पुस्तक मिलने का पता : नारायण-ब्रदर्स, कंट्रेक्टर एंड कमीशन-एजेंट, मिर्ज़ापुर, पृष्ठ सं॰ 122, छपाई सुंदर, मूल्य एक रुपया।

दहेज की घातक प्रथा और उससे पैदा होने वाले वृद्ध-विवाह के अत्याचार इस नाटक में दिखाए गए हैं। आनंदी और सुशीला, दो कन्याएं हैं। दोनों ही के बाप दरिद्र हैं। आनंदी का विवाह एक बूढ़े सेठ से होता है: लेकिन आनंदी सेठ के एक मुसाहिब द्वारा घर से निकाल ली जाती है। वह सेठ जी की सारी जमा-जथा लेकर निकल जाती है। फिर नाना प्रकार की दुर्गति के बाद गंगा में कूदकर प्राण त्याग देती है। सुशीला का पिता रामनाथ भी ग़रीब आदमी है। दहेज़ ही की चिंता में वह मर जाता है। सुशीला भी गंगा में कूदकर अपनी विपत्ति का अंत कर देती है। आनंदी के पिता ने सेठजी से रुपये लेकर उसका विवाह किया था। रामनाथ ने कन्या को कुंआरी रक्खा, पर बेचा नहीं। वह दहेज़ देने की सामर्थ्य नहीं रखता, पर इतना नीच नहीं है कि कुछ लेकर कन्या को किसी बूढ़े के गले मढ़ दे। नाटक खेला जाने योग्य है या नहीं, यह तो स्टेज वाले जानें, पर इसका दर्शकों पर प्रभाव अवश्य पड़ेगा। आनंदी के चरित्र में इतना दोष अवश्य आ गया है कि वह बड़ी आसानी से किशोर के प्रलोभन में पड़ जाती है। सुशीला के प्राण-त्याग करने की कोई ज़रूरत न थी। अगर वह आरातियो द्वारा निकाले जाने के बाद बच जाती, और उसका विवाह कृष्णचंद्र से हो जाता, तो नाटक सुखांत हो जात, और उसके प्रभाव में कोई बाधा न पड़ती। कहीं-कहीं लेखक महोदय ने भारतवासियों से दहेज़-प्रथा के संबंध में अपील की है। यह पुस्तक तो स्वयं अपील है, इन अपीलों की ज़रूरत न थी। इससे साहित्य का रूप प्रोपेगैंडा से मिल जाता है, जो वांछनीय नहीं।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', जुलाई, 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में प्रकाशित।]

रामदुलारी व सदाचारी की देवी

लेखक और प्रकाशक : बाबू सूरजमल, साबिक वकील, देवबंद, सहारनपुर, मूल्य एक रुपया, पृष्ठ सं॰ 180, कागज-छपाई साधारण।

इस पुस्तक में भी वैवाहिक विषमताओं ही के सुधारने की चेष्टा की गई है। रामदुलारी एक ग़रीब आदमी की लड़की है। उसका पिता रुपये लेकर उसकी शादी एक कुचरित्र सेठ से कर देता है। रामदुलारी इनकार करती है पर उसका विवाह ज़बर्दस्ती कर दिया जाता है। पतिगृह में जाकर दुलारी सेठ से भागती रहती है। सेठ क्रोध में आकर उसे कष्ट देना शुरू करते हैं। दुलारी तीन महीने तक कष्ट झेलने के बाद अपनी दासियों की सहायता से हाकिम-ज़िले को सेठजी के अन्याय की शिकायत लिख भेजती है। नतीजा यह होता है कि दुलारी को सेठ के घर से छुटकारा मिल जाता है। दोनों दासियां भी उसके साथ चली जाती हैं। इन दासियों के साथ दुलारी स्थान-स्थान पर घूमकर समाज के हाथों सताई जानेवाली बालिकाओं का उद्धार करती फिरती है। सेठजी भी बाद को पछताते और अपना सर्वस्व वेश्याओं के सुधार पर अर्पण कर देते हैं। इसे उपन्यास तो नहीं कह सकते; पर इसमें सामाजिक समस्याओं के कितने ही मार्मिक चित्र अंकित किए गए हैं। रामदुलारी

का चरित्र कुछ अस्वाभाविक हो गया है। साहित्य द्वारा समाज-सुधार का प्रयत्न करना स्तुत्य है–साहित्य का एक यह प्रधान कार्य है, लेकिन साहित्य का मुख्य विषय मनुष्य है, सामाजिक अत्याचारों की तालिका नहीं।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', जुलाई, 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

ललित मनोरमा

लेखक : ठा॰ अयोध्याप्रसादसिंह, मलयपुर, प्रकाशक : श्री ओंकारशरण सिंह, मलयपुर, मूल्य 1।), पृष्ठ-सं॰ 416।

अंग्रेज़ी-भाषा में कोई पुस्तक है 'इंडियन मोंटी क्रिस्टो', उसी के आधार पर 'ललित मनोरमा' की रचना हुई है। अंग्रेज़ी-आधार का विषय क्या है, इसका इस पुस्तक से कुछ पता नहीं चलता। एक युवक कुमार्ग में पड़ जाने के कारण पिता के क्रोध का पात्र बन जाता है, और इधर से कोई सहारा न पाकर जीविका की खोज में घर से निकल खड़ा होता है। कुछ दिन बाद उसकी भेंट एक योगी से होती है। योगिराज के पास अपार धन है। ललित से प्रसन्न होकर योगिराज वह सारी संपत्ति उसे दे देते हैं। इस धन को वह देशोद्धार में लगा देता है।

उधर ललित की नवविवाहिता पत्नी मनोरमा भी पति को खोजने घर से निकल खड़ी होती है, और एक पाखंडी साधु के फंदे में पड़कर आसाम के एक चाय के बग़ीचे में जा पहुंचती है। वहां बग़ीचे के दुश्चरित्र दोगले मैनेजर से अपने सतीत्व की रक्षा करने में उसे बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अंत में ललित के ही हाथों–जो अब अतुल धन के स्वामी महंतजी हो गए हैं–उसका उद्धार होता है। पुस्तक रोचक है, पर इसमें एक बड़ा दोष यह है कि कथा वर्णनात्मक हो गई है। उपन्यास वही अच्छा समझा जाता है, जिसमें संभाषण अधिक और वर्णन कम हो। लंबे वृत्तांतों से पाठक का जी ऊब जाता है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', जुलाई, 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

अछूतोद्धार नाटक

लेखक : श्री रामेश्वरप्रसाद 'राम', प्रकाशक : हिंदी-सुलभ-साहित्य-प्रकाशन-मंदिर, मूल्य दस आना, पृष्ठ-सं॰ 96।

साहित्य की दृष्टि से तो इस नाटक का स्थान ऊंचा नहीं, और कदाचित् लेखक का यह अभिप्राय भी नहीं, हां, जिस विचार से इसकी रचना हुई है, वह अवश्य सराहने योग्य है। हमें विश्वास है, जनता पर इस अभिनय का अच्छा असर पड़ेगा।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', अक्तूबर, 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

प्रेम-बंधन

लेखक : वैद्यभूषण नाथूराम-शालग्राम, 'गो-भुज'। प्रकाशक : श्रीदुर्गा-साहित्य मंदिर, कनखल। पृष्ठ-सं॰ 124। मूल्य कुछ नहीं लिखा।

यह एक मराठी-उपन्यास का भावानुवाद है। कहानी बुरी नहीं है। पर भाषा इतनी लचर और अशुद्ध है, जितनी हो सकती है, और विराम चिह्नों की तो आवश्यकता ही नहीं समझी गई है। 'आश्चर्यता, बारीक चिराग़, दिवानी बातें, मग़ज़ में विचार पैदा होते हुए', ऐसी ही विचित्र भाषा के सैकड़ों नमूने मिल सकते हैं। छपाई और कागज़ तो ख़ैर, जैसा है वैसा है, पर अंत में 16 पृष्ठों की एक औषधियों की सूची दी है, जिससे विदित होता है कि पुस्तक केवल विज्ञापन-मात्र है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', अक्टूबर, 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

राजा महेन्द्रप्रताप

लेखक : श्रीगोविन्द हयारण, प्रकाशक : गोविन्द-भवन, इटावा, मूल्य दस आना, पृष्ठ सं॰ 70।

कौन ऐसा भारतवासी होगा, जो इस कर्म-वीर के नाम से परिचित न होगा। आप उन पुरुषों में हैं जिन्होंने भारत की उन्नति और उद्धार के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है, और आज भी एशियाई जातियों का संगठन करने के लिए देश देशांतरों में भ्रमण कर रहे हैं। इस कष्ट-साध्य कार्य में आपको कैसी बाधाओं का सामना करना पड़ रहा है, कथा सुनाने वालों के हृदय में सनसनी पैदा कर देगी। कहां अफ़गानिस्तान, कहां पामीर, कहां तुर्किस्तान, कहां चीन जापान, इन प्रांतों की ख़ाक आपने छान डाली है। अभी कुछ ही दिन हुए, समाचार-पत्रों में ख़बर निकली थी कि जापान पहुंचे, पर जापानी पुलिस ने, पासपोर्ट न रहने के कारण, आपको ज़बर्दस्ती जापान से निकाल दिया आप हिंदी-भाषा के परम भक्त हैं। आपके विचार में हिंदी ही वह लिपि है जो एशिया की व्यापक लिपि बन सकती है, हां, वह भाषा हिंदी न होगी, बल्कि फारसी होगी। पाठकों को यह जानकर कुतूहल होगा कि आपने अपना नाम बदलकर मुसलमानी नाम रख लिया है, और अफ़गानिस्तान के नागरिक बन गए हैं। कुछ लोगों का कदाचित् यह विचार होगा कि राजा साहब अपराधी हैं, और सरकार के भय से स्वदेश नहीं आते। इस विषय में, 1924 में, एक मेंबर ने असेंबली में प्रश्न किया था। सरकार की ओर से उसका यही जवाब भी दिया गया था। राजा साहब ने इसका जो उत्तर प्रकाशित कराया था, उससे विदित होता है कि सरकार ने स्वयं कई बार राजा साहब को भारत आने के लिए प्रेरित किया, परंतु वह स्वयं नहीं आए। कारण, उनका दृढ़ विश्वास है कि "मैं या तो स्वतंत्र भारत में ही आऊंगा, या भ्रमण में ही जीवन-यात्रा समाप्त कर दूंगा।"

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', अक्टूबर, 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

सच्ची कहानियां

लेखक : पं॰ नर्मदाप्रसाद मिश्र, प्रकाशक : मिश्रबंधु कार्यालय, जबलपुर, मूल्य आठ आना, पृष्ठ सं॰ 70।

यह छोटी-छोटी ऐतिहासिक कहानियों का संग्रह है। कुल 17 कहानियां हैं। भाषा सरल है, और कहानियां रोचक। बालकों के लिए पुस्तक बहुत उपयोगी है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', वर्ष 5, खण्ड 1, सं॰ 4, अक्टूबर, 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

स्वदेशी की बलिवेदिका

लेखक: 'एक देश-भक्त', प्रकाशक : नर्मदाप्रसाद मिश्र, बी॰ ए॰, मिश्रबंधु कार्यालय, दीक्षितपुर, जबलपुर। मूल्य दस आना, पृष्ठ सं॰ 100।

इस पुस्तक में जर्मन-जाति के रोम साम्राज्य से स्वतंत्र होने की कथा दी गई है। प्राचीन समय में रोम का समस्त योरप पर आधिपत्य था। सभी जातियां रोमन, वेष, भाषा और सभ्यता को अपनाती जाती थीं। पर कुछ ऐसे लोग भी थे, जो रोमन आधिपत्य से दिल-ही-दिल में जलते थे। उनमें कितने ही ऐसे भी थे, जो रोमन सेना में उच्चपदाधिकारी होकर भी अपने देश की परंतत्रता पर कुढ़ा करते थे। ऐसे ही जर्मनी में एक हरमान नाम का वीर था। उसी के प्रयत्नों से अंत में रोमन सेना का सर्वनाश हुआ, और जर्मनों ने आज़ादी हासिल की। कथा रोचक है, पर शैली कुछ शिथिल-सी है। चरित्रों को केवल चरित्रों की छाया-मात्र कह सकते हैं।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', अक्टूबर, 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 1 में संकलित।]

जंबूकुमार नाटक

लेखक और प्रकाशक : बी॰ एल॰ जैन चैतन्य सी॰ टी॰। पृष्ठ-सं॰ 96, मूल्य आना।

जैन-इतिहास में श्री जंबूकुमार एक महात्मा हो गए हैं। वह राजपुत्र थे, उनके चार रानियां थीं। पर कुमार ज्ञान के इच्छुक थे। विवाह के कुछ ही दिनों बाद उन्होंने दीक्षा ले ली, और कैवल्य-ज्ञान प्राप्त करके अंत में निर्वाण-पद को पहुंचे। इस नाटक में जंबूकुमार के विवाह, वैराग्य-चिंतन, माता और चारों रानियां के अनुनय-विनय, और कुमार के गृह-त्याग और गुरु-दीक्षा के दृश्य दिखाए गए हैं। नाटक के तुकबंदियों में खूब सवाल-जवाब किए गए हैं। पाठकों और दर्शकों को उस प्रश्नोत्तरी में नौटंकी या अमानत की 'इंदर-सभा' का आनंद आवेगा।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', दिसंबर, 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

दुष्यंत व शकुंतला (उर्दू काव्य-ग्रंथ)

लेखक : मुंशी इकबाल वर्मा 'सेहर' हतगमी, प्रकाशक : माना कार्यालय, कानपुर, मूल्य पांच आना।

कई साल हुए इस काव्य का पहला संस्करण निकला था। यह दूसरा संस्करण है। मुं॰ दयानारायण निगम, एडीटर, 'ज़माना', ने इसकी सुंदर भूमिका लिखी है। कथानक तो कालिदास का ही है, पर कहीं-कहीं परिवर्तन कर दिया गया है। लगभग 50 वर्ष हुए, शाकुंतल पर एक मुसलमान कवि ने एक उर्दू-काव्य नवलकिशोर प्रेस द्वारा प्रकाशित कराया था। पर कवि ने मुसलमानी सभ्यता और भावों का उस पर गहरा रंग चढ़ा दिया था। वर्माजी ने अनुवाद नहीं किया है। अलंकार, भाव, उक्तियां सब नयी हैं, पर हैं सब भारतवर्ष ही की। काव्य का बहर वही है,जो मसनवी 'गुलज़ार नसीम' का है। 'गुलज़ार नसीम' उर्दू-काव्यों में सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। इस काव्य में 'गुलज़ार नसीम' के कितने ही गुण विद्यमान हैं, मगर उतना ज़ोरदार बयान नहीं है तो उतनी कृत्रिमता भी नहीं, लेकिन शैली बिल्कुल वही है। वर्माजी ने नसीम के तर्ज़ को खूब अपना लिया है।

शकुंतला जब दुष्यंत के घर से निराश होकर चलती है, जब उसने जो उद्गार प्रकट किए हैं, उन्हें वर्माजी के शब्दों में सुनिए-

अच्छा किसमत का जो लिखा हो,
राज़ी हूं, उसी पे जो रज़ा हो।

उम्मीद से आई शाद होकर,
अब जाती हूं, नामुराद होकर।

याद आयेगी मेरी गर किसी दिन,
पछतायेगा सोचकर किसी दिन।

महरूम हूं अपने हमबगल से,
रिश्ता जोडूंगी अब अनल से।

यह कहके वह निकली सूरते-आह,
और हो गई साथियों के हमराह।

जिन सज्जनों को इस अमर कथा का उर्दू में स्वाद लेना है, वे इस काव्य को अवश्य पढ़ें।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', वर्ष 5, खंड 1, सं 6, दिसबर 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

महेन्द्र

लेखक तथा प्रकाशक : श्रीरामप्रसादसिंह एम ए॰, बी॰ एड्॰, आरा। पृष्ठ सं॰ 25, मूल्य एक रुपया एक आना।

यह एक वियोगात्मक आत्मकहानी है, जिसे लेखक ने अपने मित्र महेंद्र की अकाल-मृत्यु से दुःखी होकर हृदय के शोकोद्गार-स्वरूप लिखा है। भाव और भाषा, दोनों ही

सुंदर हैं। अंग्रेज़ी तथा हिंदी के प्रेम-पदों से भावों को अलंकृत किया गया है, किंतु सरस होते हुए भी भाषा जटिल हो गई है। मूल्य इससे कम होना चाहिए।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', दिसंबर, 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

शाही-दृश्य

लेखक : महाशय मक्खनलाल गुप्त 'यर्क'। प्रकाशक : नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, पृष्ठ-संख्या 248, सजिल्द, मूल्य एक रुपया चार आना।

यह मनोरंजन-पुस्तकमाला का 44वां ग्रंथ है। नाम कुछ और है, चीज़ कुछ और। नाम से तो अनुमान होता है कि बादशाही शान-शौकत की चर्चा होगी, लेकिन वास्तव में यह बेगम समरू का जीवन-वृत्तांत है। मुगल बादशाहों के पतन-काल में बेगम समरू एक नामी औरत हो गई है। वह थी तो एक वेश्या-पुत्री, लेकिन उसका विवाह निहार्ड नामक एक फ्रांसीसी सरदार से हुआ था, जिसने लार्ड क्लाइव के समय में अंग्रेजों से पराजित होने के बाद, मीर कासिम, नवाब शुजाउद्दौला,भरतपुर-राज्य आदि की सेना में बहुत-कुछ कीर्ति प्राप्त करके, अंत में मुगल-दरबार का आश्रय ग्रहण किया था। मुगल-दरबार ने उसकी सैनिक सेवाओं से प्रसन्न होकर उसे सरधने की जागीर दे दी, जिसमें नौ परगने थे। रंग उसका सांवला था, इसलिए उसके साथ वाले उसे Sombre (सांबरे) कहते थे, जिसका अर्थ है काला। यही शब्द बिगड़कर समरू हो गया। वह बड़ा साहसी, रण-कुशल, कूट-नीति-चतुर मनुष्य था, और उस संघर्ष के समय उसे कीर्ति-लाभ के अच्छे अवसर मिले। उसके बाद उसकी पत्नी 'समरू बेगम' के नाम से सरधने की जागीर की उत्तराधिकारिणी हुई। वह भी बड़े जीवट की औरत थी। अपने पति के साथ बराबर लड़ाइयों में शरीक होने के कारण वह भी युद्धकला में दक्ष हो गई थी। जागीरदारों को जंगी खिदमत के लिए सेना रखनी पड़ती थी। समरू की सेना में योरप के गुंडे भरे हुए थे, जिनमें अंग्रेज़, फ्रांसीसी, डच, जर्मन, सभी जातियों के लोग थे। वे नये ढंग की कवायद जानते थे, इसलिए पुराने ढंग की भारतीय सेनाओं से अक्सर बाज़ी मार ले जाते थे। समरू की मृत्यु के बाद बेगम समरू के लिए इन चरित्रहीन गुंडों को काबू में रखना आसान न था। किंतु बेगम भी असाधारण प्रतिभा की स्त्री थी। अपने जीवन के अंत तक उसने अपनी जागीर को सुरक्षित रक्खा, जो उस ज़माने में अत्यंत कठिन था। उसकी क़ब्र सरधने में है। उसका बनवाया हुआ एक गिरजाघर भी वहां मौजूद है।

प्रस्तुत ग्रंथ में बेगम समरू का जीवन-चरित्र बड़ी खोज से लिखा गया है। इसमें 3 अध्याय हैं। पहले अध्याय में मुगलों के अधिकाधिक पतन का वृत्तांत है, दूसरे में समरू का जीवन-चरित्र है, और तीसरे में बेगम समरू के हालात हैं। इस साहस, संग्राम, द्वंद्व, आघात-प्रत्याघात के जीवन में एक प्रेमकांड भी है। समरू की मृत्यु के 14 वर्ष बाद बेगम समरू ने अपनी सेना के एक फ्रांसीसी नायक से पुनर्विवाह कर लिया। इस पर

जॉर्ज टॉमस नाम का एक अफसर, जो बेगम से बहुत प्रेम करता था, नाराज़ होकर मराठों की सेना से जा मिला। इधर फ्रांसीसी जनरल के व्यवहार से सेना के लोग बिगड़ उठे।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', दिसंबर, 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

सूर्योदय

लेखक : पं ईश्वरीप्रसाद शर्मा, प्रकाशक : रामलाल वर्मा, कलकत्ता : पृष्ठ सं 127 मूल्य 1)

यह मौलिक नाटक है, लेकिन इससे मौलिक साहित्य का सम्मान कुछ अधिक नहीं होता। प्लॉट अच्छा है. भाषा भी मंजी हुई है, किंतु इसके अभिनय में अरसिक मंडली चाहे तालियां पीटे, रसिक-समाज तो स्त्री-पुरुष को पद्यों में बातें करते देखकर ज़रूर ही ऊब जाएगा। हमारी वर्तमान नाट्य-कला में सबसे बड़ा दूषण यही है कि चरित्रों की स्वाभाविकता गीतों के हाथ बेच दी जाती है। गाना किसी मजलिस में तो अच्छा मालूम होता है, लेकिन एक बूढ़े सेठ के मुंह से पैसे की पद्यमय प्रशंसा सुनकर जी ऊब जाता है, और बेअख्तियार मुंह से निकल आता है कि यह नाटक है, या नाटक का स्वांग? इस नाटक में यह ऐब किसी बाज़ारी नाटक से कम नहीं है। लेखक महोदय से हम इससे कहीं अच्छी चीज़ की आशा करते हैं।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', दिसंबर, 1926 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

तपस्वी भरत

लेखक : श्रीयुत चुन्नीलाल खन्ना, प्रकाशक : शिरोमणि-पुस्तकालय, लाहौर, पृष्ठ सं 53, मूल्य पांच आने, विषय नाम से ही जाहिर है।

भरतजी का संक्षिप्त वृत्तांत सरल भाषा में लिखा गया है। पुस्तक वर्णनात्मक है, आलोचनात्मक नहीं। लड़के इसे बड़े शौक से पढ़ेंगे।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', वर्ष 5, खंड 2, सं 1, जनवरी, 1927 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

विजयी-धर्म

लेखक : गोविंद, प्रकाशक : गोविंद-पुस्तकालय, सिरोंज, पृष्ठ-सं 32, मूल्य चार आना, कागज और छपाई साधारण।

यह धर्म और अधर्म के संग्राम का नाटक है। आदि से अंत तक गद्य और पद्य की तुकबंदियों के सिवा और कुछ नहीं है। अधर्म की पत्नी 'मिथ्या' पति से धर्म को

जीतने का आग्रह करती है। अधर्म अपनी सेना के वैर, क्रोध, मोह आदि वीरों को यह मुहिम सर करने को भेजता है। ये वीर जाते हैं, और धर्म की स्त्री 'सुगति' को बांध लाते हैं। अधर्म क्रोध को सुगति के मार डालने का हुक्म देता है। क्रोध तलवार लेकर झपटता है। सहसा धर्म आ पहुंचता है। उसे देखकर अधर्म उस पर झपटता है। इतने ही में शंख-ध्वनि होती है, और भक्ति अपने प्रेम, ज्ञान और बोध नामी शूर-वीरों को लिए आ पहुंचती है। अधर्म परास्त हो जाता है और धर्म की विजय होती है। रूपक की कल्पना तो सुंदर है, पर उसका प्रतिपादन बिल्कुल बाज़ारी ढंग पर ही हुआ है। अधर्म और मिथ्या की बातें सुनिए। कितनी मज़ेदार हैं–

मिथ्या–बस ! बस ! ख़ामोश रहो, कुछ न कहो, ताव सहो।

अधर्म–प्रिये, यह क्या कहा, रहा-सहा होश भी न रहा, इस जहान में तुम्हा जान हो, तुम्हीं मान हो, तुम्हीं शान हो, तुम्हीं अभिमान हो, और कहां, तक कहूं (पांव छूकर) ''और को न जानौं सौं चरणन तिहारे की।''

मिथ्या–यह अटपटी, लटपटी, चटपटी, बनावटी, नटखटी है।

अधर्म–अच्छी खटपटी है, तो लो (पांव को सिर पर रखके) ये सिल और ये बटी है, कहो। अब तो नाराज़ी घटी है, या बिलकुल हटी है, या फिर वही जली कटी है?

बस, आदि से अंत तक यही चटपटी है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', जनवरी, 1927 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 1 में संकलित।]

चलता-पुरजा

लेखक : श्री कनका प्रसाद चौधरी, प्रकाशक : सरोज पुस्तकालय, 151 चितपुर रोड, कलकत्ता पृ सं 140, मूल्य एक रुपया, कागज और छपाई सुन्दर।

यह चौधरी महोदय की उन चौदह कहानियां का संग्रह है, जो उन्होंने समय समय पर लिखी और प्रकाशित कराई हैं। कहानियां प्राय: सब मजेदार हैं। चलता-पुरज़ा, मायाविनी मोहिनी आदि बहुत ही सुंदर हुई हैं। हास्यरस की गहरी चाशनी का मज़ा सब कहानियों में विद्यमान है। भाषा मुहावरेदार बोलचाल की है। पंडिताऊ भाषा कहानियों के लिए अनुकूल नहीं होती, चौधरी महाशय ने इस गुर को ख़ूब समझा है। कहानियों में लेखक की प्रतिभा झलक रही है। हमें आशा है, आप और भी अच्छा लिखेंगे। कहीं-कहीं एकाध शब्द बेमुहावरा आ गए हैं। 'खुलासगी' अब टकसाल-बाहर है। यह मारवाड़ी गढ़ंत-सी मालूम होती है। आशा है लेखक महाशय इसका ध्यान रखेंगे। कहीं-कहीं तो आपका वर्णन बहुत ही रोचक और सजीव है। बहुत अच्छी चीज़ है। मुबारकबादी के लायक।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', फरवरी, 1927 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 1 तथा 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

दिलचस्प कहानियां

लेखक : प्रोफे॰ पं॰ रामस्वरूप कौशल बी॰ ए॰, विद्याभूषण, प्रकाशक : शिरोमणि-पुस्तकालय, लाहौर पृष्ठ-संख्या 74, मूल्य चार आना।

बालकों के लिए छोटी-छोटी कहानियों का सुंदर संग्रह है। हर एक कहानी के अंत में उससे मिलनेवाली शिक्षा भी दी गई है। भाषा सरल और रोचक है, पर हमारी समझ में शिक्षा को प्रकट करने की जरूरत न थी। लड़के स्वयं कहानियों से शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। कम-से-कम उन्हें कुछ सोचना तो पड़ता ही।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', जनवरी, 1927 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 तथा 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

स्कंदगुप्त

लेखक: श्री जयशंकर प्रसाद, प्रकाशक : भारती भंडार, काशी। सजिल्द मूल्य: ढाई रुपया, पृष्ठ सं. 250।

जयशंकर प्रसाद जी ने बौद्ध इतिहास को खूब पढ़ा है। 'चंद्रगुप्त', अजातशत्रु' आदि नाटक बौद्धकालीन भारत के ही चित्र हैं। 'स्कंदगुप्त' भी इसी ढंग का ड्रामा है। यह स्कंदगुप्त वही है, जिसे विक्रमादित्य कहा जाता है। स्कंदगुप्त की सौतेली माता और सौतेले भाई ने स्कंदगुप्त का वध करके राज्य पर अधिकार करने की चेष्टा की। दूसरों ने भी उसी समय आक्रमण किया, पर स्कंदगुप्त ने अंत में विजय प्राप्त की और हूणों के कदम भी पीछे हटा दिए। अपने सौतेले भाई को उन्होंने क्षमा ही नहीं किया, उसे अपना युवराज भी बना दिया, इत्यादि। साहित्य के सब अंगों में ऐतिहासिक नाटक लिखना सबसे मुश्किल है। तीन हजार वर्ष पहले के चरित्रों परिस्थितियों, भावों की कल्पना करना लोहे के चने चबाना है। प्रसादजी के और नाटकों की भांति यह नाटक भी प्राचीन संस्कृत का अनुवाद होकर रह गया है। चरित्र केवल नाम हैं, जिसमें जीवन की गंध तक नहीं। भाषा निर्जीव, जटिल है, मानो मनों मिट्टी के बोझ से दबी हुई कोई लाश है। ऐसी भाषा स्कंदगुप्त के समय के लोग शायद व्यवहार कर सकें, आजकल और वह भी नाटक-जैसी जनप्रिय वस्तु में उसका व्यवहार करना साहित्य के गले पर छुरी फेरना है। वही पुराना षड्यंत्र है, वही जेलखाना, वही ऐन मौके पर प्राण बच जाना, वही सारे पुराने कील-कांटे हैं। नाटकों में गाना ज़रूरी है, लेकिन उसका मौका होता है। किसी महफिल में आप खूब गाइए, कोई कुछ न कहेगा। कोई राजकुमारी विहार करते वक्त खूब नाचे, कोई चूं नहीं कर सकता, राजा साहब भी अपने गाढ़े मित्रों के साथ खूब नाचें, कोई मुज़ायका नहीं, लेकिन ऐसी दशा में, जबकि हूण सैनिक शहर वालों को आग में झोंकने को तैयार हो, सारे नगर में हाहाकार मचा हुआ हो, स्त्रियों और पुरुषों का पद्यों में बात करना हास्यापद है। देखिए—

स्त्रियां : **हे नाथ !**

हमारे निर्बलों के बल कहां हो?

हमारे दीन के संबल कहां हो?

पुरुष : नहीं हो नाम ही, बस नाम है क्या,
सुना, केवल यहां हो या वहां हो।
स्त्रियां : पुकारा जब किसी ने तब सुना था,
भला विश्वास यह हम को कहां हो?
मातृगुप्त (कालिदास) : हे प्रभु !
हमें विश्वास दो, अपना बना लो !
सदा स्वच्छंद हों, चाहो जहां हों।

यह तो वही पारसी नाटक वालों की तुकबंदियों में बातचीत है, और कुछ नहीं। मज़ा यह कि गोविंदगुप्त के आते ही हूण सैनिक परछाईं की तरह विलीन हो जाते हैं और स्कंदगुप्त की जय-जय होने लगती है।

प्रसाद जी सुकवि हैं। हमारे वर्तमान कवियों में आपका स्थान बहुत ऊंचा है। इस नाटक में जितने पद्य आए हैं, सभी सुंदर हैं।

नाटक में मुख्य घटनाओं को चुन लेना चाहिए और उन्हीं की ओर दर्शक का ध्यान खींचने की चेष्टा करनी चाहिए। मुख्य बातों को गौण और गौण को मुख्य बना देना ऐसी भूल है, जो अक्सर हो जाया करती है। इस नाटक में भी उसने अपनी टांग अड़ा ही दी। स्कंदगुप्त का चरित्र दरसाने में प्रसाद जी को कुछ सफलता मिली है, यद्यपि यह चरित्र और सुंदर हो सकता था। हम प्रसाद जी से यहां निवेदन करेंगे कि आपको ईश्वर ने जो शक्ति दी है, उसका उपयोग वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं के हल करने में लगाइए। स्टेज का आज यही ध्येय माना जाता है। इन गड़े मुर्दों को उखाड़ने में आज कोई फायदा नहीं।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', वर्ष 7, खंड 1, सं॰ 4, अक्टूबर, 1928 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

कर्मदेवी

लेखक : श्री प्रवासीलाल वर्मा।

यह एक छोटा-सा मनोरंजक ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसमें सत्य की अपेक्षा कल्पना से अधिक काम लिया गया है। कर्मदेवी जालोर के राजा दुर्जय सिंह की पुत्री थी। मेवाड युवराज मल्लसिंह मे उसका प्रेम हो गया था। पर इधर अकबर की निगाह भी कर्मदवी पर पड़ चुकी थी। उसने छल, कपट, विनय, बलात्कर आदि साधनों से उसे अपने वश में करना चाहा, पर सफल न हुआ। आखिर उसने ज़हर से मल्लसिंह का काम तमाम किया और कर्मदेवी उसके साथ सती हुई। अकबर के चरित्र को बड़ी क्रूरता के बिगाड़ा गया है, पर कथा मनोरंजक है, भाषा बहुत सुंदर। संस्कृत शब्दों का प्रयोग कुछ कम होता तो पुस्तक अधिक उपयोगी हो जाती।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', माघ वि॰ सं॰ 1985 में (फरवरी, 1928) में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

गल्पांजलि

लेखक, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'।

यह उग्र जी की उन कहानियों का संग्रह है जो पांच-छः साल पहले 'आज' में निकली थीं।

एक-एक कहानी समाज के एक-एक अंग का चित्र है। अधिकतर कहानियों में हिन्दू समाज की बुराइयों का करुण विलाप है। 'परीक्षा' हास्य-कथा है, बहुत सुन्दर है, भाषा सजीव और भाव मर्म-स्पर्शी हैं।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', माघ, 1985 वि० सं० में (फरवरी, 1928) में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

जीवित हिन्दी-I

संग्रहकर्ता : श्री लक्ष्मीचन्द्र खुराना।

इस संग्रह में यह नवीनता है कि केवल समकालीन रचनाओं के ही अंश लिये गये हैं। और स्कूली संग्रहों में लोग लल्लूलाल और राजा शिवप्रसाद से आरम्भ करके बाबू राधाकृष्ण दास तक समाप्त कर देते हैं। समकालीन लेखकों को छूते तक नहीं। ऐसे संग्रह कालेज-क्लासों के लिए उपयुक्त हो सकते हैं। उसका उद्देश्य भाषा का क्रम-विकास दिखाना है। किन्तु बालकों को प्रचलित भाषा से अपरिचित रखने का फल यह होता है कि वे कुछ लिखने बैठते हैं तो व्याकरण और मुहावरे की गलतियां करने लगते हैं। इस संग्रह में यह दोष नहीं है। बालकों के लिए बहुत उपयोगी होगा।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', माघ, वि० सं० 1985 में (फरवरी, 1928) में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

चिरकुमार सभा

मूल लेखक : डॉ० रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अनुवादक : एक रवीन्द्र-भक्त। प्रकाशक : हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई। मूल्य : 1 रुपया 4 आना, पृष्ठ-संख्या 208, कागज और छपाई अच्छी।

यह एक प्रहसन है। कवि ने नाटक के रूप में न लिखकर इसे उपन्यास के रूप में लिखा है। इसमें उन युवकों का खाका उड़ाया गया है, जो राष्ट्र-सेवा और देशोद्धार के लिए सच्ची लगन न रहते हुए भी विवाह को बाधक समझते हैं, स्त्रियों के सायों से भी दूर भागते हैं। प्रतिज्ञाएं तो बड़ी लंबी-चौड़ी कर लेते हैं, पर उस आदमी की तरह जो सर्दी से बचने के लिए खिड़कियों को बंद रखता हो और ठण्डी हवा का झोंका लगते ही निमोनिया में गिरफ्तार हो जाये, वे भी प्रलोभन के पहले ही छापे में चें बोल जाते हैं। कोई भी सेवा करने के लिए सच्ची लगन चाहिए, व्रत और त्याग यह सब ढोंग है। चरित्रों की रचना बहुत ही सुन्दर है। सभी जीते-जागते मनुष्यों के चित्र हैं, जो बाहर चाहे

न दिखायी दें, पर हमारे हृदयों में उनका स्थान अवश्य है। बूढ़ा पर खुशमिजाज, रसिक, पक्का खिलाड़ी, अक्षय इरादों के पक्के पर व्यवहार में कच्चे, श्राश और विपिन, सभी अपने रंगों में निराले हैं। भुलक्कड़ चन्द्रमाधव, जिसे अपनी धुन में कपड़े-लत्ते की भी सुध नहीं रहती, हमारे रोज के मिलने वालों में है। पात्रों की बातचीत इतनी स्वाभाविक और हास-परिहास से भरी हुई है कि एक शब्द भी छोड़ने को जी नहीं चाहता।

शुरू में महाशय इलाचन्द्र जोशी की एक प्रस्तावना है। उसमें आपने हंसी की तात्त्विक विवेचना करने का प्रयत्न किया है। हमें तो शब्दाडम्बर के सिवा उसमें कोई तत्त्व की बात न मिली। हमें आज यह मालूम हुआ कि जब किसी लड़के को गुदगुदाया जाता है, तो वह कष्ट के कारण रोने की इच्छा होने पर भी हंस पड़ता है। यह सच है कि हास्य का तत्त्व बड़ा गूढ़ है, पर बाल की खाल निकालकर उसे और भी गूढ़ बनाने की क्या जरूरत है? दु:ख का अनुभव होने पर भी कैसे कोई हंस सकता है? जोशीजी ने चलते चलते हिन्दी साहित्य पर एक छींटा छोड़ ही दिया। आपकी बंग-साहित्य-भक्ति को उस वक्त तक सन्तोष नहीं होता, जब तक आप गरीब हिन्दी पर दो-एक वार न कर लें। हिन्दी-संसार अन्य संसारों से न संकीर्ण है, न विस्तीर्ण। अगर बंग-साहित्य में, जहां विधवा के लिए तप और व्रत, स्नान और पूजा, भोजन बनाने और घर की टहल करने के सिवा और कुछ नहीं है, शैलबाला जैसी असयंत कथोपकथन करने वाली रसालाप-प्रिय विधवाएं हो सकती हैं, तो हिन्दी-संसार में, जहां विधवाओं का जीवन इतना कठोर नहीं है, ऐसी विधवाएं क्यों अप्रिय होंगी? बात केवल साधारण और असाधारण की है। न साधारण बंगाली समाज में ऐसी विधवाएं होती हैं, और न साधारण हिन्दी-समाज में।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', नवंबर, 1928 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 1 में संकलित।]

नारी-धर्म-शिक्षा

लेखिका : श्रीमती मनव्रता देवी। प्रकाशक : एस॰ बी॰ सिंह एण्ड को॰, बनारस सिटी। मूल्य : एक रुपया चार आना, पृष्ठ-संख्या 156, कागज बढ़िया, छपाई अच्छी।

नारी-धर्म-शिक्षा संबंधी आजकल बहुत किताबें निकलती हैं, लेकिन अधिकांश पुरुषों की लिखी होती हैं और पुरुष स्वभावत: स्त्रियों के साथ कुछ अन्याय कर बैठते हैं। इस पुस्तक की लेखिका पुराने आदर्शों को मानने वाली एक महिला हैं। हमें यह देखकर खुशी हुई कि महिलाएं भी अपनी बहनों की शिक्षा की ओर ध्यान दे रही हैं। सम्भव है, नई रोशनी वाली बहनों को पुरुष-सेवा और पारिवारिक सेवा का आदर्श दकियानूसी मालूम हो, लेकिन जो देवियां अपनी कन्या को फैशनेबिल लेडी नहीं, सहधर्मिणी बनाना चाहती हैं, उन्हें इस किताब से बड़ी सहायता मिलेगी। स्त्रियों के लिए जिन बातों के जानने की जरूरत होती है, वे सब यहां सरल और शिष्ट भाषा में मिलेंगी। नीति, स्वास्थ्य, सन्तति-पालन, हिसाब-किताब, चिट्ठी-पत्री, गृह-शिल्प सभी बातों का उल्लेख किया गया है और इस ढंग से कि थोड़े में सभी बातें आ गई हैं—शब्दों का माया-जाल नहीं है। महिला-

शालाओं की ऊंची कक्षाओं में यह पुस्तक रख दी जाय, तो बालिकाओं को विशेष लाभ होने की आशा है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', नवंबर, 1928 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 1 में संकलित।]

विधाता का विधान

लेखिका : श्रीमती निरुपमा देवी, अनुवादकर्ता : बाबू रामचन्द्र वर्मा। प्रकाशक : हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई। मूल्य : सादी का दो रुपये आठ आना, सजिल्द का तीन रुपये, पृष्ठ संख्या 400, कागज बढ़िया, छपाई सुन्दर।

कथा रोमाण्टिक है, चरित्र ऊंचे हैं पर शैली आदि से अन्त तक शिथिल है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', नवंबर, 1928 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

अर्जुन-पुत्र

प्रणेता : पं. कृष्णकुमार मुखोपाध्याय, प्रकाशक : पं. श्रीलाल उपाध्याय, मूल्य : आठ आना, पृष्ठ संख्या 86।

इस नाटक का कथानक महाभारत से लिया गया है। कथा अत्यन्त रोचक और हृदयस्पर्शी है। हमारे विचार से यदि इसकी भाषा सरल और मुहावरेदार हो जाय, तो यह सफलता से खेला जा सकता है। चरित्रों के चित्रण में जरा और रंग होना चाहिए था। अभी तो वे छायाचित्र-से लगते हैं, आंखों के सामने खड़े नहीं होते। लेखक ने भात्रा का सत्कर्म खूब दिखाया है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', फरवरी, 1929 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

भावना

लेखक : श्री आनन्दभिक्षु सरस्वती, प्रकाशक : भारतीय ग्रन्थमाला वृन्दावन, मूल्य : चौदह आना पृष्ठ-संख्या 224।

यह छोटे-छोटे निबंधों की पुस्तक है। कुल 40 विषय है, जैसे--गर्व, ज्ञान, वैराग्य, अविद्या, साधना, जीवन, बलिदान, अनुभव, सेवा, श्रद्धा आदि। पर इन्हें केवल निबंध समझना भूल होगी। ये एक विद्वान्, अनुभवी, विचारशील संन्यासी के मनोद्गार है--रत्न के समान जगमगाते हुए और स्फटिक के समान उज्ज्वल। शैली इतनी मनोहर और आकर्षक है कि 'निषेध' जैसा शुष्क और पथरीला मैदान हरा भरा, गुलजार बन गया है, मानो लेखक की आनन्दमयी आत्मा एक-एक पंक्ति में प्रतिबिम्बित हो रही हो। भाषा इतनी सरल और लोचदार

है—विषय-प्रवेश का ढंग इतना अनोखा, इतना सजीव कि एक के बाद एक निबंध पढ़ते जाइए, तृप्ति नहीं होती। हिन्दी में ऐसे निबंध शायद बहुत कम लिखे गये हों, जिनमें विषय और विचार की गंभीरता के साथ इतना प्रसाद, इतना विनोद, इतनी सरलता भर दी गई हो।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', फरवरी, 1929 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का आप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

मध्यकालीन भारतीय संस्कृति

लेखक : रायबहादुर, महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा, प्रकाशक : हिन्दुस्तानी एकेडेमी, संयुक्त प्रदेश, प्रयाग, पृष्ठ-संख्या 213, मूल्य नहीं लिखा।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने प्रतिवर्ष विद्वानों से महत्त्वपूर्ण विषयों पर व्याख्यान दिलाने का निश्चय किया है। गत वर्ष माननीय पं० गौरीशंक हीराचन्द्र ओझा ने ऊपर लिखे हुए विषय पर तीन व्याख्यान दिये थे। यह उन्हीं व्याख्यानों का पुस्तक-रूप में संग्रह है। पं० जी अपने विषय के कितने बड़ विद्वान हैं, यह कहने की जरूरत नहीं। आपने राजपूत-जाति के विषय में जितनी खोज की है, कदाचित् और किसी देशी या विदेशी विद्वान् ने नहीं की। इस ग्रन्थ में लेखक ने विषय को तीन भागों में विभक्त किया है। पहले भाग में बौद्ध, जैन, हिन्दू-सम्प्रदायों के धार्मिक विकास और ह्रास, रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि का वर्णन है। दूसरे भाग में साहित्य, दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र, शिल्प, संगीत, चित्रकला आदि की तत्कालीन स्थिथति का विचार किया गया है। तीसरे भाग में उस समय की शासन-पद्धति, पंचायत, सैनिक व्यवस्था आदि पर प्रकाश डाला गया है। ओझाजी ने विषय का गंभरी अध्ययन किया है, और जितनी सामग्री इस वक्त तक मिलन सकी है, उसका उपयोग किया है, शिला-लेखों, ताम्र-पत्रों, सिक्कों और मुद्राओं से भी काफी सहायता ली गई है। इतने महत्त्वपूर्ण विषय पर 2000 पृष्ठों की पुस्तक में बहुत ही संक्षिप्त रूप से विवेचना की जा सकती है, पर लेखक ने कोई ज्ञातव्य बात छोड़ी नहीं। जो लोग थोड़े समय में मध्यकालीन भारत से परिचय प्राप्त करना चाहते हों, उनके लिए इससे उत्तम पुस्तक शायद ही मिले, क्योंकि अब तक जितनी खोज हो सकी है, वह प्राय: इन व्याख्यानों में समाविष्ट हो गई है। पुस्तक बहुत ही मोटे कागज पर छपी है, छपाई अत्यन्त सुंदर और जिल्द मजबूत है। आकार रॉयल, कई हाफटोन चित्र भी हैं।

एकेडेमी के विद्वानों को इस भाँति सम्मानित और पुरस्कृत करके प्रान्त की दोनों भाषाओं के साथ बड़ा उपकार किया।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', फरवरी, 1929 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का आप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

शैतान की लकड़ी

लेखक : बैजनाथ महोदय, सस्ता साहित्य मंडल, अजमेर, पृष्ठ-संख्या 366, मूल्य : चौदह आना।

लेखक ने पुस्तक को चार भागों में विभक्त किया है–(1) शराब, (2) अफीम (3)

तमाखू, चाय, कॉफी, भांग इत्यादि और (4) व्यभिचार। इन चारों दुर्व्यसनों में पड़कर हमारी मिट्टी कैसी पलीद होती है, यही इस पुस्तक में बड़े मनोरंजक ढंग से दिखाया गया है। चित्रों से पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गयी है। लिखने की शैली ऐसी है कि पढ़ने वाले के दिल पर गहरा असर होता है।

[पुस्तक-समीक्षा। 'माधुरी', फरवरी, 1929 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

गोपालकृष्ण गोखले

लेखक : टी॰ के॰ शाहनी, एम॰ ए॰, प्रकाशक : मनिलाल एण्ड संस, 392, कालबादेवी रोड, बम्बई 2, मूल्य : ढाई रुपया : पृष्ठ-संख्या 388।

स्वर्गीय मि॰ गोखले का भारतीय नेताओं में कितना ऊंचा स्थान है, हम सभी जानते हैं। इस पुस्तक में आपका चरित्र बड़ी खोज के साथ लिखा गया है। मि॰ गोखले के स्वर्गवास के बाद उनके जीवन पर सबसे अच्छा निबंध लिखने के लिए बंबई के एक सज्जन ने इनाम की घोषणा की थी। वह इनाम इसी निबंध पर दिया गया था। पुस्तक अंगरेज़ी में है। भाषा सुबोध है और विषय का संपादन बड़ी खूबी से किया गया है। जहां ज़रूरत पड़ी है, लेखक ने आलोचना भी की है और दोषों को गुण सिद्ध करने की विफल चेष्टा नहीं की। चरित्र की महानता उसके निर्दोष होने में नहीं, बल्कि इसमें है कि उसने उन दोषों पर विजय कैसे पायी। लेखक ने इस नुक़्ते पर ध्यान देकर यह निबंध लिखा है।

[पुस्तक-समीक्षा। 'माधुरी', फरवरी, 1930 में प्रकाशित 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

घर की बात

लेखक : श्री पं॰ ज्योतिशरण रतूड़ी, अभय प्रेस, देहरादून, मूल्य : आठ आना, पृष्ठ-संख्या 118।

पुस्तक में तीन प्रकरण हैं—शारीरिक, धार्मिक, आर्थिक। तीनों प्रकरणों में उपयोगी उपदेश दिये गये हैं। पुस्तक वार्ता-रूप में लिखी गयी है। भाषा विषय के अनुकूल ही है। विषयों की व्याख्या रोचक रीति से की गयी है। पुस्तक बड़े काम की है और पढ़ने वालों को उससे बहुत लाभ होगा, साथ ही वाद-विवाद का भी आनंद आयेगा।

[पुस्तक-समीक्षा। 'माधुरी', फरवरी, 1930 में प्रकाशित। प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

शिक्षा निबंधावली

लेखक: बाबू दामोदर सहाय सिंहजी, एल० टी०, कवि किंकर, प्रकाशक: ग्रंथमाला कार्यालय, बांकीपुर मूल्य: दस आना, पृष्ठ-संख्या 83।

शिक्षा कितने महत्त्व का विषय है कहने की जरूरत नहीं। कवि-किंकर जी ने इन निबंधों में शिक्षा के कई उपयोगी अंगों की आलोचना की है, जैसे 'शिक्षण-काल में मनोविज्ञान का स्थान', 'घराऊ और स्कूली शिक्षा', 'दंड और पारितोषिक' आदि। निबंध विचारपूर्ण हैं और हिंदुस्तानी परिस्थिति को ध्यान में रखकर लिखे गये हैं।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', फरवरी, 1930 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 1 में संकलित।]

समुद्र पर विजय

लेखक: श्री जगपति चतुर्वेदी, हिंदीभूषण, विशारद, प्रकाशक: रायसाहब रामदयाल अगरवाला प्रयाग मूल्य: एक रुपया।

समुद्र पर मनुष्य ने किस तरह विजय पायी, वर्तमान पोतों का कैसे विकास हुआ, समुद्री तार, प्रकाश पोत आदि कैसे बने, इन विषयों की कहानी लिखी गयी है। पुस्तक खूब मनोरंजक और साहित्य में एक नये विषय की वृद्धि करती है। यह पुस्तक बालकों के लिए लिखी गयी है, इसलिए भाषा और सरस होती तो अच्छा होता। 'जहाज़' के बदले 'जलयान', 'नये जमाने' के लिए 'अर्वाचीन काल' लिखना ख़्वाहमख़्वाह भाषा को दुर्बोध बना देता है।

[पुस्तक-समीक्षा। 'माधुरी', फरवरी, 1930 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 1 में संकलित।]

कंकाल

लेखक : जयशंकर 'प्रसाद'।

अपनी रचनाओं के अत्यंत सुंदर, फड़कते हुए नाम रखने की प्रथा प्राचीन काल से चली आती है। किताब तो है मड़ियल, पर नाम इतना सुंदर, मानो साहित्य का रत्न ही है। 'प्रसाद' जी ने इतना सुंदर उपन्यास लिखकर इतना वीभत्स नाम रख दिया, कि पहले पाठक को एक प्रकार की अरुचि हो जाती है। वह समझने लगता है, कि इसमें कोई पैशाचिक रहस्य होगा, या कोई हत्या-कांड, लेकिन दिल पर जब्र करके जब वह पुस्तक उठाता है और एक परिच्छेद पढ़ जाता है, तब उसे मालूम होता है, कि यह तो कोई ऊंचे दर्जे की चीज़ है। पुस्तक समाप्त कर लेने पर उसके सामने कंकाल का भीषण दृश्य नहीं, सौरभ से भरे हुए रमणीक उद्यान का दृश्य आता है, जो हृदय पर न मिटने वाला असर छोड़ जाता है। यह 'प्रसाद' जी का पहला ही उपन्यास है, पर आज हिंदी

में बहुत कम ऐसे उपन्यास हैं, जो इसके सामने रक्खे जा सकें। मुझे अब तक आप से यह शिकायत थी, कि आप क्यों प्राचीन वैभव का राग अलापते हैं, ऐसी चीजें क्यों नहीं लिखते, जिनमें वर्तमान समस्याओं और गुत्थियों को सुलझाया गया हो, न-जाने क्यों मेरी यह धारणा हो गयी है, कि हम आज से दो हजार वर्ष पूर्व की बातों और समस्याओं का चित्रण सफलता के साथ नहीं कर सकते। मुझे यह असम्भव-सा मालूम होता है। हमको उस ज़माने के रहन-सहन, आचार-विचार का इतना अल्पज्ञान है, कि क़दम-क़दम पर ठोकरें खाने की संभावना रहती है। हमको बहुत कुछ कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है और कल्पना यथार्थ का रूप खड़ा करने में बहुधा असफल होती है। शायद यह मेरी प्रेरणा का फल है, कि 'प्रसाद' जी ने इस उपन्यास में समकालीन सामाजिक समस्याओं को हल करने की चेष्टा की है और खूब की है। मेरी पहली शिकायत पर कुछ लोगों ने मुझे खूब आड़े हाथों लिया था, पर अब मुझे वह कठोर बातें बहुत प्रिय लग रही हैं। अगर ऐसी ही दस-पांच लताड़ों के बाद ऐसी सुंदर वस्तु निकल आये, तो मैं आज भी उनको सहन करने को तैयार हूं। इस उपन्यास को निकले चार-पांच महीने हो गये। मैं चाहता था, कि कोई मुझसे योग्यतर सज्जन इसकी आलोचना करें। मैंने खुद कई मित्रों से- जिनकी आलोचना-शक्ति मुझसे कहीं बढ़ी हुई है--इसकी आलोचना करने की दर्खास्त की पर सभी वादे करके टाल गये, इसलिए आज मुझे इस कर्त्तव्य का पालन खुद करना पड़ा। मैं सच्चे हृदय से कहता हूं कि मुझे इस रचना में बड़ा आनन्द मिला। नाटक की कवितामयी शैली में यद्यपि उतनी सजीवता और मरदानापन नहीं, पर उसकी कसर सौंदर्य और कोमलता ने पूरी कर दी है। दृश्यों के चित्रण में नवीनता है, वैचित्र्य है और हृदय है। चरित्रों में गहराई है, जान है और सत्य है। सभाषणों में विचार है, तथ्य है और चुभनेवाले वाक्य हैं। मंगल का हिन्दू-आदर्शवाद, विजय का दार्शनिक-जड़वाद, स्वामीजी का बगुलाभगतपन, किशोरी की पाखडमयी धार्मिकता और निर्लज्जय विलासिता, सभी पाठक को मुग्ध कर देते हैं। घटी का चरित्र बहुत ही सुंदर हुआ है। उसने एक दीपक की भांति अपने प्रकाश से इस रचना को उज्ज्वल कर दिया है। अल्हड़पन के साथ जीवन पर ऐसी तात्विक दृष्टि, यद्यपि पढ़ने में कुछ अस्वाभाविक मालूम होती है, पर यथार्थ में सत्य है। विरोधों का मेल जीवन का गूढ़ रहस्य है। वह भी सती है, यमुना भी सती है, पर दोनों में कितना सूक्ष्म अंतर है। एक कठोर है, दूसरी कोमल। एक छाछ को गर्म दूध समझनेवाली, दूसरी विष भी ग्रहण करने को तैयार।

मुझे विश्वास है कि 'प्रसाद' जी ऐसे और भी रत्न उत्पन्न करेंगे और हिंदी भाषा उनका यथोचित सम्मान करेगी।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', नवंबर, 1930 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

नागरी-लिपि-पुस्तक

रचयिता : पं॰ गौरीशंकर भट्ट। प्रकाशक : अक्षर-विज्ञान कार्यालय, मसवानपुर, जि॰ कानपुर।

इस समय हिंदी के लिपि-कला के ज्ञाताओं और शिक्षकों में पं॰ गौरीशंकर भट्ट

से बढ़कर दूसरा नहीं। उन्होंने हिंदी सुलेख-प्रचार को अपने जीवन का मुख्य धर्म बना लिया है और हमेशा इसी धुन में मस्त रहते हैं। जिन्होंने उनके लिपि-कौशल के नमूने देखे हैं, मुक्त कंठ से उनकी प्रशंसा की है। हिंदी के ऐसे सुंदर मोनोग्राम हमने और कहीं नहीं देखे। पर हमारे स्कूलों में आपकी लिपि-पुस्तकों का अब तक प्रवेश नहीं हुआ। इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि शिक्षा-विभाग के अधिकारियों तक आपकी रसाई नहीं, पर एक कारण यह भी है कि शिक्षा-विभाग ने जिस आदर्श को सामने रखकर लिपि-पुस्तकें बनवाई हैं, उन पर भट्टजी की लिपि-पुस्तकें पूरी नहीं उतरतीं। उदाहरण-यह एक साधारण नियम है कि बालकों से जो कुछ लिखाया जाय, उसका भाव वह समझ सकते हों, क्योंकि बिना समझे किसी पंक्ति की नक़ल करना शुष्क और मनोरंजनहीन कार्य है। हम जहां शिक्षा-विभाग के अधिकारियों से अनुरोध करते हैं कि भट्टजी के परिश्रम की क़द्र करें, वहां भट्टजी से भी अनुरोध करते हैं कि वह अपनी लिपि-पुस्तकों में शिक्षा-विभाग द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों का समावेश करें। आपने हाल में 'लिपि-समीक्षा' नामक एक ट्रैक्ट प्रकाशित करके प्रचलित लिपि-पुस्तकों को लिपि-विज्ञान के नियमों की कसौटी पर कसा है और प्राय: सभी को दूषित पाया है, किंतु समीक्षा में जब अर्थ-सिद्धि घुस जाती है तब समीक्षा का महत्त्व बहुत नष्ट हो जाता है। अच्छा हो, उक्त महोदय दूसरों के दोष दिखाने की अपेक्षा अपनी पुस्तकों के गुण दिखाने ही तक अपने को परिमित रखें। उनकी पुस्तकों में ही इतने गुण हैं कि दूसरों के दोष उछालने की ज़रूरत नहीं।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी' फरवरी, 1931 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 1 में संकलित।]

परख

लेखक : श्री जैनेन्द्र कुमार जैन।

जैनेन्द्र कुमार की रचनाएं थोड़े ही दिनों से प्रकाशित होने लगी हैं। कुछ कहानियां 'त्याग भूमि' में निकलीं, कुछ 'माधुरी' में। दो-चार और इधर-उधर निकली होंगी। और 'परख' तो उनका पहला उपन्यास है, पर जो कुछ उन्होंने लिखा है, बहुत ही सुंदर लिखा है। भाषा, चरित्र, चुटकियां, सभी अपने ढंग की निराली हैं। उनमें साधारण-सी बात को भी कुछ इस ढंग से कहने की शक्ति है, जो तुरंत आकर्षित करती है। उनकी भाषा में एक ख़ास लोच, एक ख़ास अंदाज़ है। इसके साथ ही वह उन रियलिस्टों में नहीं है, जिन्हें नग्न चित्रों में ही आनंद आता है। 'सुंदर' को वह कभी हाथ से नहीं जाने देते। 'परख' है तो छोटी किताब, पर हिंदी में एक चीज़ है। भाषा इतनी सजीव, शैली इतनी आकर्षक, चरित्र इतना मार्मिक कि चित्त मुग्ध हो जाता है, मगर यह नयी विवाह प्रथा हमारी समझ में नहीं आयी। यदि कट्टो और बिहारी को सेवाव्रत ही धारण करना था-और ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन में वह फिर न मिले होंगे-तो विवाह बंधन की क्या ज़रूरत थी? विवाह वासना की चीज़ न हो, संतान पैदा करने की चीज़ न हो, पर संगति की चीज़ तो है ही, ऐसी गाड़ी तो है ही जिसके दो पहिये होते हैं। यदि स्त्री और पुरुष को

एक दूसरे के प्रेम, सहारे और सहानुभूति की ज़रूरत न हो, तो विवाह का नाम ही कौन ले। कट्टो का चरित्र एक सरल युवती, विधवा का चरित्र है, जिसमें विराग भी है और तृष्णा भी, अभिलाषा भी है और निराशा भी। विराग कितना व्यंजित, तृष्णा कितनी दबी हुई। बिहारी में जवानी की उमंग है। वह उमंग का सजीव पुतला है। चिंता, पसोपेश और परिणाम वह कभी सोचता ही नहीं। खाता है तो उमंग से, बोलता है तो उमंग से, प्रेम करता है तो उमंग से और संन्यास लेता है, तो वह भी उमंग म। सत्यप्रकाश का पतन–हम उसे पतन ही कहेंगे--एक मनस्वी युवक का पतन है, जो निन्यानवे के फेर में पड़ जाता है। हमें विश्वास है इस रचना का आदर होगा। हम जैनेन्द्र को इस पर बधाई देते हैं और कथा प्रेमियों से आग्रह करते हैं, कि वह इसे अवश्य पढ़ें।

जैनेन्द्र जी से हमारी थोड़ी देर की मुलाकात है। सीधे-सादे खद्दरधारी आदमी हैं, हृदय में देश-भक्ति कूट-कूट कर भरा हुआ, लंबे लंबे संवारे हुए केश हैं, न आंखों पर सुनहरी ऐनक, न कोई टीम-टाम। चुपचाप काम करनेवाले आदमियों में हैं, पूरे सत्याग्रही। आजकल गुजरात स्पेशल जेल में जेल जीवन पर कोई उपन्यास लिखने की सामग्री जमा कर रहे हैं।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', फरवरी, 1931 मे प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

शराबी

लेखक : श्री पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'।

उग्र जी की भाषा में प्रवाह है, ज़ोर है और स्फूर्ति है। हां, कहीं-कहीं किसी बात को नवीन ढंग से कहने के लिए वह मुहावरे का ख़याल नहीं करते। मानिक इस कथा का नायक है और जवाहर नायिका। दोनों ही शराबियों के बच्चे हैं। जवाहर का बाप उसे मारपोट कर घर से निकाल देता है। वह कुंदन वेश्या के झांसे में आकर वेश्या हो जाती है। मानिक उससे विवाह करके उसका उद्धार करता है। कथानक का क्रम कुछ ऐसा रखा गया है कि समझने में कठिनाई पड़ती है। इसका भी विचार नहीं किया गया कि उपन्यास में किन बातों के विस्तार की ज़रूरत है और कौन-सी बात दो-चार वाक्यों में ही समाप्त कर देनी चाहिए। शराबियों के चरित्र में अतिशयोक्ति का भ्रम हो सकता है, मगर यह नहीं कहा जा सकता, कि ऐसे लोग 'जीते-जागते' मिल नहीं सकते। उग्र जी पक्के यथार्थवादी हैं और इस रचना में भी उनकी यथार्थवादिता रुचि या कुरुचि की परवाह न करते हुए अपने असली रूप में दिखायी देती है। पारसनाथ का चरित्र एक शराबी की सच्ची तस्वीर है। वह स्वभाव का उग्र या नीच न होने पर भी नशे में कितना बड़ा पशु बन जाता है और फिर नशा उतरने पर उसे कितना पछतावा और ग्लानि होती है और नशे में किसी बात को ले भागने की कितनी प्रवृत्ति होती है, ये एक कुशल चित्रकार की कला के साथ दिखाए गए हैं। मानिक का चरित्र भी एक विलासी युवक का चरित्र है, जो जवानी की उठती हुई उमंग में हीरा से प्रेम करता है और जब हीरा का दूसरे पुरुष से विवाह हो जाता है तो पढ़ना-लिखना छोड़कर आवारा हो जाता है और जब उसका शराबी बाप

मर जाता है तो वह खुद इस दुर्व्यसन में पड़कर अपनी मनोव्यथा भूल जाता है और अंत में जवाहर से विवाह करके सुखी होता है। उसी जवाहर के घर में हीरा के पति की हत्या हो जाती है और वह नदी में डूब कर आत्मघात् कर लेती है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', फरवरी 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

सपना

लेखक : स्वामी आनंद भिक्षु सरस्वती।

स्वामी जी इसके पहले 'भावना' लिखकर साहित्य में परिचित हो चुके हैं और जिन्होंने भावना पढ़ी है, वह जानते हैं, स्वामी जी कैसे साहित्य की सृष्टि कर रहे हैं। 'सपना' में उन्होंने अपनी विदुषी धर्म संगिनी की स्मृति वेदी पर अपने हृदय के फूलों की वर्षा की है। आपने भूमिका में लिखा है–

'मैं सोचता हूं, जो सपने की तरह घट गया है और सपने की तरह ही फिर उजड़ गया उसी की बात मैं लोगों को क्या सुनाता फिरूं? खुद भी क्यों उसकी स्मृति पोस-पोस कर कठिन बनाऊं? यह भी मैं जानता हूं, कि स्वप्न मिटने के लिए होता है और जो लहलहाता है वह कभी उजड़े नहीं, तो उसकी सुंदरता भी नष्ट हो जाए। जीवन इतना प्रिय और सरस मालूम होता है। यही कारण है कि उनमें इतना प्रबल आकर्षण है। मैं स्पष्ट अनुभव करता हूं कि जिस निधि को मैं खो बैठा हूं, यदि उसे खोने न पाता, तो उसकी अमूल्यता को पहचान भी न सकता। मैं उसे खोकर ही तो पा सका हूं। अब रहा यह, कि मैं उसे खोने–लुट जाने–की पीर को गा-गाकर क्यों सहलाता हूं इसका मज़ा न पूछिए । इसे हृदय वाले ही जान सकते हैं।'

स्वामी जी की भाषा में धर्म को स्पर्श करने की प्रबल शक्ति है, उसमें संगीत है, कोमलता और आवेश है। स्मृतियां इतनी पवित्र, इतनी मनोहर हैं, कि दिल पर हमेशा के लिए असर छोड़ जाती हैं। जी चाहता है, कि उसके उद्धरणों से पाठकों का मनोरंजक करूं। एक-एक पंक्ति में आपकी प्रसाद-सी भरी हुई, सच्ची भक्ति में डूबी हुई, कविता का आनंद आएगा। शायद यही भक्ति थी, जिसने और विस्तृत होकर मीरा की वाणी को अलंकृत किया था। आदि में डाक्टर श्रीमती कुंतल कुमारी देवी का एक अंग्रेजी कथन है, जो पढ़ने और मनन करने योग्य है। हम इस पुस्तक को हिंदी का उज्ज्वल रत्न समझते हैं और आशा करते हैं कि उससे कितने ही वियोगी आत्माओं का कल्याण होगा।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', फरवरी, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग', भाग-3 में संकलित।]

कुमुदिनी

लेखक, श्री रवींद्रनाथ ठाकुर, अनुवादक श्री धन्यकुमार जैन।

विश्वकवि श्री रवींद्रनाथ जी का यह एक नया उपन्यास है। पहले 'विशाल भारत' में क्रमशः निकलता रहा। अब पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ है। मधुसूदन, जो कथा नायक

है–बड़ा ही कृपण, पैसे पर जान देनेवाला, कुलाभिमानी और धन को संसार की सर्वोत्तम निधि मानने वाला, क्रूर पुरुष है। कुमुद उदार, स्नेहमयी, आत्माभिमानिनी, सती, पर दुःख से विकल हो जाने वाली, सहानुभूति और कोमलता की देवी–नायिका है। ऐसे अयोग्य जोड़े का मेल न सुखकर हो सकता है, न हुआ है। ऐसे पुरुष जहां होंगे वहां यही बाधाएं खड़ी होंगी। वह पत्नी को भी अपने जीवन विधान की कल का एक पुर्ज़ा समझता है और चाहता है, कि वह भी अन्य पुर्ज़ों की भांति उसके इशारों पर नाचे और जब उसे इस उद्योग में सफलता नहीं होती, तो वह उत्तरोत्तर कठोर और उद्विग्न होता जाता है। वैमनस्य का अंकुर तो दोनों कुलों में पहले ही से मौजूद है। मधुसूदन और विप्रदास दो पृथक संसारों के निवासी हैं। मधुसूदन विप्रदास से जलता है और कुमुदिनी का अपने प्यारे भाई को श्रद्धा और स्नेह की दृष्टि से देखना उसे और भी बावला कर देता है। वह दम्भ, ईर्ष्या और संकीर्णता की मानों सदेह मूर्ति है। ऐसे पति भी होते हैं, हमें तो इसे स्वीकार करने ही में संकोच होता है। पर संसार में सभी तरह के लोग होते हैं और ऐसे पुरुषों का होना भी संभव है। हां, हमारा विश्वास है कि ऐसे पुरुष संसार में अधिक होते तो संसार नरक-तुल्य हो जाता और सभी घरों में वही कलह नज़र आता जो इस घर में हुआ। कुमुदिनी जितनी ही देवी है, उतना ही मधुसूदन पिशाच है। पहली ही रात को जब कुमुदिनी को मूर्च्छा आ जाती है तो मधुसूदन कहता है–मायके से मूर्च्छा का अभ्यास कर आई हो क्या? पर हमारे यहां इसका रिवाज नहीं। तुम्हें यह अपनी नूर नगरी चाल छोड़नी होगी।

फिर अंगूठी की बात आती है। कुमुद के पास विप्रदास की दी हुई एक फीरोज़े की अंगूठी है। मधुसूदन नहीं चाहता कि भाई की दी हुई वस्तु को कुमुद इतनी प्रिय समझे। मधुसूदन वह अंगूठी उड़ा लेता है और कहता है–हां, मैंने ली है। मैंने तो कह दिया था, उसे तुम नहीं रख सकतीं।

कुमुद कहती है–तुम्हारी चीज़ तुम रख सकोगे और अपनी चीज़ मैं नहीं रख सकूंगी?

'इस घर में तुम्हारी अलग समझी जानेवाली कोई चीज़ नहीं है।'

'कोई चीज़ नहीं? तो यह रहा तुम्हारा घर, सम्हालो।'

सारांश यह कि मधुसूदन के चरित्र में कहीं कोमलता नहीं, कहीं सज्जनता नहीं। वही कृपणता और अभिमान और कुटिल सांसारिकता का घृणित अवतार है। आश्चर्य है, कुमुद की उस अनिन्द्य रूप-माधुरी का उस पर ज़रा भी असर नहीं पड़ता। जहां बड़े-बड़े सम्राटों के सिर भी झुक जाते हैं, वहां भी वह ज्यों का त्यों बना रहता है। केवल दो-तीन बार ही उसका दिल पसीजता है, पर वह भी जब उसे धोखे से बताया जाता है, कि कुमुद लक्ष्मी के ग्रह लेकर आई है। उसका मन रूप से चंचल होता है जरूर, मगर उसमें कामोद्दीपन के सिवा और कुछ नहीं है। जितनी बार मधुसूदन उससे प्रेम दिखाता है, कुमुद के हृदय में खींच-तान मचती है। पति का क्रोध तो उसकी समझ में आता है, उसका प्रेम समझ में नहीं आता। उस प्रेम में कपट है, स्वार्थ है, घमंड है, आत्मसमर्पण नहीं।

कुमुदिनी के मनोभावों का अत्यंत सजीव चित्रण स्वयं उसी के शब्दों में हुआ है। मोती की मां कुमुद से पूछती है–तुम क्या समझती हो कि जेठ जी से प्रेम कर

ही नहीं सकतीं?

'कर सकती थी। हृदय में एक ऐसी चीज़ भर लाई थी, कि जिससे सब बातें अपने पसंद कर लेना मेरे लिए बहुत आसान था। शुरू ही में तुम्हारे जेठ जी ने इसे तोड़कर चकनाचूर कर डाला है। आज सब चीजें कठोर होकर मुझे सता रही हैं....मैं जानती हूं, मैं जो पति को श्रद्धा के साथ आत्म समर्पण नहीं कर सकी हूं, वह मेरे लिए महापाप है, लेकिन उस पाप से भी मुझे उतना डर नहीं, जितना श्रद्धाहीन आत्म-समर्पण की ग्लानि की याद करके हो आती है।'

जरा देर चुप रहकर कुमुद ने फिर कहा—तुम भाग्यवान हो बहन, न जाने तुमने कितना पुण्य किया होगा, तभी तो तुम देवर जी को संपूर्ण हृदय से प्रेम कर सकती हो। पहले मैं समझती थी, कि प्रेम करना सहज है—सभी स्त्रियां सभी पतियों से अपने आप ही प्रेम करती होंगी। आज देख रही हूं कि प्रेम कर सकना ही सबसे दुर्लभ है, वह तो जन्म-जन्मांतर की तपस्या से ही हो सकता है। अच्छा बहन, सच-सच कहना, सभी स्त्रियां क्या पति को प्रेम करती हैं?

मोती की मां ज़रा हंसकर बोली—बिना प्रेम के भी अच्छी स्त्री बना जा सकता है, नहीं तो संसार चलेगा कैसे?

'यही दिलासा देती रहो मुझे। और कुछ बन सकूं, चाहे नहीं, कम से कम अच्छी स्त्री तो बन सकूं। पुण्य इसी में ज्यादा है, कठिन तपस्या तो वही है।'

'बाहर से उसमें बाधाएं पड़ती हैं।'

'अंतर से उन बाधाओं को दूर किया जा सकता है। मैं कर सकूंगी, हार न मानूंगी।'

यह है एक सती नारी का शुद्ध, दृढ़ संकल्प। पति की सारी बुराइयों को भूलकर भी, वह अच्छी स्त्री बनने ही में अपने जीवन की सार्थकता समझती है।

पुस्तक में कितने ही स्थल इतने मर्मस्पर्शी हैं कि चित्त मुग्ध हो जाता है। और भाव-व्यंजना का तो पूछना ही क्या। हमारे विचार में यदि कवि ने मधुसूदन का चरित्र इतना दुर्बल न दिखाकर इससे कुछ और सुंदर दिखाया होता, तो जीवन की ट्रेजेडी और भी मार्मिक हो जाती। मधुसूदन को तो हम एक असाधारण लोभी व्यक्ति समझकर उससे घृणा करने लगते हैं और कुमुदिनी की विडंबनाओं का महत्त्व उससे बहुत कुछ कम हो जाता है, पर इसमें तो कोई दो रायें हो ही नहीं सकतीं कि यह उपन्यास बड़े ऊंचे दरजे का है और धन्य कुमार जी ने अपनी प्रांजल भाषा में इसका अनुवाद करके हिंदी भाषा का उपकार किया है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', मार्च, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग', भाग-3 में संकलित।]

मेरी ईरान यात्रा

लेखक : महेश प्रसाद मौलवी, आलिम फाज़िल।

जो लोग अंग्रेज़ी के विद्वान् हैं, वे इंग्लैंड की सैर करने जाते हैं। महेश प्रसाद जी अरबी-फारसी के आचार्य हैं, उनके लिए ईरान से ज्यादा प्रेम और किस देश से हो सकता था। योरोप की यात्रा बहुत सुसाध्य है। ईरान समीप होते हुए भी दूर है, क्योंकि वहां यात्रियों

के लिए कोई सुविधा नहीं। शायद यह पहला ही यात्रा-वृत्तांत है, जो हिंदी में निकला है। यह उस दिलचस्पी और यात्रा-प्रेम का प्रमाण है, जो भारतवासियों में अब जागरित होने लगा है। पुस्तक ग्यारह खंडों में विभाजित है। पहले खंड में ईरान का संक्षिप्त वृत्तांत है और हमारे विचार से ज़रूरत से ज्यादा संक्षिप्त है। इससे ज्यादा विस्तार तो साधारण भूगोल की पुस्तकों में मिलता है। दूसरे खंडों में, पासपोर्ट कैसे मिलता है और उसकी क्या आवश्यकता है, यह बतलाया गया है। मेरे विचार में इसे पहला खंड होना चाहिए था। बाकी खंडों में बनारस से कराची आने, कराची से जहाज पर बैठने और भिन्न-भिन्न ईरानी स्थानों का वणन है। यात्रा बड़ी मनोरंजक है और आने वाले यात्रियों के लिए बड़े काम की चीज़ है। हां, हम इतना कहेंगे कि यात्रा की भाषा रूखी है और कहीं वह सजीवता नहीं है, जो यात्रा-वृत्तांतों का मुख्य गुण है। पुस्तक में कई ईरानी स्थानों और नगरों के चित्र हैं। ईरान का साधारण परिचय, जो हमें मिलता है, वह यह है कि यहां के लोग बड़े अभ्यागत-सेवी, उदार और सज्जन हैं। जीवन अभी महंगा नहीं होने पाया है। सड़कें खराब हैं, रेलें कम। मोटर लारियों का किराया बहुत ज्यादा है। जलवायु स्वास्थ्यवर्द्धक, मौसम सुहावना और दृश्य मनोहर हैं।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', मार्च, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

आर्य देवकुल का इतिहास

लेखक : कु॰ दीवान प्रतिपालसिंह, प्रकाशक : कुंवर पृथ्वीसिंह, छत्रपुर (बुन्देलदखंड़), मूल्य : दो रुपये, पृष्ठ सं॰ 225।

दीवान साहब इतिहास के बड़े प्रेमी हैं। आपने बुंदेलखंड का एक विस्तृत इतिहास 14,000 पृष्ठों में लिखा है, जिसका एक भाग प्रकाशित हो चुका है। इस पुस्तक में आदिकाल से विक्रमशकारि तक का पौराणिक विमर्श दिखाया गया है। देव, दानव, मन्वंतर, कल्प, अवतार आदि की बड़ी प्रामाणिक रीति से विवेचना की गई है। पुस्तक में नौ अध्याय हैं। पहले अध्याय में प्रस्तर-काल के मूल-अनार्यों से लेकर आर्यों के आने तक का विवेचन किया गया है। दूसरे अध्याय में आर्य-साहित्य का दिग्दर्शन कराया गया है। चौथे अध्याय में आर्य-देव-वंशावली दी गई है। इसमें 7000 बी॰ सी॰ से लेकर 400 बी॰ सी॰ तक के आर्य-कुल का क्रमबद्ध समय-निरूपण है। बीच में कोई कड़ी नहीं टूटी। पांचवें अध्याय में पौराणिक समय का वर्णन है। इस जटिल विषय को लेखक ने जिस प्रामाणिक ढंग से सुलझाया है, वह सराहनीय है। सातवें अध्याय में सिद्ध किया गया है कि भारत में आर्यों के मूल कुल का नाम देव था। असुर, सुर, नाग, दैत्य, दानव, गरुड़, आदित्य सूर्य, चंद्र–ये सब देव-कुल की ही शाखाएं थीं। पुस्तक की सभी बातों से हम सहमत हों या न हों, पर लेखक ने खोज बहुत की है और पौराणिक समय पर जो अंधकार पड़ा हुआ था, उसे बहुत-कुछ मिटा दिया है। कितने आश्चर्य की बात है कि दैत्य और दानव और गरुड़, जिन्हें हम मनुष्य कहने में भी संकोच करते हैं, हमारे ही भाई-बंधु थे। एक ग्राम में बैठे कर ऐसे-ऐसे गूढ़ ऐतिहासिक तत्त्वों

को खोज निकालना सरल काम नहीं है। हमें आशा है, इतिहास-प्रेमी इस पुस्तक का समुचित आदर करेंगे।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', जुलाई, 1931 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 मे संकलित।]

उर्दू के हिंदू शुअरा

लेखक: ख़्वाजा अब्दुल रऊफ हशरत लखनवी।

ख़्वाजा साहब उर्दू के नामी लेखक हैं। आपने इस पुस्तक में उन हिंदू-कवियों के हाल और उनकी कविता के नमूने दिए हैं, जिन्होंने उर्दू-साहित्य की सेवा की है। इस पुस्तक को पढ़कर यह आक्षेप दूर हो जाता है कि हिंदुओं ने उर्दू के लिए कुछ नहीं किया। अगर हाल ज़्यादा विस्तार से लिखे जाते और ख्वामख़्वाहा संख्या बढ़ाने के लिए नाम के शायरों को न शामिल किया जाता, तो पुस्तक का महत्त्व बढ़ जाता। फिर भी पुस्तक पढ़ने योग्य है और उर्दू-साहित्य की एक कमी को कुछ-न-कुछ पूरा करती है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', जुलाई, 1931 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 1 म संकलित।]

बिपता

अनुवादक : श्रीमती उमा नेहरू, प्रकाशक : हिंदुस्तान प्रेस, प्रयाग, पृष्ठ सं० 204, मूल्य नहीं लिखा।

यह मेज़फ़ील्ड की 'ट्रैजिडी ऑफ़ नैन' नामक नाटक का हिंदी-रूपांतर है। ड्रामा बड़ा सुंदर है। इंग्लैंड के देहाती जीवन का एक नमूना है। ऐसे ड्रामों का अनुवाद करना कठिन है, पर लेखिका ने विषय को अपना लिया है। अगर अंग्रेज़ी नाम न होते, तो पता न चलता कि अंग्रेज़ी की बातचीत है या हमारे देहाती जीवन का नक़्शा। भाषा बहुत ही बामुहावरा, साफ़-सुथरी और समयानुकूल है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', जुलाई, 1931 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 मे संकलित।]

रूस की सैर

लेखक : पं० जवाहरलाल नेहरू, प्रकाशक : हिंदुस्तान प्रेस, प्रयाग, पृष्ठ सं० 206, मूल्य : सवा रुपया, सजिल्द सवा दो रुपये।

पंडित जवाहरलाल नेहरू दो वर्ष पहले रूस की यात्रा करने गए थे। वहां उन्होंने बोल्शेविक समाज-व्यवस्थाओं की खूब छानबीन की। अंग्रेज़ी लेखकों ने बोल्शेविस्टों के विषय में तरह-तरह के भ्रम फैला रक्खे थे। इस पुस्तक को पढ़कर सभी भ्रम दूर

हो जाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि बोल्शेविस्टों ने संसार में एक नयी व्यवस्था की सृष्टि की है और बाहर से देखने वालों को उनके विषय में भ्रम हो सकते हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनमें कोई दोष नहीं हैं, पर इतनी जल्द हम उनके कारनामों पर कोई फैसला नहीं दे सकते। हां, अनुमान से कहा जा सकता है कि परीक्षा सफल होगी। शिक्षा, रहन-सहन, भूमि-प्रबंध, सोवियत शासन-प्रणाली, विवाह आदि समस्याओं को वहां इस तरह हल किया गया है कि जीवन ज़्यादा सुखी और स्वाधीन हो गया है। अगर हमें शिकायत है, तो यही कि पुस्तक ज़्यादा विस्तार के साथ नहीं लिखी गई। भाषा सरल है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', जुलाई, 1931 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

मणिगोस्वामी

लेखक : श्री कृपानाथ मिश्र एम॰ ए॰।

यह [illegible]ओं के आकार का एक नाटक है, जो हरेक प्रकार से अपनी उत्तमता को प्रदर्शित करता है। इसका आकार पुस्तकों का नहीं, पत्रिकाओं का-सा है। हम यह नहीं कहते कि इस आकार कि पुस्तकें नहीं होतीं। बहुधा वृहद् ग्रंथों के मोटेपन को कम करने के लिए इस आकार में पुस्तकें छापी जाती हैं। पर यह केवल सत्तर पृष्टों का ग्रथ है। दूसरी नवीनता है, उसका समर्पण। लेखक ने यह रचना अपनी धर्मपत्नी जी को समर्पित की है। है भी अच्छा। दिया पहले घर में जलाकर तब मंदिर में जलाते हैं। तीसरी नवीनता है। साधारणत: पुस्तकों में एक भूमिका होती है। यहां तीन भूमिकाएं हैं। भूमिकाओं में भी नवीनता ठसाठस भरी हुई है। आपने बहुत सच कहा है कि 'हम नाटकों को केवल तमाशा समझते हैं, ज्ञानवृद्धि या भावोत्कर्ष का उपकरण नहीं।' लेकिन जब दूसरी भूमिका में आप कहते हैं-

'हमारे प्राचीन नाटककार समस्या पूर्ति करनेवाले भयभीत श्रमजीवी थे। उन्होंने कला में किसी भी आत्मजनित ब्रह्माण्ड की सृष्टि नहीं की। उन्होंने विश्व की घोर छाया में स्नान नहीं किया। उनके हाथ चतुर शिल्पी, कुम्हार के हाथ थे, कलाविद् या स्रष्टा या भगवान के हाथ नहीं।'-तो हम ज़रा चौंक पड़ते हैं और बड़ी सावधानी से भूमिका पढ़ने लगते हैं। निस्संदेह तीनों भूमिकाओं में साहित्यिक तत्त्व भरे पड़े हैं, जिन पर मनन करने की ज़रूरत है-

'नास्तिकता की वेदी पर ही कला का जन्म होता है।

'हमारे प्राचीन नाटककार कुछ पंडित थे, कुछ मिद्ध, पर थे सभी स्थूल। इनकी रचनाओं में कोई भी दारुण चीख नहीं सुन पड़ती, व्यथ-अभिभूत हृदय का परिचय नहीं मिलता।

'प्रत्येक मनुष्य का जीवन आत्म-प्रकाश का एक दीर्घ प्रवास है। पिता पुत्र को जन्म देता है, पुत्र में अपने आपको प्रकट करने के लिए।'

क्या 'शाकुंतला' में, दुष्यंत के दरबार में शकुंतला का रुदन और विलाप 'दारुण चीख' नहीं है? महाभारत क्या एक महान ट्रेजेडी नहीं है? घोर संग्राम के बाद जीवन के इस अंत से भी बढ़कर कोई 'दारुण चीख' हो सकती है?

इसमें संदेह नहीं, प्राचीन विद्वानों ने साहित्य के शिकंजों में कसकर मौलिकता को हानि पहुंचाई, पर यह शिकंजे साधारण श्रेणी के कलाविदों के लिए हैं स्रष्टा के लिए प्राचीन समय में भी कोई शिकंजा न था। शिकंजे बनते हैं स्रष्टाओं ही की कीर्तियों से।

खैर, अब मूल नाटक पर आइए। यह भी एक नवीन वस्तु है। हमको हरेक नवीन वस्तु से चिढ़ नहीं। उसी तरह हरेक नवीन वस्तु पर हम लट्टू भी नहीं होना चाहते। नाटक एकांकी है, जिसमें छः दृश्य हैं। मणिगोस्वामी एक ज़मींदार हैं। उनके दो लड़के और एक लड़की है। तीनों जवान हैं। मणि की स्त्री का देहांत हो चुका है। पहले दृश्य में मणि और घटक की बातचीत है। घटक दूसरे विवाह का अनुरोध करता है। गोस्वामी जी अनिच्छा रखते हुए भी अंत को राजी हो जाते हैं। मणि के भावों का परिवर्तन चतुर है। वह नहीं-नहीं करके भी हां करता है। मणि का बड़ा पुत्र वीरेन बड़ा जोशीला, देशभक्त है, जिसके विलायत जाने की तैयारी है। पर बाप के विवाह की खबर सुनते ही वह पागल हो जाता है और अंत को अपनी हत्या कर लेता है। मणि की पत्नी थोड़े ही दिनों में उसके रुपये-पैसे उड़ाकर उसे फटकार बताकर चली जाती है। इस मानसिक क्षोभ से वह भी अंत में पागल हो जाता है। मिश्र जी ने वास्तव में 'आत्मजनित ब्रह्माण्ड' की सृष्टि की है। वीरेन का चरित्र हेमलेट की छाया-सा मालूम होता है। मगर इस सृष्टि में वास्तविकता नहीं जाने पाई और नाटक का जो उद्देश्य है, वह भलीभांति पूरा होता है। उसमें गहराई है, प्रभाव है, व्यथा है।

अंत में हम यही कहेंगे कि 'कला की सृष्टि' के लिए नास्तिक होना आवश्यक नहीं। इसके लिए भावों के लिए गहराई और तीव्रता की हीं ज़रूरत है। संसार के व्यापारों से आस्तिक और नास्तिक दोनों ही प्रभावित हो सकते हैं।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', दिसंबर. 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

वातायन

लेखक : श्री जैनेंद्र कुमार।

यह जैनेंद्र कुमार जी की तेरह कहानियों का संग्रह है। जिसमें कई तो पत्रिकाओं में निकल चुकी हैं। कई इस संग्रह में पहली बार निकली हैं। जैनेंद्र जी की रचनाओं ने हिंदी उपन्यास और गल्प-साहित्य को गौरव प्रदान कर दिया है। इस संग्रह की 'फोटोग्राफी', 'चलित चित्त', 'भाभी' आदि कई कहानियां संसार के किसी साहित्य के लिए गर्व की वस्तु हो सकती हैं। ऐसा चुलचुलापन, ऐसी सजीवता, ऐसी सूक्तियां और कहीं कम देखने में आती हैं। बीच-बीच में ऐसे वाक्य रत्न बिखरे मिलते हैं, जो चित्त को मुग्ध कर देते हैं। दो-एक उदाहरण लीजिए—

'वह घर, जिसमें लक्खू के पुराने दिन, सुख के, विलास के, उल्लास के दिन,

अब भी ज़िन्दा था, जो लक्खू के समीप उसके बाप का, उसके मां के समीप उसके पति का, एक मात्र अवशेष-संस्मृति-चिह्न था, जो उनके जीवन में घुल-मिल गया था, जिसके कोनों में, भीतर बाहर चारों तरफ मानों अपनी शाखा-प्रशाखाएं फैलाकर उनका जीवन-वृक्ष फला-फूला था।

'सोचा यह तो दिल्ली नहीं है, दिल्ली का बाज़ार है, जहां अमीरी तन कर अपना प्रदर्शन करती है और जहां गरीबी अपने को, अमीरी बाने में छिपाए शर्माती चलती है। वह जगह तो देखी नहीं, जहां अमीरी सड़ती है और गरीबी सिकुड़ी पड़ी रहती है–वह गलियां, जो सपाट चिकनी नहीं हैं, जो संकरी और टेढ़ी-मेढ़ी हैं, जैसे शरीर की रक्त वाहिनी नसें।

'और देवर स्त्री के जीवन में आवश्यक वस्तु है। एक देवर चाहिए, जिसको अवसर, बनाकर, हंसी, खेल-कूद, और विनोद-प्रमोद की, स्त्री की चपल, सुलभ आमोदात्मक वृत्तियां खुल कर तृप्ति लाभ करें। पति के साथ स्त्री एक उत्तरदायिनी, भारवाहिनी, कर्त्तव्य और अधिकार की झंझटों के बीच प्रतिष्ठित, धीर, गंभीर, गृहस्थिन है।'

जैनेंद्र जी की चुटकियां मज़ेदार होती हैं। वह निशाने पर सीधे जा बैठती हैं, पर आघात नहीं पहुचातीं। बंदूक हवाई है या सुगंध की पिचकारी समझिए। उनकी कल्पना बहुधा ऐसी प्रत्यक्ष हो जाती है कि भावों का चित्र-सा सामने खींच जाता है। जिन्हें कहानी के साथ-साथ साहित्यिक रस का अस्वादन करना हो, उनके लिए इन गल्पों में बहुत मिलेगा, पर नमक कहीं ज्यादा नहीं, कड़ुवापन कहीं इतना नहीं, कि आंखों से पानी बहे, मिठास कहीं इतनी अत्यधिक नहीं कि जी ऊब जाए। बाल-चरित्र वर्णन करने में जैनेंद्र जी अपना सानी नहीं रखते। हमें विश्वास है, जनता इन रत्नों का आदर करेगी।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', सितंबर, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

आंधी

लेखक : श्रीयुत जयशंकर प्रसाद।

यह प्रसाद जी की ग्यारह कहानियों का सुंदर संग्रह है। प्राय. सभी कहानियां भिन्न-भिन्न पत्रों में छप चुकीं। आंधी, नारी-हृदय की एक दुखद कथा है, ऐसे हृदय की, जिसमें प्रेम अपने मौलिक और तेजस्वी रूप में प्रकट हुआ है। चारियारी बेचने वाली बलूचिन युवती की करुणा वेदना हृदय को हिला देती है। मुधआ एक शराबी के हृदय का चित्रण है। प्रसाद जी की सहृदयता शराबी में भी मनुष्य का दयालु हृदय देखती हैं, उसकी अवहेलना नहीं करती। यहां प्रत्येक कहानी पर कुछ लिखने की विशेष ज़रूरत नहीं। प्रसाद जी की भाषा में प्रवाह नहीं, वह दौड़ती हुई नहीं चलती, इसलिए हांफ कर शिथिल भी नहीं होती। वह शांत, गंभीर और रसमयी है। कहीं-कहीं तो उसकी सजीवता जैसे स्पंदित हो जाती है। देखिए, 'दासी' में तुर्कबाला का वर्णन कितना मार्मिक–'अल्हड़पन, चंचलता और हंसी से बनी हुई वह तुर्क-बाला सब हृदयों के स्नेह के समीप थी।'

एक रात्रि का वर्णन देखिए–

'बसंत-सी चांदनी रात अपनी मतवाली उज्ज्वलता में महल के मीनारों और गुंबजों तथा वृक्षों की छाया में लड़खड़ा रही है, जैसे सोना चाहती हो।'

इस संग्रह की सबसे अच्छी कहानी 'दासी' है जिसकी करुण रोचकता हृदय पर गहरा असर छोड़ जाती है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', नवंबर, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग', भाग-3 में संकलित।]

पेरिस का कुबड़ा

अनु॰ श्री दुर्गादत्त सिंह। मूल लेखक विक्टर ह्यूगो।

विक्टर ह्यूगो, फ्रांस का सबसे बड़ा साहित्य महारथी समझा जाता है। यह पुस्तक उसी की एक फ्रांसीसी पुस्तक का अनुवाद है। इस लेखक की एक पुस्तक का अनुवाद स्व॰ श्री गणेश शंकर विद्यार्थी जी ने किया था। उसके सबसे बड़े उपन्यास 'ला मिज़रेबुल' का अनुवाद वह पूरा कर गए हैं। 'पेरिस का कुबड़ा' वास्तव में 'नात्रीदेम का कुबड़ा' होना चाहिए था। शायद अनुवादक, महोदय ने 'नात्रीदेम' को अप्रसिद्ध समझकर पेरिस कर दिया। हमें यह देखकर हर्ष हुआ, कि यहां नामों और स्थानों को ज्यों का त्यों रहने दिया गया है। भारतीय बनाने का प्रयास नहीं किया गया है। इस तरह का प्रयास जब कभी किया गया है, असफल हुआ है। केवल नाम बदल देने से देशीयता या जातीयता नहीं बदल जाती। उसकी जड़ें इससे ज्यादा गहरी होती हैं। फिर हरेक वस्तु को भारतीय बनाने का प्रयास ही क्यों किया जाय। इसका अर्थ तो यही होता है, कि भारतीय पाठकों को संसार की और किसी जाति की कथाओं में कोई आनंद ही नहीं आता। हम इतने संकीर्ण बुद्धि हैं, कि हमारा ऐसा अनुमान नहीं। हम विदेशी फिल्मों को कितने चाव से देखते हैं। यहां तक कि शिक्षित समाज तो देशी फ़िल्मों के नाम से ही चिढ़ता है। अपने निकट की वस्तुओं से ज्यादा प्रभावित होना स्वाभाविक है, लेकिन अपने पुत्र को प्यार करके दूसरे बालकों से प्रेम किया जा सकता है। हम उस अनुवाद-शैली को रोकना चाहते हैं, जो हरेक मास्टरपीस को भारतीय बनाने के प्रयास में सार हीन बना देती है। नात्रीदेम जगत-प्रसिद्ध उपन्यास है। उसके विषय में कुछ लिखना व्यर्थ है। वह फ़िल्म में भी आ चुका है। अनुवाद जैसा सरस और सुबोध होना चाहिए था, वैसा नहीं जान पड़ता, हालांकि यह लिखते हुए हम उन कठिनाइयों की ओर से आंखें नहीं बंद कर सकते, जो हिंदी में बार-बार सामने आती रहती हैं। फिर कोई अनुवाद कितना ही सुंदर क्यों न हो, नकल नकल ही रहती है। फिर हम तो दुर्भाग्यवश सभी योरोपीय भाषाओं का अनुवाद अंग्रेजी अनुवादों से करते हैं। तो जो नक़ल, नक़ल की नक़ल हो उससे असल के रूप का क्या अंदाज़ा लगाया जा सकता है। फिर भी 'पेरिस का कुबड़ा' मनोरंजक और साहित्यिक आनंदप्रद है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', नवंबर, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग', भाग-3 में संकलित।]

कनौजिया समाज में भयानक अत्याचार

लेखक : श्री कांतिकृष्ण शुक्ल।

इस पुस्तक में दस कहानियां दी गई हैं, जिसमें कनौजिया समाज में होने वाले सामाजिक अत्याचारों का वर्णन किया गया है। समाज में लड़कियों की कितनी दुर्दशा होती है, विधवाओं का कितना अपमान किया जाता है, और स्वार्थी ससुर कैसी-कैसी लीलाएं रचते हैं, इसका खासा भंडाफोड़ किया गया है। कहानियां सच्ची जान पड़ती हैं, उनमें यथार्थता है, दर्द है, मन को स्पर्श करने की शक्ति है। हमें विश्वास है, लेखक को अपने प्रयत्न में विशेष सफलता होगी। मुश्किल यही है कि यह पुस्तक उन हाथों में पहुंचे कैसे? पहुंचे या न पहुंचे, पर इसमें तो कोई संदेह नहीं कि एक-एक कहानी में लेखक की सद्भावना टपक रही है। इस जाति के नवयुवकों का कर्त्तव्य है कि वह इस पुस्तक का प्रचार अधिक से अधिक करें। ऐसी रचना के लिए हम शुक्ल जी को हृदय से बधाई देते हैं।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', दिसंबर, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

महापाप

लेखक : काउंट टाल्सटाय।

काउंट टाल्सटाय के दो छोटे उपन्यासों को एक साथ प्रकाशित किया गया है- कज्ज़ाक और क्रूयजर सोनाटा। टाल्सटाय की रचनाओं के विषय में कहना ही क्या, हालांकि वह कभी कभी भावों और विचारों की आलोचना करने में इतने मग्न हो जाते हैं कि पाठक का जी ऊब जाता है। यह दोनों कहानियां टाल्सटाय की प्रसिद्ध वस्तुओं में हैं। और अनुवाद सुलझी हुई सरल भाषा में किया गया है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', दिसंबर, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

मुन्तखबीत हिंदी कलाम

लेखक : डाक्टर जाफर हुसेन, पी-एच. डी.।

हिंदी-साहित्य के निर्माण में मुसलमानों ने गत काल में जो कुछ किया, उसके ऋण से हिंदी भाषा कभी मुक्त नहीं हो सकती। लेकिन नये युग में मुसलमानों ने हिंदी-साहित्य से केवल उदासीनता ही नहीं, कभी-कभी द्वेष का व्यवहार किया है, जो उर्दू-हिंदी के झगड़े के कारण और भी बढ़ गया है. आज बहुत कम मुसलमान हैं, जो हिंदी-साहित्य से परिचित हों और उसमें लिखनेवालों की संख्या तो उंगली पर गिनी जा सकती है। इसलिए हम डा० जाफर हुसेन साहब के कृतज्ञ हैं कि उन्होंने ऐसे नाक़दरी के जमाने में यह पुस्तक प्रकाशित करके मुस्लिम संसार को हिंदी-साहित्य से परिचित कराने का काबिले-मुबारकबाद काम किया है। आपने एक अध्याय में 'हिंदी-साहित्य

में मुसलमानों का स्थान' पर कुछ प्रकाश डाला है, एक दूसरे अध्याय में 'हिंदी साहित्य की विशेषताएं' बयान की गई हैं। दोनों ही अध्यायों को पढ़कर हम डा॰ साहब की विद्वत्ता के तो उतने क़ायल नहीं हुए, पर वह सहृदय अवश्य हैं और उन्हें मुसलमानों की इस साहित्य-उपेक्षा का बड़ा खेद है। आपने बहुत ही अच्छा प्रस्ताव किया है कि हमारे स्कूलों में अगर हिंदी और उर्दू दोनों ही लाज़मी कर दी जाएं, तो सभी शिक्षित जनता दोनों भाषाओं को समान रूप से लिखेगी और बोलेगी। नतीजा यह होगा कि कालांतर में एक हिंदुस्तानी भाषा का विकास हो जायगा और कौमी ज़बान का प्रश्न हमेशा के लिए तय हो जाएगा। इसी आशय का प्रस्ताव हमारे मित्र मौलवी हमीदुल्लाह ने 'लीडर' में किया था। इस पत्र की जितनी चर्चा हुई उससे विदित होता है कि जनता उसे सहर्ष स्वीकार करने के लिए तैयार है, पर हमारे शिक्षा-विभाग के कर्णधारों ने उस पर कुछ विशेष ध्यान न दिया।

इन अध्यायों के बाद मूल पुस्तक शुरू होती है। उसे लेखक ने छ: भागों में रखा है। पहले भाग में नीति है, दूसरे में भक्ति और ज्ञान, तीसरे में शृंगार, चौथे में फुटकल छंद हैं और पांचवां ज़मीमा है। छंदों की व्याख्या विस्तार से की गई है। और शब्दार्थ भी दिए गए हैं। हमारे विचार में शृंगार रस का चुनाव इससे बहुत अच्छा हो सकता था और बाजे दोहों का अर्थ भी गोलमाल कर दिया गया है। फिर भी लेखक ने सराहनीय प्रयत्न किया है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', दिसंबर, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

रुबाइयात उमर खैयाम

अनु॰ श्री मैथिलीशरण जी गुप्त।

फ़ारसी-साहित्य में शायद इससे ज्यादा प्रसिद्ध कोई पुस्तक नहीं है, विशेषकर योरोप में। इन रुबाइयों में कुछ ऐसा रस है कि इस संग्रह को संसार-साहित्य में बहुत ऊंचा स्थान प्राप्त है। बंगला में इसके सुंदर सचित्र अनुवाद पहले ही निकल चुके हैं। हिंदी में 'प्रभा' में गुप्त जी ने इन रुबाइयों का अनुवाद शुरू किया था। उस समय वह अपूर्ण रह गया था। प्रकाश-पुस्तकालय ने अब इस अनुवाद को पुस्तक के आकार में, सुंदर चित्रों सहित, बड़ी सजावट के साथ प्रकाशित किया है। शुरू में गुप्त जी का कथन है, जिसमें उन्होंने मूल फारसी और उसके अंग्रेज़ी अनुवाद, दोनों में से एक से भी परिचित न होने पर भी अनुवाद कर डालने के साहस का ज़िक्र किया है और हम यह कहने पर मजबूर हैं कि गुप्त जी का काव्य-कौशल भी इस अनुवाद में कोई रस न पैदा कर सका। इस कथन के बाद श्री राय कृष्णदास ने उमर खैयाम और उनकी कविता पर अच्छा निबंध लिखा है। इसके बाद मूल अनुवाद है। खैयाम की रुबाइयों में जो विराग-मय अनुराग है, जो मस्ती है, वह अनुवाद में न आ सकी और न आ सकती थी। कवि की आत्मा का मूल से ही आवाहन हो सकता था। फ़िट्ज़ जेरल्ड का अनुवाद भी शुद्ध नहीं। उसने जगह-जगह मनमाना अनुवाद कर डाला है। चित्रों में कई अच्छे हैं और कई वीभत्स।

वास्तव में भावों का चित्रण हो-ही नहीं सकता। उसके लिए तो कविता ही है। राग-रागिनियों के चित्र प्राचीन शिल्पियों ने खींचे हैं, पर नतीजा कुछ नहीं। अदृश्य को दृश्य और भावों को कायिक बनाने के लिए प्रयत्न कभी सफल नहीं होता। खैर, उस दृष्टि से न देखकर भी इन चित्रों में खैयामपन केवल तीन चित्रों में आ सका है--पृष्ठ 50, पृष्ठ 29 और पृष्ठ 41 36 और 40 पृष्ठ में दोनों चित्र तो मन में ग्लानि उत्पन्न करते हैं।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', दिसंबर, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग', भाग-3 में संकलित।]

षड्यंत्रकारी

लेखक : अलेक्जेंडर ड्यूमा।

ड्यूमा फ्रांस का प्रसिद्ध उपन्यासकार है। यह पुस्तक उसी के एक उपन्यास का अनुवाद है। इस उपन्यास में फ्रेंच क्रांति के समय का बड़ा सजीव चित्रण किया गया है। पुस्तक बहुत ही रोचक है और अनुवाद भी सुंदर हुआ है। साहित्य मंडल ने उर्दू के केंद्र दिल्ली में हिंदी प्रकाशन का भार उठाया है, यह उद्योग प्रशंसनीय है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', दिसंबर, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

आरोग्य शास्त्र

लेखक : श्री चुतरसेन शास्त्री।

हिंदी में आजकल आरोग्य-शास्त्र संबंधी पुस्तकों की धूम है। और होना ही चाहिए। मनुष्य के लिए आरोग्य से बढ़कर कोई वस्तु नहीं। अन्य पुस्तकों की अपेक्षा इस रचना में यह विशेषता है कि इसमें पुरानी बातों के साथ नयी बातों का समावेश कर दिया गया है और स्वास्थ्य के विषय में नयी से नयी तहक़ीक़ातों की व्याख्या भी कर दी गई है। यह मूल रूप से चिकित्सा की पुस्तक नहीं, बल्कि इसमें उन विषयों का प्रतिपादन किया गया है, जिनसे चिकित्सा की जरूरत ही न पड़े। चिकित्सा भी ह, मगर केवल इतनी नहीं, कि वह भी आरोग्य-प्राप्ति का एक साधन है। हैज़ा, प्लेग, तपेदिक, मलेरिया आदि संक्रामक बीमारियों का विशद रूप से उल्लेख किया गया है। दूसरे अध्याय में शरीर-विज्ञान दिया गया है। तीसरा अध्याय भी इसी विषय पर है। चौथे अध्याय में गर्भाधान और प्रसव और पांचवें अध्याय में, शिशु-पालन। आगे के चार अध्याय स्नान और भोजन से संबंध रखते हैं। दसवें अध्याय में रोग-कीटाणु का जिक्र है। रोगी की सेवा, आकस्मिक उपचार, स्वाभाविक चिकित्सा पर भी एक-एक अध्याय है। चौबीसवें अध्याय में व्यभिचार से पैदा होने वाली बीमारियों की चर्चा की गई है। एक अध्याय में खास नुस्खे दिए गए हैं। सौंदर्य-विज्ञान पर भी एक अध्याय है। गृह-निर्माण कला, हस्तरेखा विज्ञान भी आरोग्य के साधन हैं और इन प्रयोगों को भी स्थान दिया गया है। पुस्तक सचित्र है। व्यायाम, सौंदर्य, शरीर-तत्व, आकस्मिक उपचार संबंधी सैकड़ों चित्र हैं। तीसवें अध्याय में अध्यात्म-तत्व भी दिया गया है क्योंकि शरीर और आत्मा का संबंध समझे बिना आरोग्य प्राप्ति

नहीं हो सकती। संग्रह बहुत सोच-समझकर किया गया है और ऐसी कोई बात नहीं रहने पाई, जिसका आरोग्य से दूर का संबंध भी है। कागज़ अच्छा और छपाई सुंदर। जिल्द आला दरजे की। मूल्य अधिक है, लेकिन यह पुस्तक नहीं, आरोग्य का पुस्तकालय है। अगर रोगों के निदान और चिकित्सा का वर्णन और विस्तार से होता तो पुस्तक सर्वांगपूर्ण हो जाती। फिर भी बड़े काम की चीज़ है। भाषा रोचक और सरल है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', मार्च, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

कहानी कैसे लिखनी चाहिए

लेखक : मु॰ कन्हैयालाल जी एम॰ ए॰।

यह चौंसठ पृष्ठों की छोटी-सी पुस्तक है और इस विषय की कदाचित् पहली पुस्तक है। 'कहानी कला' के विषय में एक पुस्तक की ज़रूरत है और जहां कुछ नहीं है, वहां यह पुस्तक नये लेखकों को बहुत कुछ लाभ पहुंचा सकती है। भूमिका में मुंशी जी फरमाते हैं–

''इस पुस्तिक में बहुत-सी बातें ऐसी हैं, जो बढ़ाई जा सकती थीं और बहुत-सी ऐसी भी हैं जो छोड़ दी जा सकती थीं, किंतु पुस्तिका जिस रूप में है, उसी रूप में इसलिए उपस्थित की जा रही है कि जिससे विद्वान् और अनुभवी लोग इसकी त्रुटियों को देखकर ऐसी पुस्तक लिखें, जिससे कहानी-लेखकों को ठीक-ठीक शिक्षा प्राप्त हो।''

तो यह पुस्तिका केवल इसीलिए लिखी गई है कि इसकी त्रुटियों को दूर करने के लिए कोई दूसरी पुस्तक लिखे। हमारे विचार में लेखक जब कोई किताब लिखने बैठे, तो उसका यह ध्येय होना चाहिए कि यथाशक्ति वह अपनी रचना को निर्दोष बनाए, जान-बूझकर कोई असर न छोड़े।

खैर, पुस्तक में आठ परिच्छेद हैं–कहानी, प्लाट, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, कहानी की रचना, क्लाइमेक्स, शैली और कहानी के विषय में अन्य विशेष बातें।

पृष्ठ सात पर लेखक महोदय कहते हैं–कहानी लिखने से अच्छी आमदनी हो सकती है। इससे ज्ञात होता है कि आपको हिंदी-पत्रों का अनुभव नहीं है। हिंदी में बहुत कम ऐसे पत्र हैं, जो पुरस्कार देते हों। दो-चार इने-गिने लेखकों को संभव है कुछ पुरस्कार मिल जाय पर साधारणत: यहां कहानी लिखना अभी व्यवसाय के दरजे तक नहीं पहुंचा है। ऐसी विरली ही कोई पत्रिका होगी, जो नफे पर चल रही हो। तो फिर घाटे का पत्र निकालकर कोई पुरस्कार कैसे दे सकता है।

ऐसा जान पड़ता है कि यह पुस्तकें कई अंग्रेज़ी पुस्तकों के आधार पर लिखी गई है क्योंकि इसमें जगह-जगह असंबद्धता आ गई है। फिर भी इसमें काम की बहुत-सी बातें हैं, जो कहानी लिखने में सहायक होंगी।

दो एक छोटे-छोटे उद्धरणों से यह बात प्रकट हो जाएगी–

''प्लाट के लिए सामग्री अकसर अकस्मात् मिल जाती है, जैसे कभी समाचारपत्र पढ़ने से, कभी साधारण बातचीत से, कभी अचानक घटनाओं के देखने से, और कभी

साधारण अनुभव से। संभव है, कि नये लेखक को यह प्लाट की सामग्री साधारण बातों में न दिखाई दे किंतु प्लाट ढूंढ़ने का अभ्यास उसको निपुण बना देता है–

चरित्र-चित्रण के प्रकरण में आप लिखते हैं–

"पहली किस्म की कहानी घटनामय होती है, जिसकी सफलता के लिए आवश्यक है कि घटना बराबर होती जाय। इसी प्रकार की कहानियों में चरित्र-चित्रण के लिए बहुत कम स्थान मिलता है। दूसरी तरह की कहानी वह है, जिसमें आचरण का चित्र खींचा जाता है–इसमें चरित्र-चित्रण का स्थान प्लाट और घटनाओं से अधिक आवश्यक समझा जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि घटनात्मक कहानियों में चरित्र-चित्रण का बिल्कुल अभाव हो, या आचरण-संबंधी कहानियों में घटनाएं या प्लाट न हों क्योंकि अच्छी कहानियों में दोनों बातों का होना आवश्यक है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', मार्च, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-3 में संकलित।]

गल्प मंजरी

संग्रहकर्ता, श्री सुदर्शन।

यह भी हिंदी के सुप्रसिद्ध गल्प लेखकों की रचनाओं का संग्रह है। कुल सत्रह कहानियां हैं। लेखकों का परिचय भी दिया गया है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', मार्च, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग 3 म संकलित।]

बीस कहानियां

संग्रहकर्ता : श्री रामचंद्र टंडन।

इस संग्रह में हिंदी की बीस अच्छी-अच्छी कहानियां जमा की गई हैं। एक लेखक की केवल एक कहानी ली गई है। चुनाव सुंदर है, लेकिन मूल्य अधिक।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', मार्च, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

बेलि क्रिसन रुक्मणी री, राठौड़राज, पृथ्वीराज री कही

अनुवादक : स्वर्गीय महाराज श्री जगमाल सिंह जी साहब।

राठौड़-नरेश पृथ्वीराज वही वीर श्रेष्ठ है, जिसने महाराणा प्रताप को उस समय उत्तेजना से भरा हुआ पत्र लिखा था, जब महाराणा प्रताप कष्टों से तंग आकर अकबर की पराधीनता स्वीकार करने का विचार कर रहे थे. इस पत्र को पढ़ते ही महाराणा संभल गए और अंत तक स्वाधीनता का झंडा फहराते रहे। यह पत्र भाव और भाषा और ओज आदि गुणों के लिए ऐतिहासिक साहित्य मे एक अमूल्य वस्तु है। पृथ्वीराज मारवाड़ी भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि थे और कृष्ण के परम भक्त। 'बेलि' उन्हीं की रचना है। संपादकों ने

अपने प्राक्कथन में कहा है, कि मारवाड़ी भाषा में यह कविता का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। मारवाड़ी भाषा को डिंगल कहते हैं। महाराजा पृथ्वीराज ने हिंदी में भी कविता की है, पर उनकी गणना दूसरी श्रेणी के कवियों में है, पर संपादक-द्वय का दावा है, कि पृथ्वीराज, चंदबरदाई से किसी तरह कम नहीं है। 'बेलि' में कृष्ण-चरित गाया गया है। भूमिका में राजस्थानी भाषा की उत्पत्ति, विकास और विस्तार का विशद वर्णन है। फिर महराजा पृथ्वीराज का चरित्र लिखा गया है और उनकी रचनाओं के गुण दर्शाए गए हैं। 'बेलि' में कुल तीन सौ चार पद्य हैं। हरेक पद्य का भावार्थ दिया गया है। साधारण हिंदी जानने वाला आदमी इन पद्यों को नहीं समझ सकता। इसलिए डिंगल का शब्द कोष भी दिया गया है। एक अध्याय में 'बेलि' के भिन्न-भिन्न पाठांतरों को सामने रख दिया गया है। संपादकों ने जितने परिश्रम और विद्वता से इस ग्रंथ का संपादन किया है, वह प्रशंसनीय है। पुस्तक को बोधगम्य बनाने के लिए उन्होंने कोई बात नहीं छोड़ी। डिंगल भी हिंदी भाषा ही का एक रूप है और उसके शब्दकोष तथा टिप्पणियां भाषा-विज्ञान के लिए बड़े महत्व की चीजें हैं। हिंदुस्तानी एकेडमी ने इस पुस्तक को प्रकाशित करके अपने साहित्य-प्रेम का परिचय दिया है। डिंगल भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण हम 'बेलि' के पद्यों का पूरा-पूरा रसास्वादन तो नहीं कर सके, पर भावार्थ को पढ़कर यह कह सकते हैं, कि पृथ्वीराज में असाधारण प्रतिभा थी। हम दो-एक पद्यों से इसका उदाहारण देंगे–

ग्रीष्म ऋतु का वर्णन यों किया गया है–तब सूर्य ने जगत के सिर पर से होकर मार्ग बनाया और सघन वृक्षों ने अपनी छाया जगत के सिर पर की। नदी और दिन बढ़ने लगे। सरोवरों का जल और रात्रि घटने लगीं। पृथ्वी में कठोरता और हिमालय में द्रव भाव आ गया।

वर्षा ऋतु वर्णन का केवल एक पद्य देखिए–पृथ्वी श्री रुक्मिणी की भांति और बादल घनश्याम श्रीकृष्ण की भांति, गलबांहें डालकर एक हो रहे हैं। दिन और रात का भेद नहीं जाना जा सकता। ऋषि-मुनिगण भ्रम में पड़कर संध्या-वंदन करना भूल गए।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', अप्रैल, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

योरोप की कहानियां

संग्रहकर्ता : श्री श्रीगोपाल नेवटिया।

इस संग्रह में रूस, फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैंड, इटली आदि देशों के कहानी लेखकों की पैंतीस सुंदर कहानियां दी गई हैं। यह कला भारत में योरोप से आई है, इसलिए हमें योरोप की प्रगति को देखते रहने की ज़रूरत है। योरोप के प्राय: सभी विख्यात लेखकों की रचनाएं चुनी गई हैं। टाल्सटाय, चेखफ, तुर्गनेव, मैक्सिम गोर्की, अनातोल फ्रांस, मोपांसा, बेल्स, हार्डी, जो कई आदि-आदि लेखकों की कीर्तियां कभी-कभी पत्रिकाओं में निकलती रहती हैं। यहां सभी एक मंडली में जमा हैं और अपनी-अपनी कीर्ति सुना रहे हैं। प्राय: सभी कहानियां ऐसी हैं कि पढ़कर मनन मुग्ध हो जाता है। रूसी लेखकों में चेखफ की 'होड़' नामक कहानी लाजवाब है। 'चंद्रहार' और 'कीटाणु' भी अच्छी हैं। बाज़ कहानियों के इस

संग्रह में रखने का मर्म इसके सिवाय और कुछ भी नहीं हो सकता, कि वह विदेश की हैं। भूमिका में कहानी के विकास और गुण-दोष का विवेचन किया गया है और कहानी की रचना पर मूल्यवान विचार प्रगट किए गए हैं। उसका एक अंश हम देते हैं–

"पहले यह देख लेना चाहिए कि कथानक की रचना का आधार क्या हो? कहानी लिखने के लिए एक उद्देश्य का होना आवश्यक है। किसी एक गुण अथवा अवगुण की अभिव्यक्ति को ध्यान में रखकर कथानक की सृष्टि करनी चाहिए"

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', मार्च, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

कुमार

सम्पादक : श्रीसुरेशसिंह, प्रकाशक : श्रीनरेन्द्रसिंह हनुमत प्रेस, कालाकांकर, वार्षिक मूल्य 3 रु०, छपाई अच्छी।

'वानर' के सम्पादन-काल में ही श्रीसुरेशसिंह जी की रुचि का पता लग गया था, पर 'कुमार' के द्वारा आपने अपनी रुचि को विकसित रूप में प्रकट किया है। 'कुमार' के जुलाई और अगस्त के दो अंक अभी तक प्रकाशित हुए हैं। सम्पादन और मुद्रण दोनों की दृष्टि से पत्र अच्छा है, इसमें जरा भी संदेह नहीं। पर 'कुमार' नाम को सार्थक करने की ओर जरा ध्यान रखना चाहिए। हम हृदय से चाहते हैं कि 'कुमार' हिन्दी पढ़े-लिखे प्रत्येक घर में बालकों की पाठ्य-वस्तु बने।

[पत्रिका-समीक्षा। जागरण, 29 अगस्त, 1932 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

दैवी सम्पद्

लेखक : श्रीरामगोपाल मोहता, प्रकाशक : सस्ता साहित्य मण्डल, अजमेर। मूल्य छः आने, पृष्ठ संख्या, 205, दूसरी बार छपी है।

यह पुस्तक पहली बार 'चांद' कार्यालय, प्रयाग से प्रकाशित हुई थी। जनता ने इसका इतना आदर किया कि थोड़े ही दिनों में वह एडीशन बिक गया और अब यह दूसरा एडीशन पाठकों के सामने है। मोहताजी प्रसिद्ध विद्वान् और विचारक हैं। उनकी कलम से जो कुछ निकलाता है, उसमें गहरी तात्त्विक विवेचना होती है और पढ़नेवाले के मन की भूख को शान्त करती है। आपका मुख्य विषय गीता है और इस पुस्तक में भी गीता के व्यवहार-दर्शन की व्याख्या की गई है। पुस्तक आदि से अन्त तक इतनी मर्मस्पर्शिनी है कि उसे समाप्त करने पर आर्थिक अथवा नैतिक समस्या नहीं है, जिसका गीता के व्यवहार-दर्शन ने हल न कर दिया हो। पहले प्रकरण में परतंत्रता और स्वतंत्रता, अर्थात् बंधन और मोक्ष—की व्याख्या की गई है। दूसरे प्रकरण में मनुष्यों के आत्म-विकास की पांच प्रधान श्रेणियां निर्धारित की गई हैं। निम्न श्रेणी के प्राणी कैसे ऊंची श्रेणी में पहुंच सकते हैं, उसका विधान बताया गया है। तीसरे प्रकरण में गहरे आध्यात्मिक विषयों का इतना सरस और

सुन्दर विवेचन हमने और कहीं नहीं देखा। यदि हमें ईश्वर इतनी सामर्थ्य दे कि हम इन तत्त्वों से अपने जीवन को सुधार सकें, तो संसार स्वर्ग हो जाय।

ईश्वर-भक्ति का विवेचन करते हुए कहा गया है—

"सारे विश्व का समष्टि भाव, अर्थात्—सब भूत प्राणियों का एकत्व ही ईश्वर है, यानी—एक ईश्वर समस्त चराचर भूत प्राणियों में एक समान व्यापक है--उससे पृथक् कुछ भी नहीं है। इस निश्चय से जगत् को ही जगदीश्वर समझकर सब चराचर भूत प्राणियों के साथ जोड़कर तथा अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को जगत्रूपी जगदीश्वर के अर्पण करके संसार में व्यवहार करना—अपनी तरफ से किसी के साथ ईर्ष्या-द्वेष, घृणा या तिरस्कार का बर्ताव न करना—यही सच्ची ईश्वर-भक्ति है।"

ईश्वर-भक्ति का कितना सुंदर, सच्चा और शास्त्रीय निरूपण है।

प्रस्तावना में लेखक ने सच्ची स्वतंत्रता की विवेचना यों की है—"स्वतंत्रता के लिए आजकल सभ्य जगत् में प्राय: स्र्वत्र ही असाधारण संघर्ष मच रहा है। अनेक प्रकार के धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक बंधनों से लोग इतने तंग आ गये हैं कि उनसे छुटकारा पाने के लिए बड़े ही आतुर प्रतीत होते हैं, इतना सब कुछ होने पर भी सच्ची स्वतंत्रता अब तक कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती। यदि कोई जाति अथवा कोई देश किसी विशेष प्रकार के बंधन से छुटकारा पाता है, तो साथ-ही-साथ अन्य किसी प्रकार के बंधन में बंध जाता है।"

तो सच्ची स्वतंत्रता कैसे प्राप्त हो सकती है? सुनिए—

"लोग हमारी पराधीनता के नाना प्रकार के कारण बताते हैं, परंतु गहरा विचार करने से इसका एकमात्र कारण यही निश्चय होता है कि हम लोगों ने 'दैवी सम्पद्'—अर्थात् अखिल विश्व में एकात्म भाव से सबके साथ एकता का प्रेमयुक्त व्यवहार—करना छोड़कर, 'आसुरी सम्पद्' को अपना लिया है, अर्थात्—हमने अपने पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व के अंहकार और स्वार्थ में ही आसक्ति कर ली है।"

और अधिक उद्धरण न देकर हम पाठकों से इस पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ जाने की याचना करते हैं। इसे पढ़कर उनकी आत्मा को संतोष मिलेगा और उनके जीवन मे आशा का उदय होगा।

[पुस्तक-समीक्षा। जागरण, 29 अगस्त, 1932 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

देव--चतुर्दशी

लेखक : स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, प्रकाशक : सत्य ग्रन्थमाला आफिस, नई देहली। मूल्य 1 रुपया। पृष्ठ संख्या-280

स्वामी सत्यदेवजी हिन्दी के उन उंगली पर गिने जाने वाले लेखकों में हैं, जिन्होंने संसार का बड़ा भाग छान डाला है, और अनुभव की विशाल शाला में जीवन-शिक्षा प्राप्त की है। उनकी रचनाओं में उनके अनुभव भरे रहते हैं। समाज और राजनीति के क्षेत्र में

भी उन्होंने काफी काम किया है और बहुत अच्छे बोलनेवालों में हैं। उनके कई यात्रा-वृत्तांत प्रकाशित हो चुके हैं। 'देव-चतुर्दशी' उनकी चौदह गल्पों का संग्रह है, जिनमें कुछ तो पत्रिकाओं में निकल चुकी हैं। सात कहानियां बिलकुल नयी हैं, लेकिन इन कहानियों में कहानीपन कम, अनुभव-वृत्तांत अधिक है। सभी कहानियां मनोरंजक, सजीव और प्रभाव-पूर्ण हैं। कहानी के रस की तो कमी अवश्य है, पर अनुभव की प्रखरता ने उसकी कमी पूरी कर दी है। सभी कहानियां किसी-न-किसी उद्देश्य से लिखी गई हैं। किसी में कोई सामाजिक समस्या हल की गई है, किसी में मानव-चरित्र पर प्रकाश डाला गया है, और कोई केवल कुतूहल-पूर्ण अनुभव बयान करती है। शैली में एक तीखापन (directness) है जो रुचि को बढ़ाता है यदि इस वृत्तांतों को गल्पों का रूप न देकर भ्रमण-वृत्तांत ही रहने दिया गया होता, तो हमारे विचार में ज्यादा अच्छा होता। पुस्तक का दाम बहुत उचित रखा गया है। छपाई साधारण है।

[पुस्तक-समीक्षा। जागरण, 29 अगस्त, 1932 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

भारत-भूमि और उसके निवासी

लेखक : श्रीजयचन्द्र विद्यालंकार, प्रकाशक भी वही। मिलने का पता—सरस्वती प्रेस, काशी अथवा हिन्दी भवन, लाहौर। मूल्य 2।) रु०, सजिल्द।

जयचन्द्रजी ने स्व० लाजपतराय के 'भारतीय इतिहास' की आलोचना करके और उसमें यूरोपीय विद्वानों की छाया का प्रमाण देकर अपनी ऐतिहासिक विद्वता का परिचय दिया था। हमें आशा थी और है कि आप भारत का सच्चा इतिहास लिखकर इस अभाव की पूर्ति करेंगे, पर वह बहुत बड़ा और बड़ी खोज का काम है और उसमें समय लगेगा। तब तक आपने उस इतिहास की भूमिका स्वरूप दो पुस्तकें लिखा हैं—'भारतीय इतिहास का भौगोलिक आधार' और 'भारतभूमि और उसके निवासी'। यह दूसरी पुस्तक हमारी आलोचना का विषय है।

इतिहास और भूगोल में कितना गहरा संबंध है, इस पर विद्वानों ने बहुत कम ध्यान दिया है। यूरोप में इस विषय पर काफी लिखा जा चुका है। वास्तव में इतिहास अगर कार्य है, तो भूगोल कारण है। दोनों में कारण और कार्य का संबंध है। हमारी संस्कृति बड़ी हद तक हमारी प्राकृतिक भौगोलिक परिस्थितियों के ही अधीन है और जैसी संस्कृति होती है, उसी के अनुरूप देश का इतिहास होता है। जयचन्द्रजी ने इस जटिल विषय का बड़ी योग्यता से सम्पादन किया है। पुस्तक सुबोध भाषा में लिखी गई है और रोचक है।

[पुस्तक-समीक्षा। जागरण, 29 अगस्त, 1932 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

प्रताप (दैनिक पत्र)

सम्पादक : हरिशंकर विद्यार्थी, बी० ए०; प्रकाशक : प्रताप प्रेस, कानपुर।

स्वर्गीय कर्मवीर गणेशशंकर जी विद्यार्थी के सम्पादन में 'प्रताप' ने जो ख्याति प्राप्त की है, उसे प्रकट करने की आवश्यकता नहीं। उन्होंने 'प्रताप' को ऐसा महाप्रतापी बना दिया कि आज वह हिन्दी ही नहीं, अन्य भाषा-जगत् में भी अपना प्रकाश फैलाये हुए है। पहले भी इसका दैनिक संस्करण निकला था, पर उस समय यह स्थायी न हो सका। अब विद्यार्थी जी के ज्येष्ठ पुत्र चि० हरिशंकर विद्यार्थी के सम्पादकत्व में पुनः उसका दैनिक संस्करण प्रकाशित होने लगा है। दैनिक की, अभी तक की आठ-दस संख्याएं देखकर हमें परम संतोष हुआ। समाचार इसमें बहुत ताजे रहते हैं। देश-विदेश की राजनैतिक चर्चा भी काफी रहती है। लेख, कविता और कहानी आदि प्रकाशित करके इसमें साहित्यिक पुट भी दे दिया है। भाव-तत्त्व भी इसमें रहते हैं। यह दैनिक संस्करण सब तरह सुंदर हुआ है। हम हृदय से इच्छुक हैं कि स्वर्गीय विद्यार्थी जी का यह स्मारक चि० हरिशंकर के द्वारा सुदृढ़ और स्थायी हो।

[पुस्तक-समीक्षा। जागरण, 5 सितम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' भाग-1 में संकलित।]

हिन्दी राष्ट्र या सूबा हिन्दुस्तान

लेखक : धीरेन्द वर्मा एम० ए०, प्रकाशक : लीडर प्रेस, प्रयाग।

योग्य लेखक का कथन है कि भारत न एक राष्ट्र है, न रहेगा और न कभी रहा है। वर्तमान एकता की पुकार राजनैतिक कारणों से पैदा हो गयी है, पर वह स्थायी नहीं है। राष्ट्रीयता के जितने अंग हैं, उनसे तो यही सिद्ध होता है कि भारतीय राष्ट्रीयता में एकीकरण के तत्त्वों का अभाव है और इसलिए वह अस्वाभाविक है। आपने केवल भाषा को एकता का आधार माना है, और भाषानुसार भारत को भिन्न-भिन्न राज्यों में विभक्त करने की दलील पेश की है। इस सिद्धांत के अनुसार बंगला, मराठी, पंजाबी, सिंधी, तमिल, मलयालम, उड़िया आदि भाषाओं के आधार पर प्रांतों की रचना होनी चाहिए। तो स्वराज्य पाने पर पृथक्-पृथक् राज्य जनपद के अंतर्गत हो जायेंगे। इस आधार पर हिन्दी बोलने वाले एक प्रांत या भावी जनपद के अन्तर्गत आ जायेंगे। उसमें बिहार, मध्यप्रदेश, बुन्देलखण्ड, संयुक्त प्रान्त, मालवा आदि सभी प्रान्त आ जायेंगे। हिन्दी बोलने वालों की संख्या दस करोड़ से अधिक है, इसलिए सूबा हिन्दुस्तान सबसे बड़ा सूबा होगा। भाषाओं के अनुसार प्रान्तों की रचना पुरानी राजनैतिक मांग है। वर्माजी ने इस विषय की ओर हिन्दी जनता का ध्यान आकर्षित करने का सराहनीय उद्योग किया है, परन्तु उस दशा में भारतीय राष्ट्र-भाषा की जरूरत कहां रहती है? फिर तो अपने-अपने प्रान्त की भाषा ही रहेगी। अभी तो हम मद्रास, गुजरात, तमिल आदि प्रान्तों में हिन्दी का प्रचार कर रहे हैं, और आशा करते हैं कि एक दिन हिन्दी राष्ट्र-भाषा होगी। प्रान्तीय भाषा होकर हिन्दी का यह गौरव कहां रह जाएगा? जो कुछ भी हो, यह विषय विवादग्रस्त है। हां, भाषा के आधार पर

प्रान्तों का निर्माण करने की आयोजना सर्वथा युक्तिसंगत और स्वाभाविक है। यह प्रान्त बन जाने पर ही हिन्दी में वह ऐक्य और घनत्व उत्पन्न होगा, जो हम बंगला और महाराष्ट्र-साहित्य में देख रहे हैं।

[पुस्तक-समीक्षा। जागरण, 5 सितम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'प्रेमचद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

हिन्दू-हित की हत्या अथवा प्रधानमंत्री का साम्प्रदायिक निर्णय

लेखक : परिपूर्णानन्द वर्मा, प्रकाशक : धर्म ग्रन्थमाला कार्यालय ब्रह्मनाल काशी, मूल्य 1 रुपया।

यह एक छोटा सा 64 पृष्ठों का ट्रैक्ट है, जिसकी इस समय बड़ी जरूरत थी। साम्प्रदायिक निर्णय ने देश में जो हलचल और असंतोष पैदा कर दिया है, यह उसी की आवाज है। आदि में बाबू भगवानदास जी का समदर्शिता पर एक छोटा-सा मार्मिक, गहरा और विचारों से भरा हुआ वक्तव्य है। उसके बाद श्री सम्पूर्णानन्द जी ने 'दो शब्द' लिखकर निर्णय पर अपना मत प्रकट किया है। मूल पुस्तक में चार अध्याय हैं। पहले अध्याय में अल्पमत की समस्या पर जेनेवा की राष्ट्र-परिषद का निर्णय विस्तार से दिया है । दूसरे में, वर्तमान निर्णय की व्याख्या की गई है। तीसरे अध्याय में निर्वाचन के नये और पुराने क्रम की तुलना है और चौथे में देश के प्रमुख नेताओं की सम्मति उद्धृत की गई है। पुस्तक सामयिक है और एक जटिल विषय पर अच्छा प्रकाश डालती है।

[पुस्तक-समीक्षा। जागरण, 26 सितम्बर, 1932 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

शैलबाला

अबकी दिल्ली में मुझे 'शैलबाला' नामक बोलती हुए फ़िल्म देखने का संयोग हुआ। 'बेताब'जी का ड्रामा है, गौहर-जैसे मशहूर स्टार की ऐक्टिंग है, नायक का पार्ट भी कोई बंबई का मशहूर ऐक्टर करता है। मैं बड़ी आशा लेकर मित्रवर प्रो० इंद्र और जैनेंद्र के साथ तमाशा देखने आया। उपस्थिति बुरी न थी। ड्रामा शुरू हुआ। एक देवकुमार और तापस कन्या की प्रेम-कहानी हैं। दोनों का परिचय होता है और पहली नज़र में दोनों प्रेम के तीर से बिंध जाते हैं। इसके बाद वाले सीन में शैलबाला ज़मीन की बालू में कुछ टटोलती दिखाई देती है। उसी वक्त देवकुमार भी उसकी टोह में आ पहुंचता है। वह शैलबाला को बालू टटोलते देखकर पूछता है-"तुम क्या कर रही हो?" शैलबाला कहती है, "अपना दिल ढूंढ़ रही हूं।" बस, देवकुमार भी वहीं बैठ जाता है और बालू समेटने लगता है। दोनों कई मिनट तक बालू टटोलने के बाद गीतों में सवाल-जवाब करते हैं। वाह ! क्या ग़ज़ल है। अड़ा होगा, खड़ा होगा, पड़ा होगा, कढ़ा होगा-उस ग़ज़ल का काफिया है। बस ऐसा मालूम होता था कि कोई पांचवें दर्ज का पारसी नाटक देख रहा हूं-वही नीरस तुकबंदी, वही भावहीन, कृत्रिम शेरगोई। मैं नहीं समझता था कि एक

कवित्वमय भाव की ऐसी मिट्टी खराब की जा सकती है, और उस नाटककार के हाथों, जिसने नाटक लिखने और लिखाने में ज़िंदगी बिताई है। खोए हुए दिल को ज़मीन की धूल बटोर-बटोर कर खोजना, मानों रुपये गिर गए हों, कितनी लचर भावना है।

यह दृश्य देखकर आगे क्या होने वाला है, इसके लिए मुझे उत्सुकता न रही, और मेरा अनुमान बिलकुल ठीक निकला। क्या ऐक्टिंग, क्या गाना, क्या संभाषण, क्या कथानक, क्या कविता, किसी लिहाज़ से भी इस ड्रामे में कोई तारीफ़ करने क़ाबिल बात नहीं है। शैलबाला एक जगह अपने आशिक़ को देखकर मारे खुशी के पागल हो जाती है और मंदिर में पूजा करते समय उछल उछलकर लगातार छत से लटकते हुए घंटों को बजाती है। एक बार नही, दो बार नहीं, तीन बार नहीं। लगातार कई मिनट तक यही उन्मत्त क्रीड़ा होती रहती है और यह बात भी नहीं थी कि उसने आशिक साहब के लिए कुछ बहुत तपस्या की हो। प्राय: रोज़ ही तो मुलाकात होती है, पर शैलबाला मारे आनंद के पागल हो जाती है। ओवर एक्टिंग की इससे बदत्तर मिसाल सोची नहीं जा सकती।

देवकुमार के पिता को जब मालूम होता है कि बेटा प्रेम के तीर से घायल हो गया, तो वह उसे शैलबाला से अलग रहने की ताकीद करता है और उसकी शादी दूसरी सुंदरी कन्या से करना चाहता है। देवकुमार अपने पिता से इस बात पर बिगड़ जाता है। बाप की त्यौरियां बदलती हैं। अंत में लायक बेटा बाप के गाल पर जोर से एक चांटा रसीद करता है और बेहया बाप उस वक़्त भी ज़हर खाकर नहीं मर जाता। बेटे को कैद करा देता है, लेकिन फिर बेटे का प्रेम देखकर शैलबाला से बेटे के विवाह पर राज़ी हो जाता है। विवाह हो जाता है। इसके बाद सुहागरात का लज्जास्पद दृश्य आता है। पलंग बिछा हुआ है। उस पर फूल बिखरे हुए हैं। आशिक साहब माशूक़ के पीछे दौड़ रहे हैं, और माशूक़ मारे नज़ाकत और शर्म के भागा-भागा फिरता है। लाहौल बिला कूबत।

उधर जिस राजकुमारी से देवकुमार का विवाह ठहरा हुआ था, वह शैलबाला को नीचा दिखाने के लिए एक षड्यंत्र रचती है, और एक कापालिक को इस काम के लिए तैयार करती है। कापालिक राजा के पास जाता है और उसके मन पर यह भाव जमा देता है कि शैलबाला डाइन है। देवकुमार उन दिनों किसी लड़ाई पर गया हुआ था। कापालिक अपने आक्षेप की पुष्टि में नगर के बच्चों के सिर काट-काटकर शैलबाला के कमरे में गिरा देता है। शैलबाला इस अवसर पर जिस तरह चीख-चीखकर रनिवास भर में दौड़ती फिरती है, उस तरह शायद कोई देहकान लड़की चिल्लाती फिरे। यह कुछ नहीं पता चलता कि कापालिक किस तरह रनिवास में कटे सिर गिरा देता है। और क्या शैलबाला के निर्वासन का यही एक उपाय था? और भी बहुत से स्वाभाविक और सरल उपाय हो सकते थे, पर कदाचित् वह काफ़ी सनसनी पैदा करने वाले न होते। अंत में जब लड़कों की हत्या से शहर में हा-हाकार मचता है तो राजा इसकी छानबीन करने लगता है। कापालिक उसी समय आकर शैलबाला पर दोष आरोपित करता है। उसके कमरे में कटे सिर भी निकल आते हैं और इलज़ाम साबित हो जाता है। शैलबाला पकड़कर कैद कर दी जाती है। इधर देवकुमार लड़ाई पर से लौट आता है और घर खाली पाता है। हाल मालूम होने पर वह शैलबाला से जेल में मिलता है। मगर शैलबाला पागल हो जाती है। हंसती है, तो हंसती रह जाती है। पागलपन का दृश्य भी न स्वाभाविक है, न करुणाजनक। अब राजकुमार

की शादी नयी राजकुमारी से हो जाती है। उधर शैलबाला को ज़िंदा जला देने का फ़ैसला होता है। वह चिता पर बैठ जाती है। आग लगा दी जाती है, मगर शैलबाला किसी तरह बच निकलती है और तपस्वी का रूप धारण कर लेती है। देवकुमार को नयी बीवी से प्रेम है पर शैलबाला की याद उसे घेरे रहती है। वह घबराकर घर से निकल भागता है जंगल में तपस्वी शैलबाला से उसकी मुलाकात हो जाती है। इसके बाद से अंत तक का तमाशा ग़नीमत है। मगर कथानक में न कोई मौलिकता है, न ऐक्टिंग में कोई खूबी। पारसी नाटकों में जो बुराइयां थीं, वे सभी बढ़े हुए आकार में यहां भी मौजूद हैं। ऐसे तमाशों में से तो यह कहीं अच्छा है कि भिन्न भिन्न देशों के जीवन दृश्य दिखाए जाएं, उनकी शादी और ग़मी, उनके त्यौहार, उनके नाच, उनके हाट बाजार। इससे जनता का बहुत-कुछ ज्ञानवर्द्धन हो सकता है।

[फिल्म समीक्षा। 'जागरण', 12 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

अंतर्वेदना

लेखिका : श्रीमती पुरुषार्थवती देवी।

हिंदी साहित्य के निर्माण में देवियां जो स्थान लेती जा रही हैं, वह उसके लिए गौरव की बात है। पद्य रचना में तो उनका स्थान मर्दों से जौ भर भी कम नहीं। जहां भावों की कोमलता ही प्रधान वस्तु है, जहां मनोवेदना ही का राज्य है, वहां तो कहना ही क्या। एक-दो महीने पहले तक हिंदी-संसार, देवी पुरुषार्थवती के नाम से अपरिचित-सा था। पर इस 'अंतर्वेदना' को देखकर हम कह सकते हैं कि उनमें असाधारण रचना-शक्ति थी और अपने कुमारी जीवन में ही उन्होंने ऐसी आत्माभूति प्राप्त की, जो प्रौढ़ कवियों को भी गौरव प्रदान कर सकती है। पर खेद है कि यह 'कली जो खिलनी शुरू हुई थी कि तोड़ ली गयी।' केवल उन्नीस वर्ष की अवस्था में उनका अवसान हो गया। यह सारी कविताएं सोलह और उन्नीस साल की अवस्था में ही लिखी गयी हैं। इतनी उम्र में ऐसी भावपूर्ण कविता करना साधारण प्रतिभा का काम नहीं है। उनका विवाह श्री चंद्रगुप्त जी विद्यालंकार से हुआ था, पर यह निधि छः महीने में ही उनसे छीन ली गयी और उनके दुखी हृदय को सांत्वना देने के लिए जो कुछ शेष रह गया, वह यही कविता का संग्रह है। पुस्तक को हाथ में लेते ही एक क्षण के लिए हाथ और हृदय दोनों में सिहरन सी हो उठती है और इन कविताओं में जो वेदना है वह शतगुण हो जाती है। क्या वह आत्मा जीवन के बंधनों से मुक्त होने के लिए ही तड़प रही थी?

> दुर्गम पथ पर चल आयी हूं, होने को चरणों में लीन।
> घोर निराशा-तम में अब तक, थी आशा की आभा क्षीण।।

जिस आत्मा में यह तड़प और कसक हो वह इस आभामय संसार में क्या आनंद पाती। हमें आशा है, साहित्य-संसार इस संग्रह का आदर करेगा।

[पुस्तक-समीक्षा। 'हंस', जनवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग', भाग-3 में संकलित।]

कुन्दमाला

अनुवादक : श्री वागीश्वर विद्यालंकार, साहित्याचार्य, प्रकाशक : विश्व साहित्य ग्रन्थ-माला, मैकलेगन रोड, लाहौर। मूल्य ।।=)।

दिङ्नाग कवि-कृत 'कुन्दमाला' नामक संस्कृत नाटक का हिन्दी अनुवाद है। यद्यपि मध्यकालिक संस्कृत साहित्य में इसका नाम और इसके एकाध उद्धरण देखने में आगे थे, पर समस्त नाटक के विषय में किसी को कुछ ज्ञात न था। पहले-पहल मद्रास के पंडित श्री रामकृष्ण कवि तथा श्री रामनाथ शास्त्री ने इस नाटक को बड़े परिश्रम से खोजकर पाठकों के सम्मुख रखा। दिङ्नाग कवि का काल 345 ई० से 425 ई० तक अनुमान किया जाता है। नाटक पढ़ने योग्य है। जिन महानुभावों ने 'उत्तररामचरित' का आनन्द उठाया है, वे इस पुस्तक को भी पढ़ें, हम आग्रह करते हैं।

[पुस्तक समीक्षा। 'जागरण', 9 जनवरी, 1933 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

डी वेलरा

लेखक : श्री उमादत्त शर्मा।

सामयिक पुस्तक है और अच्छे समय पर निकली है। लेनिन ने रूस का उद्धार किया। उस वक्त ज़ार की शक्ति क्षीण हो गयी थी। मुस्तफा कमाल ने तुर्की का उद्धार किया। सुल्तान योरोप का पुराना रोगी मशहूर था। लेकिन आयलैंड का उद्धार करने के लिए डी वेलरा को संसार के सबसे शक्तिशाली साम्राज्य का मुक़ाबला करना पड़ा। इसलिए हम डी वेलरा को लेनिन या मुस्तफा कमाल पाशा से कम नहीं समझते। अंग्रेज़ सरकार ने आयलैंड का खूब दमन किया लेकिन सिनफ़िनर्स का वही बाग़ी नेता आज अपने त्याग, तेजस्विता और दृढ़ता से आयलैंड का बेताज बादशाह है। वहां की दशा बहुत कुछ भारत से मिलती है और साम्राज्यवादियों की कूटनीति की चालें भी यहां उसी ढंग पर चल रही थीं, लेकिन डिलन, कालिंस, पार्नेल ने जो स्वप्न देखा था, उसे डी वेलरा ने पूरा कर दिखाया। पुस्तक एक महान पुरुष का चरित्र है और उसे पढ़कर हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। पुस्तक बड़ी ही रोचक है, उपन्यास की तरह, हां भाषा इससे सरल होती तो अच्छा होता। डी वेलरा के अतिरिक्त अन्य आइरिश नेताओं के चित्र भी हैं। आयलैंड का एक नक्शा दे दिया जाता तो इसकी उपयोगिता बढ़ जाती।

जिन्हें देश प्रेम की लगन है उन्हें इस पुस्तक से बहुत कुछ ज्ञान होगा।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', जनवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

विप्लव

लेखक : श्री राधामोहन गोकुल जी।

श्री राधामोहन गोकुल जी हिंदी के उन गिने हुए लेखकों में हैं, जिन्होंने धार्मिक, सामाजिक और नैतिक विषयों पर स्वतंत्र विचार किया है और उन विचारों का निडर होकर पालन किया है। आपके विचारों में मौलिकता है, गहरा अन्वेषण है और आदमी को क़ायल करनेवाली सच्चाई है। आपकी भाषा में नज़ाकत और लोच की जगह स्वामी दयानंद की-सी दृढ़ता और तेज है। आप इस सत्तर वर्ष की अवस्था में भी नये से नये विचारों का प्रतिपादन बर्नार्ड शा और ट्राटस्की की-सी निर्भीकता से करते हैं। आप जात-पांत, छूत-छात, धर्म-संप्रदाय इन सभी को समाज के लिए घातक और उनकी स्वाभाविक प्रगति में बाधक समझते हैं और आपकी दलीलों के सामने सिर न झुका देना कठिन है। अट्ठाइस वर्ष की युवास्था में जो आदमी स्त्री के मर जाने पर इसलिए विधुर जीवन व्यतीत करे कि वह मर जाता तो उसकी स्त्री आजीवन वैधव्य का पालन करती, त्यागमय जीवन का ऐसा पवित्र और ऊंचा आदर्श है कि जिसकी मिसाल मुश्किल से मिलेगी और इस अवस्था में भी आपकी ज़िंदादिली नौजवानों को लज्जित करती है। विप्लव वास्तव में अपने नाम को चरितार्थ करता है। इसमें महात्मा गोकुल जी के चुने हुए लेखों का संग्रह किया गया है और अरोड़ा जी ने इसे प्रकाशित करके हिंदी के विचार-साहित्य में एक स्तंभ-सा खड़ा कर दिया है। पहला लेख है, 'ईश्वर का बहिष्कार।' माधुरी में यह लेख-माला आठ साल हुए क्रमश: निकली थी और हिंदी-संसार में इसने हलचल मचा दी थी। इन दलीलों का जवाब नहीं है और लेख की शैली इतनी चुलबुली और विनोदमय है कि क्या कहना। 'अंधविश्वास', 'इतिहास की कसौटी' आदि लेख पढ़ने और विचार करने योग्य हैं। लेखक महोदय पक्के बुद्धिवादी हैं, वह क्यों मानने लगे, लेकिन हम तो यही कहेंगे कि आपके रूप में महात्मा चार्वाक् ने अवतार लिया है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', जनवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

सुलभ कृषिशास्त्र

लेखक : श्री सुख संपत्ति राय भंडारी एम० आर० ए० एस०।

ऐसी एक पुस्तक की बड़ी ही ज़रूरत थी और भंडारी जी ने यह पुस्तक लिखकर देश का उपकार किया है। भारत किसानों का देश है। उसका सब कुछ खेती पर मुनहसर है। सरकार भी लाखों रुपये नये-नये रिसर्च (खोज) पर खर्च करती है, लेकिन खेती पर उसका कोई प्रत्यक्ष असर नहीं होता। खोज होती है लेकिन उसका कोई प्रचार नहीं होता और वह सारी मेहनत सरकारी दफ्तरों की आलमारियों की शोभा बढ़ाने की भेंट हो जाती है। लेखक ने उन खोजों को एक जगह संग्रह करके उसे जनसाधारण के लिए सुलभ कर दिया है। जमीन की किस्में, जुताई, खाद, गेहूं, ऊख, आलू, मूंगफली, अफीम, तंबाकू, मक्का, कपास, चावल आदि फसलों के पैदा करने की विधि विस्तार से लिखी

गयी है और नयी से नयी खोजों का उपयोग किया गया है, इस बेकारी के दिनों में खेती के सिवा नौजवानों के लिए दूसरा आधार नहीं है। उनके लिए और हरेक किसान के लिए यह पुस्तक बड़े काम की है। हां, इसकी कीमत बहुत ज़्यादा है। अधिक से अधिक दो रुपया होना चाहिए था, इसलिए कि यह साहित्यिक विलास की वस्तु नहीं, रोटी के मसले को हल करनेवाली ज़रूरी चीज़ है और अर्थशास्त्र के सिद्धांतों के अनुसार ज़रूरी चीज़ों पर कर न लगना चाहिए या बहुत कम।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', जनवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

चिकित्सा-चंद्रोदय

लेखक : श्री हरिदास जी वैद्य।

इस अनुपम ग्रंथ के दो खंडों की आलोचना पहले किसी अंक में की जा चुकी है। पांचवें भाग में तीन खंड हैं। पहले दो खंडों में विष का वर्णन किया गया है। तीसरे खंड में स्त्री-रोगों की चिकित्सा दी गयी है। छठे भाग में खांसी और श्वास-रोग का निदान और चिकित्सा दी गयी है। इस भाग के अंत में दवाएं बनाने और सेवन करने में जिन बातों के जानने की ज़रूरत होती है वह सब विस्तार से लिखी गयी हैं। जैसा हमने पहले कहा था, हरिदास जी ने आयुर्वेद के अनेक ग्रंथों को मथकर उनका सार इन पुस्तकों में भर दिया है। विषय का इतना विशद् वर्णन कदाचित किसी एक आयुर्वेद ग्रंथ में न मिलेगा। तीन सौ चालीस पृष्ठ इस विषय पर दिये गये हैं। हर प्रकार के ज़हर की पहचान, उससे पैदा होनेवाले दोष, उसकी चिकित्सा, सभी कुछ तो है। यहा तक कि बावले कुत्ते, मकड़ी, छिपकली तक के ज़हर की चिकित्सा बतायी गयी है और नुस्खे भी अधिकांश परीक्षित हैं, जो बड़े महत्व की बात है। इन पुस्तकों को पढ़कर आदमी अपना और अपने घरवालों ही का नहीं, गांव और मुहल्लेवालों का भी बहुत कुछ कल्याण कर सकता है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', फरवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग', -3 में संकलित।]

बालकों का विद्यासागर

विद्यासागर के चरित्र में बालकों की रुचि की जितनी बातें हैं, वह सब यहां बड़ी सरल भाषा में लिखी गयी हैं। लड़कों को इस चरित्र से ज्ञात होगा कि विद्यासागर पढ़ने-लिखने में ही सब लड़कों से तेज़ न थे, खेल-कूद में भी कोई लड़का उनकी बराबरी न कर सकता था। वह माता-पिता के कितने भक्त थे। एक अध्याय में उनके जीवन की सब शिक्षाप्रद घटनाएं जमा कर दी गयी हैं। सुंदर बाल-पोथी है। कई चित्र भी हैं।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', फरवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

भर्तृहरि-चरित शृंगार, नीति और वैराग्य-शतक

अनु॰ : श्री हरिदास जी वैद्य।

भर्तृहरि के तीनों शतक संस्कृत साहित्य के ही नहीं, भू-साहित्य की अपूर्व रचनाएं हैं। जीवन की इन तीनों अवस्थाओं का शायद ही किसी कवि ने इतना मार्मिक हृदयस्पर्शी और आंखें खोलने वाला चित्रण किया हो। हिन्दी में इन कृतियों के अनुवाद तो पहले ही छप चुके हैं, लेकिन हरिदास जी ने प्रत्येक श्लोक की व्याख्या, श्लोक का अंग्रेज़ी रूपांतर, उससे मिलती-जुलती हिन्दी, उर्दू, फारसी कवियों के छंद देकर इसे सर्वसाधारण के लिए सुबोध बना दिया है। व्याख्या बड़ी फड़कती हुई, सजीव भाषा में की गयी है, जिससे उसके पढ़ने में आनंद आता है। ये तीनों पुस्तकें अब तीसरी बार प्रकाशित हो रही हैं, इसी से ज्ञात होता है कि हिन्दी पाठकों ने इनका कितना आदर किया है। भतृहरि का जीवन-चरित्र भी दिया है, मगर उसमें कितना इतिहास है, कितनी कल्पना, इसका फैसला मुश्किल है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', फरवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

हिन्दी गुलिस्तां

अनु॰ : श्री हरिदास जी वैद्य।

गुलिस्तां फारसी साहित्य का प्रसिद्ध ग्रंथ है। इतना सर्वप्रिय नीति ग्रंथ संसार-साहित्य में मुश्किल से मिलेगा। संसार की ऐसी कोई भाषा नहीं है, जिसमें इसका अनुवाद न हो गया हो। इसकी भाषा इतनी सरल, सरस और सजीव है, और कथाएं इतनी शिक्षाप्रद और मनोरंजक कि चिरकाल से पाठ्यपुस्तकों में इसका प्रथम स्थान रहा है। जिसे फारसी साहित्य से नाममात्र का भी परिचय है, उसने गुलिस्तां अवश्य पढ़ी है। शेख सादी कवि भी था और इन कथाओं को उन्होंने अपने छंदों से अलंकृत कर उनमें जान डाल दी है। गुलिस्तां के सैकड़ों वाक्य और शेर लोकोक्तियों का पद पा चुके हैं। हरिदास जी के अनुवाद में मूल का आनंद आता है। हर कथा के अंत में उससे मिलनेवाली शिक्षा भी दे दी गयी है। इस पुस्तक की यह चौथी आवृत्ति है। इससे मालूम होता है कि हिन्दी में इसका कितना आदर है। बालकों के लिए तो इसका पढ़ना लाज़िमी है ही, बूढ़ों को भी इसमें बहुत कुछ शिक्षा मिलती है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', फरवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

ईसाई बाला

लेखक : श्री अनंत गोपाल शेवड़े।

प्रकाश हिन्दू है। इसाबेला जोंस ईसाई। दोनों साथ कालेज में पढ़ते हैं। दोनों में प्रेम होता है और गुप्त रूप से विवाह हो जाता है। प्रकाश की माता शोक से प्राण देती है, प्रकाश का पिता भी बहुत नाराज़ होता है, लेकिन जब दंपत्ति समाज और राष्ट्र-सेवा में

तन-मन से लग जाते हैं और बाद को सत्याग्रह आंदोलन में भाग लेते हैं, तो पिता का क्रोध शांत हो जाता है और वह अपने पुत्र और पुत्र-वधू का स्वागत करता है।

पुस्तक का उद्देश्य तो सामाजिक क्रांति है, लेकिन ऐसी पुस्तक के लिए जिस रोचकता की आवश्यकता है, वह यहां कम है और ऐसा जान पड़ता है, कि बहुत जल्दी में लिखकर समाप्त कर दी गयी है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

मधुकरी

सपादक : श्री विनोद शंकर व्यास।

इस संग्रह का पहला भाग दो-तीन साल हुए निकला था। यह उसका दूसरा भाग है। इसमें कुछ कहानियां तो उन लेखकों की हैं, जो पहले भाग में नहीं आ सके थे और कुछ नये लेखकों की हैं। कुल तेईस कहानियां हैं और तेईस ही लेखक। कहानी-साहित्य कितनी तेज़ी मे हिन्दी में बढ़ रहा है, यह देखकर संतोष होता है। कहानियों में कृष्णानंद जी की 'जलधारा', जैनेन्द्र कुमार जी की 'स्पर्द्धा', धनीराम जी 'प्रेम' की 'बहन', श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की 'जंगी', प्रतापनारायण जी का 'आशीर्वाद' सुंदर कहानियां हैं। सरदार मोहन सिंह के 'मेरे मास्टर साहब' मे सामाजिक क्रांति की भावना प्रत्यक्ष है। शायद सरदार साहब को ऐसी क्रांति देश के उद्धार के लिए आवश्यक जान पड़ती हो। हमें तो इसमें सर्वनाश ही के लक्षण दिखते हैं। वैवाहिक बंधन केवल मन की इच्छा नहीं है, और न मन की चंचलता और विद्रोह को प्रेम कहते हैं। अगर इस तरह प्रत्येक स्त्री-पुरुष दूसरे स्त्री-पुरुष को देखकर व्यवहार करने लगें, तो वैवाहिक जीवन का अंत ही हो जाय। ऐसी भ्रष्ट कहानी लिखकर सरदार साहब ने किसी की सेवा नहीं की। राजेश्वर प्रसाद सिंह जी का 'अंतर्द्वन्द्व' भी यथार्थवाद का बिगड़ा हुआ चित्र है। हृदयनारायण का व्यवहार कहीं ऐसा नहीं दिखाया गया, जिससे उसकी स्त्री को उससे असंतुष्ट होने का कोई कारण होता। उसकी आमदनी कम है और वह स्त्री को अच्छे-अच्छे उपहार नही दे सकता। क्या इतना अपराध ही स्त्री के मन में गोपाल के प्रति ऐसी भावना उत्पन्न करने के लिए काफी है? अगर पुरुष या स्त्री इस तरह उपहारों पर लोट-पोट हो जाने लगें, तो गरीब परिवारों की मुख-शांति का अंत ही हो जाय। वात्स्यायन जी की 'अमर वल्लरी' अपूर्व है, और वीरेश्वर सिंह जी की 'वह बात' लाजवाब है। कई लेखकों की कहानियों का चुनाव इससे अच्छा हो सकता था। चंद्रगुप्त जी ने 'क, ख, ग,' से अच्छी कहानियां लिखी हैं और वाचस्पति पाठक ने 'हंस' के अभिनंदनांक में 'कागज़ की टोपी' लिखकर दिखा दिया है कि वह 'रानी' से बहुत अच्छी चीजें लिख चुके हैं। रहा शिवपूजनसहाय जी का 'कहानी का प्लाट', वह तो एक निराली चीज़ है, काश भगजोगनी का अंत इतना वीभत्स न होता। द्विजजी की 'वह तस्वीर' तो कहानी के मर्त्यलोक से उड़कर कल्पना के स्वर्ग में जा पहुंची है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

वेश्या का हृदय

लेखक : डा० धनीराम प्रेम।

एक वेश्या ने अपनी जीवन कथा लिखी है और उस पर सच्चाई का रंग भरने में पूर्णरूप से सफल हुई है। एक अच्छे मुसलमान परिवार की लड़की माता-पिता के मर जाने के बाद रिश्ते के एक चचा कल्लू मियां के घर में आश्रय पाती है। कल्लू मियां का बेटा अहमद, जो बंबई में खानसामा है, घर आता है और इस लड़की को अपनी ओर आकर्षित करके उससे निकाह कर लेता और उसे बंबई ले जाता है। बंबई में वह अपना परदा खोल देता है और नर-पिशाच वेश्या के दलाल के रूप में प्रकट होता है। आयसू रोती है, बिगड़ती है, पर बंबई में उसका कौन सहायक है? वह इस चक्र में फंस जाती है। अहमद पुलिस की गोली का शिकार होता है, आयसू को कैद की सज़ा होती है और बाहर निकलने पर पतन उसका स्वागत करता है। तब से अंत तक यह दुखिया प्रेम का आश्रय ढूंढ़ती रहती है और जब सफल होने का अवसर आता है, तो संसार से विदा हो जाती है। कहानी अत्यंत करुण और उसके साथ ही यथार्थमूलक है। एक निराश्रिता किस तरह अपनी रक्षा करने की चेष्टा करती है और अंत में असफल होती है, इसका वर्णन बहुत ही रोमांचकारी है। उसी के मुख से सुनिए–

'कौन ऐसा स्थान है, जहां प्रतिष्ठा के साथ जीवन कट सकेगा? कौन ऐसा है, जिस पर विश्वास कर सकूंगी? फिर यह जीवन किसलिए? किस आशा पर यह सारी आयु व्यतीत होगी? अब तो दो ही मार्ग है- या तो चरित्र को विदा कर दो, शील को खो दो और औरों की भांति संसार के मजे लूटो और या फिर उस स्थान पर चलो जहां मनुष्यों की दृष्टि से बच सको।.....'

जब विसन की पत्नी वेश्या आयसू के पास आकर कहती है–मुझे इसमें क्या? आप नहीं जानतीं। आपने कभी पत्नी होने का सुख नहीं उठाया। आपने एक पुरुष को प्रेम का केंद्र बनाकर उसकी पूजा नहीं की। आपने स्त्रीत्व के उस पुण्य प्रभाव में गोता नहीं लगाया, जिसमें बहना एक अपूर्व बात है। फिर आप एक स्त्री के हृदय के भावों को कैसे समझ सकती है?

इस स्त्री की बातों ने आयसू के जीवन की धारा ही पलट दी। यही वेश्या जो विसन को दोनों हाथों से लूट रही थी, अब कहती है–

'तुम अपनी स्त्री से प्यार नहीं करते? यह तुम्हारा बड़ा अन्याय है। वह तुम्हारी है, तुम उसके हो। मैं अब तक तुम्हें धोखे में डाल रही थी। मैं न तुम्हें प्यार करती हूं, न कर सकती हूं। मेरे इस क्षणिक रूप के पीछे अपना सर्वनाश न करो, न किसी और के रूप के पीछे पड़ना। तुम्हारे घर में देवी है। उसकी पूजा करो।'

पुस्तक अत्यंत रोचक है और समाज के एक ऐसे अंग की ओर हमारा ध्यान खींचती है जो अपनी निगाहों में चाहे जो कुछ हो, हमारी निगाहों में दुखी है क्योंकि वैवाहिक जीवन ही समाज का लक्ष्य है और शायद अभी दस-बीस साल रहे। कई स्थल तो बड़े ही मार्मिक हैं। भाषा में प्रवाह और रस है और भावों के चित्र बड़े सुंदर हैं।

संदेह यही होता है, कि यह वेश्या असली है या नकली। काश असली वेश्याएं

ऐसी होतीं, इतनी आसानी से प्रेम के बंधन में पड़ जाने वाली, तो समाज क्यों उन्हें इतना हेय समझता। आयसू अगर अपवाद नहीं है, तो उसके लगभग अवश्य है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', मई, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

प्रकाश की किरणें

लेखक : श्री भोलानाथ जी।

स्वामी जी के उपदेश हमने सुने हैं। उनमें एक भक्त-हृदय के पुलकित करने वाले उद्‌गार हैं, प्रेम में डूबे हुए और आध्यात्मिक आनंद में सने हुए। यह छोटी-सी पुस्तक आपके कुछ लेखों का संग्रह है। इसमें भी आध्यात्मिक तत्वों पर प्रकाश डाला गया है। आध्यात्म एक ऐसा विषय है, जिससे साधारण से साधारण आदमी भी कुछ न कुछ परिचित है। हम अक्सर लोगों को कहते-सुनते हैं—जो कुछ करता है, ईश्वर करता है, संसार माया है, घट-घट में राम व्याप्त है, मन चंगा तो कठौती में गंगा, जहां श्रद्धा होगी, वहीं भगवान के दर्शन होंगे आदि, पर यह ज्ञान परंपरागत है, अनुभूत नहीं, इसलिए हम मुख से ऐसे महान सत्यों का व्यवहार करके भी उनके अनुरूप आचरण नहीं कर सकते। जिसने इन तत्वों को अपना लिया है, वही ज्ञानी है, वही महात्मा है। स्वामी भोलानाथ जी उन्हीं अनुभवी पुरुषों में हैं, और इस विषय पर लिखने और बोलने का उन्हें अधिकार है। 'सफलता का रहस्य' इस विषय पर लिखते हुए आप कहते हैं—ईश्वर-प्राप्ति का सबसे सरल मार्ग उसकी संतान, मनुष्य मात्र की सेवा और उन्हीं से प्रेम है। और हमारे खयाल में यह अध्यात्म का सार है। मुश्किल यही है कि जब हमसे कहा जाता है कि—

'दिन भर में जो सुख-दुख मिले उन सब में ईश्वर की इच्छा का संचार समझो और सदा के लिए उसे अपने हृदय-मंदिर में प्रतिष्ठित करो।'

तो तुरत मन में संदेह होता है कि ईश्वर हम दुखियों के आंसू पोंछने के लिए केवल एक मानवी कल्पना तो नहीं है। जब हमारे दुखों में भी ईश्वर की इच्छा ही का संचार है, तो शंका होती है कि हम अपनी दशा को सुधारने का प्रयत्न ही क्यों करें? और वही शंका, इस नतीजे पर पहुंचती है कि जिनका संसार के पदार्थों पर अधिकार है, उन्होंने विपन्नता को शांत करने के लिए इस कल्पना की सृष्टि करके उसे सम्मोहित कर दिया है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', सितंबर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

हिन्दुस्तानी कोश

संग्रहकर्ता : पं० रामनरेश जी त्रिपाठी।

त्रिपाठी जी ने यह कोश तैयार करके हिन्दी को एक बड़ी ज़रूरत पूरी कर दी। हिन्दी और उर्दू के बीच में एक तीसरी भाषा बनती जा रही है जिसे 'हिन्दुस्तानी' कहा जा रहा है। वह साधारण बोल-चाल की भाषा है, जिसमें हिन्दी, उर्दू, फारसी, अंग्रेज़ी

आदि सभी भाषाओं के शब्द मिलते हैं। वह हिन्दी और उर्दू दोनों को प्लेटफार्म पर ला खड़ी करती है, उनमें केवल लिपि का भेद रह गया है। इस तरह का कोई कोश अब तक मौजूद न था, जिसमें इंक्लाब, अंजुमन, मारफ़त, जिलवा, हयात, मुस्तग़ीस आदि शब्दों के अर्थ दिए गए हों। अंग्रेजी के शब्द हमारी बोलचाल में रोज-बरोज बढ़ते जाते हैं और थोड़े दिनों में वे हिन्दी में मिल जाएंगे। जीवित भाषा का धर्म है कि ऐसे शब्दों का स्वागत करे, न कि उनके द्वार बंद कर दे। त्रिपाठी जी ने इस ज़रूरत को समझा है। और इन शब्दों को कोश में स्थान देकर, उन पर टकसाल की मुहर लगा दी है। वैज्ञानिक या दार्शनिक विषयों के पारिभाषिक शब्द तो उर्दू के अलग होंगे और हिन्दी के अलग, लेकिन साधारण किस्से-कहानियां, समाचारपत्र और इसी तरह की हजारों बातें अगर हिन्दुस्तानी का प्रयोग करें, तो निस्संदेह भाषा का भेद मिट जाय और शिक्षित मुसलमान या हिन्दू की बोल चाल में कोई दिक्कत न हो, किंतु उर्दू भी हिन्दी शब्दों का इसी शौक से स्वागत करने को तैयार है या नहीं, हम नहीं कह सकते।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', सितंबर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

अरुण

यह सचित्र मासिक पत्र भी देहली से निकलता है। अब वहां से दो मासिक-पत्र हो गए। 'अरुण' के संपादक हैं श्री पृथ्वीराज मिश्र। उनका आदर्श ऊंचा, संकल्प पक्का है। उनकी लेखनी में ज़ोर है, साहित्यिक लेखों के अति स्वास्थ्य और शृंगार, हास्य-मंजूषा, परिमल, हास्य-विनोद आदि इसके स्तंभ हैं। पत्र होनहार है। गेट-अप सुंदर है। वार्षिक मूल्य: साढ़े तीन रु० पृष्ठ संख्या 72

[पत्रिका-समीक्षा। 'हंस', दिसंबर, 1933 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

आकर्षण

मासिक पत्र है। अक्टूबर से देहली से निकलने लगा है। संपादक हैं, कुशल गल्प-लेखक श्री भूदेव शर्मा। देहली से दैनिक और साप्ताहिक-पत्र तो निकलते थे, पर मासिक-पत्र का स्थान खाली था। हमें आशा है, भूदेवजी अपने शुभ उद्योग में सफल होंगे। पत्रिका में शिक्षा और मनोरंजन की काफ़ी सामग्री है, और उसे कई लेखकों का सहयोग प्राप्त हो गया है। पत्र-संपादन बड़ी जिम्मेदारी का काम है और हमें आशा है, शर्माजी ने जो यह भार उठाया है, उसमें वह सफल होंगे। वार्षिक मूल्य 5 रुपये।

[पत्रिका-समीक्षा। 'हंस', दिसंबर, 1933 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

आत्म-विस्मृति

रचयिता : श्री पद्मकांत मालवीय।

पद्मकांत जी ने हिन्दी में रुबाइयां लिखकर कविता-प्रेमियों को एक नयी चीज़ देने की चेष्टा की है। मगर ग़ज़ल या मुसद्दस या रुबाइयों के लिए उर्दू की ज़मीन जितनी अनुकूल सिद्ध हुई है, शायद हिन्दी उतनी अनुकूल न हो। हां, यह बात ज़रूर है कि उर्दू को सैकड़ों उस्तादों से मांजे जाने का गौरव प्राप्त हुआ है, तब जाकर उसमें वह सफ़ाई आयी है। पद्मकांत जी को रुबाइयां तो गंगा-मदार, या शराब और गंगाजल का मिश्रण सी मालूम होती है। हिन्दी कविता में प्याला और मधुशाला और मधुबाला से पंडित जी अभी अपरिचित से लगते हैं। संभव है, आगे चलकर भाषा के मंज जाने पर हिन्दी रूबाइयों में भी अनीस या रवां की रूबाइयों का-सा मज़ा आये। अभी तो वह बात नहीं आयी।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', दिसंबर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

चांद

नव वर्षांक।

हिन्दी मासिक पत्रों में 'चांद' ही एक ऐसा पत्र है, जिसने एक आदर्श सामने रखकर सदैव उसको पूरा करने का यत्न किया है। उसके आदर्श से बहुतों को मतभेद हो सकता है, पर उसने जो कुछ सत्य समझा है, उसका प्रतिपादन करता है और प्रशांसनीय निर्भीकता से। नवंबर से उसका नया वर्ष आरंभ होता है और इस साल उसका नव-वर्षांक बड़ी सजधज के साथ निकला है। कविताओं, कहानियों और इसके विशेष सतंभों के अतिरिक्त इस अंक में कई विचारपूर्ण लेख हैं, जिनमें प्रो० रामदास गौड़ का 'भारतीय परलोकवाद', पंडित लक्ष्मीधर बाजपेयी का 'हमारी पतिता बहनें', श्री बालकृष्ण गुप्त का 'सोवियेट रूस', श्री सत्यजीवन शर्मा का 'प्राचीन भारत में गणिका', तथा 'हिन्दू विवाह की रस्मों में परिवर्तन' आदि लेख विचारणीय हैं। बाजपेयी जी ने जिस संगठन की चर्चा की है, उससे वेश्याओं का चाहे आर्थिक लाभ हो सके मगर समाज में सम्मान तो तभी मिल सकता है, जब उनके चरित्र में संयम आ जाय, यदि फिर वे नृत्य और गान को पेशा बनाकर भी गृहिणी बनकर रहें। वर्मा जी ने बहुत से प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि पुराने ज़माने में गणिकाओं का समाज में अच्छा आदर था, आदर सदैव चरित्र से मिलता है। आज भी ऐसी वेश्याएं मौजूद हैं, जिन्होंने संगीत की उपासना को ही अपने जीवन का आधार बनाये रखा है। अनादर और अपमान तो रूप के बेचने से होता है। अगर आज भी प्राचीन गणिकाओं की भांति वेश्याएं नाच-गाने को अपना मुख्य कार्य बना लें और केवल प्रेम होने पर किसी नागरिक से संबंध कर लें और एकाचारिणी बनकर रहें तो कोई वजह नहीं कि आज भी उनका अनादर हो। श्री मोहनलाल जी ने अपने लेख में दिखाया है कि पुराने समय में हिन्दुओं की विवाह-प्रथा में क्या-क्या परिवर्तन हुए, पर विवाह की वर्तमान समस्या को हल करने की चेष्टा नहीं की। समाज की यह बड़ी कठिन समस्या है। हम अंधेरे में टटोल

रहे हैं, पर कोई मार्ग नहीं पाते। एक ओर पुरानी बेहूदा रस्में हैं, दूसरी ओर पश्चिम की अंधाधुंध नक़ल है और उससे पैदा होने वाले उपद्रव।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', दिसंबर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

जयाजी प्रताप

वर्षगांठ का अंक, 1933, मूल्य एक रुपया रु०। जयाजी प्रताप कार्यालय, ग्वालियर।

इस पत्र में अंगरेजी और हिन्दी का सम्मिश्रण रहता है। इस बार नवम्बर में भी आधे लेख अंगरेजी में है, आधे हिन्दी में। अंगरेजी लेखों में सभी पढ़ने योग्य हैं। कई लेख तो ग्वालियर, उसके वर्तमान शासन और व्यवसाय के विषय में हैं। गृह निर्माण पर भी एक प्रकाश डालने वाला है। बाघ-गुफाओं का सचित्र वृत्तान्त, जैनियों के समय की राजदरबारी शिक्षा और नई जागृति आदि लेख पठनीय हैं। हिन्दी-भाषा में 'भाषा चित्र-कला का दिग्दर्शन' और 'संस्कृत साहित्य के कुछ मुसलमान भक्त' लेख हैं। इस अंक में चार रंगीन और कितने ही सादे चित्र और कार्टून और एक हास्य-रस की कहानी और बच्चों के लिए कुछ मनोरंजक तुकबंदियां दी गई हैं। अंक संग्रह करने योग्य है।

[पत्र समीक्षा। 'हंस', दिसम्बर 1933 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

तूफान

राष्ट्रवादी साहित्यिक पत्र है। कलकत्ता से राधामोहन गोकुल जी के संपादकत्व में निकला है। राधामोहन गोकुल जी इस वृद्धावस्था में भी नौजवानों का जोश रखते हैं। तूफान में हास्य, बल-विनोद, कहानी आदि मनोरंजन की काफी सामग्री रहती है। गम्भीर और विचारपूर्ण लेख भी दिये जाते हैं। संपादक ने अपने कार्यक्षेत्र के विषय में लिखा है, 'तूफान देखने में कभी-कभी संसार के लिए बहुत अहितकर, बहुत भयावना और अनवांछनीय प्रतीत होता है, किंतु वास्तव में ऐसा होता नहीं। उसकी गर्मी, सर्दी, तरलता, सरलता, कठोरता आदि में से प्रत्येक गुण प्रकृति देवी के किसी न किसी उद्देश्य साधन के निमित्त ही होता है।' इसी से पत्र के नाम की यथार्थता सिद्ध होती है।

[पत्र समीक्षा। 'हंस', दिसम्बर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

नवाब का हाथी

अनु० : मुंशी कन्हैयालाल।

मुंशी कन्हैयालाल ने हिन्दी को उर्दू-साहित्य के हास्य रस से खूब परिचित कर दिया है। इस संग्रह में उन्होंने दस अच्छी-अच्छी कहानियों का संग्रह कर दिया है।

'बाईसिकिल' और 'अंगूठी की मुसीबत' विशेष रोचक हैं। मगर ऐसी कोई कहानी नहीं है, जिसे पढ़कर हास्यमय मनोरंजन न हो।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', दिसम्बर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

मदारी

हास्य-रस का पाक्षिक पत्र है। प्रयाग से श्री बलभद्र प्रसाद गुप्त 'रसिक' की एडीटरी में प्रकाशित होता है। चार अंक निकल चुके है। कविताएं और गल्पें भी देता है। हमें आशा है, मदारी साहित्यिक गुटबंदियों से अलग रहकर अपने बंदरों को नचाता रहेगा। ऐसे एक पत्र को जरूरत थी। हां, मदारी का काम इतना आसान नहीं होता। कभी-कभी बंदर उसे काट भी लिया करते हैं। इसलिए बंदरों को नचाते समय चुमकार पुचकारकर काम लेना अधिक निरापद होगा।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', दिसंबर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

मानुषी

लेखक : श्री मियारामशरण गुप्त।

श्री सियारामशरण जी की कविताओं में जो शांति और माधुर्य ही की प्रधानता रहती है, वही विशेषता उनकी कहानियों में है, कहीं-कहीं निरीह चुटकियां भी लेते हैं। भावों में गहराई है अवश्य, पर पाठक को वहां पहुंचने में कोई झटका, कोई हचकोला नहीं लगता, जैसे किसी लिफ्ट में बैठकर नीचे उतर गये। 'रुपये की समाधि', 'पथ में से' और 'कष्ट का प्रतिदान' बड़ी सुंदर और मर्मस्पर्शी कहानियां हैं।

[पुस्तक ममीक्षा। 'हंस', दिसंबर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

विशाल भारत डायरेक्टरी

संपादक: श्री ब्रजमोहन वर्मा, प्रकाशक: विशाल भारत डायरेक्टरी ऑफिस, 120/2, अपर सरकुलर रोड कलकत्ता। मूल्य: डेढ़ रुपया।

वर्तमान युग में डायरेक्टरी, जीवन की एक ज़रूरी चीज़ बन गई है। व्यापार में तो इसके बिना काम ही नहीं चल सकता। विशाल भारत कार्यालय ने इसे प्रकाशित करके एक बड़ी कमी पूर्ण कर दी है। इसमें इतिहास, भूगोल, विज्ञान की मोटी-मोटी बातें, तार, डाक, रेल आदि के नियम, भारत की शासन-संबंधी अनेक बातें, नाप-तौल, कांग्रेस का इतिहास, व्यापार-संबंधी हज़ारों बातें बतलायी गई हैं। एक अध्याय में ओटावे के समझौते का जिक्र भी किया गया है। स्टॉक ऐक्सचेंज, जहाज़रानी, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन आदि, सब कुछ मौजूद है। जो आंकड़े, जो जानकारी, सैकड़ों पुस्तकों को उलटने-पुलटने पर

भी मुश्किल से मिलेगी, वह यहां एकत्र कर दी गई है। अंत में व्यापारियों की एक लंबी सूची है, जो लगभग 150 पृष्ठों में समाप्त हुई है। लेखकों और सार्वजनिक काम करने वालों के लिए तो इसकी एक प्रति रखना अनिवार्य है।

[डायरेक्टरी-समीक्षा। 'हंस', दिसंबर, 1933 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

साहित्य समीक्षा

श्री कालिदास जी कपूर हिन्दी के सुपरिचित आलोचकों में हैं। इस पुस्तक में उनके आलोचना-संबंधी लेख, जो उन्होंने समय-समय पर पत्रों में प्रकाशित कराये थे, संग्रह कर दिये गये हैं। सेवा-सदन, प्रेमाश्रम और रंगभूमि की विस्तृत आलोचनाएं भी दी गयी हैं। कालिदास जी की आलोचनाएं पक्षपात-रहित होती हैं, यही उनकी खूबी है। 'हिन्दी में नाटक और अभिनय' और 'हिन्दी में उपन्यास साहित्य' विचारपूर्ण लेख हैं।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', दिसंबर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

मालिका तथा मृदल

दोनों के रचयिता श्री जनार्दनप्रसाद झा, 'द्विज', दोनों ही के प्रकाशक चांद कार्यालय, प्रयाग। मूल्य क्रम से 4) और 2।।)। छपाई अच्छी, सजिल्द।

दोनों ही पुस्तकें द्विज जी की प्रकाशित कहानियों के संग्रह हैं। द्विज जी यों बड़े ही खुशमिजाज आदमी हैं, हंसना भी जानते हैं और हंसाना भी, लेकिन कलम हाथ में लेते ही वह जरूरत से ज्यादा गंभीर हो जाते हैं। उनकी अधिकतर कहानियां जलने वाले दिल की चिनगारियां हैं, जिनके एक-एक शब्द में क्रांति भरी हुई है। वह कवि हैं और कवि का कोमल हृदय अपने चारों तरफ रुदन और विलाप सुनकर शांत नहीं बैठ सकता। यह विराग तो दार्शनिकों के बखरे पड़ता है। हिन्दू समाज में मर्यादा के नाम पर कैसे कैसे अन्याय किये जाते हैं, मान-रक्षा के नाम पर सत्य और प्रेम का कैसे गला घोंटा जाता है, क्षुद्र स्वार्थ के लिए कैसे जिन्दगी-भर के अरमानों का खून किया जाता है, निस्सहाय अबलाओं को कैसे नरक में भेजकर ही शान्त होता है, इन कहानियों के यही विषय हैं, पर भाषा में इतना प्रवाह, भावों में इतना माधुर्य और चित्रण में इतनी स्वाभाविकता है कि मन कहीं नहीं ऊबता। उसके पात्र साधारण प्राणी हैं। उनकी बीती भी वही है, जो हम आये-दिन देखा करते हैं। इसीलिए हमें उनके मनोभावों को समझने में कठिनाई नहीं पड़ती। द्विज जी कहीं-कहीं कटु हो गये हैं, पर उनकी कटुता खिन्न नहीं करती, हमें लज्जित करती है। एक कहानी में पुत्र के मुख से पिता के प्रति जो गुस्ताखी-भरे शब्द निकले हैं, वे न निकलते तो अच्छा होता। जब आप एक आदर्श चरित्र की सृष्टि कर रहे हैं, तो यही उचित है कि पिता की स्वार्थपरता पर भी पुत्र विनय को हाथ से न छोड़े। संभव है, कुछ लोगों को यह स्थल कहानी की जान प्रतीत हो। कुछ भी हो, द्विज जी कहानी-कला में कुशल हैं।

[पुस्तक समीक्षा। 'चांद', 1933 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 1 में संकलित।]

गांधी-विचार दोहन

लेखक : श्री किशोर लाल घ॰ मशरूवाला।

श्री मशरूवाला को महात्मा गांधी के संपर्क में रहने का बहुत अवसर मिला है, महात्मा जी की पुस्तकों और लेखों का आपने खूब स्वाध्याय किया है। इस पुस्तक में आपने धर्म, समाज, सत्याग्रह, स्वराज्य, वाणिज्य, उद्योग, गोपालन, स्वच्छता और आरोग्य, शिक्षा, साहित्य और कला आदि विषयों पर महात्मा जी के विचारों का मंथन करके नवनीत निकालकर रख दिया है। महात्मा जी का जीवन एक फिलासफी है, आपके हरेक शब्द, हरेक वाक्य, हरेक कार्य की तह में आध्यात्मिक तत्व छिपे होते हैं। उन तत्वों का यहां सूत्र रूप में संग्रह कर दिया गया है। हमने ऊपर जो विषय दिये हैं, उनमें हरेक के अंतर्गत कई-कई प्रकरण हैं। 'धर्म' के अंतर्गत परमेश्वर, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, कायिक, परिश्रम, स्वदेशी, अभय, नम्रता, व्रत, प्रतिज्ञा, उपासना की अलग-अलग विवेचना की गयी है। महात्मा जी ने संसार के सामने मानवता का परिष्कृत और महान आदर्श रखा है, केवल सैद्धांतिक नहीं, संपूर्णत: व्यावहारिक, जिसने उस आदर्श पर चलकर, उन्हीं सिद्धांतों के साँचे में अपना जीवन ढालकर जो दुर्लभ था, अगम्य था, उसे अपने जीवन में सुलभ और सुगम बनाकर मानवता को उच्चतर बना दिया है। ऐसे अवतारी पुरुष (Superman) के विचार तत्वों को एक छोटी-सी पुस्तक में जमा करके लेखक ने समाज का बड़ा उपकार किया है। इन्हें कितना परिश्रम करना पड़ा होगा, इसका केवल अनुमान किया जा सकता है। हम यहां दो-चार उदाहरण देकर पाठकों को दिखाना चाहते हैं कि महात्मा जी के विचारों का दोहन कितनी योग्यता और सूक्ष्म दृष्टि से किया गया है अहिंसा प्रेम के शुद्ध रूप का नाम अहिंसा है, परंतु प्रेम में राग और मोह की गंध आ जाती है। जहां राग और मोह होगा, वहां द्वेष का भी बीज अवश्य होगा। इसीलिए तत्ववेत्ताओं ने 'प्रेम' शब्द का प्रयोग न करके 'अहिंसा' की योजना की है और कहा है कि 'अहिंसा परम धर्म है'। 'अहिंसा धर्म का अर्थ इतना ही नहीं है कि दूसरे के शरीर या मन को दुख या चोट न पहुंचाना।' यह तो अहिंसा धर्म का एक दृश्य परिणाम कहा जा सकता है। स्थूल दृष्टि से देखें तो ऐसा प्रतीत हो सकता है कि किसी के शरीर और मन को तो दुख या हानि पहुंच रही है, परंतु वास्तव में वह शुद्ध अहिंसा धर्म का पालन है। हां, इसके विपरीत ऐसा भी हो सकता है कि वास्तव में हिंसा तो की गयी है, परंतु इस तरह से कि जिससे शरीर या मन को दुख अथवा हानि पहुंचने का आरोप न किया जा सके, अतएव अहिंसा का भाव दृश्य परिणाम में नहीं, बल्कि अंत:करण के राग द्वेष-हीन स्थिति में है।

नम्रता-नम्रता को अहिंसा ही का एक अंश कह सकते हैं। जहां अहंकार है, वहां नम्रता में कमी समझना चाहिए। जो अहंकारी है, वह सर्वोत्तम भाव नहीं रख सकता, इसलिए उसकी अहिंसा में कमी आ जाती है।

अभय-मनुष्य आमतौर पर बीसों बातों से डरता रहता है-जैसे मौत से, शारीरिक कष्टों से, धन-नाश से, मारकाट से, जुल्म और अत्याचार से, मानहानि से, लोक निंदा से, कौटुंबिक क्लेश से, अथवा इस खयाल से कि कुटुंबियों को दुख होगा, खयाली वहमों से आदि-आदि से। जो मनुष्य डरता है वह धर्माधर्म का गहरा विचार करने का साहस

ही नहीं कर सकता। वह सत्य की खोज नहीं कर सकता और न प्राप्त होने के बाद उस पर आरूढ़ ही रह सकता है। इस तरह उससे सत्य का पालन भी नहीं हो सकता।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', जनवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-3 में संकलित।]

टर्की का मुस्तफा कमाल पाशा

लेखक : श्री शिवनारायण टंडन।

जिस वीरात्मा ने टर्की को गुलामी, धर्म, पाखंड और स्वेच्छारिता से मुक्त किया, उसी मुस्तफा कमाल पाशा का यह जीवन चरित्र है, जो कई अंग्रेजी पुस्तकों के आधार पर लिखा गया है। मुस्तफा कमाल ने जिम वक्त होश संभाला, टर्की साम्राज्य का अंत हो चुका था। एक ओर गृह-कलह का बाजार गर्म था, दूमरी ओर योरोपियन शक्तियों का आतंक। देश के हितैषी उद्धार की कामना कर रहे थे। नौजवान तुर्की पार्टी की स्थापना हो चुकी थी और वह पत्येक मुख्य स्थान में गुप्त रूप मे देश में नवीन जागृति पैदा करने का उद्योग कर रही थी। कितने ही उच्च राज- कर्मचारी इस नौजवान पार्टी में थे। मुस्तफा कमाल को ज़मीन एक तरह से तैयार मिली। उसके ऊपर कई बार संदेह हुआ, पर हर बार वह कर्मचारियों के सहयोग से बच गया। योरोपीय महायुद्ध में उसे अपनी सैनिक योग्यता दिखाने का अवसर मिला और उसने दर्दे [illegible] में विपक्षी सेनाओं को परास्त करके अपना सिक्का बिठा दिया। फिर उसने किस तरह अनेक बाधाओं और कठिनाइयों में अपने प्रतिभापूर्ण व्यक्तित्व का परिचय देते हुए, सुलतान को माजुल किया, किम तरह देश को देशद्रोहियों से मुक्त किया, किस तरह राज्य को शक्तिशाली बनाया, किस तरह सामाजिक सुधार किये, यह सारा वृत्तांत इस पुस्तक मे इतने मनोरंजक ढंग से किया गया है कि उपन्यास का मज़ा आता है। भाषा चुलबुली और मंजी हुई है। जीवनीकार को अपने नायक में जो श्रद्धा होनी लाज़िमी है, वह एक-एक शब्द मे टपकती है। यदि अध्यायों का स्पष्ट रूप से वर्गीकरण कर दिया जाता, तो पुस्तक और भी उपयोगी हो जाती। प्रारंभिक-जीवन', 'योरोपीय युद्ध', 'तुर्की क्रांति', आदि परिच्छेदों से हमें विषय के समझने में ज्यादा सुगमता होती! तुर्की का नक्शा भी होना जरूरी था। ऐसे महान व्यक्ति की जीवनी ऐसी होनी चाहिए कि उसकी जीवन-कथा के साथ-साथ देश की ऐतिहासिक और राजनैतिक पगति पर भी प्रकाश पड़ता जाय। यह दोष खटकता है। हमें आशा है, दूसरे एडिशन में यह कमी दूर कर दी जायगी।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', जनवरी, 1934 मे प्रकाशित। 'विविध पसंग' भाग-3 में संकलित।]

जयन्त

लेखक : श्री रामनरेश त्रिपाठी।

यह त्रिपाठी जी का नाटक है और लिखा गया है केवल पांच दिन में, इस रफ्तार से तो शायद आप साल भर में पंद्रह-बीस नाटक लिख डालेंगे और इस क्षेत्र में विलंब करके आने की कसर पूरी कर देंगे।

नाटक बच्चों के पढ़ने लायक अच्छा है, क्योंकि वास्तविक जीवन में चाहे इतनी

आसानी से भिखारी राजा हो जाय, लेकिन नाटकीय जीवन में तो हम सफलता के पहले हीरो को इससे कहीं भीषण कठिनाइयों में देखना चाहते हैं। यहां तो सेठ के सिवा और सब देवता और देवियां हैं। इतनी सस्ती सफलता ने उसका महत्व खो दिया। दो-चार उपवास और दो-चार झापड़ अगर एक राजा का दामाद बना दें, तो आज निन्यानबे फीसदी युवक उसे झेलने को तैयार हो जायेंगे और सबसे बड़ी भूल तो यह हुई कि आपने यह स्पष्ट लिख दिया कि आपने इसे पांच दिन में लिख डाला। आप चाहे एक ही दिन में लिख डालते, मगर आपको या तो इस विषय में खामोश रहना चाहिए था, या कम से कम तो पांच महीने लिखते।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

बलभद्र और इतिहास की कहानियां

लेखक · श्री आनंद कुमार।

यह दोनों पुस्तिकाएं बच्चों के लिए लिखी गयी हैं और मनोरंजक हैं। दोनों के दाम चार-चार आने हैं। इनके लेखक श्री आनंद कुमार जी बाल-साहित्य की अच्छी रचना कर रहे हैं। आपकी रफ्तार त्रिपाठी जी से भी तेज है। बलभद्र आपने पांच घंटे में लिख डाली। आप लोगों के मस्तिष्क में मशीन की गति है, लेकिन प्रतिभा को इस तरह सरपट छोड़ देना ठीक नहीं। रोक कर चलना चाहिए।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

दि मूविंग पिक्चर मन्थली एनुअल

'मूविंग पिक्चर मन्थली' सिनेमा विषयक उच्चकोटि का मासिक पत्र है और बंबई से निकलता है। यह इसका वार्षिक अंक है। लेखों में कई स्वयं उन महानुभावों के हैं, जो फिल्म-स्टेज में यश कमा चुके हैं। अपने पेशे पर वे क्या कहते हैं, यह महत्त्व की बात है। सिनेमा-संबंधी प्राय: सभी बातों पर कुछ-न-कुछ प्रकाश डाला गया है और छपाई, सजावट और चित्रों की दृष्टि से तो यह पत्र किसी विदेशी सिनेमा-मैगजीन से टक्कर ले सकता है। हमें यह जानकर हर्ष हुआ कि इसके यशस्वी संपादक मि० आर० के० रेले भी सिनेमा में उच्चकोटि की साहित्यिक रचनाओं के समर्थक हैं और उसे बाजारू रुचि से बचाना चाहते हैं।

[पत्रिका-समीक्षा। 'हंस', फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य-1' में संकलित।]

बर्म्मन कैलेंडर

कलकत्ते की सुप्रसिद्ध फर्म डाबर (डॉ० एस० के० बर्म्मन) लि० ने सन् 1934 का कैलेंडर बहुत सुंदर निकाला है। 12 पन्नों में 12 महीनों की अंग्रेजी तारीखें और हिन्दी तिथियां दी गई हैं। पर्व-सूची भी साथ ही दे दी गई है। बड़ा सुंदर और उपयोगी कैलेंडर है।

[कैलेंडर-समीक्षा। 'हंस', फरवरी, '34 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य-1' में संकलित।]

वल्लरी

लेखक : डॉ॰ धनीराम प्रेम, भूतपूर्व संपादक, 'चांद'।

डॉक्टर धनीराम की कहानियों का हिन्दी में खास स्थान है। यह पुस्तक उनकी ग्यारह कहानियों का संग्रह है। आपकी कहानियों में वह नयापन, वह चोंचले नहीं, जो आजकल अक्सर मनचले गल्प-लेखकों की कहानियों में नज़र आते हैं, पर स्वाभाविकता है, जो कहानियों में चटपटे कचालू का स्वाद नहीं–मीठे हलवे का स्वाद भर देती है। देखिये, विधवा के मनोभावों का यह कितना सुंदर चित्रण है– 'क्या मेरे हृदय में पुनर्दर्शन की लालसा न थी? सारे जीवन में जिस एक पुरुष की वाणी में माधुर्य पाया हो, हृदय में भावुकता पायी हो, जिसने दो घंटे वार्तालाप करके जीवन की सुप्त वास्तविकताओं को जगा दिया हो, उसको फिर देखने की इच्छा किसे न होगी।'

बीच-बीच में आपकी कहानियों में हास्य-परिहास की अच्छी चाशनी रहती है। 'जला भुना' नाम की कहानी पढ़कर हंसते हंसते पेट में बल पड़ गये। कुमुद सचमुच जालिम थी और हरीश की उसने ऐसी ख़बर ली कि उम्र भर न भूलेंगे।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', फरवरी, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

उद्यम

खास साखर-अंक। संपादक और प्रकाशक : विश्वनाथ नारायण वागॉवकर, बी॰ एस-सी॰। कमर्शियल प्रेस, धंतोली, नागपुर (सी॰ पी॰)। वार्षिक मूल्य चार रु॰, इस अंक का मूल्य एक रु॰।

'उद्यम' मराठी भाषा का उद्योग-व्यवसाय-सबंधी बहुत ही सुंदर मासिक पत्र है। इस वर्ष उसने शक्कर के व्यवसाय पर यह विशेषाक प्रकाशित किया है। इस अंक के पढ़ने पर शक्कर के व्यवसाय के संबंध में अच्छा ज्ञान प्राप्त हो जाता है। गन्ने की खेती से लेकर शक्कर बनाने की क्रिया और व्यवसाय संबंधी पूरी जानकारी इसमें है। भारत-भर की शक्कर की मिलों की सूची भी दे दी गई है। बड़ा उपयोगी अंक है। हिन्दी-भाषा का एक लेख भी इसमें है। मराठी जानने वाले जो पाठक इस विषय में रुचि रखते हों, इस अंक को अवश्य पढ़ें। संपादक इस प्रपत्र के लिए प्रशंसा के पात्र हैं।

[पत्रिका समीक्षा। 'हंस', मार्च, 1934 तथा 'जागरण', 26 मार्च, 1934 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

गौरी शंकर

लेखक : श्री मदारीलाल गुप्त।

प्लाट में कोई नवीनता नहीं और न कोई चरित्र ही उल्लेखनीय है। पहले ही अध्याय में नायक का गौर से मिलना अनोखे ढंग से हुआ है। गौरी हलवा खाने के लिए मचल रही है, या मजबूर है, पैसे कहां से लावे। शंकर उसी समय वहां अनायास आ जाता है और गौरी के लिए हलवे की सामग्री ला देता है। एक युवती का हलवे के लिए ज़िद करना और एक

अपरिचित युवक के पैसों से हलवा खाने को तैयार हो जाना हास्यजनक है। छोटी-सी तो पुस्तिका ही है, पर वह भी आद्यन्त ऐसी ही असंगत घटनाओं से भरी पड़ी है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', 12 मार्च, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

पुष्प कुमारी

लेखक : पं. टीकाराम तिवारी।

कमल किशोर ने एक घोर संकट में पुष्प कुमारी की रक्षा की है। पुष्पकुमारी ने उसी क्षण प्रतिज्ञा की कि तुम्हारे सिवा और किसी को न वरूंगी। कुछ दिनों के उपरांत एक महात्मा आते हैं और पुष्प कुमारी को देखकर कहते हैं कि यह अट्ठारह वर्ष की अवस्था में विधवा हो जायगी। पुष्प कुमारी कठिन तपस्या मे भाग्य लिपि को अन्यथा कर देती है और कमल किशोर से उसका विवाह सानंद हो जाता है। पुष्प कुमारी के भाई माधवप्रसाद की कर्कशा स्त्री ललिता सास-ससुर से झगड़ा करके अलग हो जाती है, पर बहुत कष्ट सहकर अंत को फिर अपने कुटुंब से आ मिलती है। कल्पना से बहुत अधिक काम लिया गया है। उपन्यास क्या है, मालूम होता है, कोई पंडित जी कथा बांच रहे हैं। वही शैली है, वही भाषा। अशुद्धियां इतनी हैं, इबारत इतनी भद्दी, वाक्य इतने भद्दे और असंगत जिसकी कोई हद नहीं।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', 12 मार्च, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

बर्मन पंचांग

कलकत्ते की प्रसिद्ध फ़र्म डाबर (डॉ० एस० के० बर्मन) लि० ने संवत् 1991 का पंचांग भी प्रकाशित कर दिया। इस वर्ष का यह पंचांग भी कई चित्रों से सुसज्जित और कई ज्ञातव्य बातों से परिपूर्ण है। 'हंस' के ग्राहक मुफ़्त में मंगा सकते हैं।

[पंचांग-समीक्षा। 'हंस', मार्च, 1934 में प्रकाशित। यह समीक्षा 'जागरण' में भी प्रकाशित हुई थी। उसकी तिथि अज्ञात है। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 1 तथा खण्ड-2 में संकलित।]

'भारती'

संपादक : श्री जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद' और श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'। प्रकाशक : साहित्य मंडल लिमि., लाहौर। वार्षिक मूल्य छः रुपया, एक अंक के नौ आने, पृष्ठ संख्या 120।

अभी गत फरवरी मास से ही यह पत्रिका लाहौर से प्रकाशित होने लगी है। पंजाब में हिन्दी का बढ़ता हुआ प्रचार इस उच्च कोटि की पत्रिका के प्रकाशन का साक्षी है। हर्ष की बात है कि इस पत्रिका को जहां प्रकाशन का बहुत ही सुदृढ़ सुयोग प्राप्त हुआ है, वहां संपादन का भी आदर्श अवसर प्राप्त हो गया है। इसके संपादक द्वय, हिन्दी-संसार में काफी नाम पैदा कर चुके हैं। नवयुवक होने के कारण उनमें काफी उत्साह और ओज भी है। इससे पूर्ण आशा है कि पत्रिका दिनोंदिन उन्नति करेगी। पहला और दूसरा अंक देखने से प्रकट होता है कि पहले

अंक से दूसरे अंक को भी अच्छा बनाने का प्रयत्न किया गया है। लेख, कहानी, कविता आदि सभी कुछ ज्ञानवर्द्धक और मनोरंजक हैं। संपादकीय विचार भी परिमार्जित और सामयिक हैं। ऐसी उच्च श्रेणी की पत्रिका निकालने के लिए हम संपादकों और प्रकाशकों को बधाई देते हैं और उसके उत्तरोत्तर फलने-फूलने के लिए मंगलकामना प्रकट करते हैं।

[पत्रिका-समीक्षा। 'हंस', मार्च, 1934 में प्रकाशित। यह समीक्षा 'जागरण' में भी प्रकाशित हुई थी। उसकी तिथि अज्ञात है। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 तथा खण्ड-2 में भी संकलित।]

माया

लेखक : पं. रामगोपाल मिश्र, डिप्टी कलक्टर।

यह एक रूपक है। एक महान उद्देश्य माया-बंधन में पड़कर किस भांति निष्फल हो जाता है, यही इस मनोहर कहानी का विषय है। बीच में दार्शनिक विचारों का समावेश मिलता है। भाषा बहुत सरल है। आदि में लेखक महोदय का चित्र है, उसके बाद महाराजा बलरामपुर का फोटो भी है। लेखक का चित्र देखकर तो पाठक की उत्सुकता शांत होती है, पर महाराजा साहब यहां क्यों आ बैठे, यह समझ में नहीं आता। संभव है, महाराजा साहब गुणियों के कदरदान हों, या लेखक महोदय पर उनकी विशेष कृपा हो। बहरहाल उनके फोटो से पुस्तक का महत्व बढ़ता नहीं, कम हो जाता है। क्योंकि यहां खुशामद की बू आती है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', 12 मार्च 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

वनौषधि

संपादक : श्री केदारनाथ शर्मा प्रकाशक : वनौषधि कार्यालय वार्षिक मूल्य दो रुपया।

उपर्युक्त नाम की पत्रिका अभी इस मास से ही काशी से प्रकाशित होने लगी है। पहले इस प्रकार के और भी कई पत्र प्रकाशित होकर बंद हो गए हैं। पता नहीं, हिन्दी पढ़ी-लिखी जनता में ऐसे पत्रों का प्रचार क्यों नहीं हो पाता। हमारे विचार से प्रत्येक घर में ऐसे पत्रों का आदर होना चाहिए। प्रथमांक में कई लेख अच्छे हैं, पर 'तुलसी' और 'गोबर' संबंधी लेख बड़े उपयोगी हैं। प्रथमांक को देखकर आशा होती है कि श्री केदारनाथजी जैसे कुशल व्यक्ति के द्वारा यह पत्रिका दिनोंदिन उन्नति करेगी और सुंदर रूप में संपादित और प्रकाशित होती रहेगी।

[पत्रिका समीक्षा। 'हंस', मार्च 1934 में प्रकाशित। यह समीक्षा 'जागरण' में भी प्रकाशित हुई थी। उसकी तिथि अज्ञात है। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 एवं खण्ड-2 में संकलित।]

शीलमणि

यह भी पं. टीकाराम की कृति है। आख्यायिका बुरी नहीं है। पति एक विधवा के प्रेम में फंस जाता है। पत्नी इस शोक में मर जाती है और मरने के बाद स्वप्न में पति को उपदेश देती है।

पति की आंखें खुल जाती हैं। वह उस विधवा को किसी अनाथालय में भेज देता है।

[पुस्तक समीक्षा। 'माधुरी', मार्च, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

पैसा

सम्पादक : श्री मोहनशर्मा, विशारद। प्रकाशक : भैयालालनाथ चौहान, बनखेड़ी, (C I P), वार्षिक मूल्य 3), प्रति संख्या।)

यह उद्योग-धंधों और कला-कौशल-संबंधी मासिक पत्र है। पांच-छः मास से प्रकाशित होने लगा है और इसी अवसर में 3-4 और पूर्व अंकों को युग्म अंक के रूप में प्रकाशित करना पड़ा है; इससे प्रकट होता है कि अभी पत्र को हिन्दी-संसार से प्रोत्साहन और साहाय्य नहीं मिला। ऐसे पत्र की हिन्दी में बड़ी आवश्यकता है।

प्रस्तुत युग्म अंक में श्री रामनिवासजी शर्मा, भू० पू० सम्पादक 'सौरभ', लिखित 'आर्थिक दासता और उससे उद्धार' विचारपूर्ण लेख है। प्रो० ज्वालाप्रसाद जी सिहेल का 'बेकारी की समस्या' भी अच्छा लेख है। 'थॉमस लिप्टन' का जीवन-परिचय भी इसमे है। 'भारतवर्ष में वस्त्र रंगने का व्यवसाय' शीर्षक लेख भी अच्छा है।

इनके अलावा और भी स्तम्भ हैं, जैसे—'धन-विज्ञान प्रयोगमाला', 'अनूभूत चुटकुले', 'व्यापार-वार्ता', 'पत्रों का आदान-प्रदान' आदि।

यदि इसी प्रकार उपयोगी और अधिकारी लेखकों के लेख इसमें छापते रहे, तो इस पत्र के द्वारा जनता का बड़ा लाभ हो सकता है।

[पत्रिका-समीक्षा। 'जागरण', 2 अप्रैल, 1934 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' भाग 1 में संकलित।]

अफसरों की चिट्ठियां

अनुवाद : श्री जयनारायण कपूर।

इसमें उन पत्रों का संग्रह है, जो अंग्रेजी अफसरों के बीच में आ गयी थीं और जिनके द्वारा उस समय के हाकिमों की कमज़ोरियों का पता चलता है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', अप्रैल-मई, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

देवी वीरा

अनुवादक : श्री सुरेंद्र शर्मा।

वीरा फिगनर रूस के क्रांतिकारियों में बहुत प्रसिद्ध है। यह पुस्तक उसी की आत्मकथा है। इससे पता चलता है कि वीरा के विचारों में कैसे क्रांतिकारी परिवर्तन हुए और क्योंकर उसने अपने बलिदान और त्याग से क्रांति के पौधे को सींचा। पुस्तक बड़ी मनोरंजक है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', अप्रैल-मई, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

धर्म-ज्योति

लेखक : श्री जगतनारायण।

इस पुस्तक में थियोसोफिकल दृष्टिकोण से हिन्दू धर्म का निरूपण किया गया है। थियोसोफी या ब्रह्म-विद्या उन आंदोलनों में से एक है, जिन्होंने शास्त्र और विज्ञान की सहायता से हिन्दू धर्म और अन्य धर्मों के गुप्त रहस्यों को समझने और समझाने का प्रयत्न किया है और इसमें कोई संदेह नहीं कि उसके असर से कम से कम उसके अनुयायियों में वह धार्मिक कट्टरता नहीं पायी जाती है। थियोसोफी सभी धर्मों और संप्रदायों का समान रूप से आदर करती है और उनकी खूबियों पर प्रकाश डालती है। हिन्दुओं में अपने धर्म और उसके सिद्धांतों से जो अविश्वास आ गया था, उसको थियोसाफी ने बहुत कुछ मिटा दिया है। लेकिन उसके साथ ही बुद्धि को गौण और विश्वास को मुख्य स्थान देकर उसने उस अंध श्रद्धा को भी जगा दिया है। और उन संस्कारों को पुनर्जीवित कर दिया है, जिनके कारण हिन्दू-धर्म निर्बल हो गया। मसलन् वह वर्णाश्रम का समर्थन करता है, परलोक के विषय में कितनी ही ऐसी बातें कहता है, जिनका कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता। फिर भी यह पुस्तक पढ़ने योग्य है क्योंकि संसार के बड़े-बड़े विद्वान् और साधक हिन्दू धर्म के विषय में क्या कहते हैं, यह जानने की इच्छा सभी को होती है। इसके साथ ही उसमें आजकल के अनात्मवादियों को विचार करने और अपने मतों को बदलने की काफी सामग्री है। पुस्तक की भाषा सुबोध है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', अप्रैल-मई, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

नरेन्द्र पब्लिशिंग हाउस देहरादून की पुस्तकें

श्री आर० सहगल ने चांद प्रेस लिमिटेड के मैनेजिंग डायरेक्टर का पद त्याग करने के बाद देहरादून से पुस्तकों की एक नयी माला निकालनी शुरू की है और इस थोड़े ही समय में उन्होंने जितनी पुस्तकें निकाल डाली हैं और निकालने का प्रोग्राम बना डाला है, इससे प्रकट होता है कि आपके उस उत्साह और धुन ने आपका साथ नहीं छोड़ा है। हम आपकी इस नयी साहित्यिक योजना का स्वागत करते हैं।

इस माला की छः पुस्तकें इस समय हमारे सामने हैं, जिनमें चार तो ख्वाजा हसन निज़ामी के 'गदर की कहानियां' नामक माला की उर्दू किताबों के सरल अनुवाद हैं, पांचवीं पुस्तक का नाम है–'भारतीय विद्रोह' और छठी पुस्तक है–'देवी वीरा' का दूसरा एडीशन।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', अप्रैल-मई, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

बहादुरशाह का मुकदमा (अनु० : श्री गोपीनाथ सिंह, बी० ए०।)

इस पुस्तक में उस मुकदमे का हाल लिखा गया है जो बहादुरशाह पर बग़ावत के जुर्म में चलाया गया था। प्रत्येक दिन की कार्रवाई का विवरण दिया गया है। उसको देश-निकाले की जो सज़ा दी गई थी, उसका हाल बड़ा करुणा-जनक है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', अप्रैल-मई, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

बेगमों के आंसू

अनुवादक : मुंशी-नवजादिकलाल जी श्रीवास्तव।

यह इस माला की सबसे मनोरंजक और रुलाने वाली पुस्तक है। बहादुरशाह के देश-निकाले के बाद राजवंश की जो दुर्गति हुई, उसी की करुण गाथा है। बादशाह की बेटियों तथा बहुओं को किस प्रकार गली-गली ठोकरें खानी पड़ीं, वह सब हाल यहां दिया गया है। बहादुरशाह सज्जन मुनष्य थे, बड़े दयालु और दरियादिल। मगर बादशाह होने के लिए केवल इन सद्गुणों की ज़रूरत नहीं होती। उनमें उन गुणों में से एक भी न था, जिनसे मुगलों ने सदियों तक दिल्ली पर राज किया। वह इसी लायक़ थे कि कोने में बैठे पेंशन लिया करते और फकीरों की कब्रों पर झाड़ू लगाया करते। ऐसा आदमी बगावत में क्या सफल हो सकता था। इसका दंड उन्हें भोगना पड़ा। ज़िंदगी के उलट फेर का आंखें खोलने वाला वृत्तांत है। अनुवाद सभी किताबों के अच्छे हैं। ख्वाजा साहब की भाषा इतनी सरल होती है कि उर्दू भाषा भी होती, तो आसानी से समझ में आ जाता।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', अप्रैल मई, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

बेचारे अंग्रेजों की विपदा

अनुवादक : श्री बलखंडीदीन सेठ।

बगावत के दिनों में बागियों ने अंग्रेजी अफसरों पर क्या क्या अत्याचार किए उसका बयान है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', अप्रैल मई 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

भगवान की लीला

यह पुस्तक श्री अरविंद घोष की पुस्तक का मर्मानुवाद है। पहला संस्करण समाप्त हो जाने पर यह दूसरी आवृत्ति निकाली गई है। योग और उसके सिद्धांत के विषय में भी अरविंद घोष जैसे महात्मा के विचार अमूल्य हैं। आपका कथन है -'यद्यपि भारतवर्ष के पास इस समय कुछ नहीं है, फिर भी अपने तपोबल के सहारे वह सब कुछ कर लेगा।'

पुस्तक बड़े महत्व की है, इसने हिन्दी संसार को भी अरविंद घोष के ऊंचे विचारों से लाभ उठाने का अवसर दे दिया है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', अप्रैल-मई, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

भारतीय विद्रोह अर्थात् राउलेट कमेटी की रिपोर्ट (I)

अनुवादक : श्री ठाकुर मनजीत सिंह जी राठौर।

राउलेट कमेटी रिपोर्ट भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों के लिए महत्व की वस्तु है। इसमें 1897 से अब तक के भारतीय क्रांतिकारियों के कृत्यों का वर्णन है। राउलेट की

रिपोर्ट के परिणामस्वरूप जो राउलेट ऐक्ट पास हुआ, जिसका फल सत्याग्रह आंदोलन के रूप में प्रकट हुआ, वह समकालीन इतिहास की एक मुख्य घटना है। यह पुस्तक उसी रिपोर्ट का हिन्दी अनुवाद है। पहला भाग अभी निकला है। दूसरा भाग भी निकलने जा रहा है। पुस्तक इतनी मनोरंजक है कि इसमें उपन्यास का-सा मन लगता है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', अप्रैल-मई, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

सचित्र शुद्ध-बोध

संपादक : श्री नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ।

इसमें परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री एक सौ आठ स्वामी शुद्धबोध तीर्थ, प्रथम आचार्य गुरुकुल कांगड़ी तथा कुलपति महाविद्यालय ज्वालापुर का संक्षिप्त जीवन चरित और उनके भक्तों के संस्मरण हैं। स्वामी शुद्धबोध जी के भक्तों और शिष्यों की संख्या हजारों तक पहुंचती है। श्री नरदेव जी ने इन संस्मरणों को एकत्र करके एक प्रकार से गुरु दक्षिणा भेंट की है। आशा है, आगे चलकर स्वामी जी के अनेक शिष्यों में से कोई विद्वान इसी सामग्री के आधार पर स्वामी जी का एक सुंदर जीवन चरित्र लिखकर अपनी लेखनी को कृतार्थ करेंगे।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', अप्रैल-मई, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

कांग्रेस अराष्ट्रीय है

अभी गत सप्ताह प्रयाग से प्रकाशित होने वाले हिन्दी के सुप्रसिद्ध साप्ताहिक 'अभ्युदय' में उपर्युक्त शीर्षक पढ़कर हमें आंतरिक खेद हुआ। जिस कांग्रेस को देश के सच्चे वीरों ने अपने रक्त से सींचकर, 40-50 वर्ष की प्रौढ़ावस्था में लाकर, उसे संसार में भारत की एक प्राणवान संस्था बनाया हो, जिसके लिए उसके कट्टर दुश्मन भी ऐसा आक्षेप करने का साहस न कर सकते हों, उसके लिए केवल जरा से लोग, पार्टीबंदी के दलदल में फंसकर, [illegible] राष्ट्रीय कहने वाले व्यक्ति भी उपर्युक्त धारणा बनाकर प्रचार करें, यह बड़े ही अविचार और लज्जा की बात है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', अगस्त, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

'बालक' का भट्ट-स्मृति अंक

बिहार से निकलने वाले बालकों के एकमात्र मासिक 'बालक' का यह विशेषांक है, जो स्वर्गीय पं॰ बदरीनाथ भट्ट बी॰ ए॰ की स्मृति में निकाला गया है।

इधर कुछ समय अस्वस्थ रहने के पश्चात् 'बालक' पुनः स्वस्थ दशा को प्राप्त हो रहा है। यद्यपि वह श्री बेनीपुरी के 'बालक' की तरह हृष्ट-पुष्ट नहीं है, किंतु फिर भी भला-चंगा है। प्रस्तुत अंक भी उसकी संभली हुई अवस्था का परिचायक है। छपाई-सफ़ाई सुंदर है। सामग्री भी उत्तम है। अधिकांश लेख स्व॰ भट्ट जी के जीवन से संबंध रखने वाले हैं, यही उनका चमत्कार है। सामग्री के चयन में काफी परिश्रम से काम लिया गया है। भट्ट जी

से बालकों के सबसे पहले अच्छे मासिक 'बाल-सखा' का जन्म मिला था। उन्हीं का बोया हुआ बीज पनप कर आज विशाल स्वरूप को प्राप्त हुआ है और आज बालकों के बीसियों पत्र हमारे समने हैं, जो बालकों के ज्ञानवर्द्धन का प्रयत्न कर रहे हैं। अत: ऐसे बाल-हितैषी विद्वान् की स्मृति में अंक निकालकर 'बालक' ने अपने कर्त्तव्य का पालन ही किया है और इसके लिए उसके संपादक श्री रामलोचनशरण बिहारी महाशय धन्यवाद के पात्र हैं।

[पत्रिका समीक्षा। 'हंस', अगस्त, 1934 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

ब्रह्मचर्य-संदेश

लेखक : सत्यव्रत विद्यालंकार, प्राप्ति-स्थान, अलंकार कार्यालय, गुरुकुल कांगड़ी (सहारनपुर), पृष्ठ-सं॰ 251, मूल्य दो रुपया। छपाई-सफाई सुथरी।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक श्री सत्यव्रत सिद्धांतालंकार महाशय गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी के अध्यापक हैं। गुरु-पद की इस अवस्था में ऐसी पुस्तक लिखने का आपको नैतिक अधिकार था, उसी का आपने उपयोग किया है। सचमुच ब्रह्मचर्य पर लिखी गई यह पुस्तक अद्वितीय है।

हमारा पतन क्यों हो रहा है? हमारा राष्ट्रीय जीवन शून्य क्यों है? उसकी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक अवस्था इतनी अधिक न्यून क्यों हो गई है कि आज वह विश्व के सम्मुख हास्यास्पद बना हुआ है? यह पुस्तक उन प्रश्नों का समुचित उत्तर है। वास्तव में जबसे हमें ब्रह्मचर्य की उपेक्षा करने का अभ्यास हो गया, अपनी शारीरिक, मानसिक, आत्मिक अवस्था की ओर से हम उदासीन हो गए, तभी से हम वर्तमान अवस्था के पात्र बने। इस समय देश की आत्मा ने युवकों के सामने सजीव बनने का कार्यक्रम रखा है, किंतु हम तो हो गए हैं निर्जीव, सजीव होने का कौन-सा मार्ग है? यह मार्ग 'ब्रह्मचर्य-संदेश' से ज्ञात होगा। जो ऐसी अमूल्य पुस्तकों का सत्कार नहीं करते, उन्हें पढ़ते, पढ़कर विचार नहीं करते और उसके आदर्श को व्यवहार में नहीं लाते, उन्हें इस प्रकार गिरते चले जाना होगा, अत: अपने जीवन का महत्त्व समझने के लिए, उसका उपयोग जानने के लिए ऐसी पुस्तक का अध्ययन प्रत्येक युवक और युवती के लिए आवश्यक है। ऐसी पुस्तकें उनके जीवन को प्रकाश प्रदान करेंगी। हम हिन्दी के पाठकों से आग्रह करेंगे कि वे ऐसी पुस्तकों को अपने घर में रामायण की तरह स्थान दें।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', अगस्त, 1934 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

मंगल-मोद

लेखक : श्री अन्नपूर्णानंद, प्रकाशक : रचना निकेतन, काशी। मूल्य : सवा रुपया सचित्र।

यह श्री अन्नपूर्णानंदजी की 10 कहानियों का संग्रह है। आपने 'कविच्छा' और 'मेरी हजामत' आदि पुस्तकें लिखकर हास्य के मैदान में अपने झंडे गाड़ दिए हैं। आपकी ये तीनों पुस्तकें हिन्दी के विनोदमय साहित्य की क्लासिक हो चुकी हैं। इस संग्रह में भी पवित्र विनोद की काफ़ी सामग्री है। 'चार का विचार', 'धर्म की धुरी', 'श्रद्धेय का श्राद्ध' और 'रात की बात' बड़े

मज़े की चीजें हैं। मालूम नहीं, अन्नपूर्णानंद जी ने इन कहानियों को अपनी अनुपम कविताओं से क्यों नहीं अलंकृत किया। पुस्तक बड़ी सुंदर छपी है और मोटा एंटिक कागज़ लगाया गया है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', अगस्त, 1934 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

'सैनिक' का स्वागत

आगरा से श्रीकृष्णदत्त जी पालीवाल के संपादकत्व में निकलने वाला 'सैनिक' उधर सत्याग्रह-आंदोलन के समय आर्डिनेंस के प्रहार और पालीवाल जी के बंदी हो जाने के कारण बंद हो गया था। खुशी की बात है कि वह एक मास से फिर प्रकाशित होने लगा है। हम उसका स्वागत भी न कर पाए थे कि उस पर फिर प्रहार हुआ और उससे दो हज़ार की ज़मानत तलब कर ली गई, लेकिन इस बार ज़मानत दाखिल करके भी उसे उसी दृढ़ता से निकालते रहने का पालीवाल जी ने निश्चय कर लिया है, जो उनके साहस और शौर्य का परिचायक है। इस समय हम 'सैनिक' का डबल स्वागत करते है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', अगस्त, 1934 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

स्त्रियों की स्थिति

लखिका तथा प्रकाशिका : श्रीमती चद्रावती लखनपाल एम ए , बी॰ टी , गुरुकुल कांगड़ी, सहारनपुर। पृष्ठ सं॰ 183, मूल्य : एक रुपया, छपाई-सफाई सुंदर।

यह वही पुस्तक है, जिस पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने 'सेकसरिया पुरस्कार' देकर लेखिका का सम्मान बढ़ाया है। यों तो स्त्रियों की स्थिति का दिग्दर्शन कराने वाली दो-एक और भी प्रकाशित हुई हैं, किंतु, 'स्त्रियों की स्थिति' अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह दस प्रकरणों में समाप्त की गई है। व्युत्पन्न लेखिका ने प्रथम प्रकरण में स्त्री-जाति के भूत, वर्तमान और भविष्य पर प्रकाश डाला है। दूसरे-तीसरे में मातृ और पितृ-गौरव का साक्षात परिचय देने वाले विवाह का प्राचीन आदर्श अंकित करके इतिहास, स्त्री, शिक्षा, समाज-रचना में स्त्रियों का हाथ, पुरुष बनाम स्त्री- विधवा की करुण अवस्था और भविष्य पर दृष्टि डालकर पुस्तक समाप्त की गई है।

पुस्तक को आद्योपांत पढ़ने पर ज्ञात होता है कि लेखिका ने अपनी जाति की अवस्था और अधिकारों का ज्ञान कराने और वैदिक साहित्य के साथ-साथ विश्व-साहित्य का मंथन कर डाला है। आपने अपने खुले हुए चक्षुओं से स्त्री जाति की त्रैकालिक अवस्था को देखा है और एक सच्चे स्त्री-हृदय से उस पर प्रकाश डाला है। अपनी बहनों की खासी वकालत की है और उनकी मजबूरी और पुरुषों के द्वारा उन पर जो अन्याय होते रहे हैं और हो रहे हैं, उसे श्रीमती जी ने प्रभावशाली शब्दों में अंकित किया है। मातृ-जाति के ह्रास से, उसके अपमान से तथा उसके जन्मसिद्ध अधिकारों के दलन से राष्ट्र का जो पतन हुआ है और न संभलने पर होना संभाव्य है, उसे स्पष्ट कर मनुष्य को विचार करने का अवसर दिया है। वैदिक सभ्यता का जितना अच्छा परिचय इस पुस्तक में मिलता है, दूसरी पुस्तक में नहीं मिलता। श्रीमती जी ने इस पुस्तक का निर्माण करके जिस श्रमशीलता का परिचय दिया है, वह निःसंदेह उनकी उपाधियों के उपयुक्त है। हिन्दी के प्रत्येक पाठक के लिए यह संग्रहणीय, पठनीय और मननीय

है। अंत में हम इस उत्तम पुस्तक लिखने के उपलक्ष्य में लेखिका को धन्यवाद देते हैं और आशा करते हैं कि वह भविष्य में भी अपनी लेखनी का उपयोग करती रहेंगी।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', अगस्त, 1934 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 1 में संकलित।]

उपदेशामृत (पांच भाग)

लेखक : श्री प्रो० सुधाकर, एम० ए०।

सुधाकर जी के ही शब्दों में 'उपदेशामृत' के पांचों भागों में इस प्रकार शिक्षा देने की कोशिश की गई है, जिससे बच्चों में सदाचार सच्चरित्रता की नींव दृढ़ हो। इस निमित्त वेद मंत्र अथवा उनके भाग देकर बच्चों का ध्यान उन आदर्शों की ओर खींचा गया है, जो उभारनेवाले तथा उन्नत करने वाले हैं।

आपका यह कथन बिलकुल सत्य है कि धार्मिक शिक्षा तभी उपयोगी हो सकती है, जब उसका ध्येय बच्चे को उत्तम नागरिक अथवा मनुष्य-समाज का उपयोगी सदस्य बनाना हो। मुश्किल यह है कि ऐसे उपदेश बालकों को प्रिय नहीं लगते। जिस उम्र के लड़कों के लिए यह पुस्तकें रची गई हैं, वे इन विषयों को व्याख्या के रूप में नहीं पसंद करते। हां, यह पुस्तकें पाठयक्रम में दाखिल की जा सकती हैं और इनके पाठों को अध्यापक नये-नये दृष्टांतों द्वारा रोचक बना सकता है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', अक्तूबर, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

खयालात महात्मा गांधी (दो भाग)

लेखक : श्री सी० एफ० एंड्रूज।

यह अंग्रेज़ी पुस्तक का उर्दू अनुवाद है, जो मि० सी० एफ० एंड्रूज ने महात्मा गांधी के विषय में हाल में लिखी है, और जिसने योरोप और अमेरिका में धूम मचा दी थी। मि० एंड्रूज महात्मा जी के घनिष्ठ मित्रों में हैं, और उन्हें बहुत निकट से देख चुके हैं। महात्मा जी के आदर्शों और विचारों से उन्हें कितनी सहानुभूति है, यह हम सब जानते हैं। इस पुस्तक में उन्होंने महात्मा जी के विचारों और उनके आंदोलनों की मार्मिक विवेचना की है। इसमें संदेह नहीं कि मि० एंड्रूज ने आलोचनात्मक दृष्टि से यह पुस्तक नहीं लिखी है, बल्कि उनका उद्देश्य यह था कि महात्मा जी के सिद्धांतों और आदर्शों को उनके यथार्थ रूप में पश्चिमवालों के सामने रखें और उन गलतफहमियों को मिटावें, जो विरोधियों ने महात्मा जी के विषय में फैला दी हैं। इस पुस्तक को पढ़कर महात्मा जी का चरित्र, उनकी गहरी ईश्वर भक्ति, उनका अतुल त्याग, उनका निर्भीक सत्य-प्रेम, उनका अटल सेवा भाव अपने उज्ज्वल रूप में हमारे सामने आ जाता है। महात्मा जी जितने बड़े राजनैतिक नेता हैं, उससे कहीं बड़े ऋषि हैं, और उससे भी कहीं बड़े आदमी हैं, और उनके बड़े से बड़े विरोधी को भी यह मानना पड़ेगा कि उनके चरित्र में मानवता अपनी चरम सीमा को पहुंचकर देवत्व के समीप आ गई है, बल्कि अगर हमारे पुराणों के पुरुष देवता माने जाएं, तो उनमें तो एक भी महात्मा जी के समीप नहीं आ सकता। कृष्ण भी तभी उनसे

ऊंचे सिद्ध हो सकते हैं, जब वह केवल मानव-हृदय-रूपी क्षेत्र के एक नायक समझे जाएं। एंड्रूज़ साहब के एक-एक शब्द से महात्मा जी के प्रति श्रद्धा झलकती है और अनुवादक महोदय ने-जो स्वयं एंड्रूज़ साहब के उस ज़माने के शिष्य हैं जब वह दिल्ली में प्रोफेसर थे- इतना सुंदर अनुवाद किया है कि कहीं भी पता नहीं चलता, यह अनुवाद है। अगर टाइटिल पर अनुवाद न लिखा होता, तो यही खयाल होता कि वह उर्दू का मौलिक ग्रंथ है। अनुवादक इस काम में सिद्धहस्त हैं और कितने ही शरीफ मुसलमानों की भांति इन्हें भी महात्मा जी से सच्चा प्रेम है। उर्दूख्वां सज्जनों के लिए यह पुस्तक अमूल्य है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', अक्तूबर, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

झलमल।

लखक : श्री पदुमलाल पन्नालाल बख्शी बी.ए., प्रकाशक : हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, हीरा बाग, पो. गिरगांव, बंबई। मूल्य : चौदह आने।

'सरस्वती' के भूतपूर्व संपादक श्री बख्शी जी से हिन्दी पाठक भली भांति परिचित है। हिन्दी में आलोचना साहित्य की बुनियाद एक तरह से उन्हीं की डाली है और उनके कई आलोचना ग्रंथ निकल चुके हैं। यह उनकी कहानियों और रसीली अनुभूतियों का छोटा सा सुंदर सग्रह हे, जिसमे 16 कहानियां दी गई हैं। इन कहानियों को पढ़कर यह कहना पड़ता है कि बख्शी जी इस कला में भी निपुण हैं। कहानियां सभी मर्मस्पर्शी, कोमल और आनंदपर्ण हैं। बख्शी जी की सहृदयता प्रत्येक गल्प में अंकित है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', अक्तूबर, 1934 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 1 में संकलित।]

देवी जोन

लेखक : डा. धनीराम जी 'प्रेम'।

पंद्रहवीं सदी के प्रारंभ में फ्रांस के कुछ भागों पर इंग्लेंड का अधिकार था और फ्रांस की राजनैतिक दशा कुछ ऐसी गड़बड़ हो रही थी कि इंग्लैंड का प्रभुत्व उस पर बढ़ता जा रहा था। जिस समय फ्रांस की दशा बहुत हीन हो गई थी, और वह बराबर कई लड़ाइयों में हार गया, उसमें एक ग्रामीण युवती जोन आफ आर्क ने फ्रांस की सहायता करके उसे इंग्लैंड के पंजे से मुक्त कर दिया। जोन आफ आर्क लड़ाई की विद्या न जानती थी, शिक्षित भी न थी, पर उसके हृदय में अपने व्यथित देश के लिए इतना प्रबल अनुराग उठा कि उसे मानों ईश्वर की ओर से प्रेरणा हुई कि तू जाकर फ्रांस का उद्धार कर। धर्मोन्माद की दशा में उसे मानो दैवी प्रेरणा हुई और वह घर से निकल पड़ी। फ्रांस की जनता ने खुले दिल से उसका स्वागत किया। वह मानो फ्रांस का उद्धार करने के लिए ईश्वर की ओर से भेजी गई थी। बाज़ी पलट गई। फ्रांस जीत गया। इंग्लैंड को वहां से भागना पड़ा।

मगर वही युवती जिसने अपने देश के साथ इतना बड़ा उपकार किया था, धर्मान्ध पादरियों की कट्टरता का शिकार हुई। पादरियों ने उस पर जादूगरनी होने का इलजाम

लगाकर उसे जला दिया। उसी देवी का यह चरित्र है और लेखक ने उसे सरल और आकर्षक भाषा में लिखा है। पढ़ने में उपन्यास का-सा आनंद आता है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', अक्टूबर, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

अलंकार (श्रद्धानंद-विशेषांक)

संपादक : सर्वश्री आचार्य देवशर्मा 'अभय' और भीमसेन विद्यालंकार, प्रकाशक : समाचार-कार्यालय, 17 मोहनलाल रोड, लाहौर। वार्षिक मूल्य तीन रुपया और एक अंक के छः आने।

लाल जी बजाज, श्री चक्रवर्ती राजागोपालाचार्य, श्री प्रो॰ शिवदयाल जी एम॰ ए॰, श्री वेंकटेशनारायण तिवारी, भाई परमानंद जी एम॰ ए॰, सी॰ एफ॰ एंड्रूयूज़, श्री प्रेमचंद जी, श्री जैनेंद्रकुमार, श्री नेकीराम जी शर्मा, श्री डॉ॰ सत्यपाल, श्री परदेवजी सप्ततीर्थ, श्री शूरजीवल्लभदास, डॉ॰ भगवानदास जी, आचार्य बिधूभूषण भट्टाचार्य, श्री सत्यमेमघ एम॰ ए॰ और श्रीमती उमा नेहरू आदि के विचार एक ही जगह पढ़ने को मिल जाते हैं, आचार्य श्री देवशर्मा जी ने अपने अथक उद्योग से इस अंक को बहुत ही मूल्यवान बना दिया है। स्वर्गीय स्वामी जी के बड़े-से-बड़े जीवन-चरित्र से भी उनके विषय में जो बातें न मालूम हो सकती थीं, वह इससे हो सकती हैं। अंक सब प्रकार-संग्रह-योग्य है। संपादकबद्ध को बधाई।

[पत्रिका-समीक्षा। 'हंस', जनवरी, 1935 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

कमलिनी

संपादिका: श्रीमती ज्योतिर्मयी ठाकुर: प्रकाशक: कमलिनी-कार्यालय, दारागंज, प्रयाग। वार्षिक मूल्य चार रुपया, एक अंक के छः आने। आकार-प्रकार 'हंस', का-सा। पृष्ठ-सं॰ 64। छपाई साफ, दुरंगा कवर।

श्रीमती ज्योतिर्मयी जी हिन्दी की अच्छी लेखिका हैं और वर्षों से स्त्री-साहित्य का निर्माण करके स्त्री-जाति की सेवा करती आ रही हैं। आपकी यह सेवा भावना प्रशंस्य है। इसी भावना से प्रेरित होकर आपने यह मासिक पत्रिका प्रकाशित की है।

प्रथमांक में लगभग 30 लेख-कविताएं हैं। श्री श्याममनोहर वर्मा एम॰ ए॰, श्री रामनारायण यादवेंदु बी॰ ए॰ और श्यामसुंदर श्रीवास्तव के लेख पठनीय हैं। शेष लेख भी साधारण स्त्री-समाज के लिए हितकर हो सकते हैं। हमारा खयाल है, देश के साधारण स्त्री समाज को शिक्षित करने के विचार से ही यह पत्र निकाला गया है। यह अपने विचारों में सफल हो, यही हमारी आकांक्षा है। शायद जल्दी के कारण प्रथमांक भली-भांति नहीं सजाया जा सका। अधिकांश लेखों की भाषा अशुद्ध रह गई है। इस अंक की कोई भी कहानी हमारा मनोरंजन न कर सकी। न किसी में अच्छा चरित्र-चित्रण है, न अच्छी घटना। साधारण समाज के लिए अच्छे आदर्श वाली रचनाएं ही हितकर हो सकती हैं। 'स्त्रियां क्या जानना चाहती हैं?' 'स्त्रियों में कहां क्या हो रहा है?' 'क्या तुमको मालूम है?' आदि स्तंभ उपयोगी हैं। 'कमलिनी', जैसा सुंदर नाम है, वैसा, उसके अनुरूप, कवर का चित्र नहीं है। अस्तु! आशा है, 'कमलिनी' अपने ध्येय का ध्यान रखती हुई उत्तरोत्तर सफलता की ओर अग्रसर होगी।

[पत्रिका समीक्षा। 'हंस', जनवरी, 1935 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य', खण्ड 2 में संकलित।]

छाया

संपादक : श्री विनोदशंकर व्यास, प्रकाशक : छाया-कार्यालय, दिल्ली। वार्षिक मूल्य साढ़े चार रुपया एक अंक के पांच पैसे।

दिसंबर के अंतिम सप्ताह से, साप्ताहिक रूप में यह पत्रिका निकलने लगी है। अभी तक 4 अंक प्रकाशित हुए हैं और प्रसन्नता की बात है कि सभी अच्छे हैं। जैसे दिल्ली की एकाध सिनेमा-पत्रिका ने साहित्य से नाता-सा तोड़ लिया है, वैसा इसने नहीं किया। साहित्य से संपर्क रखते हुए, वर्तमान सिनेमा-अध्यवसाय पर प्रकाश डालना इसने अपना ध्येय बनाया है। सिनेमा जब लोक-समुदाय के मनोरंजन की एक आवश्यक वस्तु बनता जा रहा है, तब वह साहित्य से दूर रखा ही नहीं जा सकता। इसके अभी तक के अंकों में सिनेमा-संबंधी अन्य कई पत्रों से अच्छी सामग्री दी गई है। श्री विनोदशंकर व्यास की तरह इसका रंग भी अलग ही अपनी आभा दिखला रहा है। इसमें फि़ल्मों की जो आलोचनाएं अभी तक निकली हैं, वे भी अच्छी दृष्टि से लिखी हुई हैं और निष्पक्ष मालूम होती हैं। हमें विश्वास है, कि यह पत्रिका शीघ्र ही अपना एक खास स्थान बना लेगी।

[पत्रिका समीक्षा। 'हंस', जनवरी, 1935 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य', खण्ड-2 में संकलित।]

हिन्दुस्तान

संपादक : श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल', प्रकाशक हिन्दुस्तान-कार्यालय, काति प्रेम प्रयाग। वार्षिक मूल्य तीन रुपया, एक अंक का एक आना।

अब 22 जनवरी से यह सचित्र साप्ताहिक-पत्र प्रकाशित होने लगा है। प्रथमांक हमारे सामने है। सच्ची राष्ट्रीयता के भावों का प्रचार करने के लिए इसका प्रकाशन हुआ है। प्रथमांक के देखने से विदित होता है कि एक अच्छे साप्ताहिक में जिन बातों की आवश्यकता होती है, वे सब इसमें हैं। ताजे समाचार हैं, अदालती रिपोर्ट हैं, विनोद है, कहानी हैं, लेख हैं और दिलचस्प साहित्यिक सामग्री भी है।, सभी के लायक इसको बनाया गया है। हमें विश्वास है, हिन्दी-प्रेमी इसकी कद्र करेंगे और आशा है, इसके संपादक श्री ज्योतिप्रसाद जी मिश्र 'निर्मल', इसे सजाते-संवारते हुए उत्तरोत्तर उन्नत बनाते जाएंगे। हम 'हिन्दुस्तान' के प्रति अपनी शुभ कामना प्रकट करते हैं।

[पत्र समीक्षा। 'हंस', जनवरी, 1935 में प्रकाशित। 'प्रेमचद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 मे संकलित।]

कैलेंडर्स

डाबर (डॉ० एस० के० बर्मन) लि० कलकत्ता की औषधि निर्माण करने वाली एक सुप्रतिष्ठित फ़र्म है और वर्षों से वह पंचांग और कैलेंडर्स निकाल रही है। इस वर्ष का कैलेंडर भी बड़ा सुंदर है। इस वर्ष का राधाकृष्ण का चित्र सचमुच ही दर्शनीय है, तारीखें अवश्य कुछ छोटे टाइपों में दी गई हैं।

दि एशियन पॉल्ट्री फ़ॉर्म, पूना, स्टैंड टाइप फौंड्री, प्रयाग, नार्टन टाइप फौंड्री, मद्रास

आदि के कैलेंडर्स भी हमें मिले हैं, जिनमें नार्टन टाइप फौंड्री और पॉल्ट्री फॉर्म पूना के बहुत सुंदर हैं। प्रेषकों को धन्यवाद।

[कैलेंडर्स-समीक्षा। 'हंस', जनवरी, 1935 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

बालक 'भारतेन्दु अंक'

संपादक : श्रीयुत रामलोचन शरण बिहारी, प्रकाशक : बालक कार्यालय, लहरिया सराय, मूल्य : डेढ़ रुपया।

'बालक' को प्रकाशित होते आठ वर्ष व्यतीत हो गए। अभी तक उसने अनेक अच्छे-अच्छे विशेषांक निकाले हैं, पर 9वें वर्ष का यह 'भारतेंदु अंक' सभी विशेषांकों से अधिक महत्त्व रखता है। 105 पृष्ठों में भारतेंदु जी के विषय में इतनी सामग्री दी गई है कि सब पढ़ लेने पर उनके जीवन-चित्र की एक-एक रेखा हृदय पर अंकित हो जाती है। भारतेंदुकालीन कुछ अन्य भाषा-साहित्य-सेवकों के परिचय भी दिए गए हैं। सब मिलाकर कुल 44 लेख-कविताएं हैं। दो तिरंगे, एक दुरंगा और 85 सादे चित्र छापे गए हैं। उदीयमान चित्रकार श्री महारथी का प्रथम तिरंगा बहुत सुंदर है। भारतेंदु जी का जो रंगीन चित्र बनाया है, वह सफल न हो सका। रेखाचित्रों में भी अनेक सफल हैं, और अनेक असफल। शायद जल्दबाजी के कारण ऐसा हुआ हो, पर महारथी महाशय ने अपनी कला से इस अंक को चमत्कृत कर दिया है। इस अंक को साकार करने का सारा श्रेय श्री शिवपूजन सहाय जी को है। थोड़े ही समय में पत्र व्यवहार करके उन्होंने कोने-कोने से जो सामग्री एकत्र की, उसे अनेक हिन्दी-प्रेमी जानते हैं, पर हमें खेद है संपादक जी ने कहीं उनके नाम का उल्लेख नहीं किया। खैर यह अंक वास्तव में प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी को संग्रह में रखना चाहिए।

[पत्रिका समीक्षा। 'हंस', फरवरी, 1935 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

लोक-शिक्षण

संपादक : श्री गणेश गंगाधर जामेकर, प्रकाशक : लोक-शिक्षण कार्यालय, 331 सदाशिव पेठ, पूना 2। वार्षिक मूल्य : चार रुपया, एक अंक के पांच आने, आकार रॉयल आठ-पेजी।

यह मराठी पत्र कई वर्षों से प्रकाशित हो रहा है, पर गत वर्ष इसका प्रकाशन स्थगित हो गया था, और अब पुन: लिमिटेड कंपनी के प्रबंध से आकार-प्रकार बढ़ाकर साहित्य क्षेत्र में आया है। जनवरी का यह प्रथम अंक लगभग 150 पृष्ठों का है, पर इस वर्ष से इसमें विशेष परिवर्तन और परिवर्द्धन हो गया है। इस अंक में अनेक विद्वानों के अच्छे अच्छे लेख हैं। ध्रुव प्रदेशाचा शोध, रंगभूमिचें भवितव्य, पेशवे दफ्तरात ज्ञानांत घातलेली नवीनभर, एंफाइभ रिफर्व बैंकचे अवतार कार्य, जागतिक राज कारणांतील घडामोडी, प्रचलित आर्थिक घडा मोडी आदि लेख बहुत ही विचारपूर्ण है। कई चित्र भी इस अंक की शोभा बढ़ा रहे हैं।

[पत्र समीक्षा। 'हंस', फरवरी, 1935 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

विकास (साप्ताहिक पत्र)

प्रधान संपादक : श्री विश्वंभरप्रसाद शर्मा, संपादक : श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', प्रकाशक : विकास लिमिटेड, सहारनपुर। वार्षिक मूल्य : तीन रुपये, एक अंक का एक आना।

'विकास' का दूसरा वर्ष है। पहले वर्ष यह लस्टम-पस्टम चला, पर दूसरे वर्ष में इसके संपादकों ने अपने अथक परिश्रम से इसके लिए एक लिमिटेड कपंनी बना ली, इसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। जब से लिमिटेड की ओर से यह पत्र निकला है, तब से इसमें नवजीवन-सा आ गया है। सामग्री भी बड़ी अच्छी रहती है, छपाई भी खूब साफ़। आशा है, इसके द्वारा उत्तर भारतीय जनता की अच्छी सेवा होगी।

[पत्र-समीक्षा। 'हंस', फरवरी, 1935 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

सह्याद्रि

संपादक : श्री धोंडो वासुदेव विद्वांस, प्रकाशक : केसरी मुद्रणालय, नारायण पेठ, पूना। वार्षिक मूल्य : तीन रुपये आठ आना, एक अंक का पांच आना, आकार 'हंस' का-सा।

यह मराठी मासिक पत्र अभी जनवरी से ही प्रकाशित होने लगा है और राष्ट्र-देवता स्व० तिलक के कार्यालय ने इसका प्रकाशन किया है। पहले और दूसरे अंकों में महाराष्ट्र के अनेक विद्वानों के बड़े उत्तमोत्तम लेख हैं। साहित्य, समाज, इतिहास, भूगोल, राजनीति आदि सभी विषयों का समावेश है। कविता और कहान्यिां भी हैं। मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक शिष्ट साहित्य पाठकों तक पहुंचाना इसका लक्ष्य है। प्रसन्नता की बात है कि मराठी भाषा के प्रेमियों ने इसकी क़दर भी खूब की है। पहले अंक का दूसरा संस्करण करना इसका प्रमाण है। हम संपादक जी और संस्था को इस प्रयत्न के लिए बधाई देते हैं।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', फरवरी, 1935 में प्रकाशित। 'प्रेमचद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

अंतिम आकांक्षा

लेखक : श्री सियारामशरण गुप्त।

यह सियारामशरण जी का दूसरा उपन्यास है। देहाती जीवन की एक करुणाजनक कथा है, जिसमें रूढ़ियों के हाथ बिके हुए संसार ने एक नर-रत्न को आघात पर आघात देकर मृत्यु की गोद में सुला दिया है। रामलाल है तो टहलुआ, लेकिन सेवा, विनय और साहस का पुतला। स्वामी के घर का काम इस तरह करता है—जैसे अपना काम हो। मगर, जब गांव में एक बार डाका पड़ता है, तो बंदूक से एक डाकू को मार डालता है। बस, उस पर नर-हत्या का अपराध लग जाता है। उसकी शादी होती है, एक कुल्टा से, जिसका गुलाबसिंह नाम के एक गुंडे से अनुचित संबंध है। यह है तो गुंडा, पर देहात में उसका रोब भी है और सम्मान भी, जो आजकल के निर्जीव देहाती समाज की साधारण दशा

है। रामलाल उसे क़त्ल तो नहीं करता, लेकिन जो लोग उसके अत्याचारों से पीड़ित होकर उसे क़त्ल करना चाहते हैं, उनसे मिल जाता है। पकड़ा जाता है, सज़ा होती है और जेल में मर जाता है। उपन्यास की रचना आत्मकथा की शैली में की गई है। इस शैली में कथाकार से हमारी मैत्री हो जाती है और उसकी हरेक बात में हमें निजत्व का अनुभव होता है। मुन्नी का विवाह, स्नेहमयी माता का देहांत, जो किसी का दु:ख नहीं देख सकतीं और जिनके जीवन का सबसे बड़ा आनंद दूसरों को भोजन कराना है, रामलाल का मुक़दमा, यह सभी दृश्य आपके सामने आजकल के देहाती समाज को खड़ा करते हैं। हां, चित्रण तेल के चटकीले रंगों में नहीं, पानी के हाथ के रंगों में किया गया है। बीच-बीच में वार्तालाप में सामयिक परिस्थितियों पर सुलझे हुए विचार प्रकट किए गए हैं, जिससे ज़ाहिर होता है कि लेखक महोदय कितने जागरूक हैं। अध्यापक जी ने रामलाल को नीच कहने वालों को कितने ज़ोरों से फटकारा है--

"धिक्कार है हमारी इस समाज व्यवस्था को, जो रामलाल जैसे आदमी को भी नीच कह सकती है। मैंने अपनी आंखों देखा, तिलक छापधारी ऊंची जाति के लोग उस कुएं में झांककर देखने में भी डर रहे थे। ऐसे स्वार्थी लोग ही हमारे समाज में सब कुछ हैं, जिनमें न शरीर का बल है, न आत्मा का....हम लोग विदेशियों की बेड़ी में जकड़े हुए हैं, इस बात का अनुभव हमारे शिक्षित समुदाय को कुछ-कुछ होने लगा है। परंतु हमारे शरीर में इससे भी बहुत बड़ी एक बेड़ी पड़ी हुई है, और वह है जन्मगत या वर्णगत उच्चता के संबंध में हमारा अंधविश्वास। वर्ण की श्रेष्ठता हमारे लिए सब कुछ है, उसके सामने सच्ची मनुष्यता का मूल्य हमारी दृष्टि में कुछ नहीं।"

राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए सामाजिक स्वतंत्रता पहले ज़रूरी है। इसे आपने इन विकल शब्दों में घोषित किया है--

"समाज में सब के ऊपर मनुष्यता की प्रतिष्ठा कर लेने पर ही हम स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते हैं....हम क़हने लगे, हैं, समाज-संस्कार बुढ़ियों का काम है, हम सैनिक हैं, हमारे लिए तो लड़ाई चाहिए, लड़ाई।" यह वीर-वाणी सुनकर हम आनंद से पुलकित हो उठते हैं और समझने लगते हैं, अब हमारे उद्धार में देर नहीं, परंतु यह सोचने का भी कभी हमने कष्ट उठाया है कि हम में सैनिक का अभाव रहा कब है? प्रतापसिह, शिवाजी, छत्रसाल, गोविन्दसिंह, बंदा बैरागी, रणजीतसिंह और लक्ष्मीबाई क्या ये सब साधारण सैनिक थे? परंतु बार-बार स्वतंत्रता का छोर पकड़कर भी हम उसे रख नहीं सके।....राष्ट्रपति के निर्वाचन का प्रश्न यदि आज हमारे सामने आ जाए, तो मनुष्य को न देखकर हम अपने-अपने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ही देखने लगेंगे।"

लुत्फ़ यह है कि यदि कोई इस अंध-विश्वास के खिलाफ़ कुछ कहे, तो और तो और साहित्य-जगत में उसे ब्राह्मण-द्रोही की पदवी मिलती है।

'अंतिम आकांक्षा' में तीव्रता नहीं है, लेकिन इस स्थल पर गुप्त जी की लेखनी तेज़ हो गई है और बतला रही है कि वह ऊंच-नीच की भावना उन्हें कितना दुखित कर रही है। पुस्तक का मूल्य डेढ़ रुपये ज्यादा है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', मार्च, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

रक्षाबंधन

जिन दिनों हरिकृष्ण जी 'भारती' के संपादक थे, उन्हीं दिनों आपने यह ड्रामा लिखा था और यद्यपि यह आपका पहला ही ड्रामा है, लेकिन आप इसमें सफल हुए हैं। और पंजाब के शिक्षा-विभाग ने इसे मैट्रिकुलेशन की पाठ्यपुस्तकों में ले लिया है। राजस्थान की प्रसिद्ध घटना है, जब गुजरात के बहादुरशाह ने मेवाड़ पर चढ़ाई की और राणा सांगा की रानी कर्मवती ने हुमायूं के पास राखी भेजकर उससे मदद मांगी थी और हुमायूं ने उसे स्वीकार किया था–

"यह इल्तजा नहीं, हुक्म है, यह आग में कूद पड़ने का न्योता है। हिन्दुस्तान की तवारीख़ कह रही है कि राखी के धागे ने हज़ारों कुर्बानियां कराई हैं।"

हुमायूं अपने झगड़े में इतना व्यस्त रहा कि वक्त पर मेवाड़ की मदद को न पहुंच सका और जिस वक्त पहुंचा, देवी कर्मवती की चिता जल रही थी और मेवाड़ बहादुरशाह के हाथों विध्वस्त हो चुका था, लेकिन वीर स्त्री-पुरुषों के दिल कितने साफ और कितने उदार और मज़हबी कुटिलता से कितने निर्लिप्त। कर्मवती उसी राणा सांगा की स्त्री है, जो बाबर से लड़ा था और जिसने प्रतिज्ञा की थी कि मुग़लों को भारत के बाहर खदेड़कर दम लूंगा। वही कर्मवती अवसर पड़ने पर बाबर के बेटे को राखी भेजती है, और विजयी शत्रु का पुत्र उस राखी का वीरों की भांति सम्मान करता है। वास्तव में इन लड़ाइयों का मज़हब से कोई संबध न था। वह तो केवल वीरों की विजय लालसा की क्रीड़ाएं होती थीं। बहादुरशाह ने मेवाड़ पर चढ़ाई की थी, इसीलिए कि मेवाड़ के राना ने उसके बागी भाई को अपने यहां पनाह दी थी। बहादुरशाह की फ़ौज में भी हिन्दू सिपाहियों की कमी न थी, न मेवाड़ की फ़ौज में मुसलमान सेनाओं की। आजकल जो मज़हब का यह आंतक है, वह गुलामी से पैदा होने वाली दशाओं का फल है। ड्रामा वीर-रसपूर्ण है और लेखक ने अपने पात्रों के मुख से धर्म और प्रेम और जातीयता पर जो उद्‌गार प्रकट कराए हैं, वह मर्म को हिला देते हैं, और मस्तक को ऊंचा कर देते हैं।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', मार्च, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

रूसी कहानियां

अनुवादक : श्री रामचंद्र टंडन।

उपन्यास की कला में तो रूस का जोड़ फ्रांस से किया जा सकता है। अगर रूस के पास डास्टावेस्की तुर्गनेव, टाल्सटाय और मेक्सिम गोर्की हैं, तो फ्रांस के पास बाल-ज़क, अनाटोल फ्रांस एमिल ज़ोला और रोमा रोला हैं लेकिन कहानी-कला में रूस शायद संसार के साहित्य में बेजोड़ है। इसमें मतभेद हो सकता है, लेकिन इससे किसी को इनकार नहीं हो सकता कि इस कला में रूसी साहित्य का दर्जा किसी से भी घटकर नहीं है। और इसका कारण है–रूसी जाति की वह दीन दशा, जो क्रांति के पहले थी। इस संग्रह में बारह कहानियां हैं, जो या तो दरिद्र जीवन की है, या धर्म और दया का उपदेश देनेवाले उपाख्यान हैं, जिनसे

दुखियारों के आंसू पोंछे गए हैं। इंग्लैंड या फ्रांस की कहानियों में अधिकांश मध्य दशा के जीवन का चित्रण होता है। शादी-ब्याह की समस्याएं और सैर-तमाशे, क्लब, जुआ, मार-पीट आदि विषय ही उनमें दुहराए जाते हैं। इन देशों का मिडिल वर्ग सम्पन्न है और उसकी सामाजिक समस्याएं उतनी रोमांचकारी, उतनी मर्मस्पर्शी और उतनी गहरी नहीं हो सकतीं। इसी संग्रह में डास्टावेस्की का 'इमानदार चोर', केवल इसलिए नहीं महत्त्व रखता कि वह एक शराबी की सच्ची तस्वीर है, बल्कि इसलिए कि वह दरिद्र जीवन में जो कोमलता, जो आत्मीयता होती है, उसको मानव-हृदय से निकालकर समाने रख देता है, टाल्स्टाय का 'जहां सत्य है वहां परमेश्वर है' दरिद्रों के जख्मी दिल का मरहम है। पीछे चलकर टाल्स्टाय का मत हो गया था कि कला का सर्वतोन्मुखी होना चाहिए, जिसका आनंद पढ़े बे-पढ़े सभी ले सकें। जिस कला को समझने के लिए विशेष ज्ञान और शिक्षा की ज़रूरत हो, उससे जन-साधारण का क्या उपकार हो सकता है। इसलिए उन्होंने बहुत-सी कहानियां दृष्टांतों और रूपकों के ढंग पर लिखीं हैं, और किसी हद तक सफल भी हुईं। 'अनोखा ढोल' इसी तरह की एक कहानी है, जिसमें बे पढ़ों को भी कुतूहल का आनंद मिल सकता है, हालांकि जो लोग कहानियों में कुछ रस चाहते हैं, उन्हें वह अनोखा ढोल बिल्कुल पोल ही लगेगा। 'लाल झंडी' इस संग्रह में शायद सबसे सजीव, और सबसे रसपूर्ण कहानी है। चेखव की 'शर्त' कल्पना की उड़ान के लिहाज से तो बड़ी सुदर है, लेकिन वही धर्मोपदेश का एक विलक्षण ढंग। पंद्रह वर्ष जेल में बंद रहने के बाद शर्त लगानेवाला कैदी धन की ओर से कितना विरक्त हो जाता है और असल से उसे कितनी घृणा हो जाती है—इसे पढ़कर एक बार हमें रोमांच हो जाता है। मगर, चेखव ने इससे बहुत अच्छी कहानियां लिखी हैं। चिरिकोव का 'मान' बाल-जीवन का तात्विक अध्ययन है और गोर्की का 'अद्भुत मिलन' तो एक युवती के हृदय-दाह और कोमलता की अपूर्व झलक है, जो मानो हमारे जीवन की संकुचित समीाओं को फैलाकर क्षितिज के अंत तक पहुंचा देती है। बूसफ्क की 'संगमर्मर की मूर्ति' में प्रेम के उस चमत्कार की कथा है, जो कठोर आत्मा में भी आशा और जीवन का संचार कर देती है। 'मृत्यु और सिपाही' और 'झूठ' इस संग्रह में केवल शैली और विषय की विचित्रता के लिए रखी गई जान पड़ती हैं। इनमें रस नहीं है और न जीवन का स्पंदन ही है। अलिफ़लैला में ऐसी कहानियां बहुत मिलेंगी।

हम इन कहानियों में से कई एक अंग्रेज़ी अनुवाद में पढ़ चुके हैं और जगह जगह हमें मालूम हुआ कि अनुवादक महोदय को किसी तरह अपना गला छुड़ाकर निकल जाना पड़ा है। यह उनका दोष नहीं, भाषा का दोष है, जो अभी तक मंज नहीं सकी और संस्कृत के शब्दों का व्यवहार करते हुए डर लगता है कि कहीं भाषा क्लिष्ट न हो जाए। शुरू में आठ पृष्ठों का परिचय दिया गया है, जिसमें इस संग्रह के रचयिताओं का संक्षिप्त परिचय दे दिया गया है और रूसी साहित्य के महारथियों—तुर्गनेव, डास्टावेस्की, टाल्सटाय, चेखव और गोर्की के फोटो प्रिंट भी हैं।

पुस्तक का मूल्य तीन रुपया है, जो हमारे ख़याल में बहुत ज्यादा है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', मार्च, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग भाग-3 में संकलित।]

आहार, संयम और स्वास्थ्य

लेखक : श्री भगवती प्रसाद।

वैद्यों और डाक्टरों ने तो इस विषय की अनेक पुस्तकें लिखी हैं, पर इस पुस्तक की खास बात है कि यह एक ऐसे मरीज़ की लिखी हुई है, जिन्होंने गत दस वर्षों से केवल आहार और संयम के बल पर एक घातक बीमारी से युद्ध किया है और अंत में विजयी हुए हैं और इस दृष्टि से इस रचना का महत्व बहुत बढ़ गया है क्योंकि इसमें लेखक ने जो कुछ लिखा है, उसका खुद तजरबा किया है। अतएव हमने इस पुस्तक को आदि से अंत तक बड़े ग़ौर से पढ़ा। चूंकि हम खुद इसी रोग में बहुत दिनों व्यस्त रहे हैं और मरते-मरते बचे हैं, इसलिए हमें इस विषय से खास दिलचस्पी भी है। एक बीमार सौ हकीम के बराबर होता है। हमने बहुत दिनों सारे वैद्यों, हकीमों और डाक्टरों के द्वार की खाक छानकर अंत में केवल संयम और आहार से अपनी जान बचाई। इस पुस्तक के लेखक का भी यही अनुभव है। जो लोग मानसिक परिश्रम से अपना, स्वास्थ्य खो बैठें हों, या जो मेहनत करके भी अपने स्वास्थ्य की रक्षा करना चाहते हों, उनके लिए इस पुस्तक में अनेक काम की बातें मिलेंगी और यदि वे इसके आदेशों पर चलेंगे तो आसानी से बीमारी के शिकार न होंगे। लेखक ने आदि में अपना आत्मकथात्मक परिचय देकर बता दिया है कि वह क्यों बीमार हुए, क्या-क्या कष्ट सहे और अंत में कैसे स्वास्थ्य-लाभ किया और अब उनकी क्या हालत है। आपने बड़े पते की बात कही है–

'जहां मनुष्य ने रोग का कारण अपने को छोड़कर ईश्वर को समझा और उसके निवारण का उपाय डाक्टर के हाथ में दिया, वहां उसने पुरुषार्थ को गंवाया और अकथनीय दुर्दशा अपने सिर पर लादी।'

लेखक ने विषय को छत्तीस अध्यायों में बांटा और अपने जीवन भर के अनुभवों को उनमें भर दिया है। पहले बारह अध्यायों में आहार के महत्व, प्रयोजन और उसके आवश्यक अंगों का वर्णन है और भिन्न-भिन्न विटामिनों की चर्चा की गई है। नक्शे देकर आपने स्पष्ट कर दिया है कि किस पदार्थ में कौन-सा विटामिन कितना है और उसका स्वास्थ्य पर क्या असर पड़ता है। बाद के तीन अध्यायों में जल, वायु और सूर्य प्रकाश का महत्व दिखाया गया है। सोलहवें अध्याय में विचार-शक्ति और स्वास्थ्य की मीमांसा करते हुए आप लिखते हैं–

'मनुष्य को पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए चाहिए कि वह सबसे प्रेम, सहानुभूति और उदारता के साथ रहे। ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, अहंकार, क्रूरता, बदला लेना, भय, झूठ आदि अवगुणों को त्याग दे, दूसरों के अपराध को क्षमा कर दे, अपने अपराधों की माफी मांग ले और शारीरिक क्लेश को हंसी-खुशी झेलते हुए यथाशक्ति अपने कर्त्तव्य का पालन करता रहे।'

ऐसा मनुष्य तो देवता ही हो जाएगा, फिर बीमारी उसके पास क्यों फटकने लगी, उसके तो आशीर्वाद से रोगी चंगे हो जाएंगे। आगे के तीन अध्यायों में ब्रह्मचर्य समय की पाबंदी आदि का उल्लेख है। एक अध्याय में व्यायाम और निद्रा का जिक्र. सात अध्यायों

में भिन्न-भिन्न खाद्य पदार्थों में--दूध, मांस, अनाज, शाक-भाजी, फल आदि--का तुलनात्मक विवेचन किया गया है। दांतों की रक्षा पर एक अध्याय अलग है। सर्वोत्तम प्रकार का भोजन क्या है, इस पर आपकी सम्मति का सारांश यह है--

1. दूध की मात्रा बढ़ी दी जाए।
2. हरी पत्तियों की भाजी अधिक खाई जाए।
3. प्रति दिन कुछ न कुछ कच्ची शाक-भाजी अवश्य हो।

बत्तीसवें अध्याय में 'खाद्य पदार्थों का संगठन' शीर्षक देकर आपने एक तालिका द्वारा सभी खाद्य पदार्थों में पाए जाने वाले पोषक तत्वों को स्पष्ट कर दिया है। इससे हमें स्वयं अपने भोजन का फैसला करना सरल हो गया है।

पुस्तक रोगियों और दुर्बल स्वास्थ्य वालों के लिए खास तौर पर उपयोगी है। लेखक ने विषय को इतनी योग्यता, सहानुभूति, स्पष्टता से निभाया है कि ऐसा शुष्क और अरुचिकर विषय भी रोचक हो गया है। विषय को स्पष्ट करने के लिए अनेक चित्र दिए गए हैं। छपाइ अच्छी, कागज़ बढ़िया। आहार और संयम के संबंध की शायद ही कोई खास बात हो, जिस पर यहां प्रकाश न डाला गया हो।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', मई, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

डाबर-पंचांग

कलकत्ते की प्रसिद्ध फर्म 'डाबर लि॰' ने प्रतिवर्ष के अनुसार संवत् 1992 का यह नया पंचांग प्रकाशित किया है और हमेशा की तरह अनेक जानकारी की बातों से परिपूर्ण है। कई चित्र हैं। मुफ़्त में मिलता है।

[पंचाग-समीक्षा। 'हंस', मई, 1935 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

रिलीफ पंचांग

कलकत्ते में मारवाड़ी समाज की एक रिलीफ सोसाइटी है, जो बहुत समय से गरीबों कीसेवा-सहायता करती आ रही है। उसने अपनी आयुर्वेदीय औषधालय भी कायम किया है। परोपकारी संस्था है। उसकी ओर से यह सं॰ 1992 का सुंदर पंचांग निकला है। मुख्य पृष्ठ पर सुंदर तिरंगा चित्र है। अंदर भी स्वास्थ्य को हानि और लाभ पहुंचाने वाले अनेक दृश्यों के चित्र दिए गए हैं, जिनसे अच्छा बोध हो जाता है। देश के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातें देकर पंचाग को और उपयोगी बना दिया गया है। मुफ़्त में पाप्त हो सकता है।

[पंचाग-ममीक्षा। 'हंस', मई, 1935 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

भारत के स्त्री-रत्न

(तीसरा भाग)

अनुवादक : श्री मुकुटबिहारी वर्मा, प्रकाशक : सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली। मूल्य : सवा रुपया, पृष्ठ सं॰ 300।

इस संग्रह में जैन-काल और बौध-काल के स्त्री-चरित्रों का संग्रह किया गया है। गुजराती में श्री शिवराम दलपत पंडित का 'भारतना स्त्री रत्नो' नामक ग्रंथ है, पहले दोनों भागों की तरह यह भाग भी उसी संग्रह के तीसरे भाग का अनुवाद है। मगर हमें यह पढ़कर आश्चर्य हुआ कि इन चरित्रों में अंजना और यशोधरा के चरित्र लिखने में श्रीयुत सुदर्शन के 'अंजना सुंदरी', नाटक और श्रीयुत मैथिलीशरण गुप्त के खंड-काव्य 'यशोधरा' से कैसे मदद ली गई है। क्या यह संग्रह 'ऐतिहासिक' नहीं है? अगर संग्रह ऐतिहासिक है, तो उसमें कल्पना द्वारा सृजी हुई यशोधरा या अंजना से क्या मदद मिल सकती है? कथा-साहित्य में तो इतिहास का आधार लिया जाता है, मगर इतिहास में नाटक और काव्य का आधार कैसे लिया जा सकता है? मगर शायद यह हमारी ज़्यादती है कि इसे हम ऐतिहासिक चरित्र-संग्रह समझ रहे हैं। यह चरित्र किम्वदन्तियों से संगृहीत जान पड़ते हैं और संभव है, उनमें से अधिकांश में कल्पना का रंग चढ़ा हुआ हो।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', मई, 1935 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

कारवां

लेखक : श्री भुवनेश्वर प्रसाद।

'कारवां' हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक नयी प्रगति का प्रवर्तक है, जिसमें शा और आस्कर वाइल्ड का सुंदर समन्वय हुआ है। अभी तक हमारा हिन्दी ड्रामा घटनाओं और चरित्रों और कथाओं के आधार पर ही रचा गया है। कुछ समस्या नाटक भी लिखे गए हैं। जिनमें रूढ़ियों का या नये या पुराने विचारों का खाका खींचा गया है, पर सब कुछ स्थूल, घटनात्मक दृष्टि से ही हुआ है, जीवन और उसकी भिन्न-भिन्न समस्याओं पर सूक्ष्म, पैनी तात्विक, बौद्धिक दृष्टि डालने की चेष्टा नहीं की गई जो नये ड्रामा का आधार है। जैसा लेखक ने अपने 'प्रवेश' में खुद कहा है–

'हिन्दी में समस्या नाटककारों का केलव एक सहज आदर्श है। उनके कथोपकथन में 'समस्या' शब्द का आ जाना।'

लेखक ने यहां कुछ मुबालगे से काम लिया है, लेकिन इसमें दो राय नहीं हो सकतीं कि समस्या नाटक की स्पिरिट को उन्होंने खूब पकड़ पाया है और हमारे जीवन के गुप्त रहस्यों, प्रेम और भावुकता की आड़ में छिपे हुए मनोविकारों पर ऐसा निर्दय प्रकाश डाला है कि उनकी ओर ताकते डर लगता है। संभाषण में जगह-जगह मनोभावों की ऐसी मार्मिक विवेचना की गई है कि लेखक की सूझ की प्रखरता और बुद्धि की तीव्रता का कायल होना पड़ता है। राजेन जब स्त्री से कहता है–'स्त्री की घृणा पुरुष

पर बलात्कार है' या जब प्रतिभा महेंद्र से कहती है–'हृदय तो टूटने के लिए ही बने हैं। मानव-जीवन की सबसे बड़ी ट्रेजेडी तो यही है कि हमारे हृदय नहीं टूटते, या जब मिस्टर सिंह कहते हैं–'अनुभ्वा तो मनुष्य जीवन की हार है। संसार का कोई अप्रिय सत्य जब हमें पूर्णतया परास्त कर देता है तो हम उसे अनुभव कहते हैं' या जब वह आगे चलकर फिर कहते हैं–'विवाहित जीवन में सुख केवल उस अहंकार का नाम है, जो स्त्री को पुरुष पर या पुरुष को स्त्री पर विजय पाने में होता है।' या जब किशोर माया से कहता है–'कोई भी मनुष्य अपने प्रेम पात्र के साथ सुखी नहीं रह सकता, तुम्हें उस बालक के लिए पग-पग पर त्याग और बलिदान करना पड़ेगा। और सुख, सुख नाम है विजय का।' या जब माया कहती है–'स्त्री का वास्तविक जीवन जभी प्रारंभ होता है, जब एक पुरुष अपने आपको उसके लिए मिटा चुकता है।' तो मानो हमारी बुद्धि पर ऐसी चोट पड़ती है कि हम क्षण भर के लिए चौंधिया जाते हैं और जी चाहता है कि लेखक का ज़ोरों के साथ खंडप करें, जो शायद इस बात का प्रमाण है कि उसका निशाना ठीक बैठा है।

पुस्तक में प्रवेश और उपसंहार को छोड़कर छः एकांकी नाटक हैं, जिसमें तीन 'हंस' में गत वर्ष छप चुके हैं, शेष तीन या तो अप्रकाशित हैं या अन्य पत्रिकाओं म निकल चुके हैं। 'श्यामा, एक वैवाहिक विडंबना' में मिसेज पुरी अपने पति से फर्माती हैं–'समाज के सम्मुख मैं तुम्हें प्यार करने के लिए उत्तरदायिनी हूं, और विवाह करके यदि मैंने जीविका के लिए अपने आप को नहीं बेचा है–यदि इस कठिन सत्य का सामना तुम नहीं करना चाहते–तो मुझे प्रेम तो चाहिए।' अगर वैवाहिक जीवन में प्रेम नही है–और निस्संदेह नहीं है–तो और कहां है? मुक्ताचरण के जीवन में? व्यभिचार में प्रेम केवल रसिकों की, मुफ्त का धन उड़ानेवालों की, कल्पना है। अपने नग्न रूप में वह केवल संतान की नैसर्गिक प्रेरणा है। भोग की इच्छा का नाम प्रेम गलत रखा गया है। जब एक जोड़ा इस जिम्मेदारी से लद जाता है, तो एक दूसरे के प्रति त्याग और सहानुभूति की मानवीय भावनाएं जाग उठती हैं। यही वैवाहिक जीवन है, यही प्रेम है। अगर प्रेम स कवियों और रसिकों के प्रेम का आशय है, तो वह चंद्रलोक में होगा, मर्त्यलोक में नहीं। यह ग़लत है, कुफ्र है, कि स्त्री जीविका के लिए अपने आपको बेचती है। अस्सी फीसदी दुनिया के बसने वाले मज़दूर हैं। उनके स्त्री-पुरुष दोनों ही परिश्रम करते हैं। प्रायः स्त्री ज्यादा करती है। जीविका का वहां प्रश्न ही नहीं है। फिर भी अधिकतर पुरुष ही प्रधान है। जहां लड़कियां पिता की संपत्ति की वारिस होती हैं, वहां भी पुरुष का आदर कम नहीं है, बल्कि और ज्यादा है। जिसमें बुद्धि बल ज्यादा है, वही विजयी है। कभी-कभी मेहरे मर्द नज़र आ जाते हैं। ऐसे घरों में स्त्रियों की प्रधानता होती है। वैवाहिक जीवन से घबड़ाने वाले वह पुरुष हैं, जो अपनी अकर्मण्यता के कारण कोई जिम्मेदारी नहीं लेना चाहते, जो परले सिरे से खुदग़रज़ हैं, जो विलास के पुतले हैं, चाहे वे कवि हों, या फिलासफ़र। विवाह अवश्य एक बंधन है, लेकिन इस नज़र से देखिए तो जीवन ही क्या है? किसी भी ऐसे समाज की कल्पना की जा सकती है, जहां निरंकुशता का राज हो? ऐसी यूटोपिया तो आज तक किसी ने नहीं बनाई। कुछ न कुछ बंधन तो जीवन में रहेगा ही। इसी का नाम संयम है और जिस तरह जीवन के और विभागों में, उसी तरह वैवाहिक

जीवन में भी उसका खास महत्व है। वैवाहिक जीवन में पांव रखते ही स्त्री-पुरुष दोनों वफ़दारी का व्रत कर लेते हैं, और इस व्रत का जितना ही दृढ़ता से पालन होता है उतना ही जीवन सुखी होता है। सुख उस विजय का नाम है जो स्त्री को पुरुष पर या पुरुष को स्त्री पर पाने में होता है, बड़ी सुदंर सूक्ति हो सकती है, लेकिन निस्सार। उस विजय का नाम सुख नहीं, बल्कि व्यभिचार है।

खैर यह तो हुई विचार की बात, पर पुरी दंपत्ति के मनोरहस्यों का बड़ा ही बारीक चित्रण है। बेचारा मिस्टर पुरी एक बड़ा ट्रैजिक व्यक्ति है, पर बिलकुल सच्चा और उसके साथ ही कुछ कमज़ोर, जो नहीं चाहता कि उसकी स्त्री उसका असली रूप देखे। बलवान पुरुष मनोज महोदय की परवाह न करता। किस हिमाकत के साथ आप कहते हैं–'श्यामा मेरी है....समाज की एक हृदयहीन लौह विधि ने ही उसे तुम्हारी बनाया है, तुम्हारा उस पर क्या स्वत्व है?' स्वत्व तो मनोज महाशय का है, क्योंकि आप श्यामा से प्रेम करते हैं। मिस्टर पुरी संभव है कहीं क्लर्क हों। नौ बजे से लेकर छ: बजे शाम तक किसी दफ्तर में नाक रगड़ते हों, अपने जीवन रक्त की एक-एक बूद श्यामा के लिए जलाते हों, लेकिन उनका श्यामा पर कोई स्वत्व नहीं है, स्वत्व है मनोज का, क्योंकि वह श्यामा से प्रेम करता है।

'एक साम्यहीन साम्यवादी' में आजकल जैसे साम्यवादी देखने में आते हैं उनकी जीती-जागती तस्वीर। 'मिस्टर मिश्रा का तीस वर्ष के दाहिनी ओर राजनैतिक विचार महिष्णुता के बाईं ओर....रुपये से जहा तक उसके कमाने का प्रश्न है निर्लिप्त। नाम और काम दोनों को लोलुप।' कितना सजीव खाका है।

'शैतान' एक उद्दंड, शेखीबाज़ मनचले लोफर का चरित्र है, जिसकी आकस्मिक उदारता उस स्त्री को मुग्ध कर देती है, जो उससे घृणा करती थी। 'प्रतिमा का विवाह' एक धन-लोलुप रमणी का चित्र है, मगर अभी शायद भारत में प्रतिमाओं का जन्म नहीं हुआ है। वह भारतीय नाम की एक अंग्रेज छोकरी हो सकती है, जो बूढ़े पति के धन से जवान प्रेमी के साथ विहार करके बूढ़े को उसकी बुढ़भस की सज़ा देती है। संभव है, नयी रोशनी कुछ दिनों में यहां की रमणियों की मनोवृत्ति में यह तब्दीली पैदा कर दे, लेकिन यद्यपि इस क्षेत्र में हमारा अनुभव बहुत ही कम है, फिर भी हम इसी भ्रम में पड़े रहना चाहते हैं कि यह संपूर्णतया काल्पनिक सृष्टि है, जीवन से इसका कोई ताल्लुक नहीं।

'लाटरी' का प्रसग यह है कि एक पुरुष 'विदेश में अपरिचितों में' रंग-बिरंगे स्वप्न देखता है और जब गर्म धड़कता हृदय लेकर घर आता है, तो देखता है उसकी स्त्री किसी दूसरे पुरुष के प्रेम में पागल है। स्त्री अपने आशिक से कहती है–'तुमने मुझे क्यों जानने दिया कि तुम मुझसे प्रेम करते हो, मेरी आत्मा में पैठ कर तुमने उस हिंसक बाघिनी को क्यों जगा दिया, मेरे जीवन में चिनगारियां क्यों भर दीं?'

आशिक साहब उसके प्रेम का बल लिए चले जाने को तैयार हैं। फ़रमाते हैं–'मैं तुम्हारे स्वप्न लेकर संसार के किसी कोने में चला जाऊंगा और तुम्हारे जीवन में एक सरस, पर अप्रिय स्वप्न, केवल एक स्वप्न छोड़ जाऊंगा।'

स्त्री जवाब देती है–'और मैं एक पुरुष के गले में निर्जीव लता के समान लिपटी

रहूं, जिसे मैं प्रेम नहीं करती? उसके लिए बच्चे उत्पन्न करूं? उसे प्रेम न करूं, समझूं नहीं, पर उसके जीवन में ईर्ष्या की आग लगा दूं और सदैव अपने हृदय में एक दूसरे पुरुष का दाहक प्रेम लिए रहूं।'

स्त्री का पति आता है और यह कौतुक देखकर फिर अपनी नौकरी पर चला जाना चाहता है। पत्नी पुरुष में कुछ खरी-खरी बातें होती हैं। आशिक साहब पर इन बातों का कुछ ऐसा असर होता है कि वह अपने प्रेम से इस्तीफा दे देते हैं और जिस पद पर पति जाना चाहता था, उस पर खुद चले जाते हैं।

'रोमांस, रोमांस' का प्रसंग भी बहुत कुछ लाटरी से मिलता-जुलता है। हां, मिस्टर सिंह ने अपने दिलजले मन में स्त्री के विषय में जो असत्य और अर्धसत्य शब्द कहे हैं उनका Cynicism मन में ग्लानि पैदा करता है और यही क्या इस रचना की एक नाटिका एक 'साम्यहीन साम्यवादी' के सिवा और प्राय: सभी में एक ही विचार, कुछ बदले हुए रूपों में एक काम कर रहा है, अर्थात्–वैवाहिक जीवन का काला रुख। जितनी स्त्रियां आई हैं, सभी अपने शौहरों से बग़ावत किए बैठी हैं, सभी किसी दूसरे आदमी से सांठ-गांठ करती हैं और खुल्लम-खुल्ला करती हैं, और सभी पुरुष ईर्ष्या से जलते हैं और कुढ़ते हैं। वैवाहिक जीवन की यह निस्सारता शायद लेखक ने आस्कर वाइल्ड से उधार ली है। अगर ऐसा है तो ग़नीमत है, लेकिन अगर यह उनके मन की भावनाएं हैं, तो हम यही कहेंगे कि उन्होंने उसका केवल सियाह रुख ही देखा है, अगर वैवाहिक जीवन इतना दुखमय होता तो आज संसार में एक जोड़ा भी नज़र न आता। जीवन में सर्वथा विद्रोह ही विद्रोह नहीं है, कविता भी है, भावुकता भी है, आनंद भी है, त्याग भी है। वही कवि-प्रतिभा जिसे जीवन में निराशा के सिवा और कुछ नज़र नहीं आता, शायद यहां भी प्रस्फुटित हो रही है और यह उसी के उद्‌गार हैं। या शायद ऐसे प्रसंग इसलिए चुने गए हैं, कि दांपत्य के विषय में जो भावनाएं लेखक ने अपने अंदर भर ली हैं, उनके इज़हार के लिए दूसरे प्रसंगों में गुंजाइश न थी। पुराने जमाने में 'शुक बहत्तरी' के ढंग की पुस्तकें बहुत लिखी जाती थीं, जिनमें स्त्री-पुरुष के बेवफ़ाई पर आक्षेप करती थी और पुरुष स्त्री की दग़ाबाज़ी पर। दोनों अपने पक्ष के समर्थन में नज़ीरें पेश करते थे और पुस्तक तैयार हो जाती थी। उन किस्सों के लेखकों का मंशा केवल मनोरंजन होता था। नया ड्रामा अब उससे बहुत ऊंचा उठ गया है। वह अब जीवन की फ़िलासफ़ी और ज़िंदगी के मसले हल करता है और समले भी वह लेता है, जो सार्वजनिक होते हैं, वह नहीं, जिनका केवल मुट्ठी भर दिल जले आदमियों से ताल्लुक़ है।

भुवनेश्वर प्रसाद जी में प्रतिभा है, गहराई है, दर्द है, पते की बातें कहने की शक्ति है, मर्म को हिला देने की वाक्‌चातुरी है। काश, वह इसका उपयोग 'एक साम्यहीन साम्यवादी' जैसी रचनाओं में करते। आस्कर वाइल्ड के गुणों को लेकर क्या वह उसके दुर्गुणों को नहीं छोड़ सकते।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', जून, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

तितली

लेखक : जयशंकर प्रसाद।

'तितली' प्रसाद जी का दूसरा उपन्यास है और यद्यपि इसमें कंकाल की साहित्यिक छटा नहीं है, पर दृष्टिकोण की स्पष्टता और विचारों की प्रौढ़ता में उससे बढ़ा हुआ है। 'तितली' नाम पढ़ कर ऐसा अनुमान होता है कि इसमें चंचल कामिनी का चित्रण होगा, मगर यह अनुमान ग़लत निकलता है और तितली का विकास आदर्श गृहणी और मर्यादाओं पर उत्सर्ग करने वाली देवी के रूप में होता है। वह देहाती स्त्री है, पर उसे अच्छी शिक्षा मिली है और कठिन परिस्थितियों में पड़कर इसका चरित्र कुंदन की भांति और भी निखर जाता है....

पुरुषोचित साहस से उसने इन चौदह वर्षों में संसार का सामना किया था। किसी से न झुकने की टेक, अविचल कर्त्तव्यनिष्ठा और अपने बल पर खड़े होकर इतनी सारी गृहस्थी उसने बना ली।

उसके मन में यही आकांक्षा है कि उसका दंडित पति लौट कर आवे और उसकी साधना को पुरस्कार दे। लेकिन, जब यह कामना पूरी नहीं होती और तितली गांव में संदेह का विषय बन जाती है, तब वह चिल्ला उठती है–

'मैंने इतने धैर्य से इसलिए संसार का अत्याचार सहा कि एक दिन वह आवेंगे और मैं उनकी थाती उन्हें सौंप कर अपने दु:खपूर्ण जीवन से विश्राम लूंगी।....क्या एक दिन, एक घड़ी, एक क्षण भी मेरा, मेरा मन का नहीं आवेगा–जब मैं अपने जीवन-मरण के सुख-दुख में साथ रहने वाले की प्रतिज्ञा करने वाले के मुंह से अपनी सफ़ाई सुन लूं।'

उधर शैला अंग्रेज़ महिला है, जो इंग्लैंड में कुंवर इंद्रदेव सिंह की सज्जनता से प्रभावित होकर उनके साथ भारत आती है यहां किसानों की दुर्दशा देखकर उनको संगठित करने और उनकी आर्थिक समस्याओं का हल करने का आयोजन करने लगती है। फिर विद्वान् रामनारायण के मुख से हिन्दू धर्म का उपदेश सुनकर वह हिन्दू-धर्म की दीक्षा ले लेती है और कुंवर साहब से उसका विवाह हो जाता है, पर उसका वैवाहिक जीवन सुखी नहीं है। स्मिथ नाम का एक अंग्रेज़ उसके मन को बुरी तरह, आंदोलित कर देता है। उसी समय शैला और तितली में जो बातें होती हैं, उससे उनके आदर्श स्पष्ट हो जाते हैं। तितली कहती है–

'तुम धर्म के बाहरी आवरण से अपने को ढंक कर हिन्दू स्त्री बन गई हो सही, किंतु उसकी संस्कृति की मूल शिक्षा भूल रही हो। हिन्दू स्त्री का श्रद्धापूर्ण समर्पण उसकी साधना का प्राण है। इस मानसिक परिवर्तन को स्वीकार करो। देखो इंद्रदेव बाबू कैसे देव प्रकृति के मनुष्य हैं। उस त्याग को तुम अपने प्रेम से और भी उज्ज्वल बना सकती हो।'

जिस तरह शैला और तितली के मनोभावों में अंतर है, उसी तरह कुंवर इंद्रदेव और पंडित रामनाथ के जीवन-आदर्शों में भी गहरा अंतर है। दोनों ही देश और समाज के शुभ चिंतक हैं, लेकिन इंद्रदेव समाज को पच्छिमी ढंग पर ले जाना चाहता है, इसके खिलाफ रामनाथ हिन्दू आदर्शों पर श्रद्धा रखता है और उन्हीं के परिष्कार में जाति का उद्धार देखने का इच्छुक है। इंद्रदेव जाति की दुर्दशा की चर्चा करते हुए कहते हैं–

'इससे तो अच्छी है पश्चिम की आर्थिक भौतिक समता, जिसमें ईश्वर न रहने पर भी मनुष्य को सब तरह के सुविधाओं की योजना है।'

इंद्रदेव पश्चिम की भौतिक समता के पुजारी है। रामनाथ भी समता के भक्त हैं, पर यह काम भारतीय आत्मवाद द्वारा पूरा करने के इच्छुक हैं। वह इंद्रदेव के जवाब में कहते हैं–

'जनता को अर्थ प्रेम की शिक्षा देकर उसे पशु बनाने की चेष्टा अनर्थ करेगी। उसमें ईश्वर भाव या आत्मा का निर्वासन होगा, तो सब लोग उस दया, सहानुभूति और प्रेम के उद्‌गम से अपरिचित हो जायंगे, जिससे आपका व्यवहार टिकाऊ होगा। प्रकृति में विषमता तो स्पष्ट है। नियंत्रण के द्वारा उसमें व्यावहारिक समता का विकास न होगा। भारतीय आत्मवाद की मानसिक समता ही उसे स्थायी बना सकेगी।'

इंद्रदेव का पारिवारिक जीवन बाधापूर्ण है। यों घर के स्वामी वही हैं, पर उस पर राज है उनकी बहन माधुरी का, जो पति प्रेम से वंचित होकर मैके में ही रहती है और इस घर के संचालन में अपने जीवन को सार्थक कर रही है। उनकी माता श्यामदुलारी देवी का समय बीमारी और पूजा-पाठ और अमीरी के चोंचलों में कटता है। इंद्रदेव जब इंग्लैंड से एक अंग्रेजी युवती के साथ लौटता है और दोनों अलग छावनी में रहने लगते हैं, तो माधुरी और श्यामदुलारी दोनों ही चिंतित होती हैं और शैला को किसी तरह दूध की मक्खी की तरह निकाल बाहर करना चाहती हैं। रियासती हथकंडे शुरू हो जाते हैं यहां तक कि इंद्रदेव घर से विरक्त होकर शहर में चले जाते हैं और वहां बैरिस्ट्री करके अपना निर्वाह करने लगते हैं। अपनी सारी संपत्ति अपनी मां के नाम हिब्बा करके वह उस हिब्बानामे की रजिस्ट्री करा देते हैं, लेकिन देहातों के सुधार का विचार उनके हृदय में अभी तक मौजूद है। वह शैला से कहते हैं–

'कुछ पढ़े-लिखे संपन्न और स्वस्थ लोगों को नागरिकता की प्रलोभनों को छोड़कर देश के गांवों में बिखर जाना चाहिए। उनके सरल जीवन में–जो नागरिकता के संसर्ग से विषाक्त हो रहा है–विश्वास, प्रकाश और आनंद का प्रचार करना चाहिए।'

मगर आदर्श हिन्दू माता अपने पुरुष से संपत्ति दान लेकर क्या अधिकार का सुख भोगने में संतुष्ट हो सकती है? वह अंत में सब कुछ अपनी बहू शैला को भेंट करके सुखी होती है। इंद्रदेव की बहन माधुरी भी अंत में पति के दुर्व्यवहार से दुखी होकर शैला से स्नेह करने लगती है। इस समय मनोभावों का दर्शन कितना कोमल है

'प्रेम, मित्रता की भूखी मानवता। बार-बार अपने को ठगा कर भी वह उसी के लिए झगड़ती है।'

तितली का पति मधुबन बड़ा मनचला युवक है, जो अन्याय देख कर शांत नहीं बैठ सकता। उसकी विधवा बहन राजरानी पर जब एक सूदखोर महंत बलात्कार करने की चेष्टा करता है, तो मधुबन क्रोध को काबू में नहीं रख सकता। वह मंहत को गला दबाकर मार डालता है और उसके संदूक से रुपयों की थैली लेकर भागता है और कलकत्ता पहुंचता है। वहां कई घटना चक्रों में पड़ने के बाद उसे दस साल की सजा दी जाती है। जेल में पड़े-पड़े उसके चंचल मन में तरह-तरह के संदेह उठते हैं और अपने ऊपर ग्लानि होने लगती है। वह सोचता है–

'क्या तितली मुझसे स्नेह करेगी? मुझ अपराधी से उसका वही संबंध फिर स्थापित हो सकेगा? मैंने उसका ही यदि स्मरण किया होता—जीवन के शून्य अंश को उसी के प्रेम से, केवल उसी के पवित्रता से, भर लिया होता, तो आज यह दिन मुझे न देखना पड़ता। किंतु क्या वही तितली होगी? अब भी वैसी ही पवित्र? इस नीच संसार में जहां पग-पग पर प्रलोभन है, खाई है, आनंद की, सुख की लालसा है?'

जेल से छूटने के बाद वह ठोकरें खाता हरिहर क्षेत्र पहुंचता है और यहां अपने पुराने दुश्मन चौबे जी और तहसीलदार की बातचीत से उसे तितली के विषय में संदेह होता है—उसका लड़का कब हुआ? प्रतिशोध लेने के लिए उसका पशु सांकल तुड़ा रहा था और वह बार-बार उसे शांत करना चाहता था।

वह घर आता है। उसी समय तितली जीवन से निराश होकर गंगा की गोद में कूद पड़ती है। अंतिम समय उसे मधुबन के दर्शन होते हैं-

उसने देखा सामने एक चिर-परिचित मूर्ति है। जीवन-युद्ध का थका हुआ सैनिक मधुबन विश्राम-शिविर के द्वार पर खड़ा था।

प्रसाद जी कवि हैं और इस कथा में अनेक स्थल ऐसे आये हैं, जहां उनकी लेखनी कवित्व में डूब गयी है। दो-एक उदाहरण लीजिए—

'रसीली चांदनी की आर्द्रता से मंथर पवन अपनी लहरों से राजकुमारी के शरीर में रोमांच उत्पन्न करने लगा था।'

'अपनी सलज्ज गरिमा को ओढ़े हुए वह स्त्रियों की रानी-सी दिखलायी पड़ती थी।'

'दो वृक्षों की ऊंची चोटियां पश्चिम के धुंधले और पीले आकाश की भूमिका पर एक उदास चित्र का अंश बना रही थी।'

इस पुस्तक ने हिन्दी के अच्छे उपन्यासों में एक की संख्या और बढ़ा दी है। कमी जो खटकती है वह है इसमें विनोद और सजीवता की। चौबे जी शुरू में तो कुछ आशाजनक थे, पर आगे चलकर बदमाश निकल गये। उपन्यास पढ़ते हुए मन इस प्रवंचना में नहीं पड़ने पाता कि यह कोई यथार्थ जीवन का चरित्र है। उसकी औपन्यासिकता मन से दूर नहीं होती। चरित्र सजीव न होकर छाया से मालूम होते हैं। सूर्य का तीव्र प्रकाश कहीं नहीं है, मद्धिम चांदनी में सारे दृश्य दिखायी देते हुए जान पड़ते हैं। अंत खुद एक पहेली है। हम चरित्रों की झलक सी देखते हैं। उनका संपूर्ण रूप हमारे सामने नहीं आता, मगर शायद यह उनका अधखुलापन ही है, जो उन्हें हृदय के समीप पहुंचा देता है। कला जितनी छिपाव में है, उतनी दिखाव में नहीं।

[पुस्तक-समीक्षा। 'हंस', जुलाई, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

फलों की खेती और व्यवसाय

लेखक और प्रकाशक : श्री नारायण दुलीचंद व्यास, एल. जी. इंपीरियल इंस्टीट्यूट आफ ऐग्रिकल्चरल रिसर्च, पूसा, मूल्य : डेढ़ रुपया।

फलों का व्यवहार दिन-दिन बढ़ रहा है। थोड़े दिन पहले फल केवल अमीरों

वो शौक की चीज थे। भोजन-सामग्री के रूप में उनका महत्त्व इतना ज्यादा न था। अब तो वह जीवन के आवश्यक पदार्थों में हैं। विदेश से हम दो करोड़ रुपये के फल मंगवा कर खा जाते हैं। भारत में फलों का जितना उत्पादन होना चाहिए, उससे बहुत कम होता है। इस ओर अभी तक न हमारे कृषि-विभाग ने काफी ध्यान दिया और न शिक्षित समाज ने ही। हमारे जमींदारों और काश्तकारों के शिक्षित होनहार लड़के शिक्षा प्राप्त करके नौकरियों के पीछे दौड़ रहे हैं, हालांकि वे थोड़ी-सी बुद्धि और मेहनत से काम लें, तो घर-बैठे फलों की खेती करके अपने गुजर-भर को कमा सकते हैं। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि इस विषय में अभी लोगों का ज्ञान बहुत कम है और न ऐसी पुस्तकें ही मिलती हैं, जिनसे इस व्यवसाय में कुछ सहायता मिल सके। हर्ष की बात है कि श्री नारायण दुलीचंद जी व्यास ने यह छोटी-सी पुस्तक लिखकर यह कमी पूरी करने की चेष्टा की है। फलों के बाग लगाने के लिए जिन-जिन उपादानों की जरूरत पड़ती है, वह सभी संक्षिप्त रूप से इसमें बतलायी गयी हैं, जैसे--फल और स्थान का चुनाव, पूंजी और अन्य आवश्यकताएं, भूमि और क्षेत्र-निर्माण, खाद, पौधे तैयार करने की युक्तियां आदि। ग्यारहवें प्रकरण में देश में व्यवहृत सभी फलों के पैदा करने की विधि बतायी गयी है। मसलन् अमरूद के प्रकरण में बताया गया है कि अमरूद के लिए कैसी जमीन, कैसी खाद, कैसे कलम का व्यवहार करना चाहिए, कैसे उसकी सिंचाई होनी चाहिए, फसल तैयार होने पर कैसे उसका चालान करना चाहिए।

पुस्तक बहुत उपयोगी है और हमें आशा है, वे लोग जिनके पास सुभीते की जमीन है, समय भी है और कुछ पूंजी भी है, इस पुस्तक के सदुपयोग से खुद भी लाभ उठायेंगे और देश की एक जरूरत भी पूरी करेंगे।

[पुस्तक-समीक्षा। 'हंस', अक्टूबर, 1935 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 1 में संकलित।]

फूलों की माला

लेखक : श्री जवाहर लाल जैन, एम॰ ए॰ विशारद। प्रकाशक : श्री राजस्थान पुस्तक मंदिर, जयपुर, मूल्य : बारह आना।

लेखक ने अपने छोटे-छोटे गद्य-गीतों का संग्रह किया है। गद्य-गीतों का हिन्दी साहित्य में एक खास स्थान है और श्री राय कृष्णदास, श्री चतुरसेन शास्त्री, श्री शांतिप्रसाद वर्मा आदि महानुभावों ने उनकी एक शैली भी स्थिर कर दी है। गद्य-गीतों द्वारा हम अपने गहरे मनोभावों, आत्मा की अनुभूतियों और प्राकृतिक सौंदर्य के आनंद को कोमल, मर्मस्पर्शी शब्दों में अंकित करते हैं। उसकी खूबी यही है कि गद्य के संयम के साथ उसमें कविता का आह्लाद भी हो। कभी-कभी हमारे मन में ऐसी तरंगें उठती हैं, जिन्हें हम और किसी रूप में व्यक्त ही नहीं कर सकते। इस संग्रह में, हमें कहना पड़ता है, आह्लाद नहीं मिला। गीतों में उल्लास नहीं है, आवेश नहीं है, कहीं-कहीं तो वह विचारकों के नीरस, नैतिक

आलोचना जैसे हो गये हैं। रुचियां भिन्न हुआ करती हैं। श्री भंवरमल सिंधी को इन फूलों के सौंदर्य और सुगंध से आनंद मिला है। संभव है, दूसरों को भी आनंद मिले। हमें तो उतना नहीं मिला। फिर भी कोई-कोई गीत लेखक की निगाह की बारीकी का परिचय देता है। देखिए–

'वे फूल,
जिनमें केवल रंग ही रंग है, या कुछ नाम मात्र का सुगंध भी है,
जब खिलते हैं, तो बड़े गर्व से आसमान की ओर देखते हैं।
झूम-झूमकर औरों को अपनी ओर बुलाते हैं।
पर,
वे प्रशंसा-योग्य फूल,
जो संसार के दिल के लिए अपने आपको पुष्ट करते हैं,
सदा नतमस्तक रहते हैं।

[पुस्तक-समीक्षा। 'हंस', अक्टूबर, 1935 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

माली

महाकवि डॉ॰ रवींद्रनाथ ठाकुर-कृत 'गार्डनर' का हिन्दी अनुवाद। अनुवादक : श्री सूर्यनारायण चतुर्वेदी। प्रकाशक : नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, मूल्य : डेढ़ रुपया।

'माली' श्री माखनलाल चतुर्वेदी के शब्दों में रवि बाबू की सबसे कोमल कृति है और हिन्दी में उसका अनुवाद करके अनुवादक महोदय ने सराहनीय काम किया है। हमें उनसे यही शिकायत है कि बंगला न जानते हुए भी उन्होंने क्यों यह प्रयत्न किया। अनुवाद में मूल का मान यों भी अपनी पूरी अभिव्यक्ति नहीं कर पाता, और जब अनुवाद भी अनुवाद का अनुवाद हो, तब तो यह दोष और भी प्रत्यक्ष हो जाता है। पर खेद की बात है कि बंगाली पुस्तक का अनुवाद अंग्रेजी से किया जाय। अंग्रेजी प्रौढ़ भाषा सही, लेकिन जिस प्रकार के भावों का 'माली' में चित्रण किया गया है, उनके लिए अंग्रेजी में उपयुक्त शब्द मुश्किल से मिलेंगे। बंगला से अनुवाद करने में यह दोष न रहता, क्योंकि वे भावव्यंजक शब्द ज्यों-के-त्यों हिन्दी में रख दिये जाते। इसीलिए हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने अपना यह नियम बना रखा है कि वह वही अनुवाद प्रकाशित करेगी, जो मूल पुस्तक से किया गया हो, चाहे वह जर्मन पुस्तक हो या फ्रेंच, या किसी अन्य भाषा की। हिन्दी में इस नियम की रक्षा जितनी ज्यादा हो सके, उतना ही अच्छा है।

[पुस्तक-समीक्षा। 'हंस', अक्टूबर, 1935 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य', खण्ड-1 में संकलित।]

विश्वभारती (त्रैमासिक पत्रिका)

हिन्दुस्तान में अंग्रेजी में जितनी पत्रिकाएं निकलती हैं, उनमें इस त्रैमासिक का स्थान बहुत ऊंचा है। 'विश्वभारती' जैसे एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था है, उसी तरह इस पत्रिका को ऐसे विद्वानों और सुलेखकों का सहयोग प्राप्त है, जिन्होंने विश्वख्याति प्राप्त कर ली है। वह किसी विशेष मत या वाद की प्रचारक नहीं। सत्य की खोज और साहित्य एवं कला में सांस्कृतिक सामंजस्य पैदा करना ही इसका महान् उद्देश्य है। इस संस्था में श्री एम० बिंटनिज के लेख 'मानव-जाति की एकता' को आदर का स्थान दिया गया है, जिसके वह सर्वथा योग्य है। इस लेख में सिद्ध किया गया है कि मानव-जाति संस्कृति और विकास में बहुत कुछ भिन्न होने पर भी मूलत: एक है। उसकी विचार-शैली एक है, स्वभाव एक है, और अपनी टोली या दल या संप्रदाय को श्रेष्ठ और दूसरों को हीन समझने की हिमाकत भी मनुष्य का चिरंतन स्वभाव है। आजकल गोरी जातियों में आमतौर पर, और जर्मनी में खासतौर पर जो यह वाद चल रहा है कि मनुष्य जाति की एकता केवल भ्रांति है और कवियों की कल्पना के सिवा इसका कहीं अस्तित्व नहीं, और कुछ जातियां शासन करने के लिए ही बनायी गयी हैं—इसके मिथ्यात्व को अकाट्य प्रमाणों द्वारा संपादित किया गया है। डॉ० रवींद्रनाथ का 'बदलता हुआ जमाना' भी वर्तमान पतनोन्मुखी सभ्यता का उज्ज्वल दिग्दर्शन है। आचार्य कृपलानी का 'नर्म और गर्म दल', श्री निर्मलकुमार बोस का 'कोणार्क का मंदिर', श्री मणिलाल पटेल का 'ईरान की सभ्यता', सभी प्रकाश डालने वाले लेख हैं। कई कलापूर्ण वुडकट और फोटो चित्र भी हैं। आकार डबल क्राउन अठपेजी, पृष्ठ-संख्या 100, पत्रिका के संपादक श्री० के० आर० कृपलानी हैं। वार्षिक मूल्य : 8 रुपये, एक संख्या का ढाई रुपया।

[पत्रिका-समीक्षा। 'हंस', अक्टूबर, 1935 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

सफल जीवन

लेखक : श्री पं० छविनाथ पांडेय बी० ए०, एल-एल० बी०। प्रकाशक : विद्यामंदिर, बनारस सिटी, मूल्य : डेढ़ रुपया।

इस पुस्तक में पांडेय जी ने चरित्र-निर्माण संबंधी विषयों पर, जैसे—अवसर, दृढ़ता, तुम्हारा भविष्य, पुरुषार्थ, आत्म-संयम, सुख के साधन—आदि सत्रह निबंध लिखे हैं, जो सर्व-साधारण के लिए और खासकर कुमारों के लिए बड़े कल्याणकारी सिद्ध होंगे। पांडेय जी अनुभवी लेखक हैं, उनका विषयों का चुनाव उद्देश्य के अनुसार है और शैली भी बहुत रोचक और प्रभावोत्पादक है। अंग्रेजी में ब्लैकी, मारडेन या ऐलेन की जैसी पुस्तकें हैं, उसी तरह की यह पुस्तक भी है। यदि हमारे छात्र निरर्थक साहित्य के फेर में न पड़कर इस तरह की पुस्तकें पढ़ें और उनके उपदेशों पर अमल करना सीखें, तो उनका जीवन

इतना उत्साहहीन और संयम-रहित न हो।

धन के विषय में कितनी सच्ची राय है, "संसार में धन ही सब-कुछ नहीं है। धन की पूजा तो बहुत जगहों में होती देखी गयी है। संसार का इतिहास उठाकर देखिए और उदाहरण ढूंढ़-ढूंढ़कर सामने रखिए तो आपको विदित हो जायेगा कि जिनकी हम उपासना करते हैं, जिनके लिए हम अपनी आंखें बिछाने तक को तैयार रहते हैं, जिनकी स्मृति को तरोताजा रखने के लिए हम अनेक तरह के स्मारक चिह्न बनाकर खड़ा करते हैं, उन्होंने रुपया कमाने में अपना समय नहीं बिताया था, बल्कि उन्होंने ऐसे काम किये थे, जिनकी महत्ता को हम रुपये से मूल्यवान समझते हैं। जिन लोगों के जीवन का उद्देश्य केवल रुपये बटोरना है उनकी प्रतिष्ठा कहीं कम हुई है।"

बीसवीं सदी की दुनिया धनोपासना की दुनिया है। हमारे अध्यापक भी हाय रुपया। हाय रुपया ! के पीछे प्राण दे रहे हैं। धनी गधे भी पुज रहे हैं और बड़े-बड़े नेता उन्हें पूज रहे हैं। धन कमाने की शक्ति दिल और दिमाग और सभी शक्तियों से श्रेष्ठ समझी जा रही है। ऐसे झूठे वातावरण में युवकों के मन पर धन का आतंक जम जाय और वे धन ही की गुलामी करने लगें, तो क्या आश्चर्य है। जीवन की बहुत-सी बातों में युवकों को इस पुस्तक से अच्छी सलाह मिलेगी।

[पुस्तक-समीक्षा। 'हंस', अक्टूबर, 1935 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

मुसद्दस हाली (सदी एडीशन)

स्व० मौलाना हाली उर्दू साहित्य के प्रवर्तकों में हैं। आपने ही उर्दू पद्य को नग्न श्रृंगार के दोष से मुक्त किया और नवीन शैली की बुनियाद डाली। गद्य-साहित्य में भी आपने आलोचना और आलोचनात्मक चरित्र को जन्म दिया। बिगड़ी उर्दू साहित्य-रुचि को जितना हाली ने सुधारा और किसी लेखक ने नहीं। आप सर सैयद के साथ मुस्लिम जागृति के जन्मदाता हैं। गत मास में आपकी शताब्दी जयंती बड़ी धूम-धाम से मनायी गयी थी। मौलाना हाली के सबसे प्रसिद्ध और युगांतरकारी काव्य 'मुसद्दस' का यह एडीशन उसी जयंती की यादगार में निकाला गया है। शुरू में डाक्टर आबिदहुसेन साहब की लिखी हुई विद्वत्तापूर्ण भूमिका है, फिर मौलाना अब्दुल माजिद दरियाबादी, मौलाना अब्दुल हक, सैयद सुलेमान नद्वी और ख्वाजा गुलामुस्संयदैन के अलग-अलग लिखे हुए परिचय हैं। मूल काव्य के अंत में शब्दार्थ भी दिये गये हैं। इस काव्य में मौलाना हाली ने मुस्लिम जाति के उत्थान और पतन का बड़ा ही विशद और स्फूर्तिमय वर्णन किया है। मौलाना का चित्र और उनकी लिपि के नमूने भी दिये गये हैं। लिखायी, छपायी और जिल्द आकर्षक। लीथो में इतनी सुंदर पुस्तक देखकर आश्चर्य होता है। प्रकाशकों ने यह पुस्तक छापकर उर्दू साहित्य का उपकार किया है।

[पुस्तक-समीक्षा। 'हंस', नवम्बर, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

अदबी दुनिया

लाहौर की इस विख्यात उर्दू पत्रिका का यह नव-वर्षांक बड़ा शान से निकाला है। इसमें प्रताप के आकार के दो सौ बीस पृष्ठ लेख और दर्जनों सादे और रंगीन चित्र हैं। इसे देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि उर्दू साहित्य कितने वेग से उन्नति कर रहा है। इसमें छब्बीस गद्य-लेख और चौबीस कविताएं हैं। गद्य-लेखों में आठ कहानियां हैं, पांच ड्रामे, दस आलोचनात्मक निबंध हैं और तीन साहित्यिक लेख हैं। कहानियों में दो 'हंस' से अनुवादित हैं यद्यपि नाम नहीं दिया गया है। हज़रत वक़ार अंबालवी का 'आखिरी गीत' ग्रामीण जीवन की सुंदर प्रेम-कथा है, यद्यपि कथानक में कोई नवीनता नहीं। ड्रामों में इंद्रलालदास 'कमर' का 'सोसायटी के इजारेदार' इब्सेन के Pillars of Society की शैली का मनोरंजक सामाजिक चित्रण है, जिससे हमारी वर्तमान सोसायटी की नैतिक और चारित्रिक दशा पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है। आलोचनात्मक निबंधों में हज़रत कैफ़ी का 'तारीख उर्दू का मुताला' और हज़रत राशिद का 'उर्दू साहित्य पर ग़ालिब का असर' बड़े विचारपूर्ण हैं। राशदि साहब ने जितनी योग्यता से अपने विषय का प्रतिपादन किया है, उससे विदित होता है कि उर्दू में आलोचना का आदर्श कितना ऊंचा उठ गया है। मिर्जा अज़ीमबेग चगताई का 'बीवी का ख़त मियां के नाम' हास्यरसपूर्ण लेखों में सबसे अच्छा है। कविताओं में हज़रत हफ़ीज़ जालंधरी का 'दर्शन', पंडित इंद्रजीत शर्मा का 'भूल आयी री' नयी सर्वप्रिय शैली की रचनाएं हैं। 'बाग़ी संसार' और 'शिकवा' भी सुंदर हैं। और भी कई कविताएं बहुत अच्छी हैं। इस अंक का मूल्य सवा रुपया है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', फरवरी, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

कांग्रेस का इतिहास

लेखक : डा॰ बी॰ पट्टाभिसीतारमय्या।

जिस पुस्तक की महीनों से धूम थी, वह प्रकाशित हो गई और उसका पहला एडीशन बिक भी गया। अब दूसरा एडीशन छप रहा है। हमें यह जानकर ताज्जुब हुआ कि वह हिन्दी अनुवाद केवल दो महीने में छप-छपाकर तैयार हो गया। श्री हरिभाऊ उपाध्याय के सिवा कोई दूसरा आदमी इतनी जल्द और इतने अच्छे ढंग से यह काम कर सकता, इसमें संदेह है। सात सौ सुपर रायल पृष्ठों का अनुवाद करना ही बरसों का काम था, वह भी जब दर्जनों धुरंधर लेखक एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाते। और यहां उपाध्याय जी ने केवल दो महीनों में सारा काम समाप्त कर डाला। कैसे किया, यह तो वही जानें। शायद बीस घंटे रोज काम करते रहे हों। अनुवाद सरल, चलती हुई, सुबोध भाषा में किया गया है और उसकी सफलता पर हम उपाध्याय जी और उनके इने-गिने सहकारियों को बधाई देते हैं। इतनी बड़ी और महत्वपूर्ण पुस्तक की विस्तृत आलोचना तो फिर कभी की जाएगी, आज तो हम सबकी रूप-रेखा और विषय-विभाग का सरसरी जिक्र करके ही अपने को संतुष्ट कर लेंगे। पुस्तक छ: भागों में विभक्त की गई है। पहले भाग में 1885 से 1915 तक सरसरी निगाह डाली गई है। कांग्रेस

के जन्म के पहले दशक की क्या अवस्था थी, स्व॰ ह्यूम ने किस तरह जनमत को संगठित किया, इसका संक्षिप्त वर्णन दिया गया है। कांग्रेस के अंग्रेज़ और हिंदुस्तानी हितैषियों को श्रद्धांजलि देकर यह भाग समाप्त कर दिया गया है। दूसरे भाग में 1915 से 1919 तक का इतिहास है। लोकमान्य तिलक के होम रूल लीग, श्रीमती एनीबेसेंट के आल इंडिया होमरूल लीग, उनकी नज़रबंदी और मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड के सुधारों का जिक्र आ गया है। रौलट कमेटी की रिपोर्ट, हिन्दू-मुसलिम एकता का शुभ दर्शन और जलियानवाला बाग के हत्याकांड का समावेश भी हो गया है।

तीसरे भाग में 1920 से 1928 तक का वृत्तांत है। असहयोग का जन्म, गांधी जी का जेल-दंड, हिन्दू-मुसलिम दंगे, नेहरू रिपोर्ट और उसके बाद के सत्याग्रह संग्राम, बारडोली आदि सभी प्रसंग आ गए हैं, जिनकी याद अभी लोगों के दिलों में ताजा है। चौथे, पांचवें और छठे भाग में 1929 से 1935 तक की सारी घटनाएं आ गई हैं जिसके दोहाराने की ज़रूरत नहीं। अंत में एक परिशिष्ट है, जिसमें गांधी-इर्विन समझौते, सांप्रदायिक और महात्मा जी के महाव्रत के समय के पत्र व्यवहार की नकलें दी गई हैं। पुस्तक बेहद सस्ती है, सस्ता साहित्य-मंडल के लिए भी।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', फरवरी, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

तीन नाटक

लेखक : श्री सेठ गोविंददास जी।

इस पुस्तक में सेठ जी के तीन नाटक हैं—कर्त्तव्य, हर्ष और प्रकाशित। कर्त्तव्य में दो भाग हैं—पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध में श्री रामचंद्र जी की जीवन-कथा है, उत्तरार्द्ध में श्रीकृष्ण के मथुरा से प्रस्थान करने और अक्रूर के आने का वृतांत लिखा गया है। यह दोनों कथाएं इतनी बार लिखी जा चुकी हैं और इतने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से कि ज्यों की त्यों नाटक के रूप में आकर भी विशेष आकर्षण नहीं रखती। श्री मैथिलीशरण जी गुप्त ने उसी कथा का प्रसंग लेकर अपूर्व काव्य रच डाला। उनकी सफलता का कारण कुछ तो उनकी ओजस्विनी वर्णन-शैली और कवित्व-शक्ति है और कुछ रामायण से बिलकुल अलग एक नयी कथा। सेठ जी कथानक में कोई अनुठापन न ला सके।

हर्ष ऐतिहासिक नाटक है। इसमें राजा हर्षवर्द्धन का चरित्र दर्शाया गया है। सम्राट हर्ष भारत के उन सम्राटों में हैं, जिनका वीरता और सच्चरित्रता दोनों ही दृष्टियों से इतिहास में सर्वोच्च स्थान है। लेखक ने उसे आदर्श प्रजा-पालक, अहिंसा-व्रतधारी, पक्का धर्म-परायण दिखाया है, जो सर्वथा इतिहास के अनुकूल है। हर्ष का चरित्र एक महान ट्रेजेडी है, जो कितने महान सांस्कृतिक और राजनैतिक कार्यों का स्वप्न देखता हुआ राजश्री को सम्राज्ञी बनाता है, स्वयं उसका मांडलिक बनता है, पर भारत को एक राष्ट्र, एक चक्रवर्ती राज्य के अंतर्गत देखने की उसकी अभिलाषा निष्फल होती है, और उसका सारा जीवन राजाओं के विद्रोह के दमन करने में बीत जाता है। अंतिम दृश्य, जिसमें माधव गुप्त ने अपने पुत्र आदित्यसेन के प्राण-दंड की अनुमति मांगी है और आदित्यसेन की

माता के पुत्र के प्राणों की भिक्षा, बड़ा ही मर्मस्पर्शी है।

प्रकाश सामाजिक नाटक है और वर्तमान राजनैतिक और सामाजिक जीवन का यर्थाथ खाका। यहां स्वार्थी मिनिस्टर है, रंगे सियार कार्उसिल के मेंबर हैं, जो देश-भक्ति और जन-सेवा का स्वांग भरकर अपना उल्लू सीधा करते हैं, जिनकी दृष्टि में स्वार्थ और यशोलिप्सा के सिवा और किसी चीज़ का महत्व नहीं, जो आठों पहर अपना मतलब गांठने के लिए हथकंडे सोचा करते हैं। अकेला एक ग्रामीण युवक प्रकाश इनके बीच में आकर अपनी स्पष्टवादिता से इन षड्यंत्रों को मकड़ी के जाले की भाँति छिन्न-भिन्न कर डालता है। उसमें सत्य का इतना बल है कि सारे मतलबी, लोभी, पतित समाज में हलचल पड़ जाती है, मिनिस्टर और लीडर और मेंबर सब के सब दहल उठते हैं और प्रकाश के विरुद्ध षड्यंत्र रचे जाते हैं, पर ठीक उस वक्त जब प्रकाश की गिरफ्तारी के सामान हो गए हैं, मालूम होता है कि वह उसी राजा अजयसिंह का पुत्र है, जिन्होंने अड़दब में पड़कर उसके विरुद्ध अपनी रियासत में विद्रोह फैलाने की रिपोर्ट पर हस्ताक्षर कर दिया था। हमें तीनों नाटकों में यह सबसे ज्यादा पंसद आया। ऊंचे मिडिल क्लास का इतना सफल चित्रण देखकर मन मुग्ध हो जाता है। प्रसंग से अनेक सामाजिक समस्याओं पर बड़े ही सुलझे हुए ढंग से विचार किया गया है और उन समस्याओं का वही हाल बताया गया है, जो भारत की परिस्थिति और राष्ट्र के हितों के अनुकूल है। 'स्पर्द्धा' सेठ जी की पहली रचना है जो हमारी नज़र से गुजरी। उसके बाद इस सामाजिक नाटक ने हमारी यह धारणा मतबूत कर दी कि सामाजिक नाटक ही आपका क्षेत्र है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', फरवरी, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

दि न्यू आउटलुक (The New Outlook)

यह अंग्रेजी का मासिक-पत्र अहमदाबाद से श्री गोविंदलाल डी॰ शाह की एडीटरी में निकलता है। संपादक-मंडल में मिस श्यामकुमारी नेहरू, मिर्ज़ा अहमद सोहराब और कई अन्य प्रतिष्ठित नाम हैं। जनवरी का यह अंक विशेषांक के रूप में निकला है, जिसमें कई अच्छे-अचछे विचारपूर्ण लेखों का संकलन है। इस पत्र की विशेषता यह है कि इसमें अन्य प्रदेशों के लेख भी दिए जाते हैं और उसे सर्वप्रिय बनाने की चेष्टा की जाती है। अधिकतर उन्हीं समस्याओं पर लेख लिखे जाते हैं, जिन पर आजकल समाज में बहुत लिखा-पढ़ा जा रहा है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', फरवरी, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

तुलसी के चार दल

लेखक : श्री सद्गुरुशरण अवस्थी।

उक्त पुस्तक के लिखने का उद्देश्य उसके लेखक के शब्दों में ही इस प्रकार है-

'यह बात हिन्दी के सभी प्रेमियों को खटकती है कि हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास जी की कृतियों की पूर्ण और उचित समीक्षा तथा उनके पठन-पाठन के उचित

व्यवस्था अभी नहीं हुई है। कविता-प्रेमियों का ध्यान अभी तक 'रामचरित-मानस' तक ही सीमित रहा है। 'मानस' की सैकड़ों टीकाएं निकली हैं और निकल रही हैं। उसकी समीक्षाएं भी विद्वानों ने की हैं। अन्यान्य भाषाओं में भी रामायण की समीक्षाएं देखने में आती हैं, परंतु यह सौभाग्य गोस्वामी जी के अन्य ग्रंथों को प्राप्त नहीं हो सका। 'विनयपत्रिका' की ओर कुछ भक्त लोगों का ध्यान गया है। उसकी एक-दो आलोचनाएं और टीकाएं अच्छी निकली हैं। 'कवितावली' की भी एक-दो टीकाएं अच्छी निकली हैं परंतु उस पर कोई आलोचना-ग्रंथ देखने में नहीं आया। फुटकर लेखों में तो कभी-कभी गोस्वामी संबंधी समीक्षाएं दिखाई भी देती हैं, परंतु पुस्तक रूप में इस दिशा में कोई प्रयास नहीं किया गया। मुझे इस प्रकार का अनुभव है कि हिन्दी की अच्छी मासिक पत्रिकाओं के कुछ नये संपादक भी गोस्वामी तुलसीदास जी तथा कवि-सम्राट् सूरदास जी की आलोचनाओं को छापना पिछड़ापन समझते हैं।

'गोस्वामी तुलसीदास के संबंध में सबसे अच्छा और सबसे मौलिक ग्रंथ पंडित रामचंद्र शुक्ल का ही है। उनकी समीक्षा किसी एक ग्रंथ पर आश्रित न होकर सभी ग्रंथों पर आश्रित है। फिर भी 'मानस' पर ही उस आलोचना का धरातल अधिक है। विश्वविद्यालयों में और कालेजों में हिन्दी की उच्च शिक्षा की व्यवस्था हो जाने के कारण गोस्वामी तुलसीदास के समस्त ग्रंथों की पूर्ण और विशद समालोचनाएं दिखाई पड़नी चाहिए थीं, परंतु काशी के प्रोफेसरों को छोड़कर अन्य स्थानों के प्रोफेसरों का ध्यान भी इस ओर नहीं गया। कुछ लोगों में तो अपनी लेखनी का प्रयोग करने में विकट संकोच है।

'गोस्वामी तुलसीदास के संबंध में लोगों की जानकारी अधिक बढ़े और उनकी कृतियों के पठन-पाठन में सहायता मिले, इसी लाभ को ध्यान में रखकर प्रस्तुत पुस्तकों को लिखा गया है। पहली पुस्तक में गोस्वामी तुलसीदास का संक्षिप्त जीवन-वृत्त दिया गया है। साथ ही साथ काव्य-कला और गोस्वामी तुलसीदास जी की निजी प्रेरणा पर एक लंबा प्रबंध भी दिया गया है। इसके अनंतर गोस्वामी तुलसीदास की चार छोटी कृतियों पर समीक्षाएं हैं। उन कृतियों के नाम हैं–'रामलला नहछू', 'बरवै रामायण' 'पार्वती मंगल', तथा 'जानकी मंगल'। इन आलोचनाओं के प्रसंग में बहुत-सी और जानने योग्य बातें सम्मिलित कर दी गई हैं। दूसरी पुस्तक में उन्हीं चारों पुस्तकों के उचित अध्ययन के लिए मूल पाठ के साथ-साथ शब्दार्थ तथा टिप्पणियां देकर पाठ समझाया गया है। स्थान-स्थान पर तुलना करने के लिए बाहर के पदों को उद्धृत किया गया है। अलंकारों का भी कहीं-कहीं पर निर्देश कर दिया गया है।'

प्रसन्नता की बात है कि लेखक महोदय प्रस्तुत पुस्तक के सभी उद्देश्यों की पूर्ति सफलता के साथ कर सके हैं। खासकर हिन्दी के ऊंचे साहित्य का मनन करनेवाले विद्यार्थियों से तो हमारा विशेष अनुरोध है कि वे इस पुस्तक का खूब अध्ययन करें। यों तो सर्वसाधारण के काम की यह है ही। इसी प्रकार यदि अन्य विद्वान प्राचीन साहित्यों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करें, तो हमारा पूर्ण विश्वास है कि नवयुवक साहित्यिकों मे प्राचीन साहित्यों के प्रति अभिरुचि बढ़े और उनकी बहुत कुछ जटिलता दूर हो जाए।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', मार्च, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

बनारसी एक्का

लेखक : कृष्णदेवप्रसाद गौड़, एम॰ ए॰ (बेढब बनारसी), प्रकाशक : साहित्य-सेवक कार्यालय, काशी। मूल्य : एक रुपया, पृष्ठ-सं॰ 140।

बेढब बनारसी ने हास्य-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। उनकी विनोदात्मक कविताएं जितनी कहकहा पैदा करने वाली होती हैं, उतनी ही मनोरंजक उनकी हास्य-रस की कहानियां भी होती हैं। यह 'बनारसी एक्का' उनकी 14 रचनाओं का संग्रह है। उसमें पाठकों को विशुद्ध पर सजीव हास्य की एक-एक पंक्ति में सामग्री मिलेगी। आपने अपनी भूमिका में लिखा है, "व्यक्तिगत रूप से जीवन ऐसा दुःख और करुणा से भरा हुआ है, ज़िंदगी के तार-तार में व्यथा इतनी बिंध गई है कि उनसे छुटकारा पाने के लिए संसार को ऐसी दृष्टि से देखने का अभ्यास करता हूं कि कहीं हास्य की एक रेखा मिल जाए।" निःसंदेह वह रेखा पाने में आप सफल हुए हैं। इन कहानियों में मीठी चुटकियां हैं, पैने व्यंग्य हैं और शिष्ट परिहास हैं, मगर अधिकतर रचनाओं में केवल हास्य की अतिशयोक्ति ही से काम लिया गया है, अर्थात् जीवन की मामूली बातों को अतिरंजित करके दिखाया गया है। हास्य के मैगज़ीन में और जो बहुत से शस्त्र हैं, उन्हें ज्यों-का-त्यों पड़ा रहने दिया गया है, जिससे हास्य एकांगी हो गया है।

पुस्तक समीक्षा। 'हंस', मार्च, 1936 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य', खण्ड-1 में संकलित।]

मुनमुन

लेखक : श्री भारतीय एम॰ ए॰, प्रकाशक : सरस साहित्य सदन, प्रयाग। मूल्य : एक रुपया, पृष्ठ सं॰ 168।

यह भारतीय जी की कहानियों का दूसरा संग्रह है, जिसमें 11 कहानियां दी गई हैं। भारतीय जी की रचनाओं में हमेशा कोई-न-कोई सामाजिक प्रेरणा होती है, समाज की आत्मा को जगाने का अनवरत प्रयास, जो व्यक्ति के लिए भी उतना ही विचारोत्तेजक होता है। आप साहित्य के उस स्कूल में हैं, जो कला को परिष्कार का, जागृति का और इसलिए आनंद का मंत्र मानता है। आपनी उन सभी रचनाओं में अपने आदर्श चरितार्थ किए हैं। 'मुनमुन' एक बकरे की दिल हिलाने वाली करुण-कथा है और उस बलि-बकरे से एक बालक का प्रेम दिखाकर आपने करुणा को और मर्मभेदी बना दिया है। आपका 'मिस-35' आपकी विनोदात्मक रचनाओं का संग्रह था, जिसमें आपने कटाक्ष और व्यंग्य और अतिरंजन की बहार दिखाई थी। 'मुनमुन' में वैसी सोलहों आने हास्य की कोई रचना नहीं है, मगर आप जो कुछ लिखते हैं उसमें हल्का चुलबुलापन अवश्य होता है, जिससे आपके साहित्योद्यान में पहुंचते ही मन प्रफुल्लित हो जाता है। साहित्य में थोड़ा-सा नमक मिला रहे तो वह और भी रुचिकर हो जाता है। भारतीय जी ने इस रहस्य को समझा और उसका हमेशा निबाह करते हैं। उनकी शैली बड़ी लचकदार, सरस

और प्रसादपूर्ण है। भोली-भाली गंवारिन राधा को देखिए और उस युवक साहब बहादुर को देखिए जो कभी उसकी गोद में खेला था और आपको राधा से सच्ची सहानुभूति हो जाएगी। हस्तलिखित ग्रंथों के खोजी पाठक पर किसे दया न आ जाएगी। मि० शर्मा लॉटरी पाकर किस तरह अपने मन की शांति खो बैठे, इन सारे प्रसंगों में भारतीय जी की सहृदयता और पटुता झलक रही है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', मार्च, 1936 मे प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य', खण्ड-1 में संकलित।]

मधुबाला

रचयिता : श्री बच्चन।

यह कवि बच्चन के गीतों और कविताओं का दूसरा संग्रह है जो छोटे आकार में बड़ी सज-धज से छपा है। बच्चन में अपना व्यक्तित्व है, अपनी शैली है, अपने भाव हैं और अपनी फ़िलासफ़ी है। मधु, मधुबाला, साक़ी आदि भावनाएं हिन्दी में अनोखी हैं। यहां तो सोमरस और भंग का प्राधान्य था, मगर सोमरस का वैदिक काल में चाहे जो महत्व रहा हो और भंग, गांजा, चरस आदि का साधु और रसिक-मंडली में चाहे आज भी कितना ही रिवाज हो, मगर नशे की कल्पना हमारी कविता के क्षेत्र में नहीं घुसने पाई। हमारी मध्यकाल की कविता में बंसी और वृन्दावन की पुकार है और नयी कविता में वीणा और माला और धूप-दीप की कल्पना का प्राधान्य। वह साकार की भक्ति थी, यह निराकार की उपासना है और इसलिए आत्मानुभूतिपूर्ण और अंतर्मुखी है। बच्चन जी की कविता में भी वही भावनाएं हैं मगर कल्पना हिन्दी के लिए सर्वथा अछूती है और यह श्रेय उनको है कि उन्होंने फ़ारसी का यह तख़ैयुल यहां ऐसा खपाया है कि उसमें बेगानापन बिल्कुल नहीं रहा। और चूंकि हिन्दी में भी बुलबुल और क़फ़स और साक़ी और साग़र रसिक मौजूद हैं और कसरत से मौजूद हैं, हिन्दी में यह चीज़ पाकर उन्होंने उसका स्वागत किया। फ़ारसी और उर्दू के कवियों ने तो साक़ी और सुराही को आध्यात्म की चीज़ बना डाला है। उनके लिए शराब दैवी आदेश है, या भक्ति या ज्ञान। उनका नशा वह विह्वलता है, जो भक्ति की पूर्णता है। पिंजरे में फंसी हुई बुलबुल का, बाग़ में बनाए हुए घोंसले की याद में तड़पना मनुष्य के जीवन से इतना मिलता है कि हम उसके दुःख में शरीक होने के लिए मजबूर हैं। शराब की कल्पना भी जहां इस दुःख भरे संसार से विरक्ति की सूचक है, वहां धार्मिक कट्टरता और संकार्णता से विद्रोह का भी इशारा करती है। देखिए मधुप भी क्या कहता है—

हमने छोड़ी कर की माला,
पोथी-पत्रा भू पर डाला,
मंदिर-मसजिद के बंदी-गृह
को तोड़ लिया कर में प्याला।

और दुनिया को आज़ादी का,
संदेश सुनाने हम आये।

हमें आशा है कि, बच्चन जी की मधुबाला कहीं निराशावाद की शराब न पिलाए?

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', अप्रैल, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

मदिरा

लेखक : श्री तेजनारायण काक।

श्री तेजनारायण जी हिन्दी के कुशल गद्य-काव्य लेखक हैं। गद्य-काव्य की विशेषता है उसकी कोमलता, उसके भावों की गहराई और मोरहस्यों के अंदर बैठने की शक्ति। आपके गद्य-काव्यों में ये सभी गुण मौजूद हैं। इस संग्रह की भूमिका डा॰ राम प्रसाद त्रिपाठी ने लिखी है और 'हिन्दी-साहित्य में गद्य-काव्य' के नाम से तेजनारायण जी ने हिन्दी गद्य-काव्यों का आलोचनात्मक इतिहास लिखा है, जिससे मालूम होता है कि हिंदी में साहित्य का यह अंग कितना सम्पन्न है। हमें उससे यह भी पता चला कि श्री रायकृष्ण दास जी ने और स्वयं तेजनारायण जी ने अपने भावों को पद्य में लिखने का जोर मारा, मगर असफल रहे। इससे तो यही मालूम होता है कि जिनमें कवित्व शक्ति का अभाव है, वे विवश होकर गद्य-गीत लिखकर चित्त शांत कर लेते हैं। हमारा ख्याल है, यद्यपि हमें इस विषय में कुछ कहने का अधिकार नहीं, कि गद्य-गीत स्वतंत्र वस्तु है और कवि जो कुछ पद्यों में नहीं कह पाता वह गद्य-गीतों में कहता है, नहीं श्री रवींद्रनाथ ठाकुर जैसे महान कवि ने गद्य-गीत क्यों लिखे होते। दोनों में अंतर है। कविता भावना प्रधान रचना है, गद्य-गीत अनुभूति-प्रधान। हम गद्य-गीत में केवल भावुकता पाकर संतुष्ट नहीं होते। स्वयं तेजनारायण जी की रचनाओं में अनुभूतियों की कमी नहीं है, हालांकि अगर भावुकता की मात्रा कुछ कम और अनुभूतियों की मात्रा कुछ ज्यादा होती तो इनका मूल्य और बढ़ जाता।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', जून, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

समाज की बात

लेखक : श्री आदित्यकुमार।

आदित्यकुमार जी ने समाज का जो चित्र खींचने की चेष्टा की है, उसमें वह सफल नहीं हुए। न कोई सजीव चरित्र है, न रोचक कथा और न हृदय को स्पर्श करने वाले भाव। कथा तो इतनी उलझ गई है कि किस्से को समझने के लिए प्रयास करना पड़ता है। इतने चरित्रों के लाने की कोई ज़रूरत न थी। ऐसा जान पड़ता है, लेखक ने दो-तीन परिवारों का वृत्तांत एक उपन्यास के रूप में संग्रह कर दिया है। उपन्यास में हर एक चरित्र अपना एक व्यक्तित्व रखता है और उसी के विकास पर कथा चलती है। पाठक को उसके विकास में उत्कंठा होती है। वह देखता है, लेखक में अनुभूतियों की

कितनी गहराई है, वह किन स्थलों पर अपने रचना-कौशल या मार्मिक आलोचनाओं या मनोवैज्ञानिक रहस्यों से उसे मुग्ध करता है। उपन्यास में अगर कोई घटना ही हो, तो उसे भी इस तरह रखना चाहिए कि उसका वैचित्र्य पाठक को खींचे। यह उपन्यास तो केवल वह सामग्री देता है, जिस पर किसी उपन्यास की कल्पना की जा सकती है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', अप्रैल, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

सोहाग-बिन्दी

लेखक : श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी।

इधर कुछ दिनों से एकांकी नाटकों की ओर रुचि बढ़ रही है। द्विवेदी का इस अंग की पूर्ति करनेवालों में प्रमुख स्थान है। हमने इन छहों नाटकों को बड़े शौक से पढ़ा और हमें जो सबसे अधिक 'रुचा, वह 'सर्वस्व समर्पण' है, जो आपने डा० रवींद्रनाथ ठाकुर जी की किसी रचना के आधार पर लिखा है। शेष पांचों नाटकों में चार तो ऐसे हैं, जिनमें कोरी भावुकता है और एक 'शर्मा जी' कुछ व्यंग्यात्मक है। जिसमें एक शिक्षित युवती के मनोभावों की आलोचना की गई है। 'सोहाग की बिंदी' में काली बाबू की स्त्री अकेलेपन से दुखी रहती है और अपने मौसेरे देवर को देखकर उसी की याद में घुल-घुलकर मर जाती है। अकेलेपन को हौआ बनाकर जो स्त्री एक युवक को पहली बार देखकर और उसकी मजेदार बातें सुनकर मरने लगती है, उसका मर जाना ही अच्छा। दूसरा नाटक भी इसी तरह की एक युवती का चित्र है, जो एक युवक के प्रेम में घुलती है और आखिर व्याकुल होकर एक बार देखने आ जाती है। तीसरे नाटक में उर्मिला अपने एक पुराने प्रेमी को ठुकराकर एक ज़मींदार से ब्याह कर लेती है। प्रेमी साहब उसे दिल में प्यार भी करते रहते हैं और उससे जलते भी रहते हैं। उसकी बीमारी की खबर पाकर भी अपने दिल को रोकते हैं और जब उसके घर पहुंचते हैं तो वह मर चुकी है। 'शर्मा जी' मज़े की चीज़ है, जिसमें एक युवती के मनोस्थल की गहराई में पहुंचने का सफल प्रयास है। पांचवां 'दूसरा उपाय ही क्या था' एक मुअम्मा-सा है, न यही पता चलता है कि स्त्री क्या चाहती है, न यही कि पुरुष क्या चाहता है। चरित्रों में पहले नाटकवाला महाराज बड़ा मौलिक और सहृदय बन गया है। काश द्विवेदी जी ऐसे चरित्रों के सृजन से ज्यादा उर्वर होते। नाटकों में या किसी भी रचना में लेखक का आइडिया स्पष्ट होना चाहिए। पाठक को अंधी गली में ले जाकर छोड़ देना पाठकों को भ्रम में डाल देना है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', अप्रैल, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।

हवाई कहानियां

लेखक : श्री ज़हूरबख्श।

मुंशी जहूरबख्श बच्चों की कहानियां लिखने में कुशल हैं। इस संग्रह में आपकी ग्यारह कहानियां हैं, बड़ी ही मनोरंजक हैं। बच्चों में 'अद्‌भुत' भावना बड़ी प्रबल होती

है और साहित्यिकता से विशेष रुचि। इन सभी कहानियों में ये दोनों गुण मौजूद हैं। बीच-बीच में बच्चों का चरित्र-निर्माण करने वाली बातें भी आती गई हैं, मगर वह इस तरह आई हैं कि कहानी का अंग बन गई हैं। बालकों के लिए ये कहानियां मनोरंजक भी हैं और भावप्रद भी। भाषा बहुत ही साफ़ और मंजी हुई।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', अप्रैल, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

कसक

रचयिता : श्री हृदयनारायण पंडित 'हृदयेश'।

यह हृदयेश जी की चुनी हुई कविताओं का सचित्र संग्रह है। उनमें माधुर्य है, प्रसाद है, करुणा है, तड़प है और कहीं-कहीं क्रांति भी है। जैसा हृदयेश जी ने अपनी भूमिका में लिखा है, कविता पर या साहित्य के किसी दूसरे अंग पर भी अपने समय की छाया पड़े बिना नहीं रह सकती। हम जिन सामाजिक और राजनैतिक दशाओं में पड़े हुए हैं, उनमें करुणा और कसक के भावों की प्रधानता ही हो सकती है, मगरा हम सुकवि जनों से यह आशा भी रखते हैं कि वह केवल मर्सिया न गाएं, हालांकि जीवन में मर्सिये का स्थान भी है, बल्कि जीवन में सफूर्ति का संचार भी करें। अगर कवि की रचना सुनकर 'चेतनता चल दे' या 'आशाएं' आहत हो जाएं, तो फिर इन आफतों से लड़ा किस बल से जाए। इस 'कसक' के प्रवाह में 'शिशु' की आमाशय झलक देखकर दिल को ढारस मिलता है-

मधुर यौवन की लघु तस्वीर,
नवल आशाओं के मधुमास।
भावनाओं के मृदु संसार,
प्रेम के कंपित नव उच्छ्वास।

पुस्तक में पांच मनोहर रंगीन कवित्वपूर्ण चित्र हैं, कई आफ़टोन चित्र। पुस्तक श्री सेठ कैलाशपति जी सिंहानिया को समर्पित की गई है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', मई, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

पंखुड़ियां

लेखक : श्री पृथ्वीनाथ शर्मा।

यह शर्मा जी की बारह छोटी कहानियों का संग्रह है। सीधी-सादी मनोरंजक कहानिया हैं, जिनमें प्रतिभा तो कम है, पर कलम मंजा हुआ है। लेखक ने विविध रसों की चीज़ें लिखी हैं, पर उनका प्रधान रस करुणा है। 'भिखारी का प्रेम', 'दुख की कंदरा', 'रज्जो का सौदा', 'त्याग और ममता' आदि गल्पों में करुणा के भिन्न-भिन्न रूपों की झलक मिलती है। 'सुवीरा का भ्रम' रहस्यपूर्ण है। हास्य-रस की कोई कहानी नहीं। मालूम नहीं, शर्मा जी ने इस ग़रीब की क्यों अवहेलना की।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', मई, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

'प्रताप' का कांग्रेस अंक

सहयोगी 'प्रताप' ने यह कांग्रेस अंक निकाल कर अपनी सजगता और सजीवता का परिचय दिया है। ऐसे अवसरों पर भी हमारे दैनिक और साप्ताहिक पत्र उदासीन रहते हैं, यह हमारी मुर्दादिली के सिवाय और क्या है। 'प्रताप' के इस अंक का पहला लेख 'राष्ट्रपति जवाहरलाल' है जिसमें पं० बालकृष्ण शर्मा ने पंडित जवाहरलाल नेहरू का चरित्र विस्तार के साथ और प्रेम और श्रद्धा से भरे हुए रंग में लिखा है। और पं० जवाहरलाल का चरित्र पिछले पंद्रह वर्षों का सिंहावलोकन है, मगर यह सिंहावलोकन ही नहीं, श्रद्धांजलि है, जिसमें बहुत कुछ आत्मकथात्मक और इसलिए बड़ा ही रोचक और प्रभावपूर्ण है। 'हाथी की फांसी' स्व० गणेशशंकर विद्यार्थी की रची हुई एक हास्य रस की मजेदार कहानी है, जिससे पता चलता ही कि विद्यार्थी जी इस रंग में कुशल थे। बाबू संपूर्णानंद का 'कांग्रेस और साम्राज्यशाही', श्री कृष्णदत्त पालीवाल जी का 'संयुक्त प्रांत की किसान समस्या' आदि लेख भी पढ़ने योग्य हैं, लेकिन इस अंक में श्री नवीन जी का 'वन-गमन' बिलकुल बेमौका मालूम होता है। इसे तो किसी साहित्यिक मासिक पत्रिका में छपना चाहिए था।

मुख्यपृष्ठ पर पं० जवाहरलाल जी का रंगीन चित्र है। और राष्ट्र-नेताओं के चित्र भी हैं लेकिन दस पांच अच्छे कार्टून हो जाते, तो रंग और चोखा हो जाता।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', मई, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

'प्रभात' का बेकारी अंक

हमने कहीं पढ़ा था कि जब से मंदी का जोर हुआ है इंग्लैंड में पुस्तकों की बिक्री बढ़ गई है। इसका कारण शायद यही हो सकता है कि व्यापारियों को हाथ-पर हाथ धरे बैठने की अपेक्षा मनोरंजक पुस्तकें पढ़ने का मशगला ज्यादा पसंद है। वहां की मंदी का अर्थ यह है कि अब पहले का-सा अंधाधुध नफा नहीं होता। उसके खिलाफ हिन्दुस्तान की मंदी का अर्थ यह है कि यहां रोटियों का ठिकाना भी नहीं है। फिर किताबें कौन पढ़े। खाली पेट तो भगवद्-भजन भी नहीं होता, साहित्योपासना तो दूर की बात है। फिर भी बलिया के सहयोगी 'प्रभात' ने 'बेकारी अंक' निकाल कर साहस का काम किया है। पहला लेख है 'बेकारी की विकट समस्या' जिसमें बेकारी के कारणों की मीमांसा की गई है और उसका इलाज बताया गया है। दूसरा लेख श्री शीतलासहाय जी का 'भारत में बेकारी' है। आपका यह खयाल ठीक है कि 'जब तक आर्थिक शासन की आर्थिक नीति में कुछ स्थिरता न हो किसी ओर भी किसी प्रकार की आर्थिक उन्नति की संभावना नहीं है।' श्री परशुराम का 'बेकार साहित्यिक', श्री बाबा राघवदास का 'बेकारी', श्री भगवतीचरण वर्मा का 'बेकारी अथवा अकर्मण्यता' श्री दयाशंकर दुबे का 'शिक्षितों की बेकारी पर एक दृष्टि' आदि लेख भी विचार से लिखे गए हैं। श्री कृष्णमोहन का 'शिक्षितों की बेकारी और उसे दूर करने के उपाय' सारगर्भित लेख हैं जिसमें इस विषय पर हर एक पहलू से विचार किया गया है।

इनके अतिरिक्त और अनेक, लेख, कविताएं और कहानियां हैं जिनसे यह अंक संग्रहणीय बन गया है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', मई, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

भगवद्गीता मंजूम या नसीमे इरफां

रचयिता : श्री विशेशर प्रसाद मुनौवर।

मुनौवर साहब उर्दू के सिद्धहस्त कवि हैं। आपने बाल्मिकीय रामायण और विनय पत्रिका का भी पथबद्ध अनुवाद किया है। आलोच्य ग्रंथ भगवद्गीता का उर्दू पथबद्ध अनुवाद है। भगवद्गीता के कई मंजूम तर्जुमे निकल चुके हैं। अभी नज़र साहब सौहानवी का अनुवाद हाल में प्रकाशित हो चुका है, पर गीता ज्ञान और अध्यात्म का अपार सागर है और उसे जितना ही मथो उतने ही रत्न निकलते हैं। इस अनुवाद की खूबी यह है कि मूल भावों की पूरी तरह रक्षा की गई है। डा॰ भगवानदास जी के शब्दों में आपने श्लोकों का मतलब खूबी से अदा किया है और उसके साथ ही शायरी का अमृत भी उसमें भर दिया है। अर्जुन के मनोभावों का कितना मर्मस्पर्शी चित्रण है–

मैदान में हाल है मेरा ग़ैर,
उखड़े जाते हैं, खुद बखुद पैर।
फोड़ा सा जिगर में पक रहा है,
दिल चार तरफ़ भटक रहा है।
यह क़त्ले अज़ीज़ो अक़रबा क्या,
अपने जो हों उनको मारना क्या।
जंचता नहीं अब निगाह में कुछ,
लज्ज़त नहीं इस गुनाह में कुछ।
मतलब तीरो तफ़ंग से क्या,
मिल जायगा फ़तहे जंग से क्या?
राहत की नहीं मुझे तमन्ना,
हूं ताजे शाही का मैं न जोया।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', मई, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

विशाल भारत (राष्ट्रीय अंक)

सहयोगी 'विशाल भारत' ने बैशाख का अंक राष्ट्रीय अंक के रूप में निकाला है। कई साल हिन्दी पत्रिकाओं के विशेषांक धूम-धाम से निकले थे। इधर कुछ दिनों से शिथिलता आ गई है। जो विशेषांक निकलते भी हैं वह भी कम से कम खर्च करके विशेषांक निकालने का गौरव मात्र लेने के लिए। 'विशाल भारत' का यह अंक भी आकार-प्रकार और सामग्री के एतबार से साधारण अंकों से कुछ ही बढ़कर है। फिर भी राष्ट्रीय अंक निकालकर

उसने मासिक पत्रिकाओं की लाज तो रख ली। सम्मान का पद बाबू राजेंद्रप्रसाद के 'कांग्रेस के नियमों का परिवर्तन' को दिया गया है जो बहुत मुनासिब है। इस विषय पर राजेंद्र बाबू से ज्यादा अधिकारी लेखक और कौन हो सकता था। दूसरा छोटा-सा लेख बाबू रामानंद चट्टोपाध्यांय के किसी लेख का अनुवाद है। तीसरा लेखक डा॰ रवींद्रनाथ के एक बड़े ही विचार पांडित्य से भरे हुए लेख का उल्था है जो बहुत दिन हुए माडर्न रिव्यू में निकला था। 'हमारा सेनापति' में बाबू ब्रजमोहन वर्मा का छोटा-सा मगर प्रभावपूर्ण चित्र खींचा है। 'राष्ट्रीय चेतना' और 'धर्म प्रचारक' भी अच्छा लेख है। 'कांग्रेस के जन्मदाता ह्यूम' 'हमारे राष्ट्रीय शिक्षक' और 'हमारे राष्ट्रीय कवि' आदि लेख भी पढ़ने योग्य हैं। एक लेख में बाबू संपूर्णानंद ने गांधीवाद और सोशलिज्म की तुलना की है। प्रायः सभी लेखों का चयन सुरुचि और उपयोगिता की दृष्टि से किया गया है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', मई, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

कांग्रेस का इतिहास

प्रकाशक: काशी पुस्तक भंडार, बनारस सिटी। इस पुस्तक में कांग्रेस के संक्षिप्त इतिहास और कांग्रेस के संबंध में अनेक नेताओं के लेखों का संग्रह किया गया है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', जून, 1936 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

प्रेम-दीपिका

संपादक : रायबहादुर लाला सीताराम बी॰ ए॰, प्रकाशक : हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, मूल्य : आठ आना।

यह बुंदेलखंडी भाषा का एक तीन सौ साल का पुराना ग्रंथ है। रचयिता हैं: 'अक्षर अनन्य' विषय है कृष्ण-लीला। लाला सीताराम जी ने इस पुराने ग्रंथ का पाठ शुद्ध करके प्रकाशित कराया है। इस उम्र में आपका यह साहित्यानुराग देखकर हम चकित रह जाते हैं। ग्रंथ में विविध छंदों का प्रयोग हुआ है और कविता में रस भी है और लोच भी।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', जून, 1936 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

भारत का कहानी-साहित्य

संग्रहकर्ता व संपादक : डा॰ धनीराम जी।

भारतीय साहित्यों के संगठन और प्रचार का जो काम भारतीय साहित्य परिषद् ने उठाया है, उसका यह शुभ फल है कि भारत के प्रांतीय साहित्यों में लोगों की रुचि हो गई है और परस्पर आदान-प्रदान की गति तेज़ हो गई है। जो रचनाएं अपने प्रांतीय भाषा में केवल प्रांत की चारदीवारी में बंद रहतीं वह हिन्दी में आकर राष्ट्र की संपत्ति होती जा रही हैं। दक्षिण भाषाओं की कई कहानियां, जो 'हंस', में निकलीं,

गुजराती, उर्दू, मराठी आदि में अनुवादित हुईं। यह पुस्तक भी उसी साहित्यिक प्रेरणा का फल है। -इसमें हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती, उर्दू, कनाडी, तेलगू, तमिल की दस कहानियां संगृहीत हैं। गल्प-लेखकों की सूची कह रही है कि इसमें बहुत से नाम छूट गए हैं। इसका कारण यही होगा कि पुस्तक को इससे बड़ा करना संग्रहकर्ता को मंजूर न था। इन दो सौ पन्नों में इससे अच्छा संग्रह होना मुश्किल था। हां, उर्दू, कहानियों के विषय में हम कह सकते हैं कि चुनाव उतना सुंदर नहीं हुआ। फिर भी पुस्तक संग्रह करने योग्य है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', जून, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

मतवाली मीरा

लेखक : श्री तुलसीराम शर्मा 'दिनेश'।

इस पुस्तक में मीरा का जीवन-चरित्र संभाषण के रूप में, गानों के साथ लिखा गया है। भावुक प्राणियों के लिए अच्छी चीज है। श्री शांतिबाई रानीवाला ने इसकी एक हजार प्रतियां साहित्यानुरागियों को मुफ्त देने की प्रशंसनीय उदारता की है। मीरा का जो चरित्र किंवदंतियों के रूप में मौजूद है, उसी का आशय लिया गया है। काश दिनेश जी ने भक्ति का आवरण हटा कर यथार्थ पर कुछ प्रकाश डाला होता। यह सच है कि मीरा का चरित्र रोमांस है, इतना सुंदर कि सभी उससे मुग्ध हो जाते हैं। किसी ने मीरा को यथार्थ रूप में लाने की चेष्टा नहीं की, लेकिन कभी न कभी तो यह काम किसी को करना ही पड़ेगा।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', जून, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

मीरा पदावली

संपादिका : श्रीमती विष्णुकुमारी श्रीवास्तव 'मंजु'।

हिन्दी के भक्त कवियों में पदों के लालित्य और तल्लीनता में मीरा का स्थान बहुत ऊंचा है। उनके रहस्यमय और रोमानी जीवन ने भी उनके पदों को और आकर्षक बना दिया है। उन पदों का यह सटीक और प्रामाणिक संस्करण साहित्य-प्रेमियों के लिए आदर की चीज है। मीरा के विषय में अब तक जो खोज हो चुकी है, संपादिका ने उनको पढ़ा है और विवेक-बुद्धि से काम लेकर इतिहास को किंवदंतियों से पृथक करने की चेष्टा की है। हम यह नहीं मान सकते कि मीरा जैसी विचारशील स्त्री, भक्ति में अपने को इतना भूल गयी होगी कि पति से उसे विरक्ति हो गयी होगी, और वैमनस्य इतना बढ़ा होगा कि पति ने उसे ज़हर का प्याला पीने को भेजा होगा और वह पी गयी होगी। जीवन का सामंजस्य तो यह है कि मन की सभी वृत्तियां अपने-अपने स्थान पर रहें। किसी देवी-देवता की भक्ति हो जाने का यह आशय नहीं कि हम अपने पारिवारिक कर्तव्य भूल जायं। यह भक्ति नहीं, पागलपन है संपादिका जी ने लिखा है—

'जान पड़ता है कि यह दंतकथा सांप्रदायिकता के रंग को विशेष प्रधानता देने के लिए गढ़ी गयी है। अथवा ये सब घटनाएं कुंवर भोजराज (मीरा के पति) की मृत्यु के बाद घटित हुई हों....संभव है मीरा के साथ भी पति के अभाव में उनके कुटुंबियों ने मनमाना अत्याचार किया हो।'

पुस्तक में मीराबाई की जीवनी, उनकी कविता और भाषा और मीरा की कविता में व्यवहृत शब्दों की विवेचना की गयी है। इस संग्रह में कुल दो सौ एक पद हैं। फुटनोट में शब्दार्थ दिये गये हैं। इस तरह यह पुस्तक साहित्य के विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी हो गयी है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', जून, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-3 में संकलित।]

वाजिदअली शाह

लखक : श्री शीतलासहाय और श्री श्रीपतसहाय।

लखनऊ के रंगीले नवाब वाजिदअली शाह जैसा विलासी राजा बहुत कम हुआ होगा। थे तो अवध राज्य के स्वामी, लेकिन गाने-बजाने और नाचने और विषय-भोग के सिवा उन्हें रियासत से कोई मतलब न था। उनके विलासमय जीवन की सैकड़ों कथाएं आज भी बच्चे-बच्चे की ज़बान पर हैं। नृत्य और संगीत और अभिनय में उनका सानी न था, कवि भी अच्छे थे, मगर इन कलाओं को आत्मोन्नति का साधन न बनाकर उन्होंने इन्हें काम-क्रीड़ा का साधन बनाया और उसमें ऐसे लिप्त हुए कि राज्य भी खोया और अंग्रेजी सरकार के कैदी होकर कलकत्ता में मरे। इस पुस्तक में उन्हीं रंगीले वाजिदअली शाह के जीवन की कुछ मनोरंजक कथाएं दी गयी हैं। उनसे मालूम होता है कि बादशाह के महल में एक सौ पच्चीस बेगमें थीं, जिनमें साठ के तो नाम दिये गये हैं। इनमें तुर्की, अर्मीनिया, फ्रांस, इटली तक की युवतियां भी थीं। जो लौंडी-महरी रूपवती हुई और बादशाह की उस पर निगाह पड़ी कि वह महल में दाखिल कर ली गयी। बादशाह के मुसाहब अधिकतर गवैये, तबलिये और मीरासी थे, जो प्रजा को दोनों हाथों से लूटते थे। और बादशाह को अपने ऐश से काम था। सारे राज्य का धन खिच-खिंचकर लखनऊ आता था और ऐआशी में उड़ता था। उसके साथ ही बादशाह साहब मिथ्यावादी भी परले सिरे के थे। 'परियों के सम्राट से भेट' से उनके प्रेतभय का अच्छा परिचय मिलता है। पुस्तक बड़ी रोचक है और सजीव भाषा में लिखी गयी है। ऊपर वाजिदअली शाह का एक चित्र भी है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', जून, 1936 म प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग-3 मे सकलित।]

सदाचार, शिष्टाचार और स्वास्थ्य

रचयिता : श्री भाईदयाल जैन।

कौन नहीं चाहता कि उसके लड़कों का चरित्र और स्वास्थ्य बलवान हो। इस छोटी-सी पुस्तक में चरित्र-संबंधी विषयों पर छोटे-छोटे प्रसंग सरल भाषा में दिये गये हैं, मगर पुस्तक जिस शैली में लिखी गयी है उसमें वह बालकों के स्वाध्याय की चीज़ नहीं रही। ऐसे गूढ़ विषय उन्हें रुचिकर नहीं हो सकते। हां, युवकों के लिए पुस्तक बड़ी उपयोगी है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', जून, 1936 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

साम्यवाद का बिगुल

इस पुस्तक में श्री संपूर्णानंद, आचार्य नरेंद्रदेव जी, बा॰ श्रीप्रकाश, बाबू जयप्रकाश नारायण आदि के साम्यवादी विचारों का संग्रह किया गया है। कुछ विषय यह हैं—'समाजवादी समाज की कुछ विशेषताएं', 'स्वाधीनता संग्राम और समाजवादी फ़ैसिज़्म का वास्तविक स्वरूप', 'क्या बड़ी-बड़ी मशीनों की जरूरत नहीं है' आदि। साम्यवाद आजकल विचार का मुख्य विषय है और हमें यह मालूम होने लगा है कि देश का उद्धार किसी न किसी रूप में समाजवाद के हाथों होगा। हां, इतना कहना आवश्यक है, जैसा पंडित जवाहरलाल जी ने बार-बार कहा है, कि हमारे सामने वर्तमान समस्या देश की स्वाधीनता है। जब तक साम्राज्यवाद का विध्वस न होगा, साम्यवाद की गाड़ी आगे न चलेगी। पुस्तक सामयिक है।

[पुस्तक समीक्षा। 'हंस', जून, 1936 मे प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

जयाजी प्रताप (विशेषांक)

ग्वालियर से प्रकाशित होने वाले इस पत्र ने अभी कुछ महीने पहले 'वर्षगांठ अंक' के नाम से एक विशेषांक निकाला ही था, अब यह दूसरा है, और ग्वालियर की महाराजकुमारी के विवाहोपलपक्ष में निकाला गया है। बड़ी सुंदर सामग्री से परिपूर्ण है। ठाकुर सूर्यकुमारजी वर्मा, प्रो॰ त्रिवेदीप्रसादजी वाजपेयी एम॰ ए॰ तथा भास्कर रामचंद्रजी भालेराव आदि के लेख पठनीय हैं। राजकुमारी के द्वारा अंकित कई चित्र भी इसमें छपे हैं।

[पत्र-समीक्षा। 'जागरण' में प्रकाशित। तिथि अज्ञात। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 1 में संकलित।]

आशा

संपादक : श्री शिरढोनकर बी॰ ए॰, प्रकाशक : आशा कार्यालय, लश्कर, ग्वालियर। वार्षिक मूल्य : तीन रुपया।

ग्वालियर की महाराजकुमारी के विवाह के समय ही इस पत्र का जन्म हुआ है। साप्ताहिक है। हिन्दी का अहोभाग्य है कि ग्वालियर स्टेट से इस दूसरे और अच्छे साप्ताहिक पत्र का जन्म हुआ। पहले अंक में अच्छे लक्षण मालूम होते हैं, अगर इसी प्रकार इसका संपादन होता गया, तो यह एक अच्छा पत्र हो जायगा। प्रथमांक में भाषा-दोष अधिक हैं। इस ओर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।

[पत्र-समीक्षा। 'जागरण' में प्रकाशित। तिथि अज्ञात। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

चित्रपट (होलिकांक)

संपादक और प्रकाशक : श्री ऋषभचरण जैन। वार्षिक मूल्य : चार रुपया, एक अंक का एक आना। इस अंक के [illegible] आने।

इस समय हिन्दी में सिनेमा-संबंधी जितने पत्र हैं, उनमें सबसे अच्छा, सुसंपादित पत्र चित्रपट ही है। होली के अवसर पर इसने 'होलिकांक' प्रकाशित किया है, और प्रसन्नता की बात है कि होली का कीचड़ इसमें नहीं है। लेख, कविता, नाटक आदि सभी कुछ शिष्ट सामग्री इसमें है।

[पत्र-समीक्षा। 'जागरण', में प्रकाशित। तिथि अज्ञात। 'प्रेमचद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

निष्काम

संपादक : श्री मदनमोहन बी॰ ए॰, प्रकाशक : निष्काम प्रेस, मेरठ। वार्षिक मल्य : 3 रु॰, एक अंक का एक आना।

यह साप्ताहिक पत्र लगभग 5-6 मास से प्रकाशित हो रहा है। पाठ्य सामग्री अच्छी देता है। सद्विचारशील पत्र है। उन्नति की गुंजाइश है। यदि ज़रा ध्यान और भी दिया जाय, तो सुंदर हो सकता है।

[पत्र-समीक्षा। 'जागरण' में प्रकाशित। तिथि अज्ञात। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में सकलित।]

योगी

संपादक : श्रीनारायण, प्रकाशक : श्री योगी-प्रेस पटना। वार्षिक मूल्य : तीन रुपया।

अभी दो मास हुए, यह साप्ताहिक पटना से प्रकाशित होने लगा है। इस समय बिहार में यही अकेला हिन्दी साप्ताहिक है। दुरंगे कवर के साथ अच्छे काग़ज़ पर अच्छे ढंग से छपता है। साप्ताहिक राजनीतिक और सामाजिक समाचारों के संकलन के अलावा निबंध-कवितादि भी इसमें रहते हैं। अच्छा पत्र है। आशा है, बिहार-वासी इसकी क़द्र करेंगे।

[पत्र-समीक्षा। 'जागरण' में प्रकाशित। तिथि अज्ञात। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

प्रेमचंद द्वारा लिखित अपनी पुस्तकों की भूमिकाएं

सोज़े-वतन

दीवाचा

हरेक क़ौम का इल्म-ओ-अदब अपने ज़माने की सच्ची तस्वीर होता है। जो ख़यालात क़ौम के दिमाग़ों को मुतहर्रिक (सक्रिय) करते हैं और जो जज़्बात क़ौम के दिलों में गूंजते हैं, वो नज़्म-ओ-नस्त (पद्य-गद्य) के सफ़ों में ऐसी सफ़ाई से नज़र आते हैं, जैसे आईने में सूरत। हमारे लिट्रेचर का इब्तिदाई दौर वो था कि लोग ग़फ़लत के नशे में मतवाले हो रहे थे। इस ज़माने की अदबी यादगार बजुज़ (अलावा) आशिक़ाना ग़ज़लों और चंद फ़हहाश क़िस्सों (अश्लील कहानियों) के और कुछ नहीं। दूसरा दौर उसे समझना चाहिए जब क़ौम के नये और पुराने ख़यालात में ज़िंदगी और मौत की लड़ाई शुरू हुई और इस्लाहे-तमद्दुन (सांस्कृतिक सुधार) की तजवीज़ें सोची जाने लगीं। इस ज़माने के क़सस-व-हिकायत (क़िस्से तथा कहानी) ज़्यादातर इस्लाह (सुधार) और तज्दीद (नवीनता) ही का पहलू लिये हुए हैं। अब हिन्दुस्तान के क़ौमी ख़याल ने बलोग़ीयत (बालिग़पन, बुद्धिमत्ता) के ज़ीने पर एक क़दम और बढ़ाया है और हुब्बे-वतन के जज़्बात लोगों के दिलों में उभरने लगे हैं। क्यूंकर मुमकिन था कि इसका असर अदब पर न पड़ता? ये चंद कहानियां इसी असर का आग़ाज़ (प्रारंभ) हैं और यक़ीन है कि जूं-जूं हमारे ख़याल वसीह (विस्तृत) होते जायेंगे, इसी रंग के लिट्रेचर को रोज़-अफ्ज़ों (प्रतिदिन बढ़ना) फ़रोग़ (उन्नति) होता जायेगा। हमारे मुल्क़ को ऐसी किताबों की अशद (सख़्त) ज़रूरत है, जो नयी नस्ल के जिगर पर हुब्बे-वतन (देश-प्रेम) की अज़मत (महिमा) का नक़्शा जमायें।

—नवाबराय

[भूमिका। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

प्रेम-बत्तीसी–हिस्सा अव्वल

दीवाचा

मेरी कहानियों का पहला मज्मुआ (संग्रह) 'प्रेम-पच्चीसी', कई साल हुए, शाया (प्रकाशित) हुआ था। जहां तक मुआसिर (समकालीन) अख़बारों का ताल्लुक़ है, उन्होंने मेरी नाचीज़ कावश (पोच कोशिशों) की दाद दी, लेकिन शाहक़ीन (व्यसनी पाठकों) पर इसका बहुत कम असर हुआ। पहला एडीशन ख़त्म होने में कमोबेश पांच साल लग गये। ये क़द्रदानी बहुत हौसला-अफ़्ज़ा (उत्साहवर्द्धक) तो न थी, लेकिन मुसन्निफ़ (लेखक) को तसनीफ़ (लिखने) के सिवा चारा नहीं। इसलिए यह दूसरा मज्मुआ 'प्रेम-बत्तीसी' के नाम से उर्दू पब्लिक के सामने पेश करता हूं। मुमकिन है, पहले मज्मुआ की निस्बत इसका अपने फ़र्ज़ से सुबुकदोश हो चुका। अब सिर्फ़ यही आरज़ू है कि मुंतखिब मज्मुआ (प्रतिनिधि-संकलन) 'प्रेम-चालीसा' या 'प्रेम-पचासा' के नाम से और निकल जाय। बस, यही ज़िंदगी का माहसल (निष्कर्ष) होगा और इसी पर क़नाअत (भाग्यतुष्टि) करूंगा।

इस मू[illegible] में उर्दू पब्लिशरों का क़हत (अकाल) है, इसलिए यह मज्मुआ दो हिस्सों में दो जुदा-जुदा मुक़ामों से निकालना पड़ा, ताकि ज़्यादा तवक़्क़ुफ़ (विलंब) न हो। हालांकि इतनी एहतिआत करने पर भी किताबत से इशाअत तक कमोबेश अठारह महीने ख़त्म हो गये।

—प्रेमचंद

[भूमिका। अगस्त, 1920 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।

सुखदास

'साइलस मारनर' अंगरेज़ी का मशहूर उपन्यास है। यह मानव-हृदय के र[illegible]गों का एक अनूठा चित्र है। लेखक ने भावों की मार्मिकता को ऐसी उत्तम रीति से चरितार्थ किया है कि अंगरेज़ी भाषा के कितने ही विज्ञ जनों के विचार में यह अंगरेज़ी का सर्वोत्तम उपन्यास है। इसकी भाषा इतनी चुटीली, इतनी मर्मस्पर्शी और इतनी प्रतिभापूर्ण है कि इसका उत्तम अनुवाद करना किसी हिन्दी के धुरंधर लेखक ही का काम है। 'सुखदास' उसके अनुवाद होने का दावा नहीं करता। यह उसका केवल रूपांतर मात्र है, केवल अलंकार-विहीन छाया है। इसे अंगरेज़ी कपड़ों के बदले देसी कपड़े पहना दिये गये हैं, भाव, स्थान, वेष, रीति-नीति सब-कुछ जातीय रंग में रंग दिये गये हैं—कम-से-कम इसकी चेष्टा की गयी है। इस वेष-परिवर्तन में हमें विवश होकर बहुत-कुछ उलट-फेर करना पड़ा है। इलियट के उपन्यासों में अंगरेज़ी जीवन का बहुत चोखा रंग होता है। हमको यह सब मिटाना पड़ा। सुखदास उस साइलस मारनर रूपी दूध का मक्खन चाहे न हो, पर उस लकड़ी का हीर अवश्य है, अथवा इसे उस तसवीर का रंगरहित ख़ाका समझिए। हमने चेष्टा की है कि पात्रों के द्वारा कोई ऐसे भाव न प्रकट कराये जायं, जो हम भारतवासियों को अपरिचित-से जान पड़ें—क़िस्सा वही रहे, पर

स्वाभाविकता हाथ से न जाने पाये। हम कहां तक इस प्रयत्न में सफल हुए हैं, इसका अनुमान करना पाठकों पर छोड़ना ही उचित है। —लेखक

[भूमिका। अगस्त, 1920 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

वरदान

अतिकाल हुए जननी शैव्या अपने प्राणप्रिय रोहिताश्व को गंगा के अंक में समर्पित करने के लिए ले गयी थी। रात्रि बड़ी भयानक थी और शैव्या के नेत्र श्रावण-घन की भांति बरस रहे थे। उसका विलाप सुनकर गंगा की लहरें उमड़ आईं और देवताओं के हृदय विदीर्ण हो गये, परंतु शैव्या के प्रचंड अश्रुप्रवाह में भी हरिश्चंद्र के पैर न डगमगाये। उस समय देवताओं ने आकाश से पुष्पवृष्टि की और तीनों लोकों में जय-जयकार की ध्वनि निनादित हुई। वह दिन भारत के लिए परम धन्य था।

यह तुच्छ रचना मैं उसी धर्म-वीर हरिश्चंद्र के नाम पर प्रारंभ करता हूं।

[भूमिका। प्रथम संस्करण, संवत् 1977 अर्थात् 1920 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

संग्राम

आजकल नाटक लिखने के लिए संगीत का जानना ज़रूरी है। कुछ कवित्व-शक्ति भी होनी चाहिए। मैं इन दोनों गुणों से असाधारणत: वंचित हूं। पर इस कथा का ढंग ही कुछ ऐसा था कि मैं उसे उपन्यास का रूप न दे सकता था। यही इस अनाधिकार चेष्टा का मुख्य कारण है। आशा है, सहृदय पाठक मुझे क्षमा करेंगे। मुझसे कदाचित् फिर ऐसी भूल न होगी। साहित्य के इस क्षेत्र में यह मेरा पहला और अंतिम दुस्साहसपूर्ण पद-क्षेप है।

मुझे विश्वास है यह नाटक रंगभूमि पर खेला जा सकता है। हां, रसज्ञ 'स्टेज मैनेजर' को कहीं-कहीं कुछ कांट-छांट करनी पड़ेगी। मेरे लिए नाटक लिखना ही कम दुस्साहस का काम न था। उसे स्टेज के योग्य बनाने की धृष्टता अक्षम्य होती।

मगर मेरी ख़ताओं का अंत अभी नहीं हुआ। मैंने एक तीसरी ख़ता भी की है। संगीत से सर्वथा अनभिज्ञ होते हुए भी मैंने, जहां कहीं जी में आया है, गाने दे दिये हैं। दो ख़ताएं माफ करने की प्रार्थना तो मैंने की, पर तीसरी ख़ता किस मुंह से मुआफ कराऊं? इसके लिए पाठकवृंद और समालोचक महोदय जो दंड दें, शिरोधार्य है।

विनीत,

—प्रेमचंद

[भूमिका। प्रथम संस्करण, फरवरी, 1923 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

अहंकार

(अनातोले फ्रांस के 'थायस' का हिन्दी-अनुवाद)

यूरोप में फ्रांस का सरस साहित्य सर्वोत्तम है। फ्रेंच साहित्य में 'अनातोले फ्रांस' का नाम अगर सर्वोच्च नहीं तो किसी से कम भी नहीं, और 'थायस' उन्हीं महोदय की एक अद्‌भूत रचना है–हां, ऐसे विलक्षण साहित्यिक कृत्य को अद्‌भूत ही कहना उपयुक्त है। सत्यम्, सुंदरम्, शिवम्–इन तीनों ही गुणों का यहां ऐसा अनुपम समावेश हो गया है कि एक अंग्रेज़ समालोचक के शब्दों में 'यह साहित्यिक अंगविन्यास' का आदर्श है। कथा बहुत पुरानी है, ईसा की दूसरी शताब्दी की। घटना ऐतिहासिक है। प्राचीन समय के नामों से कोई पुस्तक ऐतिहासिक नहीं होती–पुराने शिला-लेख और ताम्रपत्र भी इतिहास नहीं है। इतिहास है किसी समय की भाषा और विचार को व्यक्त करना, और इस विषय में अनातोले फ्रांस ने कमाल कर दिखाया है। वह 1800 वर्ष पहले की दुनिया की आपको सैर करा देता है, वह प्राचीन वस्त्रों में वर्तमान काल के मनुष्य नहीं हैं, बल्कि उस ज़माने के लोग हैं, उनकी भाषा-शैली वही है, विचार भी उतने ही प्राचीन। उस समय की ईसाई दुनिया का आपको इतना स्पष्ट और सजीव ज्ञान हो जाता है जितना सैकड़ों इतिहासों के पन्ने उलटने से भी न हो सकता। ईसाई धर्म अपनी प्रारंभिक दशा की कठिनाइयों में पड़ा हुआ था। उसके अनुयायी अधिकांश दीन-दुर्बल प्राणी थे, जिन्हें अमीरों के हाथों नित्य कष्ट पहुंचा करता था। उच्च श्रेणी के लोग भोग-विलास में डूबे हुए थे। दार्शनिकता की प्रधानता थी, भांति-भांति के वादों का ज़ोर-शोर था। कोई प्रकृतवादी था, कोई सुखवादी, कोई दुखवादी, कोई विरागवादी, कोई शंकावादी, कोई मायावादी। ईसाई मत को विद्वान् तथा शिक्षित समुदाय तुच्छ समझता था। ईसाई लोग भी भूत-प्रेत, टोना, नज़र के क़ायल थे। आपको इसमें सभी वादों के माननेवाले मिलेंगे, जिनका एक-एक वाक्य आपको मुग्ध कर देगा। टिमाक्लीज़, निसियास, कोटा, हरमोडोरस, जेनाथेमीस, यूक्राइटीज़, यथार्थ में भिन्न-भिन्न वादों ही के नाम हैं। ईसाई मत स्वयं कई संप्रदायों में विभक्त हो गया है। उनके सिद्धांतों में भेद है, एक-दूसरे के दुश्मन हैं। लेखक की कला-चातुरी इसमें है कि एक ही मुलाक़ात में आप उसके चरित्रों से सदा के लिए परिचित हो जाते हैं। पालम की तस्वीर कभी आपके चित्त से न उतरेगी। कितना सरल, प्रसन्न-मुख, दयालु प्राणी है। उसे आप अपने बगीचे में पेड़ों को सींचते हुए पायेंगे। अहिंसा का ऐसा भक्त कि अपने कंधों पर बैठे हुए पक्षियों को भी नहीं उड़ाता, संभल-संभल कर चलता है कि कहीं उसके सिर पर बैठा हुआ कबूतर चौंककर उड़ न जाय। टिमाक्लीज़ को देखिए। शंकावाद की सजीव मूर्ति है। पर इतने वादों के होते हुए भी, जो तात्त्विकता में ईसाई मत से कहीं बढ़े हुए थे, ईसाई धर्म को जो इतनी सफलता प्राप्त हुई, इसका हेतु वह विलासांधता थी जिसकी एक झलक आप (भोज) के प्रकरण में पायेंगे। वास्तव में यह भोज-साहित्य संसार में एक अनूठी वस्तु है। देखिए, विद्वानों और दार्शनिकों के आचरण कितने भ्रष्ट हैं, यहां तक कि सारी सभा नशे में मस्त हो जाती है, लोग वेश्याओं से गले मिलकर सोने में लेशमात्र भी संकोच नहीं करते। इसी भ्रष्टाचरण ने ईसाई मत का

बोलबाला किया। थियोडोर एक हब्शी गुलाम है, लेकिन उसका चरित्र कितना उज्ज्वल है। संत एंटोनी का चरित्र हमारे यहां के ऋषियों से मिलता है। कितना शांत, कितना सौम्य रूप है। ईसाइयों की यही धर्मपरायणता और सच्चरित्रता थी जो उनकी विजय का मुख्य कारण हुई।

उस समय के खान-पान, रहन-सहन, आहार-व्यवहार का भी इस पुस्तक में बहुत ही मार्मिक उल्लेख किया गया है। पापनाशी ने जिस स्तंभ के शिखर पर तप किया था, उसके नीचे जो नगर बस गया था, और वहां जो उत्सव होते थे, उनका वृत्तांत उस काल का यथार्थ चित्र है। देश-देश के यात्रियों के भिन्न-भिन्न वस्त्रों को देखिए। कहीं मदारी का तमाशा है, कहीं संपेरा सांप को नचा रहा है, कहीं कोई महिला गधे पर सवार मेले में से निकल जाती है, फेरी वाले चिल्ला रहे हैं, फ़कीर गा-गाकर भीख मांग रहे हैं। ज़रा सोचिए, यह विशद चित्र खींचने के लिए लेखक को उस समय का कितना ज्ञान प्राप्त करना पड़ा होगा।

यह तो पुस्तक के ऐतिहासिक महत्त्व की चर्चा हुई। अब मुख्य कथा पर आइए। एक संत के अहंकार और उसके पतन की ऐसी मार्मिक मीमांसा संसार के साहित्य में न मिलेगी। लेखक ने यहां अपनी विलक्षण कल्पनाशक्ति का परिचय दिया है। वर्तमान काल के एक करोड़पति, या किसी वेश्या के मनोभावों की कल्पना करना बहुत कठिन नहीं है। हम उसे नित्य देखते हैं, उससे मिलते-जुलते हैं, उसकी बातें सुनते हैं। लेकिन एक तपस्वी के हृदय में पैठ जाना और उसके संचित भावों और आकांक्षाओं को खोज निकालाना किसी आत्मज्ञानी का ही काम है। पापनाशी के पतन का कारण वासनालिप्सा न थी, उसका अहंकार था। यह अहंकार कितने गुप्त भाव से उस पर अपना आसन जमाता है, ऐसा प्रतीत होता है कि योगी के पतन में दैवी इच्छा का भी भाग था। पापनाशी त्याग की मूर्ति है, अत्यंत संयमी, वासनाओं का दमन करने वाला, ईश्वर में रत रहने वाला, पर इसके साथ ही धार्मिक संकीर्णता और मिथ्यांधता भी उसमें कूट-कूट कर भरी हुई है। जो उसके मत को नहीं मानता वह म्लेच्छ है, नारकीय है, अवहेलनीय है, अस्पृश्य है। उसमें सहिष्णुता छू तक नहीं गयी। देखिए, वह टिमाल्कीज़ निसियास का कितने उत्तेजनापूर्ण, शब्दों में तिरस्कार करता है। धर्मान्धता ने उसकी विचारशक्ति को संपूर्णतः अपहृत कर लिया है। उसकी समझ में नहीं आता कि बिना किसी बदले या फल की आशा के कोई क्योंकर निवृत्तिमार्ग ग्रहण कर सकता है। वह 'थायस' का उद्धार करने चलता है। यहीं से उसके अहंकार का अभिनय आरंभ होता है। हमारे धर्मग्रंथों में भी ऋषियों के गर्व-पतन की कथाएं मिलती हैं, पर उनका आरंभ ऋषि की वासना-लिप्सा होता है। ऋषि करे अपनी तपस्या का गर्व हो जाता है। विष्णु भगवान उसका गर्व मर्दन करने के लिए उसे माया में फंसा देते हैं, ऋषि का होश ठिकाने आ जाता है। वह अहंकार उद्धार के भाव से उत्पन्न होता है। 'उद्धार' क्यों? किसी के उद्धार करने का दावा करना ही गर्व है। हम अधिक-से-अधिक सेवा कर सकते हैं। उद्धार कैसा। पापनाशी को पालम इस काम से रोकता है। पर उसकी बात पापनाशी के मन में नहीं बैठती। वहां से लौटती बार पक्षियों के दृश्य फिर उसे चेतावनी मिलती है, पर वह उस पर भी ध्यान नहीं देता।

वह यात्रा पर चल खड़ा होता है, इस्कंद्रिया पहुंचता है जो उन दिनों यूनान और एथेंस के बाद विद्या और विचार का केंद्र था। निसियास से उसकी भेंट होती है, तब थायस से उसका साक्षात् होता है। सभी से उसका व्यवहार धार्मिकता के गर्व में डूबा हुआ होता है। थायस पहले तो उससे भयभीत होती है, फिर उसके उपदेशों से उसमें धार्मिक भाव का पुनः संस्कार होता है। 'अनंत जीवन' की आशा उसे पापनाशी के साथ चलने पर प्रस्तुत कर देती है। पापनाशी उसे स्त्रियों के आश्रम में प्रविष्ट करके फिर अपने स्थान को लौट जाता है। पर उसके चित्त की शांति लुप्त हो गयी है। वासना की अज्ञात पीड़ा उसके हृदय को व्यथित करती रहती है। उसका आत्म-विश्वास उठ गया है, उसकी विवेक-बुद्धि मंद हो गयी है। उसे दुस्स्वप्न दिखाई देते हैं। वह इस मानसिक अशांति से बचने के लिए एकांत-निवास करने की ठानता है और जाकर एक स्तंभ पर आसन जमाता है। वहां भी दुस्स्वप्न आने के कारण वह एक क़ब्र में आश्रय लेता है। वहीं उसकी ज़ोज़िमस से भेंट होती है, और वह संत एंटोनी के दर्शनों को चलता है। उसी स्थान पर उसे थायस के मरणासन्न होने की ख़बर मिलती है। वह भागा-भागा स्त्रियों के आश्रम में पहुंचता है। उसके मानसिक कष्ट का वर्णन करने में लेखक ने अद्वितीय प्रतिभा दिखाई है। इतनी आवेशपूर्ण भाषा कदाचित् ही किसी ने लिखी हो। कैसा अगाध प्रेम है जिसकी थाह वह अब तक स्वयं न पा सका था। उसका जीवन-भर का संचित ईश्वर-विश्वास ग़ायब हो जाता है। वह ईश्वर को अपशब्द कहता हुआ, सांसारिक भोग-विलास को स्वर्ग और धर्म के सुखों से कहीं उत्तम, वांछनीय बतलाता हुआ हमसे सदैव के लिए विदा हो जाता है। वह अहंकार की सजीव मूर्ति है—यह विभाव एक क्षण के लिए भी उसका गला नहीं छोड़ता। निसियास विधर्मी है, लेकिन विलासप्रियता के साथ वह कितना सहृदय, कितना सहिष्णु, कितना शांत-प्रकृति है। उसकी विनयपूर्ण बातों का उत्तर जब पापनाशी देता है तो उसकी संकीर्णता पराकाष्ठा को पहुंच जाती है, यह अहंकार उस समय भी उसकी गर्दन पर सवार रहता है, जब वह थायस के साथ नगर से प्रस्थान करता है और कहता है—"स्त्री, तू जानती है कि तेरे पापों का कितना बोझ है।" यहां तक कि जब मूर्ख पाल संत एंटोनी के प्रश्नों के उत्तर में स्वर्ग-शैया देखने की बात कहता है तो पापनाशी उछल पड़ता है कि कदाचित् वह शैया मेरे ही लिए बिछायी गयी है, हालांकि इस समय तक उसे अपने आत्म-पतन का यथार्थ ज्ञान हो जाना चहिए था।

लेकिन पापनाशी का चरित्र जितना ही मार्मिक है, उतना ही अरसिक है। उसकी धार्मिक वितंडाओं को सुनते-सुनते जी ऊब जाता है और उसके प्रति मन में घृणा उत्पन्न हो जाती है। इसके प्रतिकूल थायस का चरित्र जितना ही मार्मिक है, उतना ही मनोहर है। फ्रांस के उपन्यासकारों में स्त्री-चरित्र की मीमांसा करने का विशेष गुण है। अनातोले महाशय ने थायस के चित्रण में स्त्री-मनोभावों का जैसा सूक्ष्म परिचय दिया है, वह साहित्य में एक दुर्लभ वस्तु है। वह साधारण स्थिति के माता-पिता की कन्या है, पर मातृ-स्नेह से वंचित है। उसकी माता बड़ी गुस्सेवर, पैसों पर जान देने वाली स्त्री है। थायस का मन बहलाने वाला, उससे प्रेम करने वाला हब्शी गुलाम है, जिसका नाम अहमद है और जो गुप्त रीति से ईसाई धर्म का अनुयायी है। अहमद थायस के बाल-हृदय में ही ईसाई

धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर देता है। यहां तक कि उसका बप्तिस्मा भी करा देता है। अहमद इसके कुछ दिनों बाद, जब थायस ग्यारह वर्ष की थी, मार डाला गया और अब थायस की रक्षा करने वाला कोई न रहा। वह उच्चकोटि की स्त्रियों को देखती तो उसकी भी यही इच्छा होती कि मेरी सवारी भी इसी ठाट-बाट से निकलती। अंत को एक कुटनी उसे बहका ले जाती है और थायस का जीवन-मार्ग निश्चित हो जाता है। अमीरों की सभाओं में नाचना-गाना, नक़लें करना उसका काम है। उसकी प्रखर बुद्धि थोड़े ही दिनों में इस कला में प्रवीण हो जाती है। तब वह अपनी जन्मभूमि इस्कंद्रिया में चली आती है। पर यहां आने के पहले वह एक पुरुष की प्रेमिका रह चुकी है, और उसी विशुद्ध प्रेम को फिर भोगने की लालसा उसे विकल करती रहती है।

इस्कंद्रिया में पहले तो उसको अभिनय करने में सफलता नहीं होती, पर थोड़े ही दिनों में वह वहां की नाट्यशालाओं का शृंगार बन जाती है। प्रेमियों की आमदरफ़्त शुरू होती है, कंचन की वर्षा होने लगती है। किंतु थायस को इन प्रेमियों के साथ उस मौलिक, अक्षुण्ण प्रेम का आनंद नहीं प्राप्त होता जिसके लिए उसका हृदय तड़पता रहता था। वह साधारण स्त्रियों की भांति धार्मिक प्रवृत्ति की स्त्री थी। उसमें भक्ति थी, श्रद्धा थी, भय था। वह 'अज्ञात को जानने के लिए' उद्विग्न रहती थी, उसे भविष्य का सदा भय लगा रहता था। उसके प्रेमियों में सुखवादी निसियास भी था, लेकिन उसका मन निसियास से न मिलता था। वह कहती है–

"मुझे तुम-जैसे प्राणियों से घृणा है जिनको किसी बात की आशा नहीं, किसी बात का भय नहीं। मैं ज्ञान की इच्छुक हूं, सच्चे ज्ञान की इच्छुक हूं।"

इसी 'ज्ञान' को प्राप्त करने के उद्देश्य से वह दार्शनिकों के ग्रंथों का अध्ययन करती किंतु जटिलता और भी जटिल होती जाती थी। एक दिन वह रात को भ्रमण करते हुए एक गिरजाघर में जा पहुंचती है। वहां उसे यह देखकर आश्चर्य होता है कि उसके गुलाम 'अहमद' की, जिसका ईसाई नाम 'थियोडोर' था, जयंती मनायी जा रही है। थायस भी सिर झुकाकर, बड़े दीन-भाव से थियोडोर की क़ब्र को चूमती है। उसके मन में यह प्रश्न होता है–वह कौन-सी वस्तु है जिसने थियोडोर को पूज्य बना दिया? वह घर लौटकर आती है तो निश्चय करती है कि मैं थियोडोर की भांति त्यागी और दीन बनूंगी। वह निसियास से कहती है–

"मुझे उन सब प्राणियों से घृणा है जो सुखी हैं–जो धनी हैं।"

एक विलासभोगिनी स्त्री के मुख से ये वचन असंगत-से जान पड़ते हैं किंतु जो बड़े-से-बड़े शराबी हैं, वे शराब के बड़े-से-बड़े निंदक देखे जाते हैं। मनुष्य के व्यवहार और विचार में असादृश्य मनोभावों का एक साधारण रहस्य है। थायस को आत्म-विलास में भी शांति नहीं। अपनी सारी संपत्ति को अग्नि की भेंट करने के बाद जब वह पापनाशी के साथ चलती है, उस समय निसियास से कहती है–

"निसियास, मैं तुम-जैसे प्राणियों के साथ रहते-रहते तंग आ गयी हूं....मैं उन सब बातों से उकता गयी हूं जो मुझे ज्ञात हैं और अब मैं अज्ञात की खोज में जाती हूं।"

थायस यहां से मरुभूमि के एक महिलाश्रम में प्रविष्ट होती है और वहां आदर्श

जीवन का अनुसरण करके वह थोड़े ही दिनों में 'संत' पद को प्राप्त कर लेती है। थायस विलासिनी होने पर भी सरल-प्रकृति एवं दयालु रमणी है। एक समालोचक ने यथार्थत: उसे IMMORAL IMMORTAL कहा है और यह बहुत सत्य कहा है। थायस अमर है। यद्यपि थायस का शव खोद निकाला गया है, लेकिन अनातोले फ्रांस ने उससे कहीं बड़ा काम किया है। उसने थायस को बोलते सुना दिया और अभिनय करते दिखा दिया। पापनाशी के साथ आश्रम को आते हुए वह कहती है–

"मैंने ऐसा निर्मल जल नहीं पिया और ऐसी पवित्र वायु में सांस नहीं लिया। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि इस चलती हुई वायु में ईश्वर तैर रहा है।" कितने भक्तिपूर्ण शब्द हैं।

लेखक ने थायस के चरित्र-लेखन में जहां इतनी कुशलता दिखाई है, वहां उसे अत्यंत भीरु भी बना दिया है, यहा तक कि जब उसे पापनाशी के विषय में यह पूर्ण विश्वास हो जाता है कि वह मुझे अनंत जीवन प्रदान कर सकता है, अर्थात् वह ऐसी औषधियां जानता है जिनके सेवन से वृद्धावस्था पास न आये, तो वह कुछ भय से, कुछ उसे लुब्ध करने के लिए उसके साथ संभोग करने को प्रस्तुत हो जाती है। यद्यपि पापनाशी की संयमशीलता उसे इस प्रलोभन का शिकार होने से बचा लेती है, तथापि थायस की यह निर्लज्जता कुछ अस्वाभाविक सी प्रतीत होती है। वेश्याएं भी यों सबके साथ अपनी लाज नहीं खोया करतीं, उनमें भी आत्माभिमान की मात्रा होती है, विशेषत: जब वे थायस की भांति विपुलधन-संपन्न हों।

पापनाशी के चरित्र-चित्रण में भी जो बात खटकती है, वह अनैसर्गिक विषयों का समावेश है। जब वह थायस का उद्धार करने के लिए इस्कंद्रिया पहुंचता है उस समय उसे एक स्वप्न दिखाई देता है, जो उसके स्वर्ग-नरक के सिद्धांत को भ्रांति में डाल देता है। इसी भांति जब वह थायस को आश्रम में पहुंचाकर फिर अपने आश्रम में लौट आता है तो उसकी कुटी में गीदड़ों की भरमार होने लगती है। एक और उदाहरण लीजिए। जब वह स्तंभ पर बैठा हुआ तपस्या करता है तो एक दिन उसके कानों में आवाज़ आयी–"पापनाशी, उठ और ईश्वर की कीर्ति को उज्ज्वल कर। बीमारों को आरोग्य प्रदान कर।" इसके बाद वही आवाज़ उसे फिर स्तंभ से नीचे उतरने को कहती है, किंतु सीढ़ी द्वारा नहीं बल्कि कूदकर। पापनाशी कूदने की चेष्टा करता है तो उसके कानों में हंसी की आवाज़ आती है। तब पापनाशी भयभीत होकर चौंक पड़ता है। उसे विदित हो जाता है कि शैतान मुझे परीक्षा में डाल रहा है। इन शंकाओं का समाधान केवल इसी विचार से किया जा सकता है कि यह सब पापनाशी के अहंकारमय हृदय के विचार थे जो यह रूप धारण करके उसकी आंतरिक इच्छाओं और भावों को प्रकट करते थे। जो मनुष्य यह कहे कि–

"सद्‌पुरुषों की आत्माएं दुष्टों की आत्माओं से कहीं ज़्यादा कलुषित होती हैं, क्योंकि समस्त संसार के पाप उनमें प्रविष्ट होते हैं।"

जो प्राणी ईश्वर से यह प्रार्थना करे कि–

'भगवान्। मुझ पर प्राणिमात्र की कुवासनाओं का भार रख दीजिए, मैं उन सभों

का प्रायश्चित करूंगा।

उसके सगर्व अंतःकरण की दुरिच्छाएं दुस्स्वप्नों का रूप धारण कर लें, तो काइ आश्चर्य की बात नहीं।

भाषा के संबंध में कुछ कहना व्यर्थ है। एक तो यह अनुवाद का अनुवाद है, दूसरे, फ्रेंच-जैसी समुन्नत भाषा की पुस्तक का और फिर अनुवादक भी वह प्राणी है जो इस काम में अभ्यस्त नहीं, तिस पर भी दो-तीन स्थलों पर पाठकों को लेखक की प्रखर लेखनी की कुछ झलक दिखाई देगी। निसियास ने थायस से विदा लेते समय कितनी ओजस्विनी और मर्मस्पर्शी भाषा में अपने भावों को प्रकट किया है और पापनाशी के उस समय के मनोद्गार, जब उसे थायस के मरने की ख़बर मिलती है, इतने चोटीले हैं कि बिना हृदय को थामे उन्हें पढ़ना कठिन है।

इन चंद शब्दों के साथ हम इस पुस्तक को पाठकों की भेंट करते हैं। हमको पूर्ण आशा है कि सुविज्ञ इस रसोद्यान का आनंद उठायेंगे। हमने इसका अनुवाद केवल इसलिए किया है कि हमें यह पुस्तक सर्वांग-सुंदर प्रतीत हुई और हमें यह कहने में संकोच नहीं है कि इससे सुंदर साहित्य हमने अंग्रेज़ी में नहीं देखा। हम उन लोगों में हैं जो यह मानते हैं कि अनुवादों से भाषा का गौरव चाहे न बढ़े, साहित्यिक ज्ञान अवश्य बढ़ता है। एक विद्वान् का कथन है कि "थायस ने अतीत काल पर पुनर्विजय प्राप्त कर ली है"—और इस कथन में लेशमात्र भी अत्युक्ति नहीं है।

मूल पुस्तक में यूनान, मिस्र आदि देशों के इतने नामों और घटनाओं का उल्लेख था कि उन्हें समझने के लिए अलग एक टीका लिखनी पड़ती। इसलिए हमने यथास्थान कुछ कांट-छांट कर दी है, पर इसका विचार रखा है कि पुस्तक के सारस्य में विघ्न न पड़ने पाये। 'पापनाशी' मूल में 'पापन्युशियस' था, सरलता के विचार से हमने थोड़ा-सा रूपांतर कर दिया है।

एक शब्द और। कुछ लोगों की सम्मति है कि हमें अनुवादों को स्वजातीय रूप देकर प्रकाशित करना चाहिए—नाम सब हिन्दू होने चाहिए, केवल आधार मूल पुस्तक का रहना चाहिए। मैं इस सम्मति का घोर विरोधी हूं। साहित्य में मूल विषय के अतिरिक्त और भी कितनी ही बातें समाविष्ट रहती हैं। उसमें यथास्थान ऐतिहासिक, सामाजिक, भौगोलिक आदि अनेक विषयों का उल्लेख किया जाता है। मूल आधार लेकर शेष बातों को छोड़ देना वैसा ही है जैसे कोई आदमी थाली की रोटियां खा ले और दाल-भाजी, चटनी-अचार सब छोड़ दे। अन्य भाषाओं की पुस्तकों का महत्त्व केवल साहित्यिक नहीं होता। उनसे हमें उनके आचार-विचार, रीति-रिवाज़ आदि बातों का ज्ञान भी प्राप्त होता है। इसलिए मैंने इस पुस्तक को 'अपनाने' की चेष्टा नहीं की। मिस्र की मरुभूमि में जो वृक्ष फलता-फूलता है, वह मानसरोवर के तट पर नहीं पनप सकता।

[भूमिका। प्रथम संस्करण, अक्टूबर, 1923 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

प्रेम-प्रसून

गल्प, आख्यायिका या छोटी कहानी लिखने की प्रथा प्राचीन काल से चली आती है। धर्म-ग्रंथों में जो दृष्टांत भरे पड़े हैं, वे छोटी कहानियां ही हैं, पर कितनी उच्च कोटि की। महाभारत, उपनिषद्, बुद्ध-जातक, बाइबिल—सभी सद्ग्रंथों में जन-शिक्षा का यही साधन उपयुक्त समझा गया है। ज्ञान और तत्त्व की बातें इतनी सरल रीति से और क्योंकर समझाई जातीं? किंतु प्राचीन ऋषि इन दृष्टांतों द्वारा केवल आध्यात्मिक और नैतिक तत्त्वों का निरूपण करते थे। उनका अभिप्राय केवल मनोरंजन नहीं होता था। सद्ग्रंथों के रूपकों और बाइबिल के PARABLES देखकर तो यही कहना पड़ता है कि अगले जो कुछ कर गये, वह हमारी शक्ति से बाहर है, कितनी विशुद्ध कल्पना, कितना मौलिक निरूपण, कितनी ओजस्विनी रचना-शैली है कि उसे देखकर वर्तमान साहित्यिक बुद्धि चकरा जाती है। आजकल आख्यायिका का अर्थ बहुत व्यापक हो गया है। उसमें प्रेम की कहानियां, जासूसी किस्से, भ्रमण-वृत्तांत, अद्‌भुत घटना-विज्ञान की बातें, यहां तक कि मित्रों की गपशप—सभी शामिल कर दी जाती हैं। एक अंगरेज़ी समालोचक के मतानुसार तो कोई रचना, जो पंद्रह मिनट में पढ़ी जा सके, गल्प कही जा सकती है। और-तो-और, उसका यथार्थ उद्देश्य इतना अनिश्चित हो गया है कि उसमें किसी प्रकार का उपदेश देना दूषण समझा जाने लगा है। वह कहानी सबसे नाकिस समझी जाती है जिसमें उपदेश की छाया भी पड़ जाए।

आख्यायिकाओं द्वारा नैतिक उपदेश देने की प्रथा धर्म-ग्रंथों ही में नहीं, साहित्य-ग्रंथों में भी प्रचलित थी। 'कथा-सरित्सागर' इसका उदाहरण है। इसके पश्चात् बहुत-सी आख्यायिकाओं को एक श्रृंखला में बांधने की प्रथा चली। 'बैताल-पच्चीसी' और 'सिंहासन-बत्तीसी' इसी श्रेणी की पुस्तकें हैं। उनमें कितनी नैतिक और धार्मिक समस्याएं हल की गयी हैं, यह उन लोगों से छिपा नहीं, जिन्होंने उनका अध्ययन किया है। अरबी में 'सहस्र-रजनी-चरित्र' इसी भांति का अद्‌भुत संग्रह है, किंतु उसमें किसी भांति का उपदेश देने की चेष्टा नहीं की गयी। उसमें सभी रसों का समावेश है, पर अद्‌भुत-रस ही की प्रधानता है, और अद्‌भुत रस में उपदेश की गुंजाइश नहीं रहती। कदाचित् उसी आदर्श को लेकर इस देश में 'शुक-बहत्तरी' के ढंग की कथाएं रची गयीं, जिनमें स्त्रियों की बेवफाई का राग अलापा गया है। यूनान में हकीम ईसप ने एक नया ही ढंग निकाला। उन्होंने पशु-पक्षियों की कहानियों द्वारा उपदेश देने का अविष्कार किया।

मध्यकाल काव्य और नाटक-रचना का काल था। आख्यायिकाओं की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया। उस समय कहीं तो भक्ति-काव्य की प्रधानता रही, कहीं राजाओं के कीर्ति-गान की। हां, शेखसादी ने फारसी में 'गुलिस्तां-बोस्तां' की रचना करके आख्यायिकाओं की मर्यादा रखी। यह उपदेश-कुसुम इतना मनोहर और सुंदर है कि चिरकाल तक प्रेमियों के हृदय इसकी सुगंध से रंजित होते रहेंगे। उन्नीसवीं शताब्दी में फिर

आख्यायिकाओं की ओर साहित्यकारों की प्रवृत्ति हुई, और तभी से सभ्य-साहित्य में इनका विशेष महत्त्व है। योरप की सभी भाषाओं में गल्पों का यथेष्ट प्रचार है, पर मेरे विचार में फ्रांस और रूस के साहित्य में जितनी उच्च-कोटि की गल्पें पायी जाती हैं, उतनी अन्य योरपीय भाषाओं में नहीं। अंगरेज़ी में भी डिकेंस, वेल्स, हार्डी, क्लिपिंग, शार्लट यंग, ब्राण्टी आदि ने कहानियां लिखी हैं, लेकिन इनकी रचनाएं गाईमासां, बालज़ाक या पियेर-लोटी की टक्कर की नहीं। फ्रांसीसी कहानियों में सरसता की मात्रा बहुत अधिक रहती है। इसके अतिरिक्त गाईमासां और बालज़ाक ने आख्यायिका के आदर्श को हाथ से नहीं जाने दिया है। उनमें आध्यात्मिकता या सामाजिक गुत्थियां अवश्य सुलझायी गयी हैं। रूस में सबसे उत्तम कहानियां काउण्ट टॉल्स्टॉय की हैं। इनमें कई तो ऐसी हैं, जो प्राचीन काल के दृष्टांतों की कोटि की हैं। चेकाफ ने बहुत कहानियां लिखी हैं, और योरप में उनका प्रचार भी बहुत है, किंतु उनमें रूस के विलासप्रिय समाज के जीवन-चित्रों के सिवा और कोई विशेषता नहीं। डासट्राब्सकी ने भी उपन्यासों के अतिरिक्त कहानियां लिखी हैं, पर उनमें मनोभावों की दुर्बलता दिखाने की चेष्टा ही की गयी है। भारत में बंकिमचंद्र और डॉ० रवींद्रनाथ ने कहानियां लिखी हैं, और उनमें से कितनी ही बहुत उच्च कोटि की हैं।

प्रश्न यह हो सकता है कि आख्यायिका और उपन्यास में आकार के अतिरिक्त और भी कोई अंतर है? हां, है, और बहुत बड़ा अंतर है। उपन्यास घटनाओं, पात्रों और चरित्रों का समूह है, आख्यायिका केवल एक घटना है—अन्य बातें सब उसी घटना के अंतर्गत होती हैं। इस विचार से उसकी तुलना ड्रामा से की जा सकती है। उपन्यास में आप चाहे जितने स्थान लावें, चाहे जितने दृश्य दिखावें, चाहे जितने चरित्र खींचें, पर यह कोई आवश्यक बात नहीं कि वे सब घटनाएं और चरित्र एक ही केंद्र पर आकर मिल जाएं। उनमें कितने ही चरित्र तो केवल मनोभाव दिखाने के लिए ही रहते हैं, पर आख्यायिका में इस बाहुल्य की गुंजाइश नहीं, बल्कि कई सुविज्ञ जनों की सम्मति तो यह है कि उसमें केवल एक ही घटना या चरित्र का उल्लेख होना चाहिए। उपन्यास में आपकी कलम में जितनी शक्ति हो, उतना ज़ोर दिखाइए, राजनीति पर तर्क कीजिए किसी महफिल के वर्णन में दस-बीस पृष्ठ लिख डालिए (भाषा सरस होनी चाहिए), ये कोई दूषण नहीं। आख्यायिका में आप महफिल के सामने से चले जाएंगे, और बहुत उत्सुक होने पर भी आप उसकी ओर निगाह नहीं उठा सकते। वहां तो एक शब्द, एक वाक्य भी ऐसा नहीं होना चाहिए, जो गल्प के उद्देश्य को स्पष्ट न करता हो। इसके सिवा कहानी की भाषा बहुत ही सरल और सुबोध होनी चाहिए। उपन्यास वे लोग पढ़ते हैं जिनके पास रुपया है, और समय भी उन्हीं के पास रहता है जिनके पास धन होता है। आख्यायिका साधारण जनता के लिए लिखी जाती है, जिसके पास न धन है, न समय। यहां तो सरलता में सरलता पढ़ा कीजिए—यही कमाल है। कहानी वह ध्रुपद की तान है, जिसमें गायक महफिल शुरू होते ही अपनी संपूर्ण प्रतिभा दिखा देता है, एक क्षण में चित्त को इतने माधुर्य से परिपूरित कर देता है, जितना रात-भर गाना सुनने से भी

नहीं हो सकता।

हम जब किसी अपरिचित प्राणी से मिलते हैं, तो स्वभावत: यह जानना चाहते हैं कि यह कौन है, पहले उससे परिचय करना आवश्यक समझते हैं। पर आजकल कथा भिन्न-भिन्न रूप में आरंभ की जाती है। कहीं दो मित्रों की बातचीत से कथा आरंभ की जाती है, कहीं पुलिस-कोर्ट के एक दृश्य से, परिचय पीछे आता है। यह अंगरेज़ी आख्यायिकाओं की नकल है। इसमे कहानी अनायास ही जटिल और दुर्बोध हो जाती है। योरप वालों की देखा-देखी यंत्रों द्वारा डायरी या टिप्पणियों द्वारा भी कहानियां लिखी जाती हैं। मैंने स्वयं इन सभी पद्धतियों पर रचना की है, पर वास्तव में इससे कहानी की सफलता में बाधा पड़ती है। योरप के विज्ञ समालोचक कहानियों के लिए किसी अंत की भी ज़रूरत नहीं समझते। इसका कारण यही है कि वे लोग कहानियां केवल मनोरंजन के लिए पढ़ते हैं। आपको लंदन के किसी होटल में एक लेडी मिल जाती है। उसके साथ उसकी वृद्धा माता भी है। माता कन्या से किसी विशेष पुरुष से विवाह करने के लिए आग्रह करती है। लड़की ने अपना दूसरा वर ठीक कर रखा है। मां बिगड़कर कहती है, "मैं तुम्हें अपना धन न दूंगी।" कन्या कहती है, "मुझे इसकी परवा नहीं।" अंत में माता अपनी लड़की से रूठकर चली जाती है। लड़की निराशा की दशा में बैठी है कि उसका अपना पसंद किया युवक आता है। दोनों में बातचीत होती है। युवक का प्रेम सच्चा है। वह बिना धन के ही विवाह करने पर राजी हो जाता है। विवाह होता है। कुछ दिन तक स्त्री-पुरुष सुखपूर्वक रहते हैं। इसके बाद पुरुष धनाभाव से किसी दूसरी धनवान् स्त्री की टोह लेने लगता है। उसकी स्त्री को इसकी खबर हो जाती है, और वह एक दिन घर से निकल जाती है। बस, कहानी यहीं समाप्त कर दी जाती है, क्योंकि Realist—अर्थात् यथार्थवादियों—का कथन है कि संसार में नेकीबदी का फल मिलता नज़र नहीं आता, बल्कि बहुधा बुराई का परिणाम अच्छा और भलाई का बुरा होता है। आदर्शवादी कहता है—यथार्थ का यथार्थ रूप दिखाने से फायदा क्या। वह तो हम अपनी आंखों से देखते ही हैं। कुछ देर के लिए तो हमें इन कुत्सित व्यवहारों से अलग रहना चाहिए, नहीं तो साहित्य का मुख्य उद्देश्य ही गायब हो जाता है। वह साहित्य को समाज का दर्पण मात्र नहीं मानता, बल्कि दीपक मानता है, जिसका काम प्रकाश फैलाना है। भारत का प्राचीन साहित्य आदर्शवाद का ही समर्थक है। हमें भी आदर्श की ही मर्यादा का पालन करना चाहिए। हां, यथार्थ का उसमें ऐसा सम्मिश्रण होना चाहिए कि सत्य से दूर न जाना पड़े।

हमने इन कहानियों में आदर्श को यथार्थ से मिलाने की चेष्टा की है। हम कहां तक सफल हुए हैं, इसका निर्णय पाठक ही कर सकते हैं। हमारा ख्याल है कि आख्यायिका में ये तीन गुण अवश्य होने चाहिए—

1-आध्यात्मिक या नैतिक उपदेश,

2-अत्यंत सरल भाषा,

3-स्वाभाविक वर्णन-शैली।

इन्हीं सिद्धांतों के अनुसार इन कहानियों की रचना की गयी है। आशा है, पाठकों का इनसे मनोरंजन होगा।

विनीत,
—प्रेमचंद

[भूमिका। प्रथम संस्करण, जुलाई, 1924 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

कर्बला

प्राय: सभी जातियों के इतिहास में कुछ ऐसी महत्वपूर्ण घटनाएं होती हैं, जो साहित्यिक कल्पना को अनंत काल तक उत्तेजित करती रहती हैं। साहित्यिक समाज नित नये रूप में उनका उल्लेख किया करता है, छन्दों में, गीतों में, निबंधों में, लोकोक्तियों में, व्याख्यानो में बार-बार उनकी आवृत्ति होती रहती है, फिर भी नये लेखकों के लिए गुंजाइश रहती है। हिन्दू-इतिहास में 'रामायण' और 'महाभारत' की कथाएं ऐसी ही घटनाएं हैं। मुसलमानों के इतिहास में 'कर्बला' के संग्राम को भी वही स्थान प्राप्त है। उर्दू फारसी के साहित्य में इस संग्राम पर दफ्तर-के-दफ्तर भरे पड़े हैं, यहां तक कि जैसे हिन्दी-साहित्य के कितने ही कवियों ने राम और कृष्ण की महिमा गाने में अपना जीवन व्यतीत कर दिया, उसी तरह उर्दू और फारसी में कितने ही कवियों ने केवल मर्सिया कहने में ही जीवन समाप्त कर दिया। किन्तु जहां तक हमारा ज्ञान है, अब तक, किसी भाषा में, इस विषय पर नाटक की रचना शायद नहीं हुई। हमने हिन्दी में यह ड्रामा लिखने का साहस किया है।

कितने खेद और लज्जा की बात है कि कई शताब्दियों से मुँसलमानों के साथ रहने पर भी अभी तक हम लोग प्राय: उनके इतिहास से अनभिज्ञ हैं। हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का एक कारण यह भी है कि हम हिन्दुओं को मुस्लिम-महापुरुषों के सच्चरित्रो का ज्ञान नहीं। जहां किसी मुसलमान बादशाह का जिक्र आया कि हमारे सामने औरंगजेब की तस्वीर खिंच गई, लेकिन अच्छे और बुरे चरित्र सभी समाजों में सदैव होते आए हैं और होते रहेंगे। मुसलमानों में भी बड़े-बड़े दानी, बड़े-बड़े धर्मात्मा और बड़े-बड़े न्यायप्रिय बादशाह हुए हैं। किसी जाति के महान् पुरुषों के चरित्रों का अध्ययन उस जाति के साथ आत्मीयता के संबंध का प्रवर्त्तक होता है, इसमें संदेह नहीं।

नाटक दृश्य भी होते हैं और पाठ्य भी। पर हमारा विचार है, दोनों प्रकार के नाटको में कोई रेखा नहीं खींची जा सकती। अच्छे अभिनेताओं द्वारा खेले जाने पर प्रत्येक नाटक मनोरंजक और उपदेशप्रद हो सकता है। नाटक का मुख्य अंग उसकी भाव-प्रधानता है, और सभी बातें गौण हैं। जनता की वर्तमान रुचि से किसी नाटक के अच्छे या बुरे होने का निश्चय करना न्याय-संगत नहीं। नौटंकी और धनुष-यज्ञ देखने के लिए लाखो की संख्या में जनता टूट पड़ती है, पर उसकी यह सुरुचि आदर्श नहीं कही जा सकती। हमने यह नाटक खेले जाने के लिए नहीं लिखा, मगर हमारा विश्वास है कि यदि कोई

इसे खेलना चाहे, तो बहुत थोड़ी काट-छांट से खेल भी सकता है।

यह ऐतिहासिक और धार्मिक नाटक है । ऐतिहासिक नाटकों में कल्पना के लिए बहुत संकुचित क्षेत्र रहता है । घटना जितनी ही प्रसिद्ध है, उतनी ही कल्पना-क्षेत्र की संकीर्णता भी बढ़ जाती है। यह घटना इतनी प्रसिद्ध है कि इसकी एक-एक बात, इसके चरित्रों का एक-एक शब्द हजारों बार लिखा जा चुका है। आप उस वृत्तांत से जौ-भर आगे-पीछे नहीं जा सकते। हमने ऐतिहासिक आधार को कहीं नहीं छोड़ा है। हां, जहां किसी रस की पूर्ति के लिए कल्पना की आवश्यकता पड़ी है, वहां अप्रसिद्ध और गौण चरित्रों द्वारा उसे व्यक्त किया है। (पाठक इसमें हिन्दुओं को प्रवेश करते देखकर चकित होंगें, परंतु वह हमारी कल्पना नहीं है, ऐतिहासिक घटना है । आर्य लोफ वहां कैसे और कब पहुंचे, यह विवादग्रस्त है । कुछ लोगों का खयाल है, महाभारत के बाद अश्वत्थामा के वंशधर वहां जा बसे थे । कुछ लोगों का यह भी मत है कि ये लोग उन हिन्दुओं की संतान थे, जिन्हें सिकंदर यहां से कैद कर ले गया । कुछ हो, इस बात के ऐतिहासिक प्रमाण हैं कि कुछ हिन्दू भी हुसैन के साथ कर्बला के संग्राम में सम्मिलित होकर वीरगति को प्राप्त हुए थे।)

इस नाटक में स्त्रियों के अभिनय बहुत कम मिलेंगे । महाशय डी॰ एल॰ राय ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में स्त्री-चरित्र की कमी को कल्पना से पूरा किया हैं । उनके नाटक पूर्ण रुप से ऐतहासिक हैं । कर्बला ऐतिहासिक ही नहीं, धार्मिक भी है, इसलिए इसमें किसी स्त्री-चरित्र की सृष्टि नहीं की जा सकी । भय था कि ऐसा करने से संभवत: हमारे मुसलमान-बंधुओं को आपत्ति होगी।

यह नाटक दुखांत (Tragedy) है । दु:खांत नाटक के लिए आवश्यक है कि उसका नायक कोई वीरात्मा हो, और उसका शोकजनक अंत उसके धर्म और न्यायपूर्ण विचारों और सिद्धांतों के फलस्वरूप हो। नायक की दारुण कथा दु:खांत नाटकों के लिए पर्याप्त नहीं है। उसकी विपत्ति पर हम शोक नहीं करते, वरन् उसकी नैतिक विजय पर आनंदित होते हैं। क्योंकि वहां नायक की प्रत्यक्ष हार वस्तुत: उसकी विजय होती है । दु:खांत नाटकों में शोक और हर्ष के भावों का विचित्र रूप से समावेश हो जाता है । हम नायक को प्राण त्यागते देखकर आंसू बहाते हैं, किंतु वह आंसू करुणा के नहीं, विजय के होते हैं। दु:खांत नाटक आत्म-बलिदान की कथा है, और आत्म-बलिदान केवल करुणा की वस्तु नहीं, गौरव की भी वस्तु है । हां, नायक का वीरात्मा होना परम आवश्यक है, जिससे हमें उसकी अविचल सिद्धांत-प्रियता और अदम्य सत्साहस पर गौरव और अभिमान हो सके।

नाटक में संगीत का अंश होना आवश्यक है, किंतु इतना नहीं, जो अस्वाभाविक हो जाये। हम महान् विपत्ति और महान् सुख, दोनों ही दशाओं में रोते और गाते हैं। हमने ऐसे ही अवसरों पर गान की आयोजना की है। मुस्लिम पात्रों के मुख से ध्रुपद और विहाग कुछ बेजोड़-सा मालूम होता है: इसलिए हमने उर्दू-कवियों की गजलें दे दी हैं। कहीं-कहीं अनीस के मर्सियों में से दो-चार बंद उद्धृत कर दिए हैं। इसके लिए हम उन महानुभावों के ऋणी हैं। कविवर श्रीधरजी पाठक की एक भारत-स्तुति भी ली गई है, अतएव हम

उन्हें भी धन्यवाद देते हैं।

इस नाटक की भाषा के विषय में भी कुछ निवेदन करना आवश्यक है। इसकी भाषा हिन्दी-साहित्य की भाषा नहीं है। मुसलमान-पात्रों से शुद्ध हिन्दी-भाषा का प्रयोग कराना कुछ स्वाभाविक न होता। इसलिए हमने वही भाषा रखी है, जो साधारणत: सभ्य समाज में प्रयोग की जाती है, जिसे हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही बोलते और समझते हैं।

—प्रेमचंद

[भूमिका। प्रथम संस्करण, नवम्बर, 1924 में प्रकाशित। प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

आज़ाद-कथा

पंडित रतननाथ धर 'सरशार' लखनवी उर्दू-भाषा में उपन्यास-साहित्य के नियामक हैं। उनकी रचनाएं, जिनमें 'फिसाना-ए-आज़ाद' सर्वश्रेष्ठ है, और आज भी उर्दू-साहित्य का मुख उज्ज्वल कर रही है। इस वक्त तक उर्दू में उपन्यासों की प्रथा न थी। भाषा-शैली भी वही थी, जिसका नमूना 'फिसाना-अजायब' है—गद्य में भी अलंकार और तुकों की भरमार होती थी। पंडित रतननाथ ने भी बहुधा उसी ढंग की भाषा लिखी थी। वह जब किसी बाग या दृश्य का वर्णन करने लगते हैं, तो उनकी भाषा 'फिसाना-अजायब' के ढंग की हो जाती है। लेकिन उनके पात्रों की बातचीत बहुत ही स्वाभाविक और लखनवी बोलचाल का बहुत ही अच्छा नमूना है। पंडितजी 'अवध अखबार' के संपादक थे, और 'फिसान-आज़ाद' पहले उसी दैनिक पत्र (1878-80 तक) में प्रकाशित हुआ था। शायद पहले पंडित जी का विचार कोई बड़ा उपन्यास लिखने का न था। आज़ाद नाम के कल्पित चरित्र द्वारा वह वर्तमान समाज पर कटाक्ष करना और चुटकियों द्वारा उसमें नये भावों और विचारों का बीज बोना चाहते थे। पहली जिल्द के बड़े भाग में आज़ाद ही के सैर-सपाटों का ज़िक्र है, लेकिन आगे चलकर प्रेम-चर्चा की ज़रूरत मालूम हुई, और कथा ने यह रूप धारण किया। अब उसकी बड़ी-बड़ी चार जिल्दें हैं, और उसमें लगभग 4000 पृष्ठ हैं। उनका पूरा हिन्दी अनुवाद किया जाए तो 12,000 पृष्ठों का बृहद् ग्रंथ हो जाए, लेकिन पुस्तक में अनेक प्रसंग ऐसे हैं जिनसे न तो पात्रों पर प्रकाश पड़ता है, और न हास्य या व्यंग्य ही का कुछ स्वाद मिलता है। कहीं-कहीं हास्य इतना नीरस और अश्लील हो गया है कि उसका अनुवाद करना अनुपयुक्त है। हमने इन प्रसंगों को छोड़ दिया है। फुटकर लेखों को भी हमने एक शृंखला में बांधने की चेष्टा की है, बोलचाल की भाषा ज्यों-की-त्यों रहने दी है, बहुदा जगह की किफ़ायत के लिए कई-कई वाक्यों को मिला दिया है। अतएव यह 'फ़िसाना-आज़ाद' का अनुवाद नहीं, उसका एक परिष्कृत संस्करण है।

पंडित रतननाथ लखनऊ में पैदा हुए थे और उनका लड़कपन लखनऊ ही की गलियों में, खेलने में, गुज़रा। उन्होंने लखनवी जीवन के सभी अंगों का अवलोकन किया और ये सारे दृश्य उनके स्मृति-पर अंकित हो गए थे। 'फ़िसाना-आज़ाद' में आपको लखनऊ

के भोले-भाले रंगीन नवाब मिलते हैं, उनके खुशामदी मुसाहबों के दर्शन होते हैं, उनकी बेगमात के हाव-भाव का चित्र नज़र आता है। कहीं बांके आते हैं तो कहीं अफ़ीमची, कहीं भटियारिनों की तिरछी चितवन है तो कहीं वेश्याओं के नाज़-नखरे, कहीं मदारी के तमाशे हैं तो कहीं सरकस के, कहीं बाज़ार का मोल-भाव है तो कहीं मजलिसों का राग-रंग। यह सभी दृश्य इतने मनोरंजक, इतने हास्यमय हैं कि पढ़ते ही बनता है। पंडितजी हास्य रस लिखने में सिद्धहस्त थे। 'फ़िसाना-आज़ाद' ने लखनऊ के उस पुराने विलासमय जीवन में कितना सुधार किया ह, इसका अनुमान करना मुश्किल है। 'फ़िसाना-आज़ाद' के अतिरिक्त 'सैर कोहसार' और 'जामे-सरशार' भी धर महोदय की उत्तम रचनाएं हैं। उर्दू में इन पुस्तकों का कितना आदर हुआ, इसका अनुमान इसीसे हो सकता है कि इनके आठ-नौ एडीशन हो चुके हैं और अब तक इनकी मांग में कमी नहीं हुई। उर्दू में शरर, मिर्ज़ा रुसवा, हकीम मुहम्मद अली आदि उपन्यासकारों में किसी की रचनाओं का इतना प्रचार नहीं हुआ।

हमारी बहुत दिनों ने यह इच्छा थी कि हास्य और विनोद के इस भंडार का मज़ा हिन्दी के पाठकों को चखाया जाए, लेकिन काम इतना बड़ा और इतने परिश्रम का था कि बार-बार हिम्मत टूट जाती थी। चार हजार उर्दू के बड़े-बड़े पृष्ठों को मथकर हिन्दी के एक हजार पृष्ठा में लाना आसान न था, पर हिन्दी-प्रेमियों के प्रोत्साहन ने आख़िर यह काम करा ही डाला। दो जिल्दों का इत्र आपकी सेवा में भेंट किया जा रहा है। इसकी सुगंध आपको पसंद आई, तो शेष दो जिल्दों का इत्र खींचने के लिए फिर कमर बांधूंगा।

प्रेमचंद

[भूमिका। प्रथम संस्करण, 1925 मे प्रकाशित। 'प्रेमचद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

प्रेम-द्वादशी

हिन्दुस्तानी भाषाओं में कहानी का कोई इतिहास नहीं है। प्राचीन साहित्य में दृष्टांतों और रूपकों से उपदेश का काम लिया जाता था। उस समय की व ही गल्पें थीं। उनमें आध्यात्मिक विषयों का ही प्रतिपादन किया जाता था। महाभारत-आदि ग्रंथों मे ऐसे कितने ही उपाख्यान और दृष्टांत हैं, जो कुछ-कुछ वर्तमान समय की गल्पों से मिलते हैं। सिंहासन-बत्तीसी, वैताल-पचीसी, कथा-सरित्सागर और इसी श्रेणी की अन्य कितनी ही पुस्तकें ऐसे ही दृष्टांतों का संग्रह मात्र हैं, जिन्हें किसी एक सूत्र में पिरोकर मालाएं तैयार कर दी गई हैं। योरप का प्राचीन साहित्य भी शॉर्ट स्टोरी से यही काम लेता था। आजकल जिस वस्तु को हम 'शॉर्ट स्टोरी' कहते हैं, वह उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का आविष्कार है। भारतवर्ष में तो उसका प्रचार उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दिनों में ही हुआ है। उपन्यासों की भाँति आख्यायिकाओं का विकास भी पहले-पहल बंगला-साहित्य में हुआ, और बंकिमचंद्र तथा रवींद्रनाथ ने कई उच्चकोटि की गल्पें लिखीं। बीसवीं शताब्दी के आरंभ से हिन्दी-भाषा में कहानियां लिखी जाने लगीं, और

तब से इनका प्रचार दिनों-दिन ही बढ़ता जाता है।

प्राचीन गल्पमालाओं का उद्देश्य मुख्य करके कोई उपदेश करना होता था। कितनी ही मालाएं तो केवल स्त्रियों के चरित्रदोष दिखाने के लिए ही लिखी गई हैं। मुसलिम-साहित्य में 'अलिफ़लैला' गल्पों का एक बहुत ही अनूठा संग्रह है। मगर उसका उद्देश्य उपदेश नहीं, बल्कि मनोरंजन है। इस दूसरी श्रेणी की गल्पें भारतीय साहित्य में नहीं हैं। वर्तमान आख्यायिका का मुख्य उद्देश्य साहित्यिक रसास्वादन कराना है, और जो कहानी इस उद्देश्य से जितनी दूर जा गिरती है, उतनी ही दूषित समझी जाती है, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि वर्तमान-गल्प-लेखक कोरी गल्पें लिखता है, जैसी 'बोस्ताने-ख़याल' या 'तिलिस्मे-होशरुबा' हैं। नहीं, उसका उद्देश्य चाहे उपदेश करना न हो, पर गल्पों का आधार कोई-न कोई दार्शनिक तत्त्व या सामाजिक विवेचना अवश्य होता है। ऐसी कहानी, जिसमें जीवन के किसी अंग पर प्रकाश न पड़ता हो, जो सामाजिक रूढ़ियों की तीव्र आलोचना करती हो, जो मनुष्य में सद्भावों को दृढ़ न करे, या जो मनुष्य में कुतूहल का भाव न जाग्रत करे, कहानी नहीं है।

योरप और भारतवर्ष की आत्मा में बहुत अंतर है। योरप की दृष्टि सुंदर पर पड़ती है, उस भारत की सत्य पर। सम्पन्न योरप मनोरंजन के लिए गल्प लिखे, लेकिन भारतवर्ष कभी इस आदर्श को स्वीकार नहीं कर सकता। नीति और धर्म हमारे जीवन के प्राण हैं। हम पराधीन हैं, लेकिन हमारी सभ्यता पाश्चात्य सभ्यता से कहीं ऊंची है। यथार्थ पर निगाह रखने वाला योरप हम आदर्शवादियों से जीवन संग्राम में बाजी भले ही ले जाए, पर हम अपने परंपरागत संस्कारों का आधार नहीं त्याग सकते। साहित्य मे भी हमें अपनी आत्मा की रक्षा करनी ही होगी। हमने उपन्यास और गल्प का कलेवर योरप से लिया है, लेकिन हमें इसका प्रयत्न करना होगा कि उस कलेवर में भारतीय आत्मा सुरक्षित रहे।

इस संग्रह में जो कहानियां दी जा रही हैं, उनमें इसी आदर्श का पालन करने की चेष्टा की गई है। मेरी कुल कहानियों की संख्या 100 से अधिक हो गई है, और आजकल किसी को इतनी फुरसत कहां कि वह सब कहानियां पढ़े। मेरे कई मित्रों ने मुझसे अपनी कहानियों का संग्रह करने के लिए आग्रह किया, जिनमें मेरी सभी तरह की कहानियो के नमूने आ जाएं। यह संग्रह उसी आग्रह का फल है। इसमें कुछ कहानिया ऐसी हे जो अन्य सग्रहों से ली गई हैं। उनके प्रकाशकों को धन्यवाद देना मेरा कर्त्तव्य है। कुछ कहानियां ऐसी हैं, जो अभी तक किसी माला मे नहीं निकलीं। इन कहानियों की आलोचना करना मेरा काम नहीं। हां, इतना मैं कह सकता हूं कि मैने नवीन कलेवर में भारतीय आत्मा को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है।

प्रेमचद

[भूमिका। प्रथम संस्करण वि० संवत् 1983, सन् 1926 मे प्रकाशित। 'प्रेमचद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में सकलित।]

रामचर्चा (उर्दू में)

राजा रामचंद्र हिन्दू कौम के उन बुजुर्गों में हैं जिनके हालाते-ज़िंदगी पर आज तक हिन्दुस्तान की हरेक जुबान में बेशुमार किताबें लिखी जा चुकी हैं। हिन्दुस्तान की ही क्यों, दुनिया में शायद ही ऐसी कोई जुबान होगी जिसमें रामचंद्र के हालात पर एक बड़ा कुतुबखाना (पुस्तकालय) न मौजूद हो। सबसे पहले ऋषि वाल्मीकि ने रामचंद्र की ज़िंदगी ही में उनके हालात नज़्म (काव्य) में लिखे। वह किताब इतनी पसंद की गई और पढ़ने वालों पर उसका इतना असर हुआ कि शायद ही कोई ऐसा नामूर (प्रसिद्ध) हिन्दू शायर, मौरिख़ (इतिहासवेत्ता), फ़सानानिगार, मज़मूं-नवीस (निबंधकार) होगा जिसने रामचन्द्र के हालात न लिखे हों। किसी ने उनके हालात के एक-एक वाक़ये को लेकर नाटक लिखे, तो किसी ने काव्य बनाए। यहां तक कि गोसाईं तुलसीदास ने हिन्दी भाषा की चौपाइयों में वह दास्तान लिखकर इसे इतना मकबूल बना दिया कि आज कोई ऐसा हिन्दू घर नहीं है जिसमें रामायण की एक जिल्द न हो। कितने ही लोग तो रामचंद्र को ईश्वर का अवतार समझते हैं, और नजात (मोक्ष) हासिल करने के लिए 'रामायण' का रोज़ाना पाठ करते हैं। हिन्दुओं में दो ऐसे महापुरुष हुए हैं, जिन्हें उन्होंने ईश्वर का अवतार माना है। यूं तो और भी कई बुज़ुर्ग अवतार माने जाते हैं, लेकिन आमतौर पर दो ही बुजुर्गों को यह दर्जा हासिल है। एक–कृष्ण और दूसरे राम। आज कोई हिन्दू क़स्बा या शहर न होगा जिसमें ठाकुरजी का मंदिर न हो और उसमें रामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता जी की मूर्ति की रोजाना पूजा न होती हो। यह रुतबा रामचन्द्र को कैसे हासिल हुआ, आज हम तुमसे वही किस्सा कहते हैं। दिल लगाकर पढ़ो। तुम वाल्मीकि या तुलसीदास की किताबें अभी नहीं समझ सकते। इसलिए हमने रामचन्द्र के हालात तुम्हारे लिए आसान इबारत (लेख) में लिखे हैं। हमें उम्मीद है कि तुम इस लासानी (अद्वितीय) बुजुर्ग के हालात ध्यान से पढ़ोगे और उनसे सबक़ हासिल करोगे।

–प्रेमचंद

[भूमिका। प्रथम संस्करण, 1928 मे प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

चौगाने-हस्ती (हिन्दी रूप 'रंगभूमि')

अगर्चे 'रंगभूमि' पहले उर्दू में ही लिखी गई थी, मगर उसका उर्दू एडीशन हिन्दी एडीशन हो जाने के तीसरे साल शाया हो रहा है। हिन्दी एडीशन तैयार करते वक़्त उर्दू मसविदे में इतनी तरमीम हो गई कि वह उस हालत में प्रेस के क़ाबिल न था। इसके अलावा कई अबवाब (अध्याय) हिन्दी में और बढ़ा दिए गए। उन्हें दोबारा उर्दू मसविदे में शामिल करना ज़रूरी था। इसलिए सारा उर्दू मसविदा हिन्दी मसविदे के मुताबिक करके दोबारा लिखना पड़ा। मैं अपने करमफर्मा मुंशी इकबाल वर्मा 'सेहर' साहब हितगामी का बेहद

ममनून हूं कि उन्होंने इस बार को अपने ज़िम्मे लिया और किताब को इस सूरत मे तैयार कराया, जिसमें आज वह आपके सामने हाज़िर है। अगर उन्होंने दस्ते-इनायत न बढ़ा दिया होता तो शायद अभी इस किताब को बहुत अर्से तक मेरी फुरसत का इंतज़ार करना पड़ता। हिन्दी में इस किताब का एडीशन पांच हज़ार जिल्दों का निकाला गया था। वह अब क़रीब-क़रीब ख़त्म हो गया है। मराठी एडीशन भी शाया हो गया है जिसका नाम है 'जगाचार बाज़ार'। मैं अपने करमफर्मा सैयद हमीदअली साहब और अज़ीज़ दोस्त सैयद इम्तियाज़अली की उलुलअज़्मी (साहस) और कद्रदानी का किस ज़बान में शुक्रिया अदा करूं, जिन्होंने मेरी मेहनत ठिकाने लगा दी।

हकीर

—प्रेमचंद

[भूमिका। प्रथम संस्करण, सितंबर, 1928 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

गल्प-रत्न

मनुष्य जाति के लिए मनुष्य ही सबसे विकट पहेली है। वह खुद अपनी समझ में नही आता। किसी-न-किसी रूप में वह अपनी ही आलोचना किया करता है, अपने ही मन के रहस्य खोला करता है, इसी आलोचना को, इसी रहस्योद्‌घाटन को, 'साहित्य' कहते हैं, चाहे वह गद्य हो या पद्य। और आख्यायिका साहित्य का एक प्रधान अंग है, आज से नहीं, आदि-काल से ही, जब मुनष्य को लिखना नहीं आता था। हां, आजकल की आख्यायिका और प्राचीन काल की आख्यायिका में समय की गति और रुचि से बहुत-कुछ अंतर हो गया है। प्राचीन आख्यासिका कुतूहल-प्रधान होती थी, या अध्यात्म-विषयक। वर्तमान आख्यायिका, साहित्य के दूसरे अंगों की भांति, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और मनोरहस्य के उद्‌घाटन को अपना ध्येय समझती है। यह स्वीकार कर लेने मे हमें सकोच न होना चाहिए कि उपन्यासों ही की तरह आख्यायिका की कला भी हमने पश्चिम से ली है। मगर सौ वर्ष पहले, यूरोप भी इस कला मे अनभिज्ञ था। बड़े-बड़े उच्चकोटि के दार्शनिक तथा ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जाते थे, लेकिन छोटी-छोटी कहानियों की ओर किसी का ध्यान न जाता था। हां, कुछ परियों और भूतों की कहानियां अलबत्ता प्रचलित थीं, किंतु इसी एक शताब्दी के अंदर या उससे भी कम समझो, छोटी कहानियों ने साहित्य के और सभी अंगों पर विजय प्राप्त कर ी है। कोई पत्रिका ऐसी नहीं, जिसमें कहानियो की प्रधानता न हो। यहां तक कि कितन। ही पत्रिकाएं तो कहानियों के सिवा और कुछ देतीं ही नहीं। हां, जिन पत्रिकाओं को नफ़ा-नुक़सान की चिंता नहीं और जो किसी विशेष उद्देश्य से निकाली जाती हैं, उनकी बात अलग है। ऐसी दर्शनिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक, व्यावसायिक पत्रिकाएं हैं जिनमें कहानियों का प्रवेश नहीं होता, पर वे जनता के लिए नहीं, विशेष संप्रदायों के लिए निकाली जाती हैं।

कहानियों के इस प्राबल्य का मुख्य कारण आजकल का जीवन-संग्राम और समयाभाव है। अब वह ज़माना नहीं रहा कि हम 'बोस्ताने-ख़याल' लेकर बैठ जाएं और सारे दिन उसी की लहरों में गोते खाया करें। अब तो हम संग्राम में इतने तन्मय हो गए हैं कि हमें मनोरंजन के लिए समय ही नहीं मिलता। अगर कुछ मनोरंजन स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य न होता, और हम विक्षिप्त हुए बिना नित्य 18 घंटे काम कर सकते, तो शायद हम मनोरंजन का नाम भी न लेते। लेकिन प्रकृति ने हमें विवश कर दिया है, इसलिए हम चाहते हैं कि थोड़े-से-थोड़े समय में अधिक-से-अधिक मनोरंजन हो जाए, इसीलिए सिनेमा-गृहों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जाती है। जिस उपन्यास के पढ़ने में महीनों लगते, उसका आनंद हम दो घंटों में उठा लेते हैं। कहानी के लिए 15-20 मिनट ही काफी हैं, अतएव हम कहानी ऐसी चाहते हैं कि वह थोड़े-से-थोड़े शब्दों में कहीं जाए, उसमें एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न आने पावे, उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अंत तक उसे मुग्ध किए रहे। उसमें कुछ चटपटापन हो, कुछ ताज़गी हो, कुछ विकास हो, और इसके साथ ही कुछ तत्त्व भी हो। तत्त्वहीन कहानी से चाहे मनोरंजन भले हो जाए, मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानियों में उपदेश नहीं चाहते, लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के लिए, मन के सुंदर भावों को जाग्रत करने के लिए, कुछ-न-कुछ अवश्य चाहते हैं। वही कहानी सफल होती है जिसमें इन दोनों में से एक अवश्य उपलब्ध हो।

सबसे उत्तम कहानी वह होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो। साधु पिता का अपने कुव्यसनी पुत्र की दशा से दुखी होना मनोवैज्ञानिक सत्य है। इस आवेग में पिता के मनोवेगों को चित्रित करना और तदनुकूल उसके व्यवहारों को प्रदर्शित करना कहानी को आकर्षक बना सकता है। बुरा आदमी भी बिलकुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं-न-कहीं देवता अवश्य छिपा होता है, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवता को खोलकर दिखा देना सफल आख्यायिका का काम है। विपत्ति-पर-विपत्ति पड़ने से मनुष्य कितना दिलेर हो जाता है, यहां तक कि बड़े-से-बड़े संकट का सामना करने के लिए ताल ठोंककर तैयार हो जाता है। उसकी सारी दुर्वासना भाग जाती है। उसके हृदय के किसी गुप्त स्थान में छिपे हुए जौहर निकल आते हैं और हमें चकित कर देते हैं। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। एक-दो घटना या दुर्घटना भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्यों को भिन्न-भिन्न रूप में प्रभावित करती हैं। हम कहानी में इसको सफलता के साथ दिखा सके, तो कहानी अवश्य आकर्षक होगी। किसी समस्या का समावेश कहानी को आकर्षक बनाने का सबसे उत्तम साधन है। जीवन में ऐसी समस्याएं नित्य ही उपस्थित होती रहती हैं, और उनसे पैदा होने वाला द्वंद्व आख्यायिका को चमका देता है। सत्यवादी पिता को मालूम होता है कि उसके पुत्र ने हत्या की है। वह उसे न्याय की वेदी पर बलिदान कर दे, या अपने जीवन-सिद्धांतों की हत्या कर डाले। कितना भीषण द्वंद्व है। पश्चात्ताप ऐसे द्वंद्वों का अखंड स्रोत है। एक भाई ने दूसरे भाई की संपत्ति छल-कपट से अपहरण कर ली है। उसे भिक्षा मांगते देखकर क्या छली भाई को ज़रा भी पश्चात्ताप न होगा? अगर

ऐसा न हो, तो वह मनुष्य नहीं है।

उपन्यासों की भांति कहानियां भी कुछ घटना-प्रधान होती हैं, कुछ चरित्र प्रधान। चरित्र-प्रधान कहानी का पद ऊंचा समझा जाता है। मगर कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुंजाइश नहीं होती। यहां हमारा उद्देश्य संपूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नहीं, वरन् उसके चरित्र का एक अंग दिखाना है। यह परमावश्यक है कि हमारी कहानी से जो परिणाम या तत्त्व निकले, वह सर्वमान्य हो और उसमें कुछ बारीकी हो। यह एक साधारण नियम है कि हमें उसी बात में आनंद आता है, जिससे हमारा कुछ संबंध हो। जुआ खेलने वालों को जो उन्माद और उल्लास होता है, वह दर्शक को कदापि नहीं हो सकता। जब हमारे चरित्र इतने सजीव और आकर्षक होते हैं कि पाठक अपने को उसके स्थान पर समझ लेता है, तभी उसे कहानी में आनंद प्राप्त होता है। अगर लेखक ने अपने पात्रों के प्रति पाठक में यह सहानुभूति नहीं उत्पन्न कर दी, तो वह अपने उद्देश्य में असफल है।

मगर यह समझना भारी भूल होगी कि कहानी वास्तविक जीवन का चित्र होती है। वास्तविक जीवन का चित्र तो किसी डायरी में ही मिल सकता है। कहानी कहानी है, यथार्थ नहीं हो सकती। जीवन में बहुधा हमारा अंत उस समय हो जाता है, जब उसकी बिल्कुल ज़रूरत न थी, लेकिन कहानी में ऐसा अंत हो जाए तो वह पाठक को अरुचिकर होगा। पाठक ने जिस पात्र का अंकुर देखा है, वह उसे बढ़कर फलते-फूलते भी देखना चाहता है, उसे भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में अपना पार्ट खेलते देखना चाहता है। कला का रहस्य है कृत्रिमता, पर वह कृत्रिमता जिस पर यथार्थ का आवरण पड़ा हो। कलाविद् अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछ तोड़-मरोड़ करता है—कुछ घटाता है, कुछ बढ़ाता है, कुछ छिपाता है, कुछ खोलता है, तब उसका मनोरथ सिद्ध होता है।

—प्रेमचद

[भूमिका। प्रथम संस्करण 1929 मे प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 मे सकलित।]

सप्त-सुमन

संसार के वर्तमान साहित्य में कहानी या गल्प का विशेष स्थान है और उसे यह स्थान पिछले दस-पांच वर्षों में ही प्राप्त हुआ है। साहित्य की प्राय: सभी परीक्षाओं में कहानियो का कोई-न-कोई संग्रह अवश्य रखा जाता है। मध्यमा और बी० ए० की परीक्षाओं में मेरा एक संग्रह पढ़ाया जाता है, पर हाई स्कूलों के उपयुक्त कोई संग्रह नहीं था। उसी कमी को पूरा करने के लिए यह संग्रह प्रकाशित किया गया है।

हरेक काल में साहित्य का कोई अंग जन-रुचि का मुख स्रोत बन जाया करता है। एक समय समस्या-पूर्ति के आधिपत्य का था। नाटकों का भी बहुत दिनों तक साहित्य में आधिपत्य रहा। फिर उपन्यासों का ज़माना आया। अब गल्पों का काल है। उन पत्रिकाओं में, जिन पर विशेष संप्रदाय की छाप नहीं होती, गल्पों ही का प्राधान्य रहता है। युवक ही नहीं, साहित्य के मर्मज्ञ भी कहानियों को अपने संदेशों और अनुभवों के प्रचार का

साधन बना लेते हैं। आज संसार का ऐसा कोई बड़ा साहित्य-सेवी नहीं है जिसने कहानियां लिखकर अपनी प्रतिभा का परिचय न दिया हो। मुझे आशा है कि इन कहानियों के पढ़ने से कुमारों में सुरुचि उत्पन्न होगी और वे संसार के बड़े-बड़े गल्प लेखकों की रचनाओं का रसास्वादन करेंगे।

[भूमिका। प्रथम संस्करण, 1930 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 मे संकलित।]

कर्मभूमि

संसार में कुछ लोग ऐसे भी हैं जो उपन्यास को इतिहास की दृष्टि से पढ़ते हैं। उनसे हमारा यह निवेदन है कि जिस तरह इस पुस्तक के पात्र कल्पित हैं, उसी तरह इसके स्थान भी कल्पित हैं। बहुत संभव है कि लाला समरकांत और अमरकांत, सुखदा और नैना, सलीम और सकीना नाम के व्यक्ति संसार में हों , पर कल्पित और यथार्थ व्यक्तियों में वह अंतर अवश्य होगा, जो ईश्वर और ईश्वर के बनाए हुए मनुष्य की सृष्टि में होना चाहिए। उसी भाँति इस पुस्तक के काशी और हरिद्वार भी कल्पित स्थान हैं और बहुत संभव है कि उपन्यास में चित्रित घटनाओं और दृश्यों को संयुक्त प्रांत के इन दोनों तीर्थ-स्थानों में आप न पा सकें। हम ऐसे चरित्रों और स्थानों के ऐसे नाम आविष्कार न कर सके, जिसके विषय में यह विश्वास होता कि इनका कहीं अस्तित्व नहीं है तो फिर अमरकांत और काशी ही क्या बुरे हैं? अमरकांत की जगह टमरकांत हो सकता था और काशी की जगह टासी या दमदुल या डम्पू, लेकिन हमने ऐसे-ऐसे विचित्र नाम सुने हैं, कि ऐसे नामों के व्यक्ति या स्थान निकल आएं, तो आश्चर्य नहीं। फिर हम अपने झोंपड़े का नाम 'शांति-उपवन' और 'संत-धाम' रखते हैं और अपने सड़ियल पुत्र का रामचद्र या हरिश्चंद्र, तो हमने अपने पात्र और स्थानों के लिए सुंदर-से-सुंदर और पवित्र-से-पवित्र नाम रखे, तो क्या कुछ अनुचित होगा?

—प्रेमचंद

[भूमिका। 5 सितंबर, 1932 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य खण्ड-2 में संकलित।]

मेरे बेहतरीन अफसाने

मुसन्निफ़ (लेखक) तो हमेशा यही चाहता है कि उसकी सभी चीज़ें खूबसूरत हों। अक्सर तख़लीक़ात (सृजन) तो कोशिश करने पर भी मामूली-सी होकर रह जाती हैं। मेयारी (श्रेष्ठ) अदीबों की चीज़ों में से भी बहुत कम अच्छी निकलती हैं। फिर उनमें भी जुदा-जुदा (भिन्न-भिन्न) रुजूहान (रुचि) होते हैं। क़ारी (पाठक) अपनी पसंद की चीज़ों को मुन्तख़िब (छांट) करके उन्हें ही शरफ़े-कुबूलियत (श्रेष्ठ मानकर स्वीकार करना) बख़्ता (मानता) है। हर मुसन्निफ़ (लेखक) की हर तसनीफ़ (रचना) हर आदमी को पसंद आ जाए, ऐसा बहुत कम देखने में आता है।

मेरी शायाखुदा (प्रकाशित) कहानियों की तादाद तक़रीबन तीन सद (सौ) के लगभग है। उनके कई मजमूए (संग्रह) छप चुके हैं, लेकिन आज किसके पास इतना वक्त है कि इन सबको पढ़ सके? अगर हम हर मुसन्निफ़ (लेखक) की हर चीज़ पढ़ना शुरू कर दें तो शायद मुश्किल से पांच-सात मुसन्निफ़ ही हमारी ज़िंदगी में ख़त्म हो सकें। इसलिए मेरे दोस्त मुद्दत से मुसिर (आग्रहशील) थे कि मैं अपनी कहानियों का एक ऐसा नुमाइंदा (प्रतिनिधि) मजमूआ (संग्रह) मुन्तख़िब (संकलित) करके छापूं जिससे पढ़ने वालों को मेरा फ़न्नी (कलात्मक) मेयार (स्तर) और रुजूहान (रुचि) मालूम करने में सहूलियत (आसानी) रहे, जिसके मुताले (पढ़ने) से लोग ज़िंदगी के मुताल्लिक़ मेरे नज़रियात (दृष्टिकोण) मालूम कर सकें। यह इन्तिख़ाब (संग्रह) इसी मक़सद (उद्देश्य) को मलहूज़ (ध्यान में) रखते हुए तैयार किया गया है। इसमें मैंने महज़ उन कहानियों को ही चुना है जिन्हें मैं खुद पसंद करता हूं और जिन्हें जुदा-जुदा नौइयत (प्रकार) के नक़्क़ादों (आलोचकों) ने भी सराहा है।

कहानी इब्तिदा (आरंभ) से ही ज़िंदगी का एक जुज़ (अंग) रही है। हर बच्चे को अपने बचपन की वे कहानियां अब भी याद होंगी, जो उसने अपनी वालिदा (माता) या बहिन से सुनी थीं। कहानियां सुनने के लिए वह किस क़दर बेक़रार रहता था कि कहानी शुरू होते ही वह किस इन्हिमाक़ (तन्मयता) से उसको सुनता था। कुत्ते और बिल्लियों की कहानियां सुन-सुनकर वह किस क़दर खुश होता था, इसे वह शायद कभी नहीं भूल सकता। अहदे-तिफ़ली (बाल-जीवन) की यादों में से सबसे खुशगवार (मधुर) याद शायद कहानी ही है। खिलौने, मिठाइयां और खेल-तमाशे तो तक़रीबन सभी जेहन से उतर चुके हैं। महज़ उन्हे कहानियों की याद दिल में बाक़ी है और शायद अब उसकी जुबान से उसके बच्चे भी उसी कहानी को शौक से सुन-सुनकर खुश होते होंगे। हमारी ज़िंदगी की सबसे बड़ी ख़्वाहिश यही है कि हम कहानी बन जाएं और हमारी शोहरत (प्रसिद्धि) हर तरफ़ बिखर जाए।

कहानियां तो उसी वक्त पैदा हुईं जब आदमी ने बोलना सीखा, लेकिन क़दीम अफ़सानवी अदब (प्राचीन कथा-साहित्य) को जो कुछ इल्म (ज्ञान) है, उसके लिए 'अलिफ़-लैला', 'ईसप की कहानियां' और 'कथा-सरित-सागर' का तज़करा (स्मरण) ज़रूरी है। ये उस वक्त के अदब के मेयारी कारनामे (उज्ज्वल कार्य) हैं। उनका वाहिद (मुख) हुस्न (सौंदर्य) और मेयार (स्तर) उनक अफ़सानवी तहैयुर (कथागत विस्मय) और तखैयुल (कल्पना) है। आदमी को अजीब और अनोखी चीज़ों से हमेशा मुहब्बत रही है। नई और अजीबो-गरीब चीजों को सुनकर आज भी वह अपने बाप-दादा की तरह खुश होता है। मुझे इस बात का पूरा यक़ीन है कि अवाम (जनता) आज भी 'अलिफ-लैला' की कहानियों से जिस क़दर महज़ूज़ (हर्षित, आनंदित) होते हैं, उतना जदीद (आधुनिक) नाविलों से नहीं होते, और अगर काउंट टाल्सटाय के इस अक़ीदे (मत) को सही मान लिया जाय कि अवाम (जनता) का रुजूहान (रुचि) और शौक ही फन (कला) का मेयार (मापदण्ड) है तो हमें अलिफ-लैला के सामने टाल्स्टाय की War and peace और ह्यूगों की Les Misrables की कोई वक़त नज़र नहीं आती। इस तरह

हमारे राग-रागिनियां, मूसीक़ी (संगीत कला) के दिलफ़रेब (मुग्ध करने वाले) नग़मे, ख़ूबसूरत मुसव्विरी (चित्रकला) के नमूने और फ़न (कला) के मुतअद्दित (कतिपय) कारनामे, जिन पर इंसान को फ़ख़ (गर्व) है, फ़न (कला) के मैदान के परे हट जाएंगे। आम लोग पर्ज और दहाज (तरज़ और बिहाग) के बजाय विरह और दादरे को ज़्यादा पसंद करते हैं। विरहों और देहाती गीतों में अक्सर ऊंचे दर्जे की शायरी होती है। फिर भी बिला-मुबालग़ा (अतिरंजना के बिना) यह कहा जा सकता है कि आलिमों और फ़नकारों ने फ़न की तशहीर (प्रसिद्धि) के लिए जो मेयार (मर्यादाएं) तख़लीक़ (निर्मित) किए हैं, उनसे फ़न का हुस्न और भी बढ़ गया है। फ़ितरत (प्रकृति) में जो फ़न है वह फ़ितरत का ही है, आदमी का नहीं। आदमी को तो महज़ वही आर्ट लुभाता है, जिस पर उसकी रूह की मोहर सब्त (अंकित) हो, जो गीली लकड़ी की मानिन्द आदमी को ज़ेहनी सांचे में ढालकर उसके मुताबिक़ हो जाए। कुदरत का हुस्न हमें अपनी वसत (वैभव) और हमागीरी (विस्तार) से ग़र्क-ए-हैरत (पराभूत) कर देता है। उसमें हमें रूहानी मुसर्रत (आध्यात्मिक आनंद) मिलती है। लेकिन वही जज़्बा (भावना, विचार) अगर इंसान के रंग और तसव्वुर (कल्पना, विचार) में मिलकर हमारे सामने आता है तो वह जैसे हमारा अपना हो जाता है। उसमें हमें रूह (आत्मा) का पैग़ाम (संदेश) लिपटा मिलता है, लेकिन खाना जहां थोड़े से मसाले से लज़ीज़ (सुस्वादु) हो जाता है, वहां यह भी ज़रूरी है कि उसकी मिक़दार (मात्रा) तजबुज (सीमा-उल्लंघन) न कर सके। जिस तरह मसालों की कसरत से खाने की शीरीनी (मधुरता) और लज़्ज़त (स्वाद) कम हो जाती है, उसी तरह अदब भी तशबीह (उपमा-अंलकार) और दूसरी फ़न्नी लवाज़मात (कलात्मक प्रयोगों) के ग़ैरमौज़ूं (अनुपयुक्त) इस्तेमान से भद्दा हो जाता है। जो कुछ फ़ितरी (नैसर्गिक) है, वह हक़ीक़त (सत्य) है, और फ़ितरत (स्वाभाविकता) से परे हटने पर आर्ट अपनी ख़ूबसूरती और हलावत (आनंद, माधुर्य) खो देता है, और उसे दो-चार फ़नकार ही समझ सकते हैं। अवाम (जनता) के ज़ेहन (मर्म) पर छाने की सलाहियत (ख़ूबी, पात्रता) उसमें नहीं रहती।

पुराने क़िस्से-कहानियां वाक़ेआती तहैयुर (घटनात्मक आश्चर्य) की दिलचस्पी से दिलकश ज़रूर हैं, लेकिन उनमें उस रस की कमी है जो पढ़े-लिखे लोग अदब (साहित्य) में खोजते हैं। अब हमारे क़ारेइन (पाठक) कुछ तरक़्क़ी-पसंद हो गए हैं। वह दूसरी सिन्फ़ों (चीज़ों) की मानिन्द (सदृश्य) अदब में भी ज़िद्दत और तनव्वो (नवीनता) तलाश करने के आदी हो गए हैं। अब हम किसी राजा की ग़ैरमामूली बहादुरी या रानी का हवा के दोश (कंधे) पर उड़कर पहुंचने या जिनों-भूतों के मनगढ़ंत क़िस्सों स खुश नहीं होते। हम उन्हें मौज़ूं (यथार्थ) के कांटे पर तोलते हैं और ज़रा भी वज़न में कम होने पर कबूल नहीं करते। आज के अफ़साने और नाविल में ग़ैरफ़ितरी (अस्वाभाविक) बातों की गुंजाइश नहीं। उनमें हम अपनी ज़िंदगी का अक्स (प्रतिबिंब देखना चाहते हैं। उसके एक-एक फ़िकरे (वाक्य) और हर किरदार (पात्र) को हक़ीक़त (यथार्थ) के जामे में देखने के ख़्वाहिशमंद हैं। उसमें जो कुछ भी लिखा जाए वह इस तरह को कि मामूली ज़ेहन का आदमी भी उसे हक़ीक़त तसव्वुर (स्वीकार) करे।

वाक़िआ (घटना) ही मौजूदा अफ़साने या नाविल का अहम जुज़ (मुख्य अंग) नहीं है। किसी नाविल के किरदारों का ज़ाहिरी रंग-ढंग देखकर ही हम मुत्मइन (संतुष्ट) नहीं होते, बल्कि हम उनके ज़ेहन की गहराइयों तक पहुंचना चाहते हैं, और जो मुसन्निफ़ (लेखक) इंसानी फ़ितरत के रमूज़-ओ-असरार (रहस्यों को) खोलने में कामयाब होता है, उसी की तसनीफ़ (रचना) मक़बूल (सर्वप्रिय) होती है। हम महज़ इसी से मुत्मइन नहीं होते कि किसी ख़ास आबादी ने कोई काम किया है, बल्कि हम ये देखना चाहते हैं कि ज़ेहनी मद्देनज़र (बौद्धिक दृष्टिकोण) से ही मजबूर होकर उसने यह किया है? इसलिए ख़यालात मौजूदा अफसाने या नाविल का अहम (प्रमुख) जुज (अंग) हैं। लिहाज़ा उन्हें नफ़सियाती नाविल (मनोवैज्ञानिक उपन्यास) या कहानी कहा जा सकता है।

पुरानी तसनीफ़ात (कलाओं) में मुसन्निफ़ (लेखक) हमेशा परदे के पीछे छिपा रहता था। हम उसे सिर्फ़ इस क़दर ही जानते थे जितना कि वह अपने किरदारों के मुंह से कहलवाता था। जिंदगी के मुतअल्लिक़ (संबंध में) उसका क्या नज़रिया है जुदा जुदा (भिन्न-भिन्न) सिफ़ों (विषयों) पर वह क्यों कर इज़हार-ए ख़याल (विचारों की अभिव्यक्ति) करता है–इससे हम क़तई लाइल्म (अपरिचित) रहते थे, लेकिन आज के नाविल में हमें क़दम-क़दम पर मुसन्निफ़ के ख़याल से उसकी जेहनी क़फ़ियत (दशा) और तरबियत (सभ्यता, शिक्षा) से वाकिफ हो जाते हैं। ये खयालात जिस कदर मुअस्सिर (असर डालने वाले) हमागीर (तादात्म्यपूर्ण) और मुकम्मिल (पूर्ण) होते हैं, उसी कदर मुसन्निफ़ (लेखक) की वक़त (महत्त्व) हमारे ज़ेहन में बढ़ जाती है। यह कहना चाहिए कि मौजूदा अफ़साने का बुनियादी नुक़्ता ही ज़ेहनी उतार-चढ़ाव है। वाक़ियात (घटनाएं) और किरदार (पात्र) तो इस नफ़्सियाती हक़ीक़त (मनोवैज्ञानिक यथार्थ) की तसदीक़ (सुबूत) के लिए ज़रूरी हैं। उनकी अपनी हैसियत सिफ़र के बराबर है। मसलन इसी मजमुए (संग्रह) में 'सुजान भगत', 'राहे-निजात', 'पंच-परमेश्वर', 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'महातीर्थ' सभी किसी-न-किसी नफ़्सियाती नुक़्ते (मनोवैज्ञानिक रहस्य) को वाज़े (व्यक्त) करने की सई (कोशिश) की गई है। यह तो सभी मानते हैं कि कहानी का सबसे बड़ा मक़सद तफ़रीही क़ीमत (मनोरंजन की श्रेष्ठता) है, लेकिन अदबी तफ़रीह (साहित्यिक मनोरंजन) वह है कि जिससे हमारे नाजुक ज़ेहनी एकसासात (कोमल मनोवैज्ञानिक भावनाओं) को तहरीक (प्रोत्साहन) मिलती है–हम मे सदाक़त (सत्यता), बेलौस ख़िदमत (नि:स्वार्थ सेवा), इंसाफ़ (न्याय) और नेकी का जो ग़ैरमुलव्विस उनसुर (सात्त्विक तत्त्व) है, वह जाग उठे। दर-हक़ीक़त (वास्तव में) आदमी की ख़्वाहिश यही है कि वह खुद में अपने आपको मुकम्मिल (पूर्ण) सूरत में देखे। हमागीरी (अभिव्यक्ति) इंसानी ज़ेहन की फ़ितरी (स्वाभाविक) तमन्ना है। आदमी जिस मुआशेरत (समाज) में रहता है, उसी में जज़्ब (मिलकर) होकर रहता है। जिन ख़यालात और तसव्वुरात (कल्पनाओं) से वह अपने रिश्ते मज़बूत करता है, ज़िंदगी के समुंदर की लहरों में मिल जाता है, वही सदाक़त (सत्य) है। जो चीज़ें जज़्बात (भावनाओं) से इस बहाव (प्रवाह) में हारिज़ (बाधक) होती हैं, वह ग़ैरफ़ितरी (अस्वाभाविक) हैं। लेकिन अगर ये खुदगर्ज़ी, ग़ुरूर और हसद (ईर्ष्या) की रुकावटें न होतीं तो हमारी रूह को उरूजी क़ुव्वत (विकास की शक्ति) कहां से मिलती? क़ुव्वत (शक्ति) तो मुसल्सल (अनवरत)

जद्दोजहद (संघर्ष) में मसरूफ़ (संलग्न) है। हमारा दिल तो इन रुकावटों को फांदकर अपने फ़ितरी मुक़ाम (स्वाभाविक लक्ष्य) पर पहुंचने की ख़्वाहिश करता है। इस जद्दोजहद से ही तो अदब (साहित्य) की तख़लीक़ (उत्पत्ति) होती है। यही कशमकश (संघर्ष) अदब का इस्तेमाल (प्रयोग) है। अफ़साने को अदब में इसलिए ही मुमताज़ जगह (ऊंचा स्थान) हासिल है कि वह एक लम्हे में किसी घुमाव-फिराव के बग़ैर रूह (आत्मा के) किसी-न-किसी जज़्बे (भाव) को नंगा कर देता है। ज़िंदगी की शमा की लौ हमारी तारीकियों (अंधियारों) में उजाला देती है और ख़्वाह (चाहे) थोड़ी मिक़्दार में ही क्यों न हो, वह हमारे तआरुफ़ (परिचय) का, दूसरों में खुदा को देखने का, औरों के दुःख या सुख को अपना बना लेने का दायरा वसी (बड़ा) कर देती है।

हिन्दी में जदीद रुजूहान (आधुनिक रुचि) की इन कहानियों की तर्ज़ेए-निगारिश (नवीन शैली) का रिवाज़ अभी थोड़े ही दिनों में हुआ है, लेकिन क़लील वक़्फ़े (अल्प समय) में ही उसने अदब की दूसरी सिनफ़ों (अंगों) पर भी अपना सिक्का जमा लिया है। किसी भी रिसाले का उठा लीजिए, उसमें अफ़सानों की बहुतायत होगी। हां, जो परचे किसी ख़ास मक़सद या उसूल के तहत निकाले जाते हैं, उनमें कहानियों को जगह नहीं मिल सकती। जब डाकिया कोई रिसाला लाता है तो हम सबसे क़ब्ल (पहले) उसकी कहानियों को पढ़ना शुरू करते हैं। इससे हमारी वह भूख तो नहीं मिटती जो जरूरत के मुताबिक गिज़ा (भोजन) चाहती है, लेकिन फलों और मिठाइयों की जो ख़्वाहिश हमेशा बनी रहती है, वह यक़ीनन कहानियों के मुताले (पढ़ने) से कुछ दब जाती है। हमारा खयाल है कि अफसाने ने अपनी हमागीर दिलचस्पी (सार्वभौम आकर्षण) और मक़बूलियत (सर्वप्रियता) से दुनिया भर के आदमियों को एक-दूसरे के क़रीब कर दिया है। इन्होंने जो मुसावी (संतुलित, समानता) इनसानियत का जज़्बा पैदा कर दिया है, वह किसी और चीज़ से इस क़दर नहीं हुआ। हम आस्ट्रेलिया का गंदु (गेहूं) खाकर, चीनी की चाय पीकर और अमेरिका की मोटरों में बैठकर भी उसे बनाने वाले आदमियों से क़तई लाइल्म (अपरिचित) रहते हैं, लेकिन मोपासां, अनातोले, फ्रांस चेखब और टाल्स्टाय की कहानियां पढ़कर हमने फ्रांस और रूस से रूहानी तअल्लुक़ (आत्मिक संबंध) क़ायम कर लिया है। हमारे तआरुफ़ (परिचय) का दायरा समुंदरों और पहाड़ों और लंबी-चौड़ी बआतों (सीमाओं) को उबूर (लांघ) करके फ्रांस और रूस जा पहुंचता है। हम वहां भी अपनी ही रूह की झलक देखने लग जाते हैं। वहां के किसान-मजदूर और तालिबे-इल्म (विद्यार्थी) हमें ऐसे मालूम होते हैं, जैसे हमारे गहरे शनासा (परिचित) हों।

हिन्दी में बीस-पच्चीस बरस क़ब्ल (पहले) कहानी को कोई वक़त न दी जाती थी। कभी-कभी बंगाली या अंगरेजी कहानियों के तराजिम (अनुवाद) छप जाते थे। आज कोई रिसाला ऐसा नहीं, जिसमें दो-चार कहानियां हर माह न छपती हों? अफ़सानों के अच्छे-अच्छे मजमुए (संग्रह) छापे जा रहे हैं। अभी बहुत दिन नहीं हुए जब अफ़सानों का पढ़ना वक़्त का मुज़रिमाना (अपराधपूर्ण) इस्तकमाल तसव्वुर (विचार) होता था। बचपन में अगर हम क़िस्से कहानी पढते पकड़े जाते थे तो कड़ी डांट पड़ती थी। यह ख़याल किया जाता था कि क़िस्सों से अख़लाक़ (चरित्र) बिगड़ जाता है और इन 'फ़सानए-

अजाइब', शुक बहत्तरी' और तोता-मैना' के अफ़सानें में ऐसा ख़याल फ़ितरी (स्वाभाविक) ही था। उस वक़्त कहानियां कहीं स्कूल की लाइब्रेरी में रख ली जातीं तो वालदैन का एक भारी वफ़्द (प्रतिनिधि-मंडल) अफ़सराने-बाला महकमा-ए-तालीम (शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष) की ख़िदमत में पहुंचता। आज छोटे-बड़े सभी तबकों (दर्जों) में कहानियां पढ़ाई जाती हैं और उन पर सवाल भी किए जाते हैं। यह तस्लीमशुदा (सर्व-स्वीकृत) अम्र (कर्म) है कि तमद्दुन (संस्कृति) के फैलाव के लिए हलकेफुलके अदब (रसपूर्ण साहित्य) से बढ़कर कोई ज़रिया नहीं है। अब लोग यह भी तसलीम (स्वीकार) करने लग गए हैं कि अफ़साना महज़ गप नहीं होता, उसे झूठ समझना भूल है। आज़ से दो हज़ार बरस क़ब्ल(पूर्व) यूनान में नामवर फ़िलास्फ़र अफ़लातून ने लिखा था कि हर तख़य्युली (काल्पनिक) तख़लीक़ (सृजन) में भी सदाक़त (सत्य) मौजूद है। 'रामायण' और 'महाभारत' आज भी इतने अज़ीज़ (प्रिय) हैं, जिस क़दर आज से पांच हज़ार या दस हज़ार साल क़ब्ल (पूर्व) थे। हालांकि तारीख़ (इतिहास), तमद्दुन (संस्कृति) और माहौल में बारहा (प्रायः) तग़ैयुतर व तबद्दुल (परिवर्तन) रूनूमा हुए (दिखाई दिए)। कितने ही उसूल (सिद्धांत) जो पहले सदाक़त (सत्य) से मामूर (परिपूर्ण) तसव्वुर (समझे) होते थे, अब ग़लत साबित हो गए हैं, लेकिन हिकायात (कहानियां) आज भी उतनी ही हक़ीक़त हैं जिनती आज से बहुत पहले थीं, क्योंकि उनका तअल्लुक़ (संबंध) इंसानी ज़ेहन से है, और नफ़्सियात (मनोविज्ञान) में कभी तब्दीली नहीं हुई। किसी ने बहुत ठीक कहा था–"कहानी में नाम और सन् के सिवा बाक़ी सब-कुछ सच है और बारीख़ में नाम और सन् के सिवा कुछ भी हक़ीक़त नहीं।" कहानी-नवीस (कहानीकार) अपनी चीज़ों को जिस सांचे में ढाल सकता है, ढाले, किसी हाल में भी वह सच्चाई के उन मुक़द्दस उसूलों (पवित्र सिद्धांतों) से नहीं टकरातीं जो ज़िदंगी के हक़ाइक़ (जीवन-सत्य) कहलाते हैं।

–प्रेमचंद

[भूमिका। अगस्त, 1933 (प्रथम संस्करण) में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

प्रेमचंद की सर्वश्रेष्ठ कहानियां

लेखक हमेशा यही चाहता है कि उसकी सब रचनाएं सुंदर हों, पर ऐसा होता नहीं। अधिकांश रचनाएं तो यत्न करने पर भी साधारण होकर रह जाती हैं। अच्छे-से-अच्छे लेखकों की रचनाओं में भी थोड़ी-सी चीज़ें अच्छी निकलती हैं। फिर उसमें भी भिन्न-भिन्न रुचि की चीज़ें होती हैं और पाठक अपनी रुचि की चीज़ों को छांट लेता है और उन्हीं का आदर करता है। हर एक लेखक की हरएक चीज़, हरएक आदमी को पसंद आ जाए, ऐसा बहुत कम देखने में आता है।

मेरी प्रकाशित कहानियों की संख्या तीन सौ के लगभग हो गई है। उनके कई संग्रह

छप गए हैं, लेकिन आजकल किसके पास इतना समय है कि उन सभी कहानियों को पढ़ सके। अगर हम हर एक लेखक की हरएक चीज़ पढ़ना चाहें, तो शायद दस-पांच लेखकों में ही हमारी ज़िंदगी ख़त्म हो जाए, इसलिए हमारे मित्रों का बहुत दिनों से आग्रह था कि मैं अपना कोई ऐसा संग्रह, निकालूं, जिससे पाठक को मेरी कृतियों का मूल्य निर्धारित करने में सुविधा हो, जिसे मेरी रचनाओं का नमूना कहा जा सके, जिसे पढ़कर लोग जीवन के विषय में मेरी धारणाओं से परिचित हो सकें। यह संग्रह इसी उद्देश्य से किया गया है। इसमें मैंने उन्हीं कहानियों का संग्रह किया है, जिन्हें मैं खुद पसंद करता हूं और जिन्हें भिन्न-भिन्न रुचि के आलोचकों ने भी पसंद किया है।

कहानी सदैव से जीवन का एक विशेष अंग रही है। हरएक बालक को अपने बचपन की वो कहानियां याद होंगी जो उसने अपनी माता या बहिन से सुनी थीं। कहानियां सुनने को वह कितना लालायित रहा था, कहानी शुरू होते ही वह किस तरह सब-कुछ भूलकर सुनने में तन्मय हो जाता था, कुत्ते और बिल्लियों की कहानियां सुनकर वह कितना प्रसन्न होता था–इसे शायद वह कभी नहीं भूल सकता। बाल-जीवन की मधुर स्मृतियों में कहानी शायद सबसे मधुर है। वह खिलौने और मिठाइयां और तमाशे सब भूल गए, पर वह कहानियां अभी तक याद हैं और उन्हीं कहानियों को आज उसके मुंह से उसके बालक उसी हर्ष और उत्सुकता से सुनते होंगे। मनुष्य जीवन की सबसे बड़ी लालसा यह है कि वह एक कहानी बन जाए और उसकी कीर्ति हरएक ज़बान पर हो।

कहानियों का जन्म तो उसी समय से हुआ, जब आदमी ने बोलना सीखा, लेकिन प्राचीन कथा-साहित्य का हमें जो कुछ ज्ञान है, वह 'कथा-सरित्सागर', 'ईसप की कहानियां और 'अलिफ़-लैला' आदि पुस्तकों से हुआ है। यह उस समय के साहित्य के उज्ज्वल रत्न हैं। उनका मुख्य लक्षण उनका कथा-वैचित्र्य था। मानव-हृदय को वैचित्र्य से सदैव प्रेम रहा है। अनोखी घटनाओं और प्रसंगों को सुनकर हम अपने बाप-दादों की भांति ही प्रसन्न होते हैं। हमारा ख़याल है कि जन-रुचि जितनी आसनी से अलिफ़लैला की कथाओं का आनंद उठाती है, उतनी आसानी से नवीन उपन्यासों का आनंद नहीं उठा सकती और अगर काउंट टाल्सटाय के कथनानुसार जनप्रियता ही कला का आदर्श मान लिया जाए, तो अलिफ़लैला के समाने स्वयं टाल्स्टाय के 'वार एण्ड पीस' और ह्यूगो के 'ला मिज़रेबल' की कोई गिनती नहीं। इस सिद्धांत के अनुसार हमारी राग-रागिनियां, हमारी सुंदर चित्रकारियां और कला के अनेक रूप, जिन पर मानव-जाति को गर्व है, कला के क्षेत्र से बाहर हो जाएंगे। जनरुचि तरज़ और विहाग की अपेक्षा बिरहे और दादरे को ज़्यादा पसंद करती है। बिरहों और ग्राम गीतों में बहुधा बड़े ऊंचे दर्जे की कविता होती है, फिर भी यह कहना असत्य नहीं कि विद्वानों और आचार्यों ने कला के विकास के लिए जो मर्यादाएं बना दी हैं, उनसे कला का रूप अधिक सुंदर और संयत हो गया है। प्रकृति में जो कला है वह प्रकृति की है, मनुष्य का नहीं। मनुष्य को तो वही कला मोहित करती है, जिस पर मनुष्य की आत्मा की छाप हो, जो गीली मिट्टी की भांति मानव-हृदय के सांचे में पककर संस्कृत हो गई हो। प्रकृति का सौंदर्य हमें अपने विस्तार और वैभव से पराभूत कर देता है। उसमें हमें आध्यात्मिक उल्लास मिलता है, पर वही दृश्य

जब मनुष्य की तूलिका, रंगों और मनोभावों से रंजित होकर हमारे सामने आता है, तो वह जैसे हमारा अपना हो जाता है। उसमें हमें आत्मीयता का संदेश मिलता है।

लेकिन भोजन जहां थोड़े से मसाले से अधिक रुचिकर हो जाता है, वहां यह भी आवश्यक है कि मसाले मात्रा से बढ़ने न पावें। जिस तरह मसालों के बाहुल्य से भोजन का स्वाद और उपयोगिता और कम हो जाती है, उसी भांति साहित्य भी अलंकारों के दुरुपयोग से विकृत हो जाता है। जो कुछ स्वाभाविक है, वही सत्य है। स्वाभाविकता से दूर होकर कला अपना आनंद खो देती है और समझने वाले थोड़े से कलाविद् ही रह जाते हैं, उसमें जनता के मर्म को स्पर्श करने की शक्ति नहीं रह जाती।

पुरानी कथा-कहानियां अपने घटना-वैचित्र्य के कारण मनोरंजक तो हैं, पर उनमें उस रस की कमी है जो शिक्षित रुचि साहित्य में खोजती है। अब हमारी साहित्यिक रुचि कुछ परिष्कृत हो गई है। हम हरएक विषय की भांति साहित्य में भी बौद्धिकता की तलाश करते हैं। अब हम किसी राजा की अलौकिक वीरता या रानी के हवा में उड़कर राजा के राजा के पास पहुंचने में, या भूत प्रेतों के काल्पनिक चरित्रों को देखकर प्रसन्न नहीं होते। हम उन्हें यथार्थ के कांटे पर तोलते हैं और उसे जौ-भर भी इधर-उधर नहीं देखना चाहते। आज के उपन्यासों और आख्यायिकाओं में अस्वाभाविक बातों के लिए गुंजाइश नहीं है। उनमें हम अपने जीवन का ही प्रतिबिंब देखना चाहते हैं। उसके एक-एक वाक्य को, एक-एक पात्र को, यथार्थ के रूप में देखना चाहते हैं। उनमें जो कुछ भी हो, वह इस तरह लिखा जाए कि साधारण बुद्धि उसे यथार्थ समझे। घटना, वर्तमान कहानी या उपन्यास का मुख्य अंग नहीं है। उपन्यासों में पात्रों का केवल बाह्य रूप देखकर हम संतुष्ट नहीं होते। हम उनके मनोगत भावों तक पहुंचना चाहते हैं, और जो लेखक मानव-हृदय के रहस्यों को खोलने में सफल होता है, उसी की रचना सुफल समझी जाती है। हम केवल इतने ही से संतुष्ट नहीं होते कि अमुक व्यक्ति ने अमुक काम किया। हम देखना चाहते है कि किन मनोभावों से प्रेरित होकर उसने वह काम किया, अतएव मानसिक द्वंद्व वर्तमान उपन्यास या गल्प के खास अंग हैं।

प्राचीन कलाओं में लेखक बिल्कुल नैपथ्य में छिपा रहता था। हम उसके विषय में उतनाही जानते थे, जितना वह अपने को अपने पात्रों के मुख से व्यक्त करता था। जीवन पर उसके क्या विचार हैं, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उसके मनोभावों में क्या परिवर्तन होते हैं, इसका हमें कुछ पता न चलता था, लेकिन आजकल उपन्यासों में हमें लेखक के दृष्टिकोण का भी स्थल-स्थल पर परिचय मिलता रहता है। हम उसके मनोगत विचारों और भावों द्वारा उसका रूप देखते रहते हैं और ये भाव जितने व्यापक और गहरे अनुभवपूर्ण होते हैं, उतनी ही लेखक के प्रति हमारे मन में श्रद्धा उत्पन्न होती है। यों कहना चाहिए कि वर्तमान आख्यायिका या उपन्यास का आधार ही मनोविज्ञान है। घटनाएं और पात्र तो उसी मनोवैज्ञानिक सत्य को स्थिर करने के निमित्त ही लाए जाते हैं। उनका स्थान बिलकुल गौण है। उदाहरणत: इस संग्रह में 'सुजान भगत' 'मुक्ति-मार्ग' , 'पंच-परमेश्वर', 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'महातीर्थ' सभी में एक-न-एक मनोवैज्ञानिक रहस्य को खोलने की चेष्टा की गई है।

यह तो सभी जानते हैं कि आख्यायिका का प्रधान धर्म मनोरजन है, पर साहित्यिक मनोरंजन वह है जिससे हमारी कोमल और पवित्र भावनाओं को प्रोत्साहन मिले–हम में सत्य, नि:स्वार्थ सेवा, न्याय आदि देवत्व के अंश हैं, वह जाग्रत हों। कला में मानवीय आत्मा की वह चेष्टा है जो उसके मन में अपने आपको पूर्ण देखने की होती है। अभिव्यक्ति मानव-हृदय का स्वाभाविक गुण है। मनुष्य जिस समाज में रहता है, उसमें मिलकर रहता है। जिन मनोभावों से वह अपने मेल के क्षेत्र को बढ़ा सकता है, अर्थात् जीवन के अनंत प्रवाह में सम्मिलित हो सकता है, वही सत्य है। जो वस्तुएं भावनाओं के इस प्रवाह में बाधक होती हैं, वे सर्वथा अस्वाभाविक हैं। पर ये स्वार्थ, अहंकार और ईर्ष्या की बाधाएं न होतीं तो हमारी आत्मा के विकास को शक्ति कहां से मिलती? शक्ति तो संघर्ष में है। हमारा मन इन बाधाओं को परास्त करके अपने स्वाभाविक कर्म को प्राप्त करने की सदैव चेष्टा करता रहता है। इसी संघर्ष से साहित्य की उत्पत्ति होती है। यही साहित्य की उपयोगिता भी है। साहित्य में कहानी का स्थान इसीलिए ऊंचा है कि वह एक क्षण में ही बिना किसी घुमाव फिराव के आत्मा के किसी-न-किसी भाव को प्रकट कर देती है, आत्मा की ज्योति की आंशिक झलक दिखा देती है। और चाहे थोड़ी ही मात्रा में क्यों न हो, वह हमारे परिचय का, दूसरों में अपने को देखने का, दूसरों के हर्ष का शोक को अपना बना लेने का, क्षेत्र बढ़ा देती है।

हिन्दी में इस नवीन शैली की कहानियों का प्रचार अभी थोड़े ही दिनों से हुआ है, पर इन थोड़े ही दिनों में इसने साहित्य के अन्य सभी अंगों पर अपना सिक्का जमा लिया है। किसी पत्र को उठा लीजिए, उसमें कहानियों की ही प्रधानता होगी। हां, जो पत्र किसी विशेष नीति या उद्देश्य से निकाले जाते हैं, उसमें कहानियों का स्थान नहीं रहता। जब डाकिया कोई पत्रिका लाता है, तो हम सबसे पहले उसकी कहानियां पढ़ना शुरू करते हैं। इनसे हमारी वह क्षुधा तो नहीं मिटती जो इच्छापूर्ण भोजन चाहती है, पर फलों और मिठाइयों की जो क्षुधा हमें सदैव बनी रहती है, वह अवश्य कहानियों से लुप्त हो जाती है। हमारा खयाल है कि कहानियों ने अपने सार्वभौम आकर्षण के कारण संसार के प्राणियों को एक-दूसरे के जितना निकट कर दिया है, उनमें जो एकात्मभाव उत्पन्न कर दिया है, उतना और किसी चीज़ ने नहीं किया। हम आस्ट्रेलिया का गेहूं खाकर, चीन की चाय पीकर, अमेरिका की मोटरों पर बैठकर भी उनको उत्पन्न करने वाले प्राणियों से बिलकुल अपरिचित रहते हैं, लेकिन मोपासां, अनातोले फ्रांस, चेख़ब और टाल्सटाय की कहानियां पढ़कर हमने फ्रांस और रूस से आत्मिक संबंध स्थापित कर लिया है। हमारे परिचय का क्षेत्र सागरों, द्वीपों और पहाड़ों को लांघता हुआ फ्रांस और रूस तक विस्तृत हो गया है। हम वहां भी अपनी ही आत्मा का प्रकाश देखने लगते हैं। वहां के किसान, मज़दूर और विद्यार्थी हमें ऐसे लगते हैं, मानो उनसे हमारा घनिष्ठ परिचय हो।

हिन्दी में 20-25 साल पहले गल्पों की कोई चर्चा न थी। कभी-कभी बंगला या अंग्रेज़ी कहानियों के अनुवाद छप जाते थे। आज कोई भी ऐसा पत्र नहीं, जिसमें दो-चार कहानियां प्रतिमास न छपती हों। कहानियों के अच्छे-अच्छे संग्रह निकलते जा रहे हैं। अभी बहुत दिन नहीं हुए कि कहानियों का पढ़ना समय का दुरुपयोग समझा जाता था। बचपन में हम कभी कोई क़िस्सा पढ़ते पकड़ लिए जाते थे तो कड़ी डांट पड़ती थी। यह खयाल

किया जाता था कि किस्सों से चरित्र भ्रष्ट हो जाता है और उन 'फ़िसाना-अजायब' और 'शुकबहत्तरी' और 'तोता-मैना' के दिनों में ऐसा ख़याल होना स्वाभाविक ही था। उस वक़्त कहानियां कहीं स्कूली पाठ्यक्रम में रख दी जातीं, तो शायद पिताओं का एक डेपुटेशन इसके विरोध में शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष की सेवा में पहुंचता। आज छोटे-बड़े सभी क्लासों में कहानियां पढ़ाई जाती हैं और परीक्षाओं में उन पर प्रश्न किए जाते हैं। यह मान लिया जाता है कि सांस्कृतिक विकास के लिए सरस साहित्य से उत्तम कोई साधन नहीं है। अब लोग यह भी स्वीकार करने लगे हैं कि कहानी कोरी गल्प नहीं है, और उसे मिथ्या समझना भूल है। आज से दो हज़ार वर्ष पहले यूनान के विख्यात फ़िलासफ़र अफ़लातून ने कहा था कि हर एक काल्पनिक रचना में भी मौलिक सत्य मौजूद रहता है। 'रामायण', 'महाभारत' आज उतने ही सत्य हैं, जितने आज से पांच हज़ार साल पहले थे, हालांकि इतिहास, विज्ञान और दर्शन में सदैव परिवर्तन और परिवर्द्धन होते रहते हैं। कितने ही सिद्धांत जो एक ज़माने में सत्य समझे जाते थे, आज असत्य सिद्ध हो गए हैं। पर कथाएं आज भी उतनी ही सत्य हैं, क्योंकि उनका संबंध मनोभावों से है और मनोभावों में कभी परिवर्तन नहीं होता। किसी ने बहुत ठीक कहा है कि "कथा में नाम और सन् के सिवा सब-कुछ सत्य है और इतिहास में नाम और सन् के सिवा कुछ भी सत्य नहीं। गल्पकार अपनी रचनाओं को जिस सांचे में चाहे ढाल सकता है, किंतु किसी दशा में भी वह उस महान् सत्य की अवहेलना नहीं कर सकता जो जीवन-सत्य कहलाता है।

- प्रेमचंद

[भूमिका। बनारस अगस्त, 1933 (प्रथम संस्करण, सितंबर, 1934) में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' भाग-2 में संकलित।]

गल्प-समुच्चय

आधुनिक गल्प-लेखन-कला हिन्दी में अभी बाल्यावस्था में है, इसलिए इससे पाश्चात्य प्रौढ़ गल्पों की तुलना करना अन्याय होगा। फिर भी इस थोड़े-से काल में हिन्दी-गल्प-कला ने जो उन्नति की है, उस पर वह गर्व करे तो अनुचित नहीं। हिन्दी में अभी टाल्स्टाय, चेख़ब, ओहेनरी, डाडे मोपासां का आविर्भाव नहीं हुआ है, पर बिरवा के चिकने पात देखकर कहा जा सकता है कि यह होनहार है। इस संग्रह में हमने चेष्टा की है कि हिन्दी के सर्वमान्य गल्पाकारों की रचनाओं की बानगी दे दी जाए। हम कहां तक सफल हुए हैं, इसका निर्णय पाठक और समालोचक गण ही कर सकते हैं। हमें खेद है कि इच्छा रहते हुए भी हम अन्य लेखकों की रचनाओं के लिए स्थान न निकाल सके, पर इतना हम कह सकते हैं कि हमने जो सामग्री उपस्थित की है वह हिन्दी-गल्प-कला की वर्तमान परिस्थिति का परिचय देने के लिए काफ़ी है। इसके साथ ही हमने मनोरंजकता और शिक्षा का भी ध्यान रखा है। हमें विश्वास है कि पाठक इस दृष्टि से इस संग्रह में कोई अभाव न पाएंगे।

गल्प-लेखन-कला की विशद रूप से व्याख्या करना हमारा तात्पर्य नहीं। संक्षिप्त

रूप से गल्प एक कविता है, जिसमें जीवन के किसी एक अंग की या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य होता है। उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथा-विन्यास–सब उसी एक भाव का पुष्टीकरण करते हैं। उपन्यास की भांति उसमें मानव-जीवन का संपूर्ण तथा बृहद् रूप दिखाने का प्रयास नहीं किया जाता, न उपन्यास की भांति उसमें सभी रसों का सम्मिश्रण होता है। वह रमणीक उद्यान नहीं, जिसमें भांति-भांति के फूल बेल-बूटे सजे हुए हैं, वरन् एक गमला है, जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुनत रूप में दृष्टिगोचर होता है।

हम उन लेखक महाशयों के कृतज्ञ हैं, जिन्होंने उदारतापूर्वक हमें अपनी रचनाओं के उद्धृत करने की अनुमति प्रदान की। हम संपादक महानुभावों के भी ऋणी हैं जिनकी बहुमूल्य पत्रिकाओं में से हमने कई गल्पें ली हैं।

–प्रेमचंद (संपादक)

[भूमिका। प्रथम संस्करण, संभवत: 1924 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

मानसरोवर-1

एक आलोचक ने लिखा है कि इतिहास में सब-कुछ यथार्थ होते हुए भी वह असत्य है, और कथा-साहित्य में सब-कुछ काल्पनिक होते हुए भी वह सत्य है। इस कथन का आशय इसके सिवा और क्या हो सकता है कि इतिहास-आदि में शुरू से अंत तक हत्या, संग्राम और धोखा ही प्रदर्शन है, जो असुंदर है, इसलिए असत्य है। लोभ की क्रूर-से-क्रूर, अहंकार की नीच-से-नीच, ईर्ष्या की अधम-से-अधम घटनाएं आपको वहां मिलेंगी और आप सोचने लगेंगे, क्या मनुष्य इतना अमानुषिक है कि थोड़े से स्वार्थ के लिए भाई भाई की हत्या कर डालता है, बेटा बाप की हत्या कर डालता है और राजा असंख्य प्रजाओं की हत्या कर डालता है। उसे पढ़कर मन में ग्लानि होती है, आनंद नहीं, और जो वस्तु आनंद नहीं प्रदान कर सकती वह सुंदर नहीं हो सकती। और जो सुंदर नहीं हो सकती, वह सत्य भी नहीं हो सकती। जहां आनंद है, वहीं सत्य है। साहित्य काल्पनिक वस्तु है, पर उसका प्रधान गुण है आनंद प्रदान करना, और इसीलिए वह सत्य है। मनुष्य ने जगत् में जो कुछ सत्य और सुंदर पाया है, और पा रहा है, उसी को साहित्य कहते हैं, और गल्प भी साहित्य का एक भाग है।

मनुष्य जाति के लिए मनुष्य ही सबसे विकट पहेली है। वह खुद अपनी समझ में नहीं आता। किसी-न-किसी रूप में वह अपनी ही आलोचना किया करता है, अपने ही मनो-रहस्य खोला करता है। मानव-संस्कृति का विकास ही इसीलिए हुआ है कि मनुष्य अपने को समझे। अध्यात्म और दर्शन की भांति साहित्य भी इसी खोज में लगा हुआ है, अंतर इतना ही है कि वह इस उद्योग में रस का मिश्रण करके उसे आनंदप्रद बना देता है, इसलिए अध्यात्म और दर्शन केवल ज्ञानियों के लिए हैं, साहित्य मनुष्य मात्र के लिए।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, गल्प या आख्यायिका साहित्य का एक प्रधान अंग है—आज से नहीं, आदि काल से ही। हां, आजकल की आख्यायिका और प्राचीन काल की आख्यायिका में समझ की गति और रुचि के परिवर्तन से बहुत कुछ अंतर है। प्राचीन आख्यायिका कुतूहल-प्रधान होती थी या अध्यात्मविषयक। उपनिषदों और महाभारत में आध्यात्मिक रहस्यों को समझाने के लिए आख्यायिकाओं का आश्रय लिया गया है। जातक भी आख्यायिका के सिवा और क्या हैं? बाइबिल में भी दृष्टांतों और आख्यायिकाओं के द्वारा ही धर्म के तत्त्व समझाए गए हैं। सत्य इस रूप में आकर साकार हो जाता है और तभी जनता उसे समझती है और उसका व्यवहार करती है। वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है, बल्कि अनुभूतियां ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती है। मगर यह समझना भूल होगी कि कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है। जीवन का चित्र तो मनुष्य स्वयं हो सकता है, मगर कहानी के पात्रों के सुख-दु:ख से हम जितना प्रभावित होते हैं, उतना यथार्थ जीवन से नहीं होते, जब तक वह निजत्व की परिधि में न आ जाए। कहानियों के पात्रों से हमें एक ही दो मिनट में परिचय का निजत्व हो जाता है, और हम उनके साथ हंसने और रोने लगते हैं। उनका हर्ष और विषाद हमारा अपना हर्ष और विषाद हो जाता है, बल्कि कहानी पढ़कर वे लोग भी रोते या हंसते देखे जाते हैं, जिन पर साधारणत: सुख-दुख का कोई असर नहीं पड़ता, जिनकी आंखें श्मशान में या कब्रिस्तान में भी सजल नहीं होतीं; वे लोग भी उपन्यास के मर्मस्पर्शी स्थानों पर पहुंचकर रोने लगते हैं। शायद इसका कारण यह भी हो कि स्थूल प्राणी सूक्ष्म मन के उतने समीप नहीं पहुंच सकते, जितने कि कथा के सूक्ष्म चरित्र के। कथा के चरित्रों और मन के बीच में जड़ता का वह पर्दा नहीं होता। जो एक मनुष्य के हृदय को दूसरे मनुष्य के हृदय से दूर रखता है, और अगर हम यथार्थ को हूबहू खींचकर रख दें, तो उसमें कला कहां है? कला केवल यथार्थ की नक़ल का नाम नहीं है। कला दीखती तो यथार्थ है, पर यथार्थ होती नहीं। उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ मालूम हो। उसका मापदंड भी जीवन के मापदंड से अलग है। जीवन में बहुधा हमारा अंत उस समय हो जाता है, जब वह वांछनीय नहीं होता। जीवन किसी का दायी नहीं है। उसके सुख-दु:ख, हानि-लाभ, जीवन-मरण में कोई क्रम, कोई संबंध नहीं ज्ञात होता। कम-से-कम मनुष्य के लिए वह अज्ञेय है, लेकिन कथा-साहित्य मनुष्य का रचा हुआ जगत् है, और परिमित होने के कारण संपूर्णत: हमारे सामने आ जाता है और जहां वह हमारी मानवीय न्याय-बुद्धि या अनुभूति का अतिक्रमण करता हुआ पाया जाता है, हम उसे दंड देने के लिए तैयार हो जाते हैं। कथा में अगर किसी को सुख प्राप्त होता है, तो इसका कारण बताना होगा, दु:ख भी मिलता है तो भी उसका कारण बताना होगा। यहां कोई चरित्र मर नहीं सकता, जब तक मानव की न्याय-बुद्धि उसकी मौत न मांगे। स्रष्टा को जनता की अदालत में अपनी हर एक कृति के लिए जवाब देना पड़ेगा। कला का रहस्य भ्रांति है, पर वह भ्रांति, जिस पर यथार्थ का आवरण पड़ा हो।

हमें यह स्वीकार कर लेने में संकोच न होना चाहिए कि उपन्यासों ही की तरह आख्यायिका की कला भी हमने पच्छिम से ली है। कम-से-कम इसका आजकल का विकसित रूप तो पच्छिम का ही है। अनेक कारणों से जीवन की अन्य धाराओं की तरह ही साहित्य में भी हमारी प्रगति रुक गई और हमने प्राचीन से जौ-भर इधर-उधर हटना भी निषिद्ध समझ लिया। साहित्य के लिए प्राचीनों ने जो मर्यादाएं बांध दी थीं, उनका उल्लंघन करना वर्जित था। अतएव काव्य, नाटक, कथा किसी में भी हम आगे क़दम न बढ़ा सके। कोई वस्तु बहुत सुंदर होने पर भी अरुचिकर हो जाती है, जब तक उसमें नवीनता न लायी जाय। एक ही तरह के नाटक, एक ही तरह के काव्य पढ़ते-पढ़ते आदमी ऊब जाता है, और वह कोई नयी चीज़ चाहता है, चाहे वह उतनी सुंदर और उत्कृष्ट न हो। हमारे यहां तो यह इच्छा उठी ही नहीं, या हमने उसे इतना कुचला कि वह जड़ीभूत हो गयी। पश्चिम प्रगति करता रहा, उसे नवीनता की भूख थी, मर्यादाओं की बेड़ियों से चिढ़। जीवन के हरएक विभाग में उसकी इस अस्थिरता की, असंतोष की, बेड़ियों से मुक्त हो जाने की छाप लगी है। साहित्य में भी उसने क्रांति मचा दी। शेक्सपियर के नाटक अनुपम हैं, पर आज उन नाटकों का जनता के जीवन से कोई संबंध नहीं। आज के नाटक का उद्देश्य कुछ और है, आदर्श कुछ और है, विषय कुछ और है, शैली कुछ और है। कथा साहित्य में भी विकास हुआ और उसके विषय में चाहे उतना बड़ा परिवर्तन न हुआ हो, पर शैली तो बिल्कुल ही बदल गयी। 'अलिफ़लैला' उस वक्त का आदर्श था- उसमें बहुरूपिता थी, वैचित्र्य था, कुतूहल था, रोमांस था, पर उसमें जीवन की समस्याएं न थीं, मनोविज्ञान के रहस्य न थे, अनुभूतियों की इतनी प्रचुरता न थी, जीवन अपने सत्य रूप में इतना स्पष्ट न था। उसका रूपांतर हुआ, जब उपन्यास का उदय हुआ, जो कथा और ड्रामा के बीच की वस्तु है। पुराण-दृष्टांत भी रूपांतरित होकर गल्प बन गये।

मगर सौ वर्ष पहले यूरोप भी इस कला से अनभिज्ञ था। बड़े-बड़े उच्चकोटि के दार्शनिक तथा ऐतिहासिक या सामाजिक उपन्यास लिखे जाते थे, लेकिन छोटी-छोटी कहानियों की ओर किसी का ध्यान न जाता था। हां, परियों और भूतों का कहानियां लिखी जाती थीं, किंतु इसी एक शताब्दी के अंदर, या उससे भी कम समझिए, छोटी कहानियों ने साहित्य के और सभी अंगों पर विजय प्राप्त कर ली है और यह कहना ग़लत न होगा कि जैसे किसी ज़माने में कवित्त ही साहित्यिक अभिव्यक्ति का व्यापक रूप था, वैसे ही आज कहानी है, और उसे यह गौरव प्राप्त हुआ है यूरोप के कितने ही महान् कलाकारों की प्रतिभा से, जिनमें बालज़ाक, मोपासां, चेख़ब, टाल्स्टाय, मैक्सिम गोर्की आदि मुख्य हैं। हिन्दी में तो पचीस-तीस साल पहले तक गल्प का जन्म न हुआ था। आज तो कोई ऐसी पत्रिका नहीं, जिसमें दो-चार कहानियां न हों, यहां तक कि कई पत्रिकाओं में केवल कहानियां ही दी जाती हैं।

कहानियों के इस प्राबल्य का मुख्य कारण आजकल का जीवन-संग्राम और समयाभाव है। अब वह ज़माना नहीं रहा कि हम 'बोस्ताने-ख़याल' लेकर बैठ जायें और सारे दिन उसी के कुंजों में विचरते रहें। अब तो हम संग्राम में इतने तन्मय हो गये हैं

कि हमें मनोरंजन के लिए समय ही नहीं मिलता। अगर कुछ मनोरंजन स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य न होता, और हम विक्षिप्त हुए बिना अठारह घंटे काम कर सकते, तो शायद हम मनोरंजन का नाम भी न लेते, लेकिन प्रकृति ने हमें विवश कर दिया है, इसलिए हम चाहते हैं कि थोड़े-से समय में अधिक-से-अधिक मनोरंजन हो जाये। इसलिए सिनेमा-गृहों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जाती है। जिस उपन्यास के पढ़ने में हमें महीनों लगते, उसका आनंद हम दो घंटे में उठा लेते हैं। कहानी के लिए तो पंद्रह-बीस मिनट ही काफ़ी हैं। अतएव हम कहानी ऐसी चाहती हैं कि वह थोड़े-से थोड़े शब्दों में कही जाय, उसमें एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न आने पाये, उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अंत तक उसे मुग्ध किये रहे, उसमें कुछ चटपटापन हो, कुछ विकास हो, और इसके साथ ही कुछ तत्त्व भी हो। तत्त्वहीन कहानी से चाहे मनोरंजन भले हो जाय, मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानियों में उपदेश नहीं चाहते, लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के लिए, मन के सुंदर भावों को जाग्रत करने के लिए, कुछ-न-कुछ अवश्य चाहते हैं। वही कहानी सफल होती है, जिसमें इन दोनों में से एक अवश्य उपलब्ध हो।

सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो। साधु पिता को अपने कुव्यसनी पुत्र की दशा से दु:खी होना मनोवैज्ञानिक सत्य है। इस आवेग में पिता के मनोवेगों को चित्रित करना और तदनुकूल उसके व्यवहारों को प्रदर्शित करना, कहानी को आकर्षक बना सकता है। बुरा आदमी भी बिल्कुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं कहीं देवता अवश्य छिपा होता है, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवता को खोलकर दिखा देना सफल आख्यायिका का काम है। विपत्तियां पड़ने से मनुष्य कितना दिलेर हो जाता है, यहां तक कि वह बड़े-से-बड़े संकट का सामना करने के लिए भी ताल ठोंक कर तैयार हो जाता है। उसकी सारी दुर्वासना भाग जाती है। उसके हृदय के किसी गुप्त स्थान में छिपे हुए जौहर निकल आते हैं और हमें चकित कर देते हैं। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। एक ही घटना या दुर्घटना भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्यों को भिन्न-भिन्न रूप में प्रभावित करती है। हम कहानी में इसको सफलता के साथ दिखा सकें तो कहानी अवश्य आकर्षक होगी। किसी समस्या का समाधान कहानी को आकर्षक बनाने का सबसे उत्तम साधन है। जीवन में ऐसी समस्याएं नित्य ही उपस्थित होती रहती हैं और उनसे पैदा होने वाला द्वंद्व आख्यायिका को चमका देता है। सत्यवादी पिता को मालूम होता है कि उसके पुत्र ने हत्या की है। वह उसे न्याय की वेदी पर बलिदान कर दे, या अपने जीवन-सिद्धांतों की हत्या कर डाले। कितना भीषण द्वंद्व है। पश्चात्ताप ऐसे द्वंद्वों का अखंड स्रोत है। एक भाई ने दूसरे भाई की संपत्ति छल-कपट से अपहरण कर ली है, उसे भिक्षा मांगते देखकर क्या छली भाई को ज़रा भी पश्चात्ताप न होगा? अगर ऐसा न हो, तो वह मनुष्य नहीं है।

उपन्यासों की भाँति कहानियां भी कुछ घटना-प्रधान होती हैं, कुछ चरित्र-प्रधान। चरित्र-प्रधान कहानी का पद ऊंचा समझा जाता है, मगर कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुंजाइश नहीं होती। यहां हमारा उद्देश्य संपूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नहीं, वरन् उसके

चरित्र का एक अंग-भर दिखाना है। यह परमावश्यक है कि हमारी कहानी से जो परिणाम या तत्त्व निकले, वह सर्वमान्य हो और उसमें कुछ बारीकी हो। यह एक साधारण नियम है कि हमें उसी बात में आनंद आता है, जिससे हमारा कुछ संबंध हो। जुआ खेलने वालों को जो उन्माद और उल्लास होता है, वह दर्शक को कदापि नहीं हो सकता। जब हमारे चरित्र इतने सजीव और आकर्षक होते हैं कि पाठक अपने को उसके स्थान पर समझ लेता है, तभी उसे कहानी में आनंद प्राप्त होता है। अगर लेखक ने अपने पात्रों के प्रति पाठक में यह सहानुभूति नहीं उत्पन्न कर दी, तो वह अपने उद्देश्य में असफल है।

पाठकों से यह कहने की जरूरत नहीं है कि इन थोड़े दिनों में हिन्दी गल्पकला ने कितनी प्रौढ़ता प्राप्त कर ली है। पहले हमारे सामने केवल बंगला-कहानियों का नमूना था। अब हम संसार के सभी प्रमुख गल्प-लेखकों की रचनाएं पढ़ते हैं, उन पर विचार और बहस करते हैं, उनके गुण-दोष निकालते हैं और उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। अब हिन्दी गल्प-लेखकों में विषय, दृष्टिकोण और शैली का अलग अलग विकास होने लगा है। कहानी जीवन के बहुत निकट आ गयी है। उसकी ज़मीन अब उतनी लंबी-चौड़ी नहीं है। उसमें कई रसों, कई चरित्रों और कई घटनाओं के लिए स्थान नहीं रहा। अब वह केवल एक प्रसंग का, आत्मा की एक झलक का सजीव, मर्मस्पर्शी चित्रण है। इस एकतथ्यता ने उसमें प्रभाव, आकस्मिकता और तीव्रता भर दी है। अब उसमें व्याख्या का अंश कम, संवेदना का अंश अधिक रहता है। उसकी शैली भी अब प्रवाहमयी हो गयी है। लेखक को जो कुछ कहना है, वह कम-से-कम शब्दों में कह डालना चाहता है। वह अपने चरित्रों के मनोभावो की व्याख्या करने नहीं बैठता, केवल उसकी तरफ इशारा भर कर देता है। कभी-कभी तो संभाषणों में एक-दो शब्दों से ही काम निकाल लेता है। ऐसे कितने ही अवसर होते हैं, जब पात्र के मुंह से एक शब्द सुनकर हम उसके मनोभावों का पूरा अनुमान कर लेते हैं, पूरे वाक्य की ज़रूरत ही नहीं रहती। अब हम कहानी का मूल्य उसके घटना-विन्यास से नहीं लगाते। हम चाहते हैं, पात्रों की मनोगति स्वयं घटनाओं की सृष्टि करे। घटनाओं का स्वतंत्र कोई महत्त्व ही न रहा, उनका महत्त्व केवल पात्रों के मनोभावों को व्यक्त करने की दृष्टि से ही है, उसी तरह जैसे शालिग्राम स्वतंत्र रूप से केवल पत्थर का एक गोल टुकड़ा है, लेकिन उपासक की श्रद्धा से प्रतिष्ठित होकर देवता बन जाता है। खुलासा यह है कि गल्प का आधार अब घटना नहीं, मनोविज्ञान की अनुभूति है। आज लेखक केवल कोई रोचक दृश्य देखकर कहानी लिखने नहीं बैठ जाता। उसका उद्देश्य स्थूल सौंदर्य नहीं। वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है, जिसमें सौंदर्य की झलक हो, और इसके द्वारा वह पाठक की सुंदर भावनाओं को स्पर्श कर सके।

—प्रेमचंद

[भूमिका। प्रथम संस्करण, 20 मार्च, 1936 में प्रकाशित। 'प्रेमचद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

कुत्ते की कहानी

बच्चों से

प्यारे बच्चो ! तुम जिस संसार में रहते हो, वहां कुत्ते-बिल्ली ही नहीं, पेड़-पत्ते और ईंट-पत्थर तक बोलते हैं, बिल्कुल उसी तरह, जैसे तुम बोलते हो और तुम उन सबकी बातें सुनते हो और बड़े ध्यान से कान लगाकर सुनते हो। उन बातों में तुम्हें कितना आनंद आता है। तुम्हारा संसार सजीवों का संसार है। उसमें सभी एक-जैसे जीव बसते हैं। उन सबों में प्रेम है, भाईचारा है, दोस्ती है। जो सरलता साधु-संतों को बरसों के चिंतन और साधना से नहीं प्राप्त होती, वह तुम परम पिता के घर से लेकर आते हो। यह छोटी पुस्तक मैं तुम्हारी उसी आत्म-सरलता को भेंट करता हूं। तुम देखोगे कि यह कुत्ता बाहर से कुत्ता होकर भी भीतर से तुम्हारे जैसा बालक है, जिसमें वही प्रेम और सेवा तथा साहस और सचाई है, जो तुम्हें इतनी प्रिय है।

—प्रेमचंद

[भूमिका। बनारस, 14 जुलाई, 1936 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

दुर्गादास

बालकों के लिए राष्ट्र के सपूतों के चरित्र से बढ़कर उपयोगी साहित्य का कोई दूसरा अंग नहीं है। इनसे उनका चरित्र ही बलवान नहीं होता, उनमें राष्ट्र-प्रेम और साहस का संचार भी होता है। राजपूताना में बड़े-बड़े शूरवीर हो गये हैं। उस मरुभूमि ने कितने ही नररत्नों को जन्म दिया है पर वीर दुर्गादास अपने अनुपम आत्म-त्याग, अपनी निस्वार्थ सेवा-भक्ति और अपने उज्ज्वल चरित्र के लिए कोहनूर के समान है। औरों में शौर्य के साथ कहीं-कहीं हिंसा और द्वेष का भाव भी पाया जायगा, कीर्ति का मोह भी होगा, अभिमान भी होगा, पर दुर्गादास शेर होकर भी साधु था। इन्हीं कारणों से हमने वीर-रत्न दुर्गादास का चरित्र बालकों के सामने रखा है।

हमने चेष्टा की है कि पुस्तक की भाषा सरल और बामुहावरा हो और उसमें बालकों की रुचि उत्पन्न हो।

—प्रेमचंद

[भूमिका। प्रथम संस्करण, 1938 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

प्रेमचंद द्वारा अन्य लेखकों की पुस्तकों में लिखित भूमिकाएं

महात्मा ईसा

लेखक: पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'

महाशय उग्र ने जब पहले मुझसे 'महात्मा ईसा' के जीवन-चरित्र पर एक नाटक लिखने का ज़िक्र किया तो मैं उसे देखने के लिए बहुत उत्सुक न हुआ। विषय इतना विशद, इतना गंभीर, इतना 'ग़ैरमानूस' था कि मुझे उग्रजी की सफलता के विषय में बड़ी आशंका थी। सच तो यों है कि मैं केवल मुरौवत से उसे आद्योपांत सुनने पर तैयार हुआ, लेकिन पहले ह दृश्य ने मेरी आशंका बहुत-कुछ निवृत्त कर दी और पहला एक्ट समाप्त होते-होते तो मैं उसका भक्त हो गया। भाव, भाषा, चरित्र चित्रण, कथानक सभी ने मुझे मुग्ध कर दिया। हिन्दी में अच्छे ड्रामों की कमी है। डी॰ एल॰ राय के नाटकों को निकाल दीजिए तो हमारे पास कुछ रह ही नहीं जाता। अब हम भी एक उच्च कोटि के मौलिक ड्रामे को अन्य भाषाओं के सामने पेश कर सकते हैं। 'महात्मा ईसा' महाशय राय के किसी नाटक से टक्कर ले सकता है। ऐसे मौलिक और गहन विषय पर नाटक लिखकर उग्रजी ने हिन्दी का मस्तक ऊंचा कर दिया है।

महात्मा ईसा ने भारतवर्ष की यात्रा की थी, कतिपय विद्वानों की यह धारणा है। उग्रजी ने इसी धारणा के आधार पर कथा की कल्पना की है।

नाटक में सभी रसों का सम्मिश्रण होना चाहिए, विशेषत: जब वह खेलने के उद्देश्य से लिखा जाय। 'महात्मा ईसा' में आप हास्य, शांति, प्रेम, करुणा, वीर-सब रसों का आस्वादन कर सकते हैं। गांभीर्य के साथ हास्य का ऐसा अपूर्व और सुंदर मेल-जोल आपको और कहीं बहुत कम मिलेगा। अन्य देशीय पात्रों के भाव और विचार व्यक्त करने में असाधारण कुशलता प्रकट की है। ऐसी सर्वांग-सुंदर रचना के लिए हम उन्हें हृदय से मुबारकबाद देते हैं।

—प्रेमचंद

[भूमिका। प्रथम संस्करण, 15 अगस्त, 1922 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

सती सारंधा

(ऐतिहासिक खंड-काव्य)

लेखक : रसिकेंद्र

कई महीने हुए, 'रसिकेंद्रजी' के एक पत्र से मुझे ज्ञात हुआ था कि वह मेरी कहानी 'रानी सारंधा' का विषय लेकर एक खंड-काव्य की रचना कर रहे हैं। इस समाचार से मुझे जितना आनंद और गर्व हुआ, वह कोई साहित्यसेवी ही जान सकता है। पर वास्तव में यह आदर मेरी कहानी का नहीं था। मेरी कहानी कल्पित न थी। वह उस ऐतिहासिक घटना का प्रभाव था जिस पर मेरी कहानी रची गयी थी। रानी सारंधा के जीवन में स्वजातीय अभिमान और आत्म-गौरव का जितना ऊंचा आदर्श मिलता है, उतना कदाचित् राजपूताने की उज्ज्वल विरुदावली में भी न मिलेगा। छत्रसाल बुंदेलखंड के इतिहास का सूर्य है। चंपतराय उसके पिता थे। इतिहास में केवल इतना ही लिखा है कि उनको मुग़ल सेना के हाथों से बचाने के लिए रानी ने पहले उनके और तब अपने गले पर तलवार चला दी थी। इसी भित्ति पर कल्पना ने 'रानी सारंधा' की सृष्टि की है। आपको यह नाम किसी इतिहास-ग्रंथ में न मिलेगा।

रसिकेद्र जी हिन्दी के सुकवि हैं। उनकी क़लम ने इस कहानी को और भी चमका दिया है। चाहे साहित्य-सोमरस के पिपासु 'सती-सारंधा' से अधिक संतुष्ट न हों—चाशनी गहरी नहीं है, पर हल्की चाशनी के प्रेमियों को फीकेपन की शिकायत न होगी। मैं कविता का मर्मज्ञ नहीं हूं, पर मोहन-भोग का मज़ा उठाने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि हमको हलवाई की दूकान का नाम मालूम हो, हम यह जानते हों कि शक्कर कहां से आई, मेवे कहां से आये, सूजी कैसी डाली गयी और घी किस भाव से लिया गया। यद्यपि कहानी मेरी रचना है और लेखक को अपनी ही रचना के पढ़ने में कोई कुतूहल नहीं होता, पर मैंने इस काव्य को आद्योपांत पढ़ा और इसमें मुझे नई रचना का आनंद प्राप्त हुआ, विशेषत: अंतिम सर्ग को पढ़कर तो रौंगटे खड़े हो गये।

जब चंपतराय मुग़ल सेना से घिर जाते हैं, साथ के सभी आदमी काम आ जाते हैं, तो वह रानी सारंधा से कहते हैं–

> चिर-संगिनि हो कभी न टाला तुमने मेरा कहना,
> देखो, विचलित मत होना साहस पर दृढ़ रहना।
> अंतकाल की बात पड़ेगी देवी, तुम्हें निभानी,
> शीतल कर दो हृदय हमारा दे कटार का पानी।

रानी उत्तर देती है-

> हृदयेश्वर ! यह कैसी आज्ञा ! हृदय कंपाने वाली,
> वज्र-हृदय है नहीं, किस तरह फिर यह जावे पाली?
> हां, यदि तीक्ष्ण कटारी होगी अधिक रुधिर की प्यासी,
> तो अपना जीवन कर सकती अर्पण उसको दासी।

कौन हृदय है जो इन पंक्तियो को पढ़कर गौरवोन्मत्त न हो जायगा? तीसरे सर्ग

के आरंभ में प्रकृति-वर्णन कितना चमत्कारमय है—

> रात भर करके कुमुदिनी पर सुधा की वृष्टि,
> फेर कर संयोगियों पर निज कृपा की दृष्टि।
> अन्त में निशिनाथ हो निष्प्रभ, कला से हीन,
> राज्य का कर अन्त नभ में हो गये तल्लीन।

वीर बाला सारंधा की वीरता का वर्णन करते हुए कवि की लेखनी से जो पद्य निकले हैं, उन्हें पढ़कर हमारे सम्मुख रणचंडी-स्वरूपिणी किसी राजपूत-ललना का चित्र खिंच जाता है—

> जाती थी जिस ओर निकल बिजली-सी बाला,
> बहने लगता था उधर रुधिर का भीषण नाला।
> ज्योतिमयी तलवार उगलती थी बस ज्वाला,
> शिव-त्रिशूल-सा बना हुआ था उसका भाला।
> उस देवी के तेज से, झुलस गया रिपु-पक्ष यों—
> रवि से अड़ने में जले, संपाती के पक्ष ज्यों।

मुझे इस बात की बड़ी खुशी है कि अब हिन्दी में भी कविजन 'श्रृंगार' पर अपनी सारी कवित्व-शक्ति का उपयोग नहीं कर रहे हैं। प्राय: नाटकों में तो जातीयता का अच्छा समावेश होने लगा है। बल्कि हाल के ऐतिहासिक नाटक इसी भाव से प्रेरित होकर रचे गये हैं। अब काव्यों की बारी है। 'पथिक' ने पथ दिखा दिया है। हमें आशा है कि भविष्य में रसिकेंद्रजी के और भी कितने ही अनुगामी निकलेंगे।

—प्रेमचंद

[भूमिका। प्रथम संस्करण, जून, 1924। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

बहारिस्तान
(उर्दू कहानी-संग्रह)

लेखक : सुदर्शन

यूं तो उर्दू में कितने ही असहाब (साहिबान) कहानियां लिखते हैं, मगर सुदर्शन की कहानियों में जो दिलावेज़ी (सौंदर्य, खूबसूरती) है, वह दूसरी जगह बहुत कम नज़र आती है। यहां आपको नई-नई तरकीबें और बंदिशें नहीं मिलतीं। शाइराना बुलंद परवाज़ियों (कल्पना की उड़ानों) के एतबार से आपको गुना (कदाचित्) मायूसी होगी, लेकिन एक क़िस्सा अव्वल से आख़िर तक ख़त्म करके आप सोचने ज़रूर लगेंगे। मुसन्निफ (लेखक) ने आपके दिल के किसी तार पर जरूर उंगली रख दी होगी। आप को इत्मीनान (संतोष, तसल्ली) होगा कि मुझे अपने वक़्त का काफ़ी मुआवज़ा मिल गया। हर एक कहानी में कोई-न-कोई हक़ीक़त ज़रूर है। जज़्बए-इंसानी के किसी पहलू पर रोशनी ज़रूर पड़ती है।

मगर यह कहना सरीह (स्पष्ट) बेइंसाफ़ी होगी कि उनकी कहानियों में ज़ुबान की लताफ़त (मृदुलता, ताज़गी) नहीं—अगर सलासत (सरलता, सलीसपन) लताफ़त का बेहतरीन उंसुर (तत्त्व) है। अगर रवानी लताफ़त का एक जुज़्वे-ख़ास (विशेष भाग) है तो यहां लताफ़त ज़ुबान का भी काफ़ी सरमाया (पूंजी) मौजूद है।

मुख़्तसर (संक्षिप्त) कहानी के लिए प्लाट का ड्रामेटिक होना ज़रूरी है। जब तक यह वस्फ़ (गुण) न हो, कहानी बेमज़ा-सी रहती है। सुदर्शनजी की हरेक कहानी में यह हुस्न बदर्जए (सौंदर्य कई गुना) मौजूद है। 'गुनाहे अज़ीम' लीजिए। महताबराय की हवस-परवरी का तारा पर क्या असर होता है, इसे कितनी खूबसूरती से दिखाया गया है। एक नूरानी (प्रकाशवान) हस्ती उनसे कुछ कह रही है—

"तूने एक गुनहगार को नेकी की तरफ़ आने से रोका है। यह गुनाह नहीं, गुनाहे-अज़ीम (बड़ा अपराध) है, और यह कभी माफ़ नहीं होगा।"

'सज़ाए-आमाल' (कर्मों का दंड) में मसलए-तनासुख (आवागमन) पर बड़ी खूबी से रोशनी डाली गयी है—

'बंसी ने बेहोशी में जवाब दिया, 'हां।'

'होश करो।'

'हां, होश में हूं।'

'मैं कौन हूं?'

बंसीलाल ने ग़ौर से मेरी तरफ़ देखा और कहा, 'मेरा शरीकेकार'।"

इन सादा और बेरंग अल्फ़ाज़ में कितनी तासीर, कितना जादू और गुनाह के ख़ौफ़ से दिल में लर्ज़ा (कंपकंपी, हौल) पैदा कर देने वाली कितनी हैबत (आतंक, भय) मौजूद है, इसका अंदाज़ा क़िस्से के पढ़ने ही से हो सकता है।

'शायर की बीवी' में सावित्री पहले अपने शौहर की बेइल्तिफ़ाती (उपेक्षा) से बेदिल होकर मुनीराम की तरफ़ मुख़ातिब (आकर्षित) होती है, मगर ऐन उस वक़्त, जबकि नये आशिक से उसकी शादी होने वाली है, उसे अपने मरहूम ख़ाबिंद के कलाम का मजमूआ (संग्रह) मिल जाता है, जिसकी रूहानियत उसके दिल पर जादू का-सा असर करती है। उसे अब दोनों की मुहब्बत में स्वार्थ मालूम होता है, "एक चांद की चांदनी के मानिंद सर्द (शीतल) थी, दूसरी आग की मानिंद पुरसोज़ (तपन से भरी)। एक समुंदर की तरह गहरी थी, दूसरी पहाड़ी नाली की तरह पुरसैलाबी (जल-प्लावन से पूर्ण)। एक सदाक़त (सत्यता) थी पर ख़ामोश, दूसरी झूठ थी, पर बातूनी।"

ख़ात्मा कितने पुरअसर (प्रभावपूर्ण) अल्फ़ाज़ पर हुआ है—

"मैंने खाबिंद को ठुकरा दिया था, पर उसकी मुहब्बत को न ठुकरा सकी। इंसान मर जाता है, उसकी मुहब्बत ज़िंदा रहती है।"

'फ़िरऊन की माशूक़ा' बहुत कामयाब क़िस्सा है। लाज़वाल (शाश्वत) और लाफ़ानी (अनश्वर) मुहब्बत की कितनी दिलावेज़ (मनमोहक) तस्वीर। जिस वक़्त फ़िरऊन शिकस्त और नाकामी के बाद रेमफिस से कहता है, 'हुकूमत बहुत की है, अब तो मुहब्बत की ख़्वाहिश है। हुकूमत तुम करो। मिस्र तुम से खुश है। मुझे मेरी क्युनिस दे दो। मैं और कुछ नहीं चाहता।"

और रेमफिस जवाब देता है, "फ़िरऊन! तख़्त-ओ-ताज क़बूल कर ले। तुझे क्युनिस जैसी हज़ारों मिल जायेंगी, मगर मुझे इस नेमत से महरूम न कर। हम एक-दूसरे के बग़ैर कभी ज़िंदा न रहेंगे।"

तो ज़रा देर के लिए हम इस मक्र-ओ-फ़रेब (धूर्तता एवं छल) की दुनिया से निकलकर मुहब्बत और सच्चाई की दुनिया में पहुंच जाते हैं।

आख़िर जब मिस्र के बाशिंदे रेमफिस और क्युनिस को पत्थरों से क़रीब-क़रीब हलाक (मृत) कर देते हैं तो फिरऊन के मुंह से करब (दुःखपूर्ण) और कोफ़्त (रंज) के जो अल्फ़ाज़ निकलते हैं, उनमें हुस्न और इश्क का एक दफ़्तर भरा हुआ है, "मिस्र के लोगो ! क्या तुम्हारे पास उन पत्थरों में से एक भी बाक़ी नहीं बचा जिनसे तुमने इन मुहब्बत के मुजस्सिमों (मूर्तमानों) को हलाक किया है? एक ही, सिर्फ़ एक ही ऐसा पत्थर उठाओ, उसे मेरे सर पर मारकर रेज़े-रेज़े (छोटे-छोटे टुकड़े) कर दो।"

और आख़िर जब किसी ने उस पर पत्थर न फेंका तो उसने आगे बढ़कर एक बड़ा-सा पत्थर उठाया और हवा में उछालकर उसके नीचे अपना सर रख दिया।"

सुदर्शन जी बाज़ औक़ात ऐसे मुशाहदात (अनुभवों) का इज़हार (अभिव्यक्त) कर जाते हैं, जिनसे हमारी अंदरूनी आंखें खुलती हुई मालूम देती हैं, मसलन्–"आदमी बदी (पाप) की तरफ़ जाना चाहे, हज़ारों इमदाद (मदद) देने वाले निकल आते हैं। नेक बनना चाहे, एक भी आगे नहीं बढ़ता। गुनाह करना इतना मुश्किल नहीं, जितना उसे छोड़ना। उसके लिए बेहयाई की ज़रूरत होती है, इसके लिए मुस्तकिल-मिज़ाजी (स्थिर स्वभाव) की। आदमी बेहया बन सकता है, मगर मुस्तक़िल-मिज़ाज बनना आसान नहीं। गुनाहों की याद गुनाहों से ज़्यादा भयानक है।"

एक मग़रूर परवाने पर मुहब्बत का पहला असर कितना बेक़ाबू करने वाला, कितना राम (अभिभूत) करने वाला होता है, वह इन अल्फ़ाज़ से ज़ाहिर होता है, "फ़िरऊन को आज अपनी कुव्वत (शक्ति) मामूल से कम और अपनी वसी मम्लुकत (राज्य-सत्ता) हक़ीक़त से तंग मालूम हुई। वह क्यूनिस को इस तरह चश्मे-[illegible]र (कुदृष्टि) से देख रहा था, जैसे किसी ग़रीब के बच्चे को क़ीमती खिलौना मिल जाता है।"

अल्ग़रज़ (सारांश यह कि) सुदर्शन की कहानियों में तक़रीबन वो तमाम अज़्ज़ा (मूल तत्त्व) मौजूद हैं जो कहानी को दिलावेज़ बना देते हैं। आप में यह खूबी है कि आपने ज़्यादातर क़िस्से असासी-जज़्बात (भावनाओं की नींव) पर क़ायम किये हैं। किसी फ़ौरी (शीघ्र) तहरीक (आंदोलन) के ज़ेरे-असर (प्रभाव में) किसी प्रोपेगैंडा के लिए कोई क़िस्सा नहीं लिखा और कोई वजह नहीं कि ये क़िस्से मुल्क़ के मुस्तक़िल (स्थायी) अदबी जख़ीरे का हिस्सा क्यों न बन जायें।

इंसान तसनीफ़ (रचना) के लिए ज्यों ही क़लम हाथ में लेता है, उसके सिर बड़ी ज़ुम्मेदारी आइद होती है। उसका काम यहीं ख़त्म नहीं हो जाता कि पढ़ने वाले महफ़ूज़ (निरापद) हों और उसकी कारिश (रचना) की दाद दें। गिरते हुओं को संभालना, सोये हुओं को जगाना, पस्त-हिम्मतों को हिम्मत बंधाना, मायूसों को मुज़दा-उम्मीद (आशापूर्ण शुभ सूचना) सुनाना, दिल में ख़यालात की रौ पैदा करना, निगाहे-बातन (हृदय-चक्षु)

को रौशन करना फ़र्ज़ है। उस फ़र्ज़ से वह जितना ही क़ासिर (नाकाम, असमर्थ) रहता है, उतना ही नाकाम मुसन्निफ़ (लेखक) है। सामान-ए-तफ़रीह (मनोरंजन के साधन) मुहैया करना नक़्क़ालों (भांड़, बहुरूपिये) और भांडों का काम है। मुसन्निफ़ का मेयार (मापदंड) कमाल (कला) उससे बदर्जहा (कई गुना) ऊंचा है। सुदर्शन उस ज़ुम्मेदारी को महसूस करते हुए मालूम होते हैं। इन सारी कहानियों में एक भी जुम्ला ऐसा नहीं है जिस पर मिज़ाज-ए-सलीम (सुरुचिपूर्ण पाठक) को नाक सिकोड़ने का मौक़ा मिले। मैं मम्दूह (प्रशंसित) की कहानियों को बहुत अर्से से पढ़ता हूं, और उनका मुद्दाह (प्रशंसक) हूं। आप अदब की मुस्तक़िल ख़िदमत कर रहे हैं। जिसका ताज़ातरीन सबूत यह है कि पंजाब टैक्स्ट बुक कमेटी ने आपकी 'मुहब्बत का इंतिकाम' नामी किताब के हिन्दी एडीशन 'अंजना' पर पांच सौ रुपयों का इनाम अता फ़रमाया है। हालांकि अहले-कलम (लेखक) ऐसे इनामात से मुस्तग़नी (निस्पृह) हैं, लेकिन कम-से-कम इससे यह तो अंदाज़ा होता है कि आपकी कितनी क़दर-ओ-मज़लित (सम्मान एवं संतुष्टि) हो रही है। आप अभी नौजवान हैं और ज़ुबान व क़ौम को आप से अभी बहुत-कुछ उम्मीदें हैं। हमें उम्मीद है कि इस जद्दो-जहद (संघर्षशीलता) के ज़माने में आप आरजी मसरूफ़ियात (कृत्रिम व्यस्तता) में महव (लिप्त) न होकर लिट्रेचर की देवी के भक्त बने रहेंगे।

—(मुंशी) प्रेमचंद

[भूमिका। प्रथम संस्करण, 1925। प्रकाशक : ताज कंपनी लि०, रेलवे रोड, लाहौर। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

मानिक-मंदिर

लेखक : मदारीलाल गुप्त

उपन्यास का सबसे बड़ा गुण उसकी मनोरंजकता है। इस लिहाज से श्री मदारीलाल गुप्त को अच्छी सफलता प्राप्त हुई है। पुस्तक आदि से अंत तक पढ़ जाइए, कहीं आपका जी न ऊबेगा। पुस्तक की रचना-शैली सुंदर है। पात्रों के मुख से वही बातें निकलती हैं, जो यथावसर निकलनी चाहिए, न कम, न ज्यादा। उपन्यास में वर्णनात्मक भाग जितना ही कम और वार्ता-भाग जितना ही अधिक होगा, उतनी ही कथा रोचक और ग्राहिका होगी। 'मानिक मंदिर' में इस बात का काफ़ी लिहाज़ रक्खा गया है। वर्णनात्मक भाग जितना है, उसकी भाषा भी इतनी भावपूर्ण है कि पढ़ने में आनंद आता है। कहीं-कहीं तो आपके भाव बहुत गहरे हो गये हैं और दिल पर चोट करते हैं। चरित्रों में मेरे विचार में सोना का चित्रण बहुत ही स्वाभाविक हुआ है और देवी का सर्वांगसुंदर सोना। अगर पतिता के मनोभावों का चित्र है तो देवी सती के भावों की मूर्ति। पुरुषों में ओंकार का चरित्र बड़ा सुंदर और सजीव है। विषय-वासना के भक्त कैसे चंचल, अस्थिर-चित्त और कितने मधुरभाषी होते हैं, ओंकार इसका जीता-जागता उदाहरण है। उसे अपनी पत्नी से

प्रेम है, कुमारी से प्रेम है और चंदा से प्रेम है। जिस वक़्त जिसे सामने देखता है, उसी के मोह में फंस जाता है। ओंकार ही पुस्तक की जान है। कथा में कई सीन बहुत मर्मस्पर्शी हुए हैं। 'सोना के मिट्टी'' हो जाने का और ओंकार के सोना के कमरे में आने का वर्णन बड़ी ही सनसनी पैदा करने वाले हैं, इत्यादि।

–प्रेमचंद

[भूमिका। प्रथम संस्करण, 1926। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

• • •